प्रथम संस्करण, जून, १९५२ ई०

मूल्य ८)

राज

ग्रौर

राजीव

को

वक्तव्य

अँगरेज़ों तथा अन्य यूरोपीय जातियों का भारतागमन वैसे तो मुग़ल-काल से प्रारंभ हो गया था, किन्तु भारत में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना की दृष्टि से १७५७ इतिहास-सम्मत तिथि है। इन पिछले लगभग दो सौ वर्षों में भारतीय जीवन में, अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा यूरोपीय संस्कृति के संपर्क से, अनेक अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। प्रारम्भ में आदान-प्रदान का क्रम मन्द था, किन्तु धीरे-धीरे वह तीव्र होता हुआ जीवन की वास्तविकता में परिणत हो गया। भारत उस समय जीवन की जिन परिस्थितियों से गुज़र रहा था वह पश्चिम को कुछ देने के स्थान पर ले ही अधिक सकता था। इसलिए अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत निर्मित साहित्य का अध्ययन अपना विशेष महत्त्व रखता है। अँगरेज़ी शासन-काल के पचास वर्षों के साहित्य का अध्ययन 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०—१६००)' के रूप में लेखक द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है। १८५७ में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन-काल समाप्त हो जाता है। अतः अब १७५७ से १८५७ तक के पिछले सौ वर्षों अर्थात् ईस्ट इंडिया कंपनी-कालीन हिन्दी साहित्य और उसके पीछे काम करने वाली शक्तियों का अध्ययन करने की चेष्टा की गई है और इस प्रकार अँगरेज़ी राज्य के लगभग प्रथम डेढ़ सौ वर्षों के हिन्दी साहित्य का इतिहास पूर्ण हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य की आधुनिकता की प्रारंभिक कहानी है, इसलिए रोचक है। किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अभी तक उसके वास्तविक रूप और महत्त्व को समझने की चेष्टा न की थी। प्रस्तुत लेखक ने नवीन सामग्री का अध्ययन करने के साथ-साथ आलोच्य काल का मन समझने का प्रयत्न किया है और उपलब्ध सामग्री के आधार पर अपने निष्कर्ष निकाले हैं, किन्तु यह ध्यान में रखते हुए कि 'The age was bad, not the individual.'

प्रस्तुत ग्रन्थ इलाहाबाद यूनीवर्सिटी द्वारा स्वीकृत डी० लिट्० थीसिस 'Hindi Literature and its Cultural Background from 1757 to 1857 A. D.' (१६४६) के रूप में अँगरेज़ी में लिखा

गया था। अनुवाद करते समय इसमें अनेक ऐसे नवीन अंश जोड़ दिए गए हैं जो मूल में नहीं दिए जा सके थे। अध्ययन की दृष्टि से लेखक ने उसी सामग्री का प्रयोग किया है जो उसे उपलब्ध हो सकी। उसे अनेक ऐसे काव्य और गद्य-ग्रन्थ मिले जिनमें या तो लेखक का नाम नहीं है, या रचना-तिथि नहीं है, या दोनों में से एक का भी उल्लेख नहीं है, जो खण्डित हैं, ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख नहीं किया गया। यही कारण है कि अन्य अनेक के अतिरिक्त बहुत-से राजस्थानी गद्य-ग्रन्थों में से केवल एक ही ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। मूल में सहायक-ग्रन्थों की सूची के रूप में समस्त उपलब्ध साहित्य का उल्लेख कर दिया गया था। किन्तु विस्तार-भय के कारण वह सूची प्रस्तुत ग्रन्थ में नहीं दी गई। केवल प्रमुख प्रतिनिधि ग्रन्थों का यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। जातीय, धार्मिक आदि प्रभावों पर प्रायः विद्वान् विचार कर लेते हैं। इसलिए उन्हें छोड़ कर केवल भौगोलिक परिस्थिति के कारण उत्पन्न प्रभावों पर ही विशेष रूप से विचार किया गया है। राम-साहित्य में सीता-तत्व और सीता के खण्डिता नायिका के रूप के संबंध में लेखक पाठकों का ध्यान रामायत-संहिता (रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह कृत आदि मंगल पर टीका), सदाशिव-संहिता आदि के अध्ययन की ओर आकृष्ट करता है। हिन्दी साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण काल—विशेषतः गद्य की दृष्टि से—के विविध पक्षों और अंगों का अध्ययन विद्वानों के सामने रखना प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य है॥

तिथियाँ सामान्यतः ईसवी सन् के अनुसार हैं।

थीसिस लिखते समय गुरुवर श्री डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) का उनके प्रोत्साहन, पथ-प्रदर्शन और अमूल्य परामर्शों के लिए तथा अपने परीक्षकों डॉ० हज़ारीप्रसादजी द्विवेदी, डी० लिट्० और श्री डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवाल, पी-एच० डी० का उनकी उदार सहायता के लिए लेखक उनके प्रति अपना आभार प्रदर्शन करता है। जिन विद्वानों की कृतियों से सहायता मिली है वह उनका भी कृतज्ञ है।

रविवार, ज्येष्ठी पूर्णिमा, सं० २००६ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
(८ जून, १९५२ ई०)

विषय-सूची

अ. पीठिका

आ. साहित्यिक प्रतिक्रिया

४. कविता

३. खड़ीबोली गद्य का विकास

विषय-प्रवेश

ईसा की अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में भारतवर्ष में ही नहीं वरन् एशिया के अन्य विभिन्न भागों में भी अँगरेज़ी (तथा अन्य यूरोपीय शक्तियों के) राज्य की स्थापना अपने रूप और कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से संसार के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। अँगरेज़ी राज्य की स्थापना ने प्रत्येक देश के साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में नवीन स्फूर्ति का संचार कर जीवन का पुनर्संस्कार किया। भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य के प्रथम सौ वर्षों का अपना निजी-महत्त्व है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन का बीजारोपण, विकास एवं विस्तार भारतीय इतिहास के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के एक विशेष युग की समाप्ति का द्योतक है। इसलिए इस काल में हिन्दीभाषियों के साहित्यिक जीवन का अध्ययन करना परमावश्यक है, क्योंकि इसी काल में हिन्दीभाषियों ने पश्चिम की एक शक्तिशाली जाति के सम्पर्क में आकर नवीन सांस्कृतिक भावों और विचारों के माध्यम द्वारा दुनिया को नवीन दृष्टि से देखना सीखा। ऐतिहासिक दृष्टि से इन प्रथम सौ वर्षों का साहित्य हिन्दी के 'आधुनिक' कहे जाने वाले साहित्य की भूमिका के रूप में है। कम्पनी-शासन के इसी काल में आधुनिकता के प्रतीक हिन्दी खड़ी-बोली गद्य का विकास हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहास में नवयुग की अवतारणा निश्चय ही खड़ीबोली गद्य के माध्यम द्वारा हुई और यही गद्य आगे चल कर अर्थात् १८५७ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की समाप्ति के बाद अपने विविध रूपों के सहारे अपने पैरों खड़ा हुआ और हिन्दी साहित्य की श्रीसम्पन्नता का प्रतीक बना। आलोच्य काल के काव्य-साहित्य में प्राचीन भक्ति, शृंगार, रीति और वीर धाराओं का अस्तित्व बना रहा; इस क्षेत्र में परंपराविहित साहित्य का ही निर्माण होता रहा। १८५७ के बाद इस क्षेत्र में भी अभूतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। जिन शक्तियों से प्रेरित होकर आगे चल कर हिन्दी काव्य ने अपनी परिवर्तनशीलता का परिचय दिया उनका

मूल उद्गम हमें कम्पनी के शासनकाल में ही मिलता है। इस काल में तो केवल गद्य ही अपने नवीन और विविध रूप लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुआ। वास्तव में १८५७ के बाद से लेकर आज तक के साहित्य में हमें जिस नवीनता के दर्शन होते हैं वह दो संस्कृतियों, एक प्राचीन और शिथिल और दूसरी नवीन और शक्तिशाली, की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया का सूत्रपात आलोच्य काल ही में हुआ था। यदि नवीन शासकों का दृष्टिकोण कुछ अच्छा और हितकारी भावनाओं से प्रेरित रहता तो इस क्रिया-प्रतिक्रिया का काफ़ी सुन्दर परिणाम दृष्टिगोचर होता। किन्तु विभिन्न कारणों से ऐसा न हो सका। बीसवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य ने जिस सजीवता, प्रतिभा, विभिन्न विचारादर्शों और गतिविधियों का परिचय दिया है उन सब की जड़ जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में जमी, उसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की बौद्धिक क्रियाशीलता का पूर्वाभास हमें आलोच्य काल में मिलता है, विशेष रूप से १८०० और १८५७ के बीच में। एक प्रकार से इन्हीं सत्तावन वर्षों में हिन्दी साहित्य की आधुनिकता का (गद्य के माध्यम द्वारा) बीजारोपण हुआ। इसलिए इन सब कारणों से आलोच्य काल के स्वतंत्र अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है।

हिन्दी साहित्य के इस काल की ठीक-ठीक तिथियाँ निर्धारित करना या इसके और अन्य कालों के बीच एक विभाजन-रेखा खींचना अत्यन्त दुस्तर कार्य है। साहित्य के विद्यार्थियों को यह विदित ही है कि परंपरागत काव्य-साहित्य की दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध एक प्रकार से अन्तिम महत्त्वपूर्ण युग माना जाता है। आगे चल कर कुछ प्रतिभाशाली कवियों के नाम मिलते अवश्य हैं, किन्तु यह उनकी व्यक्तिगत महानता थी जो उन्हें अपने युग के ऊपर उठा सकी। नहीं तो सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के बाद हमें परंपराविहित साहित्य का ह्रास ही विशेष रूप से मिलता है। उसके पतन और ह्रास की यह क्रिया भारतेंदु युग में पूर्ण हुई। एक तो वैसे ही चली आ रही परंपरा के मिटने में देर लगती है, दूसरे यह भी निश्चित है कि नवीन के साथ-साथ प्राचीन के बने रहने में अँगरेज़ों की नीति का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा यूरोपीय प्रभाव, अच्छे या बुरे रूप में, उसी समय से पड़ने लगा था जब से अँगरेज़ों ने उत्तर भारत में अपना राज्य स्थापित किया। और इतिहासकार इस संबंध में एक मत हैं कि १७५७ में प्लासी की लड़ाई से भारत में कम्पनी-शासन का सूत्रपात और एक भारतीय युग का अन्त हुआ। उस समय हिन्दी भाषा और

साहित्य के साथ संपर्क स्थापित न हो सकने के कारण यूरोपीय प्रभाव बंगाल तक ही सीमित रहा। तत्कालीन भारत में कलकत्ता नवीन प्रभावोत्पन्न सामाजिक और राजनीतिक चेतना का केन्द्र था। किन्तु प्लासी की लड़ाई के ठीक सात वर्ष बाद अर्थात् १७६४ में बक्सर की लड़ाई और १७६५ में अँगरेज़ों को दीवानी मिलने के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश का पूर्वी भाग या बिहार सर्वप्रथम अँगरेज़ी राज्य के अंतर्गत आ गया था। प्लासी की लड़ाई के फलस्वरूप यदि समस्त उत्तर भारत का द्वार अँगरेज़ों के लिए खुल गया था, तो बक्सर की लड़ाई के बाद हिन्दी प्रदेश के प्रमुख राज्य, अवध, ने अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखते हुए भी सभी व्यावहारिक दृष्टियों से अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। यहीं से वे हिन्दी प्रदेश में चारों ओर फैल सके थे। तत्पश्चात् १८०३ में लासवारी की लड़ाई में विजय प्राप्त कर लेने से अँगरेजों ने हिन्दी प्रदेश के केन्द्रों—बनारस, दिल्ली और आगरा--पर अधिकार स्थापित कर लिया। १८०३ की लड़ाई के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश में मरहठों की संगठित शक्ति का निश्चित रूप से पतन हुआ और साथ ही फ्रांसीसियों का प्रभाव भी हमेशा के लिए दूर हो गया। फिर १८१८ तक राजपूताना के देशी नरेशों ने भी अँगरेज़ी सत्ता स्वीकार कर ली। अवध नाममात्र के लिए १८५६ तक नवाबों के हाथ में रहा और १८५७ में विद्रोह के साथ कम्पनी-शासन का भी अंत हो गया। १८५७ राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं वरन् अन्य दृष्टियों से भी एक महत्त्वपूर्ण तिथि है। इससे कुछ ही वर्ष पूर्व हिन्दी प्रदेश में प्रेस, रेल, तार आदि वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा-क्रम का प्रचार हुआ। इन नवीन शक्तियों के माध्यम द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में आधुनिकता का और भी अधिक प्रस्फुटन हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) का, जिनके जीवन-काल में यह आधुनिकता और भी अधिक प्रस्फुटित हुई, जन्म भी १८५० में हुआ जो १८५७ से बहुत दूर नहीं पड़ता। अस्तु, ये सब बातें ध्यान में रखते हुए यदि हम अपने आलोच्य काल का प्रारंभ १७५७ से, जब से कि भारत में प्राचीन युग का अंत और नवीन युग का बीजारोपण हुआ, और अंत १८५७ से, जो राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टि से पहले की अपेक्षा अधिक विकसित और हमारे समीप के युग की सूचना देता है, मान लें तो अधिक हानि न होगी। वैसे तो विचारों के विकास में किसी निश्चित समय या तिथि की गणना नहीं की जा सकती, किन्तु तिथियाँ, सुविधा की दृष्टि से, काल निर्धारित करने में बहुत-कुछ सहायक सिद्ध होती हैं।

आलोच्यकालीन साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात हो
कि काव्य ही साहित्य का प्रधान अंग था। यह काव्य परंपराविहित
उसमें नवीन भावों, विचारों और अभिव्यंजना-प्रणाली का अभाव
परिवर्तित परिस्थितियों के कारण गद्य-क्षेत्र में ही हमें नवीनता के दर्श
हैं। विषय का अध्ययन करते समय हम सर्वप्रथम पीठिका के रूप में
विभिन्न परिस्थितियों पर विचार करेंगे जिनके कारण काव्य में प्राचीनता
रही और गद्य को नवीन प्रोत्साहन मिला। तत्पश्चात् काव्य साहित्य
गद्य साहित्य तथा उसके विकास के विभिन्न माध्यमों का अध्ययन कि
जायगा। अध्ययन अलग-अलग होने पर भी उनमें घनिष्ठ पारस्परिक सं
है, क्योंकि पीठिका में यही दिखाने की चेष्टा की गई है कि जिस समाज
काव्य साहित्य और गद्य साहित्य का निर्माण हुआ वह कैसा था। इसलि
वस्तुतः उनमें अंतर्निहित एकसूत्रता है।

हिन्दी साहित्य का अध्ययन करते समय प्रायः कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ छोड़ दी जाती हैं। वैसे देखा जाय तो साहित्य का अध्ययन करने से पूर्व इन समस्याओं का अध्ययन करना परम आवश्यक है। इन समस्याओं में सबसे प्रधान समस्या है कि जब दो विभिन्न जातियाँ आपस में एक दूसरे के संपर्क में आती हैं तो वे किस प्रकार एक दूसरे के जीवन को—अंततः साहित्य को—प्रभावित करती हैं। इस प्रकार के सांस्कृतिक विकास या ह्रास में किसी देश या प्रदेश की भौगोलिक परिस्थिति का बड़ा हाथ रहता है। भौगोलिक परिस्थिति के कारण एक देश के ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य सांस्कृतिक विकासों का रूप निर्धारित होता है, विदेशों के साथ संपर्क स्थापित हो सकने या न हो सकने के कारण भावों और विचारों की गतिविधि पर प्रभाव पड़ता है। पैदावार, औद्योगिक विकास और संगठन तथा वातावरण से सामाजिक और अंत में राजनीतिक रूपरेखा का निर्माण होता है। और भी ऐसी अनेक बातें हैं जिन पर भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है—विशेष रूप से आधुनिक समय में जब कि भूगोल का सोच-समझ कर प्रयोग किया जा सकता है। कुछ और ऐसे कारण भी हैं जिन्होंने मानव जाति का इतिहास एक विशेष दिशा की ओर मोड़ा है, किन्तु भूगोल भी उनके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। इसलिए हिन्दी प्रदेश के इतिहास और सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने की दृष्टि से उसके भूगोल पर भी संक्षेप में विचार कर लिया गया है। भारतीय इतिहास और

अ. पीठिका

१

हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति

मानव सभ्यता का क्रमिक विकास हमें यह बताता है कि मनुष्य और भौगोलिक परिस्थिति एवं वातावरण की क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पन्न शक्ति ने बहुत कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ निर्धारित की हैं। यह शक्ति मनुष्य-जीवन की मूल प्रेरक शक्ति रही है। यह ठीक है कि मनुष्य ने अपने बुद्धि-बल के आधार पर अनेक प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की है अथवा वह उन्हें सीमित बनाने में सफल हुआ है, किन्तु अपने चारों ओर के भौगोलिक बन्धन से वह अपने को अब भी, आज के वैज्ञानिक युग में भी, सर्वथा मुक्त कर सका हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भौगोलिक परिस्थिति के कारण मानव जाति ने दुर्दिन और सुदिन दोनों ही देखे हैं। उनका मनुष्य के जीवन-संग्राम, भावों और विचारों पर प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में सर टी० एच० होल्डिच (Holdich) का कथन है कि भारतीय इतिहास और संस्कृति ने जितना भौगोलिक परिस्थितियों का अनुसरण किया है उतना अन्य किसी देश के इतिहास ने नहीं किया।[१] भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही बाहर से अनेक जातियाँ यहाँ आईं और उनकी विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय से भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ। अति प्राचीन काल में निषाद (Negrito), द्राविड़, कोल, (Austric) आदि ऐसी ही जातियाँ थीं। निस्संदेह भारतीय संस्कृति के निर्माण में आर्यों का बहुत बड़ा हाथ रहा है, किन्तु उनके आगमन से पूर्व भी भारतवर्ष की अपनी संस्कृति थी। निम्न वर्ग के बहुसंख्यक लोग उन्हीं प्राचीन जातियों के वंशज हैं। 'गंगा' शब्द, आवागमन का सिद्धान्त, ताम्बूल का प्रयोग, हाथियों का पालन, ग्राम-सभ्यता, धर्म-विश्वास, आचार-अनुष्ठान,

---

१—'दि रीजन्स ऑव दि वर्ल्ड' (१९०४), पृ० १

पूजा तथा विवाह-पद्धतियाँ, श्राद्ध, वास्तु-कला, अनेक देवी-देवताओं की कल्पना आदि अनेक बातें उन जातियों की देन हैं। गंगा की घाटी में फैले हुए लोगों पर कोलों (ऑस्ट्रिक) का अत्यधिक प्रभाव है। नागरिक संस्कृति का उदय द्राविड़ों में हुआ था। मोहन-जो-दड़ो और हड़पा की विराट सभ्यता द्राविड़ जाति ही की देन है। गोतम बुद्ध का सम्बन्ध किरात जाति से बताया जाता है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं हैं कि भारतवर्ष में भी हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहाँ के इतिहास में उतार-चढ़ाव रहा है। हिन्दी प्रदेश एक प्रकार से भारतीय सभ्यता और संस्कृति की लीलाभूमि रहा है। भाषा, साहित्य, इतिहास, राजनीति आदि सभी दृष्टियों से उसका केन्द्र यहीं था और यहीं से सब बातें देश के कोने-कोने में फैलीं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आधुनिक काल में ब्रिटिश राज्यान्तार्गत भी उसके इस गौरवपूर्ण स्थान में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष तीन बड़े-बड़े भागों में विभाजित किया जाता है। भारतवर्ष का नकशा यदि हम सामने रखें तो यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। पहला भाग तो वह है जो हिमालय नाम से अभिहित किया जाता है। हिमालय के सीमान्त पहाड़ी प्रदेश भी इसमें शामिल किए जाते हैं। इसके दक्षिण में गंगा और सिन्धु के मुहानों के बीच का विशाल मैदान है। उससे नीचे दक्षिण भारत का पठार है (दक्खिन)। विशाल मैदान और दक्खिन के बीच विन्ध्य पर्वतमाला नाम की विभाजन-रेखा है। इन तीन प्रधान भागों में से हिन्दी प्रदेश विशाल उपजाऊ मैदान का एक बहुत बड़ा मध्य और प्रधान भाग है। और वैसे तो "शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य्य, द्राविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिये हो सकता है किन्तु आजकल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर भारत के मध्य भाग के हिन्दुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा इसी भूमिभाग की बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक-रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमिभाग की सीमायें पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस भूमिभाग में हिन्दुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूली

प्राकृतिक विभागों, जलवायु, वनस्पति आदि की दृष्टि से हिन्दी प्रदेश में काफी विभिन्नता मिलती है। इस कारण यहाँ के निवासियों के आचार-विचार, कर्म, वेशभूषा, रीति-रिवाज और रंग में औसत रूप में भी ऐसा अंतर मिलता है जो सरलतापूर्वक पहिचाना जा सकता है। उत्तर में चौड़े और ऊँचे पर्वत हैं जो दुर्गम घाटियों से कटे हुए हैं। इन पर्वतों के निचले भाग में हिन्दी प्रदेश की सीमा के अंतर्गत तराई है। तराई के जंगल घने और भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं और वहाँ लोगों को मलेरिया बहुत जल्दी होता है। हिन्दी प्रदेश का उपजाऊ मैदान उष्णकटिबंध में पड़ता है जहाँ वर्ष में कभी खूब गर्मी पड़ती है, तो कभी वर्षा ऋतु की तर गर्मी दम घुटा देती है और या फिर ठंडी हवा चलती है। फिर इस मैदान के दक्षिण में जंगलों से ढकी हुई एक पर्वतमाला है जहाँ गर्मियों के दिनों में बड़ी तेज़ धूप पड़ती है। पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की तरफ़ उपजाऊ मैदान धीरे-धीरे रेगिस्तान में परिवर्तित हो जाता है और गर्मी-सर्दी दोनों ही की अति रहती है। अस्तु, जलवायु, पैदावार आदि की दृष्टि से हिन्दी प्रदेश में सर्वत्र समानता नहीं मिलती। भौगोलिक दृष्टि से यह प्रदेश चार स्पष्ट विभागों में बाँटा जा सकता है — १. उत्तर का पार्वत्य प्रदेश, २. बीच का विशाल उपजाऊ मैदान, ३. दक्षिणी पर्वतमाला, और ४. पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम का मरु प्रदेश। मरुभूमि के अतिरिक्त अन्य विभागों में वर्षा प्रायः नियमित और समान रूप से होती है। हिन्दी प्रदेश प्रधानतः कृषि-प्रधान है और कृषि-सम्बन्धी पैदावार, फल, तरकारी आदि की बिक्री से यहाँ के

१—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : 'हिन्दी भाषा का इतिहास' (१९३३), पृ० ३५-३६

निवासियों को यथेष्ट आर्थिक लाभ होता है। प्राकृतिक संपत्ति और खनिज पदार्थों की दृष्टि से हिन्दी प्रदेश किसी अन्य प्रदेश से पिछड़ा हुआ नहीं है, यद्यपि सरकार की तरफ़ से इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। कृषि-प्रधान होते हुए भी यहाँ उद्योग-धंधों तथा अन्य विभिन्न प्रकार की दस्तकारियों का अभाव कभी नहीं रहा। उद्योग-धंधों और दस्तकारियों द्वारा निम्न अशिक्षित वर्ग की ही नहीं, वरन् उच्चवर्गीय एवं सुसंस्कृत शिष्ट-मंडल की आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती रही है। आधुनिक समय में मशीन की प्रतियोगिता के सामने इनमें से अनेक उद्योग-धंधे नष्ट हो गए हैं।

हिन्दी प्रदेश के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास पर सबसे अधिक प्रभाव उत्तर की पर्वतमालाओं का पड़ा है जिनमें से हिमालय सर्वप्रधान है। ये पर्वतमालाएँ ही हिन्दी प्रदेश को एशिया के अन्य भागों से अलग करती हैं। प्राचीन काल में पर्वतश्रृंखला लांघी न जा सकने के कारण उसके दोनों ओर के निवासियों में पारस्परिक संपर्क बना रहना एक प्रकार से असंभव था। वहाँ सड़कें तथा यातायात के अन्य साधन भी उपलब्ध नहीं होते। वह स्थायी सीमा के रूप में सदैव बनी रहती है। आने-जाने की असुविधा के कारण ही व्यापार में कठि-नाई पड़ती है। पर्वतों का पार करना उनकी समुद्र-तल से ऊँचाई पर निर्भर रहता है। भारतवर्ष के उत्तर की यह पर्वतमाला हर जगह से तो नहीं किन्तु कई स्थानों से पार की जा सकती है, उदाहरण के लिए सुलेमान गिरिश्रृंखला है।[1] भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में यह गिरिश्रृंखला काफ़ी ऊँची है, किन्तु इतनी ऊँची नहीं है कि पार न की जा सके। उसमें बोलन और ख़ैबर के दो इतिहास-प्रसिद्ध दर्रे हैं। सीमान्त के रास्तों का प्रत्येक देश के इतिहास में बड़ा महत्त्व रहता है। भारतवर्ष के प्रत्येक सीमान्त प्रदेश में लाँघे जा सकने वाले रास्ते हैं। किन्तु प्रकृति की कृपा से एक पूरी सेना के लिए उन्हें लाँघना कभी भी सरल नहीं रहा। बोलन और ख़ैबर दर्रे में से भी बोलन काफ़ी लंबा और तंग दर्रा है और उसके अधिकांश भाग में पानी की कमी है। एक आक्रमणकारी सेना के लिए यह एक अच्छा मार्ग सिद्ध न हो सका। ख़ैबर दर्रे में इस प्रकार की कठिनाइयाँ नहीं रहीं। इसलिए अँगरेज़ों के भारतागमन से पूर्व यही दर्रा मध्य एशिया और भारत के बीच आने-जाने

१—आधुनिक समय में तो अब यह सीमा अलंघ्य नहीं रही। लाल चीन की सेनाएं हिन्दी प्रदेश की उत्तरी सीमा तक आ सकती हैं। यद्यपि यह कार्य बहुत सरल नहीं है, किन्तु वैज्ञानिक साधनों द्वारा यह बहुत कुछ संभव हो गया है।

का सुगम मार्ग था। भारतवर्ष के आदि निवासी, यदि कहीं बाहर से आए थे तो, किस मार्ग से आए थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उत्तर की विशाल पर्वतमाला भारतवर्ष और बाहर के सभ्य देशों के बीच एक बड़ी बाधा ही नहीं रही, वरन् उसने बाहर के आक्रमणकारियों से देश की सदैव रक्षा की। उसके इस पुण्य कार्य में बोलन और खैबर ये ही दो दर्रे अपवाद रहे हैं। ये अपवाद देश के लिए कितने क़ीमती साबित हुए, यह इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम सीमान्त के इन दो महान् अपवादों के बाद भारतीय इतिहास के लिए एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यान में रखने की आवश्यकता है। और वह यह है कि एक बार सीमान्त पार कर लेने पर प्रबल आक्रमणकारी के लिए हिन्दी प्रदेश तक बढ़े चले आने में कोई बाधा नहीं रह जाती। पहाड़ी जलवायु और पथरीली भूमि की अपेक्षा विशाल उपजाऊ और हरे-भरे मैदानों में अधिक आकर्षण रहता था। उत्तर-पश्चिम स्थल मार्ग से आने वाला कोई भी आक्रमणकारी इन धनधान्यपूर्ण हरे-भरे मैदानों तक आने का प्रलोभन नहीं रोक सका। प्राचीन आर्य भारत की इसी उत्तर-पश्चिम दिशा से आए और विजयी होने के साथ-साथ यहाँ के अपने से पहले के काले किन्तु सभ्य निवासियों के संपर्क में आने पर उन्होंने भारतीय संस्कृति के इतिहास में अन्य अनेक बातों के अतिरिक्त वर्ण-व्यवस्था को जन्म दिया। इस व्यवस्था का प्रत्येक युग की भारतीय चिंताधारा और समाज-व्यवस्था में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है यह सर्वविदित है। आज भी वैज्ञानिक युग के प्रकाश में भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था का काफ़ी प्रभाव है, इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता। सिकन्दर महान् ने उत्तर-पश्चिम सीमांत से भारत पर आक्रमण किया था। भारतवासियों और ग्रीक लोगों के संपर्क का भारतीय ललित कलाओं पर प्रभाव पड़ा और भारत में मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन मिला। ग्रीक आक्रमणकारियों के बाद शक, हूण आदि आए। उनके कारण भी देश की वेशभूषा, रीति-रस्म आदि में परिवर्तन हुए। अन्त में भारतवासियों का तलवार के ज़ोर पर आधारित नवीन धर्म इस्लाम के साथ संपर्क स्थापित हुआ। जो लोग सामाजिक अत्याचार से पीड़ित थे, या समाज से असन्तुष्ट थे या जिन्हें राजनीतिक लाभ पहुँचता था, उन लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया। अनेक भारतवासी बलपूर्वक भी मुसलमान बनाए गए। अंत में मुसलमानों ने देश में अपना राज्य स्थायी रूप से स्थापित कर लिया जिसका अन्तिम रूप हमें मुग़ल साम्राज्य में मिलता है। यद्यपि अनेक भारतीय सामन्तों ने मुसलमानों

से व्यक्तिगत और राजनीतिक संबन्ध स्थापित किए तो भी सभी राजपूतों और सिक्खों तथा मरहटों ने पूर्ण रूप से उनकी अधीनता कभी स्वीकार न की थी। मुसलमान भारतवर्ष में अपने साथ नई युद्ध-विद्या और राजनीतिक व्यवस्था लाए। उनका दृष्टिकोण सामन्तवादी था और देश के आर्थिक जीवन में उन्होंने बहुत कम परिवर्तन किए। भारतीय धर्म इस्लाम से और इस्लाम भी भारतीय धर्म से प्रभावित हुए बिना न रह सका। वास्तव में पाश्चात्य सभ्यता के साथ संपर्क स्थापित होने से पहले भारतवर्ष की सांस्कृतिक गतिविधि निर्धारित करने में हिमालय पर्वतमाला का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिमालय देश को दूसरे देशों से अलग तो रखता है, किन्तु बिल्कुल अलग नहीं रखता। भौगोलिक परिस्थिति का केवल एक यही तथ्य भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इससे न मालूम कितनी जटिल समस्याएँ देश में उत्पन्न हुई हैं।

राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभावों के अतिरिक्त हिमालय का आर्थिक महत्त्व भी किसी प्रकार कम नहीं रहा। गंगा की घाटी की सारी संपत्ति विभिन्न छोटी-बड़ी नदियों द्वारा हिमालय से ली गई सिंचन-शक्ति के ही कारण है। गंगा-काँठे की नदियों ने हिन्दी प्रदेश के मैदान उपजाऊ बनाए जिसके फलस्वरूप वे विदेशी आक्रमणकारियों के लिए प्रलोभन की वस्तु बने। ऊन, फल, मेवा, खेती और बागों की उपज के अतिरिक्त हिमालय के जंगलों की उपज की भी बड़ी क़ीमत है। चीड़, देवदार आदि ऐसे अनेक पेड़ हैं जो हिमालय की विभिन्न ऊँचाइयों के कटिबंधों में ही हो सकते हैं। इन पेड़ों का बहुत अच्छा आर्थिक मूल्य है। उनसे तरह-तरह की चीज़ें बनती हैं। प्रधान पर्वतमाला के नीचे भाभर-तराई में बहुत-सी ऐसी वानस्पतिक उपज हैं जिनसे काग़ज़ तथा अन्य अनेक आवश्यक चीज़ें तैयार की जाती हैं। खनिज संपत्ति भी हिमालय में काफ़ी है। उत्तर भारत के विशाल मैदान की कहीं अधिक कहीं कम उर्वरा शक्ति, कृषि और कृषि-व्यवस्था, जन-संख्या और उसके सुख-दुःख आदि ये सभी बातें भारत की उत्तर पर्वतमाला पर निर्भर रही हैं।[१]

इसके अतिरिक्त हिमालय अपने अद्भुत सौंदर्य के लिए विश्व-विख्यात है। उसकी हिम-मंडित चोटियों और प्राकृतिक दृश्यों ने बड़े-बड़े कवियों और

१—जोसेफ़ चैली (Joseph Chailley): 'ऐड्मिनिस्ट्रेटिव प्रॉबलेम्स ऑव इंडिया' (१९१०), पृ० ४
सर जॉन स्ट्रेची: 'इंडिया: इट्स ऐड्मिनिस्ट्रेशन ऐंड प्रोग्रेस', पृ० ३१

सीमान्त का पहाड़ी प्रदेश आक्रमणकारियों के मार्ग में भारी रुकावट र
किन्तु अन्त में मुसलमानी सेनाएँ पहाड़ी आँचल में प्रवेश करने में स
हुईं। हिन्दी प्रदेश के विभिन्न शासकों ने आक्रमणकारियों का डट
मुक़ाबला किया। उनका शौर्यगान हमें विभिन्न वीरगाथाओं में मिलत
जिनमें से सबसे प्रसिद्ध 'पृथ्वीराजरासो' है (यद्यपि उसकी प्रामाणिकता
अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है)। इन युद्धों ने वीर का
के लिए केवल विषय ही प्रस्तुत नहीं किए, वरन् विदेशियों के सम्पर्क में आ
से यहाँ की भाषा भी अछूती न रह सकी। जब देश में मुसलमानों
प्रभुत्व स्थापित हो गया तो हिन्दी प्रदेश की विभिन्न बोलियों में तुर्की, ईर
और अरबी भाषाओं के अनेक शब्द घुलमिल गए। आज उनमें से अ
शब्द हमारी भाषा के अंग बन गए हैं और उन्हें बिना भाषा-सौंदर्य न
किए अलग नहीं किया जा सकता। वीरगाथाकालीन रचनाओं के का
ऐसी कई काव्य-शैलियों का जन्म हुआ जो आगे चलकर वीर विषय
सम्बन्ध रखने वाली किसी भी रचना की विशेषताएँ समझी जाने लग
मुसलमान कवि अमीर ख़ुसरो द्वारा रचित साखियाँ तथा मुकरियाँ और उन
विषय तथा शैलियाँ हिन्दी भाषा और साहित्य की अमूल्य संपत्ति हैं।
धर्मों के सम्पर्क से नवीन विषय और उपकरण लेकर चलने वाले कवियों
आविर्भाव हुआ। इस्लाम धर्मांतर्गत प्रबल एकेश्वरवाद की भावना हि
धर्म को प्रभावित किए बिना न रह सकी। जायसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्माव
जैसे ग्रन्थों के माध्यम द्वारा इस्लामी रहस्यवाद और सूफ़ीमत का प्रतिपाद
हुआ। जायसी ने भी अपनी रचना और भाषा तथा शैली से हिन्दी साहि
को समृद्ध बनाया। तत्पश्चात् स्वामी रामानंद के शिष्य कबीर और सि
गुरु नानक तथा अन्य अनेक संत कवि हुए जिन्होंने विभिन्न संत सम्प्रदा
की स्थापना कर प्राचीन और नवीन का सुंदर समन्वय उपस्थित करने औ
धर्म तथा समाजगत दोष सुधारने की ही चेष्टा नहीं की, वरन् एक प्रकार क
विशेष 'सधुक्कड़ी' भाषा को जन्म दिया जो उनकी अपनी चीज़ थी। हिन
प्रदेश के सांस्कृतिक इतिहास में यह नवीन घटना थी। रीतिकालीन शृंगा
कवियों ने भी काव्यगत अनेक रूपक, कल्पनाएँ और विचारादर्श ही फ़ार
साहित्य से नहीं अपनाए, किन्तु आचार-विचार, रीति-रस्म, वेशभूषा आ
सम्बन्धी अनेक बातें भी उनसे ग्रहण कीं। इस प्रकार की बातों का उल्ले
[illegible] ग्रंथों में भी मिलता है। इस्लाम में यद्यपि अध्यात्म और दर्शन क
सूक्ष्म [illegible] चिन्तन का अभाव था, तो भी वैष्णव आचार्यों और उनके

सम्प्रदायों पर उसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। साहित्य के अतिरिक्त विदेशियों का हिन्दी प्रदेश की रुचि, संगीत, चित्रकला, शिल्पकला, भोजन, वस्त्र, रहन-सहन के ढंग आदि पर भी काफ़ी प्रभाव पड़ा। क्योंकि मुसलमानों ने हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था और क्योंकि स्वयं हिन्दुओं की समन्वयात्मक या विदेशियों को अपने में पचा लेने की शक्ति कमज़ोर हो गई थी, इसलिए समाज में खान-पान, छूआछूत, सामाजिक आचार-विचार, रीति-रस्म, वर्ण-व्यवस्था आदि सम्बन्धी नियम पहले से भी अधिक कड़े कर दिए गए। संकट काल में आत्मरक्षा की भावना से ऐसा किया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इन सामाजिक प्रतिबन्धों का प्रतिबिंब हमें साहित्य में भी मिलता है। ये सब बातें हिन्दी की अमूल्य साहित्यिक निधियाँ हैं। इसका उत्तरदायित्व हिमालय के उत्तर-पश्चिम सीमांत पर है। अँगरेज़ों के आने पर फिर साहित्यिक गतिविधि में परिवर्तन हुआ। किन्तु अँगरेज़ उत्तर-पश्चिम सीमांत के स्थल-मार्ग से नहीं आए थे।

हिन्दी प्रदेश के दक्षिण में विन्ध्यमेखला है। नर्मदा और सोन नदियों की घाटियाँ उसे दो शाखाओं में विभाजित करती हैं। राजपूताना-मालवा की पर्वतशृंखला और पन्ना-कैमोर आदि शृंखलाएँ उत्तर की ओर हैं, और सातपुड़ा, हज़ारीबाग़, राजमहल की शृंखला दक्षिण में है। विन्ध्यमेखला में ही आबू पर्वत है। यह मेखला प्रधानतः पहाड़ी और जंगली प्रदेश है। पैदावार की दृष्टि से वह उत्तरी उपजाऊ मैदानों का मुक़ाबला नहीं कर सकता। उसकी मुख्य सम्पत्ति खनिज रही है। भूगर्भ रचना और खनिज पदार्थों की दृष्टि से जहाँ उसका व्यावसायिक मूल्य है, वहाँ उसकी भौगोलिक स्थिति का भी महत्त्व है। प्राचीन काल से उसके बीच के रास्तों का बड़ा सामरिक और व्यावसायिक गौरव रहा है। विन्ध्यमेखला उत्तरी भारत और दक्षिण के बीच की विभाजन रेखा है। विंध्य का अर्थ ही 'विभाजक' है। जंगलों तथा बीहड़ स्थल-मार्ग के कारण यह मेखला अलंघ्य नहीं रही। प्राचीन आर्यों ने इसे लाँघ कर ही दक्षिण से सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित किया था। आर्य-संस्कृति के इस प्रसार का उल्लेख रामायण में मिलता है। इसके बाद बहुत दिनों तक उत्तर और दक्षिण में पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहा। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में गुजरात तथा दक्षिण के प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आक्रमणकारी सिंध प्रदेश के रास्ते से जाने के बजाय राजपूताना और मालवा होकर यह मेखला पार कर

जाते थे। साथ ही उत्तर भारत के उपजाऊ मैदानों में स्थापित साम्राज्यों के दक्षिणी भाग की रक्षा के लिए शासकों को विंध्यमेखला के एक बड़े भाग पर अधिकार करना पड़ता रहा जिसके फलस्वरूप अनेक छोटे-बड़े युद्ध हुए। इन युद्धों के कारण सैनिक व्यय बढ़ जाता था और प्रजा पर बड़े-बड़े कर लगाए जाते थे जिनसे अंततः मध्यकालीन राजनीतिक संस्थाओं का ही ह्रास हो गया। मराठों की सेना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक विन्ध्य-मेखला पार कर सीधे हिन्दी प्रदेश के उपजाऊ मैदानों पर धावा करती थी। इसका फल होता था राजनीतिक अव्यवस्था और अराजकता, निरन्तर युद्ध और कलह और अंत में जनता की शोचनीय आर्थिक अवस्था।

विन्ध्यमेखला के अलंघ्य न होने के कारण साहित्य और कला का विकास प्रभावित हुए बिना न रह सका। मध्य युग में वैष्णव आन्दोलन ने, जिसका जन्म दक्षिण में हुआ था, हिन्दी साहित्य में स्वर्ण युग उपस्थित किया। तुलसी, सूर आदि अनेक महाकवियों ने अपनी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध रचनाएँ इसी वैष्णव धर्म के प्रभावान्तर्गत प्रस्तुत कीं। फिर जिस समय औरँगज़ेब की नीति के कारण मरहठों के साथ मुसलमानों का संघर्ष हुआ उस समय भूषण जैसे कवि ने शिवाजी का गुणगान कर नवीन राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व किया। मरहठों का उत्थान एक प्रकार से हिन्दुओं में फैल रहे असन्तोष और धर्म एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक था, यद्यपि राष्ट्रीयता का यह रूप सामन्तवादी रंग से रँगा हुआ और संकुचित एवं स्थानीय था। इस राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व भूषण के चरित-नायक शिवाजी ने किया। इस दृष्टि से भूषण की रचनाएँ हिन्दी वीर-साहित्य के इतिहास में एक सुन्दर विकास उपस्थित करती हैं। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीयता का शिलान्यास किया। इसी प्रकार प्रसिद्ध कवि लाल की रचनाएँ भी विन्ध्यमेखला की भौगोलिक परिस्थिति के कारण संभव हो सकीं। साथ ही हिन्दीभाषी मराठी भाषा-भाषियों के संपर्क में आए और एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ा। हिन्दी प्रदेश में मरहठों का शासन-काल बहुत दीर्घ और स्थायी न हो सकने के कारण हिन्दी भाषा और साहित्य पर मराठी भाषा और साहित्य का जितना अधिक प्रभाव पड़ना चाहिए था उतना न पड़ सका।

संभवतः सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही हिन्दी प्रदेश सिन्ध विजेता मुसलमान आक्रमणकारियों के अधिकार में चला गया होता। उस समय हिन्दी भाषा एवं साहित्य की प्राचीन गतिविधि क्या होती इस सम्बन्ध में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

हिन्दी प्रदेश में समुद्र-तट न होने से यहाँ के निवासियों में विदेशों से व्यापारिक-संबन्ध स्थापित करने और सामुद्रिक जीवन की साहसिकता का अभाव मिलता है। किन्तु देश के समुद्र-तट ने सर्वप्रथम उसके राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में परिवर्तन उपस्थित किया। १४६८ में वास्को ड गामा द्वारा केप ऑव गुड होप वाले मार्ग का पता लग जाने के बाद यूरोप के कई देशों ने भारतवर्ष से व्यापारिक संबन्ध स्थापित करने शुरू किए और तटों पर अपने छोटे-छोटे उपनिवेश बना लिए। यूरोप की उन जातियों में से अँगरेज़ अपनी उच्च कोटि की नाविक शक्ति और संलग्नता एवं अनुशासन के माध्यम द्वारा बंगाल के निचले हिस्से पर अधिकार प्राप्त करने में सफल हुए। हिन्दी प्रदेश की पश्चिमी भौगोलिक परिस्थिति जिस प्रकार आक्रमण-कारियों के मार्ग में कोई बड़ी रुकावट नहीं थी, उसी प्रकार उसका पूर्वी द्वार भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करता था। मैसूर, मराठों और सिक्खों के विरुद्ध युद्धों में भी प्रकृति ने अँगरेज़ों के मार्ग में कोई रुकावट न डाली। अन्त में वे गंगा और सिन्धु घाटियों के कोने-कोने तक फैल गए। इस प्रकार भारतवर्ष के साथ-साथ हिन्दी प्रदेश भी सर्वप्रथम सुदूर स्थित नाविक शक्ति द्वारा विजित हुआ। स्वेज़ नहर के खुल जाने के बाद और विविध वैज्ञानिक साधनों के माध्यम द्वारा विजेताओं को अपना शासन और भी दृढ़ बनाने में बड़ी सहायता मिली। मुसलमान शासक यहीं रहते थे। इसलिए उनकी नीति, विशेष रूप से आर्थिक नीति, से देश को कोई हानि न हुई थी। किन्तु इँगलैंड से आने-जाने, समाचार मँगाने आदि की सुविधा होने के कारण अँगरेज़ों ने भारतवर्ष को अपना घर कभी न बनाया। इसी एक तथ्य ने उनकी राजनीतिक और आर्थिक नीतियाँ प्रभावित कीं। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ों और उनके द्वारा यूरोपीय संस्कृति के साथ संपर्क स्थापित होने से भारतवर्ष का अब तक का अलसाया जीवन ज़ोर का धक्का खाकर एक दम उठ खड़ा हुआ और उसमें अनेक क्रांतिकारी अच्छे या बुरे परिवर्तन हुए। जहाँ तक साहित्य से संबन्ध है परंपरागत, रूढ़िग्रस्त और शक्तिहीन एवं निष्प्राण काव्य-साहित्य के स्थान पर नए साहित्यिक रूपों और भावों तथा विचारों का प्रचार हुआ। जब तक विदेशी आक्रमणकारी

उत्तर-पश्चिम के स्थल-मार्ग से आते रहे, हिन्दी प्रदेश का उनके साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान होते देर न लगती थी। किन्तु इस संबन्ध में एक समुद्र-तट के अभाव ने हिन्दी प्रदेश की इस स्थिति में परिवर्तन उपस्थित कर दिया। अँगरेज़ जाति नाविक शक्ति के रूप में आई थी और पहले-पहल वह बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, बंबई आदि के समुद्री किनारों पर आकर बस जाती थी। फलतः यूरोपीय भावों और विचारों का सर्वप्रथम प्रभाव इन स्थानों में दृष्टिगोचर होता था। हिन्दी प्रदेश दूर पड़ता था, इसलिए यहाँ के सहित्यिक केन्द्र नवीनता प्रदर्शित करने या नवीन और प्राचीन का सुंदर सामञ्जस्य उपस्थित करने में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास जैसे केन्द्रों से पिछड़ गए। यातायात के साधनों का उस समय प्रचार न होने से हिन्दी प्रदेश तक नवीनता के आने में देर लगती थी। आलोच्यकाल में यूरोपीय प्रभाव हिन्दी समाज की ऊपरी सतह के केवल कुछ किनारे स्पर्श कर सका था और कुछ दिनों तक हिन्दी काव्य अपना महान् अतीत लिए हुए उससे अलग रहा। शासन, राजनीति और शिक्षा-संबन्धी नवीन आवश्यकताओं के कारण खड़ीबोली गद्य को अवश्य प्रोत्साहन मिला। यंत्र-विद्या-सम्बन्धी तथा वैज्ञानिक विषयों पर अनेक पुस्तकों की रचना हुई। ये रचनाएँ खड़ीबोली गद्य के विकास में तथा सामान्यतः सभी प्रकार के हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास में उसके भावी नवीन एवं उज्ज्वल युग की प्रवर्तक थीं। भाषा ने अनेक यूरोपीय शब्द तथा अभिव्यंजनाएँ ग्रहण कर अपनी समन्वयात्मक शक्ति का परिचय दिया। यह क्रम अब तक जारी है। उत्तर भारत में सबसे पहले बँगला साहित्य यूरोपीय भाषा और साहित्य के प्रभाव के अंतर्गत आया था। इसलिए कुछ समय तक अँगरेज़ी शिक्षा का अधिक प्रचार न होने के कारण, हिन्दी-भाषा-भाषी बँगला भाषा और साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते रहे। यह बात प्रधानतः १८५७ के बाद हुई। आधुनिक काल में तो हिन्दी प्रदेश के जीवन का धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा अन्य कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जो यूरोपीय प्रभाव से अछूता रहा हो। किन्तु अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति के कारण हिन्दी प्रदेश इस संबन्ध में समुद्र-तट के समीपवर्ती प्रदेशों से सदैव पिछड़ा रहता है।

उत्तर भारत का विशाल मैदान,[1] जिसमें हिन्दी प्रदेश स्थित है, उत्तर में पहाड़ी शृंखला को छोड़ कर, और सब तरफ़ से खुला हुआ समतल और

विस्तृत है। इस मैदान के एक छोर से दूसरे छोर तक लगातार लहलहाते खेतों की हरियाली है। ज़मीन इतनी उपजाऊ है कि कहीं एक छोटा-सा कंकड़ भी उसे कंटकित नहीं करता। नदियों के एक बहुत बड़े जाल से उसकी सिंचाई होती है।

इस मैदान की उपजाऊ भूमि और फलतः उसकी समृद्धि और घनी आबादी संस्कृत से लेकर हिन्दी तक के साहित्यों को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकी। अपनी भौगोलिक विशेषताओं के कारण यह मैदान भारतीय सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र बना। उसी की पश्चिमी दिशा में प्रथम प्रभात का उदय हुआ, उसी के तपोवनों में सर्वप्रथम साम-रव उच्चरित हुआ, उसी के वनों-उपवनों में ऋषि-मुनियों के अमर वचनों की सृष्टि हुई। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति के कारण उत्पन्न होने वाली धन-संपत्ति और पैदावार के फलस्वरूप यहाँ के निवासियों में संघर्ष और फलतः कर्मठता का अभाव मिलता है। ऐसे पहाड़ी या मरुस्थलों की तुलना में जहाँ मनुष्य को अपनी जीविका पैदा करने में प्रकृति की अनेक दुःसाध्य शक्तियों का सामना करना पड़ता है, इस विशाल मैदान के रहने वाले लोगों का जीवन संघर्ष की कठोरताओं और विषमताओं से मुक्त है। इसलिए अपने चारों ओर प्रकृति का सुन्दर रंगीन चित्रपट देख कर यहाँ के निवासियों का कल्पना और चिंतन-प्रिय होना स्वाभाविक था। उनके जीवन और स्वभाव में कठोरता नहीं है। भौगोलिक कारणों से ही कृषि यहाँ की प्रधान संपत्ति है। अधिकांश जन-संख्या चारों ओर बिखरे हुए गावों में रहती है। उसकी सबसे प्रिय वस्तु ज़मीन है। प्राणों पर नौबत आ जाने पर वह अपनी ज़मीन छोड़ना नहीं चाहती। यही कारण है कि वह अत्यधिक पुरातन-प्रिय और परिवर्तन-विरोधी रही है। रूढ़ि और परम्परा उसके जीवन के अंग रहे हैं। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में प्रचण्ड और उग्र परिवर्तन उसे कभी अच्छे नहीं लगे। यह जन-समूह साहसी और जोखिमी नहीं रहा। लोग प्रायः क्रमिक विकास में विश्वास रखते आए हैं। उनके जीवन की परिस्थितियाँ उन्हें संतोषी, शान्ति-प्रिय, वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने वाले और सब को बने रहने देने की नीति में विश्वास करने वाले बनाती हैं। कृषि कर्म करने और सदा सुरक्षा के इच्छुक होने के कारण वे देश में उथल-पुथल नहीं चाहते और इसीलिए प्राचीन समय में राजत्व प्रथा और शक्तिशाली सैनिक संगठन की आवश्यकता हुई। इस सम्बन्ध में देश की वर्ण-व्यवस्था का भी बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में संगठित सैनिक शक्ति के फलस्वरूप स्थापित

शांति के आधार पर ही स्वर्ण युग का आविर्भाव हो सका था। क्योंकि शांतिपूर्ण वातावरण होने पर ही लोग कला और साहित्य की ओर ध्यान दे सकते थे। प्रकृति द्वारा प्रदत्त सुरक्षा के साधनों के अभाव में महत्त्वाकांक्षी और झगड़ालू पड़ोसियों से रक्षा करने के लिए सभी शासक सैनिक संगठन का आश्रय ग्रहण करते रहे हैं। और क्योंकि वे अकेले इतने बड़े और विस्तृत क्षेत्र का शासन करने में असमर्थ रहते थे, इसलिए उन्हें अन्य शासकों को अपने अधीन बनाए रखने की आवश्यकता पड़ती रहती थी। जनता का भाग्य शासक के भाग्य पर निर्भर रहता था। राजत्व-प्रथा यद्यपि जनसत्तात्मक-शासन की बहुत कुछ उलटी थी [1], तो भी वह भारतीय समाज, उसकी सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र था। नैतिक मूल्यों की दृष्टि से राज्य-धर्म चारों वर्णों और चारों आश्रमों के धर्म के बराबर समझा जाता था। [2] जो व्यक्ति समाज की अराजकता से रक्षा करता था उसकी आज्ञा का पालन करना सबका परम कर्त्तव्य था। प्राचीन हिन्दू सभी प्रकार की सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं (संप्रदायों) की रक्षा के लिए राजा का मुँह ताकते थे। राजत्व प्रथा-सम्बन्धी इस प्रकार के विचारों तथा उनके दार्शनिक प्रतिपादन की अभिव्यंजना हिन्दी साहित्य में किसी न किसी रूप में प्रकट अवश्य हुई है। सुरक्षा के प्राकृतिक साधनों के अभाव में स्थानीय युद्ध-प्रिय सामन्तों का कार्य बहुत सरल हो जाता था और राजकवियों ने अपने आश्रयदाताओं के ऐसे चरित्रों का विशद वर्णन किया है। इसी कारण हिन्दी के वीर-काव्यों का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित रहा। कविगण समस्त हिन्दी प्रदेश के व्यापक हितों पर दृष्टिपात न कर सके। आलोच्यकाल में प्रसिद्ध कवि पद्माकर कृत 'हिम्मत बहादुर विरदावली' का उदाहरण लिया जा सकता है। इस ग्रंथ में एक ऐसे चरितनायक का उल्लेख है जिसका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं। पद्माकर से पहले सूदन ने अपने जाट आश्रयदाता का उल्लेख किया। उसका भी स्थानीय महत्त्व के अतिरिक्त हिन्दी प्रदेश के व्यापक इतिहास की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं। ऐसी ही अन्य अनेक रचनाओं से राष्ट्रीय दृष्टिकोण की स्थापना न हो सकी। और भी बहुत से छोटे-छोटे युद्धों के वर्णनों ने अनेक हिन्दी वीर-ग्रंथों का मूल्य कम कर दिया है। हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का इसमें बहुत बड़ा हाथ है। उसकी सीमाओं ने युद्धों का स्वरूप निर्धारित कर उसका साहित्य स्थायी रूप से प्रभावित किया। चारों तरफ़ से बन्द न होने के कारण

१—दे०, बेनीप्रसाद कृत 'द स्टेट इन एनशेंट इंडिया'

२—दे०, यू० घोषाल कृत 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दू पोलिटिकल थियरीज़'

सभी प्रकार के बाहर से आए हुए विचार उसका मानसिक जीवन उद्वेलित करते रहे हैं। इसीलिए सैनिक शक्ति के संगठित होने या उसके विशृंखल होने के साथ-साथ उसका भी उत्थान या पतन होना इतिहास के साधारण ज्ञान की बात है। समय-समय पर समस्त हिन्दीभाषियों की रक्षा के लिए लोगों से धैर्य और आत्म-निर्भरता की आशा की जाती रही है। सैनिक-संगठन का एक और महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। शांति के समय में वह इतनी अधिक संख्या में लोगों को अपनी ओर खींच लेता है कि औद्योगिक तथा अन्य उत्पादन कार्य पिछड़ जाते हैं। लोग उस समय या तो सैनिक के रूप में जीविकोपार्जन करते थे अथवा सेना से निकाल दिए जाने पर वे बेकार घूम कर समाज के लिए अनिष्टकारी सिद्ध होते थे। आलोच्यकाल में सामन्तवादी प्रथा के छिन्न-भिन्न और अँगरेज़ों की आर्थिक नीति से देश का शोषण होने के फलस्वरूप ही नहीं, वरन् मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ-साथ सैनिक नेताओं और सैनिकों के पतन से भी भारतीय आर्थिक व्यवस्था को भारी धक्का पहुँचा। पुरानी मुग़ल, राजपूत, सिक्ख, मराठा फौजों के टूट जाने से न मालूम कितने सैनिक बेकार हुए। वे सिवाय युद्ध-विद्या के जीविकोपार्जन का अन्य कोई साधन जानते ही न थे। अँगरेज़ों को उनमें विश्वास नहीं था। नतीजा यह हुआ कि बेकार और बेरोज़गार सैनिकों ने लूटमार कर पेट पालना शुरू किया। उनकी लूटमार से देश के भीतरी भागों में अशांति और अराजकता का प्रचार हुआ। कृषि और ग्रामोद्योगों को इससे भारी क्षति पहुँची। जनरल स्लीमैन ने अपने 'रैम्बूल्स ऐंड रिकलैक्शन्स' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि बेकार सैनिक शांतिपूर्ण व्यवस्था भंग करने वाले ही सिद्ध नहीं हुए, वरन् उनमें से अनेक साधू और फ़क़ीर बन गए जिससे अन्ततः हिन्दी प्रदेश का धार्मिक जीवन भी चोट खाए बिना न रह सका। स्वामी रामचरण-दास ने भी अपने विविध ग्रंथों में इस बात का उल्लेख किया है। फलतः हिन्दी प्रदेश के धार्मिक साहित्य का और भी पतन हुआ।

हिन्दी प्रदेश इतना बड़ा और विस्तृत है कि उसमें एक भाषा का होना असम्भव था। इसलिए उसमें एक से अधिक बोलयाँ हैं जिनमें से ब्रजभाषा और खड़ीबोली विभिन्न युगों में साहित्यिक पद प्राप्त करती रही हैं। इन दो के अतिरिक्त अवधी में भी उच्च कोटि के साहित्य की रचना हुई है। यहाँ के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों और पशु-पक्षियों ने उपमाओं और रूपकों के रूप में और भावानुभूति की तीव्रता प्रकट करने की दृष्टि से कवियों का ध्यान आकृष्ट किया है। जलवायु के अनुकूल वेशभूषा ने भी साहित्य में

स्थान प्राप्त किया है। प्रतिभाशाली कवियों ने षट्ऋतुओं के अत्यन्त सुन्दर वर्णन कर अपनी निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। कवियों की रचनाओं में उनके चारों ओर का वातावरण बसा हुआ है। कृषि-कर्म प्रधान होने के कारण उससे संबंधित गाय और त्यौहारों, जैसे, होली, दिवाली, गोवर्द्धन-पूजा आदि का बड़े आदर और उत्साह के साथ वर्णन मिलता है। कवियों ने उनके प्रति सदैव पूज्य भाव रखा है। आधुनिक समय में यातायात के वैज्ञानिक साधनों के प्रचार से हिन्दी प्रदेश में और भी एकसूत्रता का प्रचार हुआ है। जीवन की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं, विश्वासों, रूढ़ियों और परंपराओं, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, स्वभाव आदि बातें भौगोलिक परिस्थितियों से बहुत प्रभावित हुई हैं। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति अधिक होने के कारण यहाँ की आबादी भी घनी रही है, और घनी आबादी होने के कारण भारतीय इतिहास में हिन्दी प्रदेश का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

पृथ्वी की उर्वरा शक्ति और मैदान की विशालता का घनिष्ठ संबंध उसकी नदियों से है। हिन्दी प्रदेश के विशाल मैदान को नदियों का एक जाल सींच कर उसे धनधान्यपूर्ण बनाता है। गंगा तथा उसकी सहायक नदियाँ हिमालय या दक्षिण में विन्ध्य पर्वतमाला का जल इकट्ठा कर मैदानों की पैदावार बढ़ाती हैं। उनमें से अधिकतर नदियाँ वर्ष भर तक पानी से भरी रहती हैं। उन्हीं की शक्ति से हिन्दी प्रदेश की घनी आबादी पालित-पोषित होती है। उन्हीं के कारण यहाँ कृषि-संपत्ति का प्राचुर्य है। इन्हीं नदियों के किनारे-किनारे असंख्य गाँव बसे हुए हैं जहाँ का स्वायत्त शासन किसी समय में एक महान् गौरव की बात थी। रेलों के निर्माण से पहले नदियाँ राजनीतिक विभाजन निर्धारित करती थीं और स्थल मार्ग की दृष्टि से आक्रमणकारी सेनाओं और व्यापारियों के मार्ग में बहुत बड़ी रुकावट उपस्थित करती थीं। वर्षा-ऋतु में तो सेनाएँ या नाविक उन्हें पार ही न कर सकते थे। इस प्रकार समूचे इतिहास में नदियों का सामरिक महत्त्व रहा है। इतना ही नहीं प्राचीन समय में लगभग सभी बड़े-बड़े नगर और घाट इन्हीं नदियों के किनारे बसे थे। इस दृष्टि से भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में गंगा और यमुना का सबसे अधिक महत्त्व है। गंगा तो एक प्रकार से हिन्दी प्रदेश के लगभग मध्य में प्रवाहित होती है। राजपूताना में सहायक नदियों सहित चम्बल नदी है जो उत्तर दिशा की ओर यमुना में मिल जाती है। राजपूताना के जयपुर, अजमेर, उदयपुर, जोधपुर आदि बड़े-बड़े सांस्कृतिक केन्द्र चम्बल

सुन्दर और अनुपम रचनाएँ प्रस्तुत हो चुकी हैं। हिन्दी साहित्य में ही 'गंगा लहरियों' और 'यमुना लहरियों' की संख्या काफ़ी है। इनके अतिरिक्त सरयू, त्रिवेणी आदि के भी सुन्दर-सुन्दर और भक्ति-भावपूर्ण वर्णन हुए हैं। गंगा की भाँति संसार की शायद ही किसी दूसरी नदी ने एक विशेष भूमिभाग के भौतिक और आध्यात्मिक निर्माण में इतना अधिक सक्रिय भाग लिया हो। हिन्दी प्रदेश के प्रत्येक निवासी के शरीर के कण-कण में गंगा का निवास है। वह माता ही नहीं मातेश्वरी है। गंगा के पावन जल से सिंचित गंगा-तट के वृक्षों की सघन एवं शीतल छाया के नीचे ही गंभीर से गंभीर विश्वकल्याणकारी नैतिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का सृजन हुआ।

गंगा तथा उसकी सहायक नदियों ने हिंदी प्रदेश के आर्थिक जीवन में भी बहुत बड़ा भाग लिया है। जब तक रेलों का निर्माण नहीं हुआ था तब तक उत्तर भारत का समुद्र तक का समस्त व्यापार इन्हीं नदियों द्वारा होता था। नदियों के रास्ते ही मध्य भारत से बिक्री का सामान कलकत्ता तक लाया जाता था। रेल बन जाने पर नदियों का व्यावसायिक महत्त्व बिल्कुल ही कम नहीं हो गया। हिंदी प्रदेश के विभिन्न भागों, विशेषतः पूर्वी भाग, में कच्चे माल के भारी-भारी गट्ठर अब भी नावों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाए जाते हैं। जहाँ रेल-यात्रा अथवा यातायात के अन्य आधुनिक साधनों की सुविधा नहीं है वहाँ लोग नदियां पार कर ही अपने मनोनीत स्थान तक पहुँच पाते हैं। बनारस, इलाहाबाद, कानपुर, मथुरा, आगरा, दिल्ली, पटना तथा अन्य अनेक नगरों का इतिहास यह बताता है कि नदियों के किनारे बसे होने के कारण पहले उनका आर्थिक महत्त्व स्थापित हुआ और फिर वे सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक केन्द्र बने। गंगा और उसकी सहायक नदियों ने अनेक ऐतिहासिक नगरों को जन्म दिया। मध्य दोआब के फर्रुख़ाबाद, मिर्ज़ापुर तथा अन्य अनेक प्राचीन व्यावसायिक केन्द्रों ने रेलों के बन जाने से अपनी प्राचीन महत्ता बहुत-कुछ खो दी है। आधुनिक समय में रेलवे जंकशनों या समुद्र-तट के समीपस्थ नगर ही व्यावसायिक उन्नति कर सकते हैं। अस्तु, गंगा और यमुना तथा उनकी सहायक नदियों के माध्यम द्वारा हिंदी प्रदेश के अनेक निवासी अपनी जीविका उत्पन्न कर चुके हैं, बहुत-से अब भी करते हैं।

अंत में सभ्यता और संस्कृति द्वारा अभिव्यंजित मानव-चरित्र समझने और जाति, धर्म, जातीय संस्थाओं और प्रतिभा आदि का अध्ययन करने के

लिए जलवायु जैसे प्रमुख भौतिक तथ्य पर भी ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक जाति की सभ्यता और संस्कृति बहुत कुछ भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित जातीय संस्कार, धर्म, शिक्षा, आर्थिक परिस्थिति, राज्य-व्यवस्था तथा अन्य अनेक संस्थाओं और आचार-विचारों के आश्चर्यजनक सम्मिश्रण पर निर्भर रहती है। जलवायु का भी उनमें प्रधान स्थान है। केवल जलवायु और इतिहास में ही पारस्परिक सम्बन्ध नहीं रहता, वरन् जलवायु प्रत्येक जाति का रहने-सहने का ढंग, वेशभूषा, भोजन तथा अन्य आवश्यकताएँ, संक्षेप में मनुष्य की संपूर्ण जीवन-विधि निर्धारित करता है। प्राचीन समय में विभिन्न स्थानिक महान् सभ्यताओं के उदय के मूल में उद्दीपक जलवायु एक प्रधान कारण माना जाता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्य भौगोलिक कारणों की भाँति जलवायु भी कोई एक प्रधान कारण या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है; कई कारणों में से वह भी एक प्रबल कारण है। बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनका प्रभाव जलवायु से किसी हालत में कम नहीं माना जा सकता। किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि एक विशेष जलवायु एक ख़ास तरह की मानसिक प्रकृति का विकास, जो एक जाति को दूसरी जाति से अलग करता है, परिश्रम करने की शक्ति, जीवन का विशेष स्तर तथा अनेक आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न करता है। प्रायः यह देखा गया है कि ख़राब जलवायु में रहने वाली जातियों का विकास या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो बहुत देर से।

हिन्दी प्रदेश उष्ण कटिबन्ध में है, अर्थात् वह पृथ्वी की कर्क और मकर रेखाओं के बीच में पड़ता है। इस प्रकार के जलवायु में रहने वाले लोगों के जीवन में प्रायः तेज़ी नहीं रहती। वर्ष के अधिकांश भाग में उनका कोई काम करने को जी नहीं चाहता। गर्मी के कारण आलस्य उन्हें घेरे रहता है। ऐसे जलवायु में रहने वाले लोग जब अधिक स्फूर्तिदायक जलवायु में रहने वाले लोगों और अधिक फुर्तीली जातियों के संपर्क में आते हैं तो न केवल वे उनसे बहुत देर में प्रभावित होते हैं, वरन् बाहर से आए हुए लोगों का जीवन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उष्ण कटिबन्ध के जलवायु के कारण आत्म संयम और कठिनाइयाँ झेलने की शक्ति कम हो जाती है और जीवन में कामुकता उत्पन्न होती है। घने-घने जंगलों और रंग-बिरंगे फूलों से भरे वातावरण में रहने और सरलतापूर्वक अन्न उत्पन्न हो जाने के कारण लोगों के जीवन

के आर्यों के जीवन की तुलना करने पर हम इन सब बातों के स्पष्ट उदाहरण पा सकते हैं।

हिन्दीभाषी जैसे उष्ण कटिबंध प्रदेशों में एक और बहुत बड़ी असुविधा-जनक बात पाई जाती है। यहाँ गर्मियों में काफ़ी गर्मी पड़ती है और वर्ष भर में दो-चार के अतिरिक्त बहुत कम तूफ़ान आते हैं। इन तूफ़ानों के साथ पड़ने वाले पानी से गर्मी के तापमान में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। विभिन्न ऋतुओं के तापमानों में भी अधिक अन्तर नहीं रहता। और फिर प्रत्येक ऋतु के अपने-अपने लगभग समान तापमान से उत्पन्न समरसता जीवन में नीरसता एवं निर्जीवता उत्पन्न करती है। वैज्ञानिक पद्धति द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि तापमान की समरूपता शक्ति को न्यून करती है, उसका थोड़ा चढ़ जाना लाभदायक सिद्ध होता है, किन्तु उससे भी अधिक चढ़ जाने का फिर कोई मूल्य नहीं रह जाता; तत्पश्चात् तापमान के उतार का शुरू होना हानिकारक है, किन्तु उतार के कुछ और अधिक हो जाने से ही वह उसके चढ़ जाने की अपेक्षा अधिक स्फूर्तिदायक प्रमाणित होता है। फिर जब तापमान का उतार अति की ओर बढ़ता जाता है तो उसके गुणों का ह्रास होने लगता है।[1] तापमान में परिवर्तन से रक्त-संचार, फलतः मानव क्रियाशीलता प्रभावित होती है। हिन्दी प्रदेश के तापमान की समरूपता के कारण अनेक शारीरिक दुर्बलताएँ और रोग उत्पन्न होते हैं। तापमान में अत्यधिक अन्तर किस प्रकार मानसिक विकास के लिए तो नहीं, किन्तु शारीरिक गठन और पुष्टता के लिए अनुकूल सिद्ध होता है, इस बात का उदाहरण हमें राजस्थान की वीर जातियों के इतिहास में मिलता है। राजस्थान हिन्दी प्रदेश के उन थोड़े-से भूमिभागों में से है जहाँ तापमान कुछ अति लिए हुए रहता है। उसके कण-कण में भारत की वीरता का अमिट इतिहास अंकित है। इसका उत्तरदायित्व अन्य कारणों के अतिरिक्त बहुत कुछ वहाँ के जलवायु पर भी है। भूगोल-विद्या-विशारदों ने भौगोलिक और जलवायु-संबंधी परिस्थितियों और सभ्यता तथा संस्कृति का पारस्परिक संबंध प्रकट करते हुए क्रमशः महत्त्व की दृष्टि से भारत का भौगोलिक विभाजन किया है। उनके मतानुसार

(विभाजन से पूर्व के) भारत के विभिन्न भूमिभागों का क्रमश
प्रकार है:—प्रथम स्थान आधुनिक उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रा
और उत्तर-पश्चिम-सीमान्त-प्रदेश (पाकिस्तान); द्वितीय स्थान—ब
और आसाम; तृतीय स्थान—मध्य भारत; चतुर्थ स्थान – राज
सिंध (पाकिस्तान); पंचम स्थान—दक्षिण भारत, और अंतिम स्था
स्तान (पाकिस्तान) । इस विभाजन-क्रम को देखते हुए भी हिन्द
भौगोलिक और जलवायु-सम्बन्धी महत्त्व अन्य भूमिभागों की अ
अधिक है। यही कारण है कि देश के सांस्कृतिक जीवन में वह सर्वो
ग्रहण करता रहा है। जलवायु यहाँ के निवासियों में काल्पनिक
चिंतनशीलता के सहारे दर्शन और नीति के उच्चतम मापदण्ड
कराता है। यह एक वास्तविक तथ्य है जिसने अंत में यहाँ के प्रत्येक
साहित्य को प्रभावित किया है और साहित्य की प्रतिभा के अनुकूल ह
के विकास में सहायता पहुँचाई है। भारतवर्ष की भाषाएँ दार्शनिक
काव्यात्मक विचारों और भावनाएँ प्रकट करने के लिए अधिक उपयु
हैं। इसके विपरीत जलवायु द्वारा उत्पन्न भिन्न परिस्थितियों में रहने
जातियों की भाषा साहसिक कार्यों और आविष्कारक बुद्धि के अधिक अ
पाई जाती हैं। आधुनिक समय में वैज्ञानिक आविष्कारों ने अनेक अंश
प्रदेश के भूगोल पर विजय प्राप्त की है और फलतः यहाँ के साहित्य
भाषा में भी पहले की अपेक्षा अन्तर दिखाई पड़ता है। वैज्ञानिक आविष्
के कारण हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक दूरी ही कम नहीं हुई, वरन् उनसे
के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन पर भी बहुत प्रभ
पड़ा है। हिन्दी प्रदेश का अन्य भारतीय भूमिभागों और भारत से बाहर
देशों से भी निकट संबन्ध स्थापित हो गया है। अस्तु, भौगोलिक परिस्थिति
के कारण उत्पन्न मानसिक विकास में जो अभाव मिलता था वह वैज्ञानि
आविष्कारों के कारण दूर होता दिखाई दे रहा है।

वास्तव में यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह ज्ञात होते देर न लगेगी कि हर प्रकार की सभ्यता की अपनी-अपनी संस्थाएँ और विचार-धाराएँ बहुत-कुछ उसके अनुगामियों की कर्मशक्ति और मानसिक शक्ति पर, और कर्म तथा मानसिक शक्ति अन्त में जलवायु पर निर्भर रहती हैं। हिन्दी प्रदेश का पिछली कई शताब्दियों का इतिहास बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं रहा। इसका बहुत-कुछ उत्तरदायित्व जलवायु पर था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जलवायु ही एक कारण था। तो भी वह अन्य अनेक प्रधान कारणों,

की भाँति एक प्रधान कारण था। जलवायु का प्रभाव मन और शरीर पर ही नहीं पड़ता, वरन् उससे जाति की भावनाओं और विचारों पर भी प्रभाव पड़ता है।

किन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भूगोल विद्या-विशारदों के मतानुसार पृथ्वी भर के जलवायु में सदैव अपवाद रूप में नहीं वरन् नियमित रूप से परिवर्तन होता रहता है। जिस समय पृथ्वी अपनी बाल्यावस्था में थी केवल उसी समय ऐसी भौगोलिक घटनाएँ घटित हुई हों, ऐसी बात नहीं है। अभी ऐतिहासिक काल में ही हमें जलवायु संबन्धी परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ये परिवर्तन सूर्य की तीव्रता में वृद्धि और उसके फलस्वरूप सौर चक्रावर्तनों के जन्म से होते हैं। इन सौर चक्रावर्तनों की प्रचण्ड गति के प्रभावान्तर्गत रह कर ही भूमध्यसागर प्रदेश विशेष उन्नति कर सका था। विद्वानों का मत है कि सौर चक्रावर्तनों की गति पूर्व दिशा की ओर होने से मेसोपोटामिया, ईरान और गंगा-सिंधु घाटी के मैदानों का प्राचीन इतिहास महान् था। जलवायु-संबन्धी यह परिवर्तन लगभग एक सहस्र वर्ष में होता है। इन सौर चक्रावर्तनों का कटिबन्ध ज्यों-ज्यों गंगा-सिंधु घाटी के मैदानों से दूर होता गया है, त्यों-त्यों उनके इतिहास में भी परिवर्तन होता गया। किन्तु भूगोल-विद्या-विशारदों का मत है कि निकट भविष्य में उत्तर भारत के विशाल मैदानों के लगभग आधुनिक केन्द्र में ही सौर चक्रावर्तनों का कटिबन्ध फिर उपस्थित होगा।[1] दूसरे शब्दों में, जलवायु संबन्धी परिवर्तन फिर हिन्दी प्रदेश के जीवन को उत्तेजित करेगा; उसमें स्फूर्ति, गति और शक्ति उत्पन्न करेगा। इसलिए हिन्दीभाषियों को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी प्रदेश के लिए ही नहीं उष्ण कटिबन्ध के सभी देशों के लिए उज्ज्वल भविष्य आने वाला है, ऐसा विद्वानों का मत है। अभी तक मनुष्य अपनी बुद्धि और अद्भुत वैज्ञानिक साधनों के रहते हुए भी प्रकृति पर अत्यधिक निर्भर है, वह उसका दास है। जिस दिन वह जलवायु पर विजय प्राप्त कर लेगा उस दिन दुनिया एक शक्ति-संपन्न, भव्य और शानदार जगह हो जायगी।

समस्याओं पर प्रकाश पड़ेगा। किन्तु इस्लाम और भारत का संपर्क अभी अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन नहीं है। इस्लाम एक संगठित धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था लेकर आया था। अतएव उसका यहाँ की आस्थाओं, विचारादर्शों, भाषा और साहित्य तथा विज्ञान पर तात्कालिक प्रभाव पड़ना अवश्यं-भावी था। उसने यहाँ की विविध ललितकलाओं में नवीनता उत्पन्न की। इस्लाम की धार्मिक प्रवृत्तियों ने देश के धार्मिक जीवन और लोगों के आचार-विचार प्रभावित कर अनेक नए धार्मिक संप्रदायों की नींव डाली। हिन्दी की विभिन्न विकासोन्मुख बोलियों ने अरबी, फ़ारसी, तुर्की तथा अन्य विदेशी भाषाओं के संपर्क में आकर अपनी समन्वयात्मक शक्ति का परिचय दिया। दो संस्कृतियों के इस व्यापक संपर्क से अनेक नवीन समस्याएँ भी उठ खड़ी हुईं जिनका वैज्ञानिक रीति से सुलझाना हिन्दी प्रदेश की ही नहीं वरन् संपूर्ण देश की सम्यक् उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में हिन्दी प्रदेश में प्रत्येक नवीन परिस्थिति की तीव्र प्रतिक्रिया हुई और प्रतिक्रियात्मक रूप में नवीन प्रभाव आत्मसात् करने की प्रक्रिया में वह स्वयं अपने जीवन और साहित्य में परिवर्तन उपस्थित करता रहा है। यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव भी यद्यपि हिन्दी समाज के ऊपरी भाग तक ही अधिक सीमित रहा, तो भी यह तथ्य किसी से छिपा नहीं रहा कि सदैव की भाँति हिन्दी प्रदेश ने अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सजीवता का परिचय दिया

है। यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति की अनेक बातें आज हिन्दी-जीवन के प्रधान अंग के रूप में हैं।

अंत में यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि अब तक भौगोलिक परिस्थितियों और उनके प्रभावों का ही उल्लेख किया गया है, किन्तु मानव-जाति के भाग्य-निर्णायक अन्य अनेक कारणों और प्रभावों के अस्तित्व से भी कोई इंकार नहीं कर सकता। भौगोलिक परिस्थितियों का निश्चित प्रभाव पड़ने के साथ-साथ इतना भी ध्रुव सत्य है कि अन्य कारणों से उसका प्रतिकार भी होता रहता है, जैसे आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों से। किन्तु वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग आज थोड़े दिन से होने लगा है। उनसे पहले मानव जाति अधिकांश में भूगोल पर निर्भर रहती और उससे प्रभावित होती थी। वैसे स्वयं भौगोलिक अवस्थाएँ देश-काल के अनुसार बदलती रहती हैं। किन्तु इससे उनका महत्व किसी प्रकार भी कम नहीं हो जाता। इस सम्बन्ध में केवल यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भौगोलिक अपवादों की न तो बिल्कुल अवहेलना ही करनी चाहिए और न उन्हें दृढ़ सिद्धान्तों के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। विवेक-बुद्धि के आधार पर, अपनी संकुचित धारणाएँ अलग रख, मानव जाति की समस्याओं के अध्ययन में भूगोल का सदुपयोग करना प्रत्येक निष्पक्ष विद्या-प्रेमी का परम कर्तव्य है। राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में भी तो सदैव एक से नियम नहीं बने रहते।

———

२

पूर्व-परिचय

(१७०७-१८५७ ई०)

हिन्दी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति और राजनीतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित प्रभावों पर विचार कर लेने के पश्चात् आलोच्य-कालीन साहित्य का अध्ययन करना समीचीन होगा। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आलोच्य कालीन साहित्य का महत्व या स्वरूप समझने के लिए जीवन की उन पूर्व परिस्थितियों पर विचार कर लेना अत्यंत आवश्यक है जिनके फल-स्वरूप न केवल उससे पहले के साहित्य का, वरन् स्वयं उसका अपना रूप निर्धारित हुआ। साथ ही आलोच्य काल को जो साहित्य संपत्ति मिली वह कैसी थी और जीवन की भिन्न परिस्थितियों में वह अपने को बनाए रखने या परिवर्तित अथवा विकासोन्मुख होने में समर्थ हो सकी या नहीं, और उसके कारण क्या थे, इन सब दृष्टियों से पूर्वकालीन साहित्य का संक्षेप में अध्ययन कर लेना उचित होगा।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का काल है—कम से कम राजनीतिक दृष्टि से अवश्य ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि राजनीति के अतिरिक्त स्थापत्य कला, चित्रकला, संगीत कला, उर्दू काव्य-कला आदि की दृष्टि से यह काल अधिक संपन्न माना जाता है। अंतिम महान् मुगल सम्राट् औरँगज़ेब (१६५८-१७०७) की मृत्यु २१ फ़रवरी, १७०७ को हुई। उसके राजत्व काल में साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ उसके पतन का भी बीजारोपण हुआ। औरँगज़ेब की हिन्दू-राजपूत-विरोधी नीति, राजधानी में शासन-सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण और राजकीय आय का आलीशान इमारतें बनवाने में अंधाधुंध व्यय, सुदूर स्थित सूबेदारों और आश्रितों या विजित राजाओं और नवाबों पर नियंत्रण का अभाव,

यातायात के साधनों की ओर ध्यान न देना, रईसों तथा कुलीनों और धर्म की अधोगति, सुसंगठित पुलीस और निष्पक्ष एवं शक्तिशाली न्यायाधीशों का अभाव, असहिष्णुता, अविश्वास, दूसरे का राज्य हड़प लेने की प्रवृत्ति और फलतः निरर्थक युद्धों में राजकीय आय का विनाश और तज्जनित सैनिक तथा आर्थिक शक्ति का ह्रास, आदि कुछ बातें ऐसी थीं जिन्हें औरँगज़ेब अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ गया था और जिनके फलस्वरूप साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। उसकी मृत्यु के बाद अव्यवस्था और अराजकता का राज्य स्थापित हुआ। देश में, कम-से-कम उत्तर भारत में, कोई स्थायी, सह्य, उदारचेता और शक्तिशाली सरकार न रही। उधर मरहठों और सिक्खों ने साम्राज्य की जड़ हिला डाली। वास्तव में औरँगज़ेब अपनी प्रतिभा एवं शक्ति के आधार पर ही अपने जीवन-काल में बाबर के ख़ानदान की लाज रख सका था।

औरँगज़ेब के उत्तराधिकारी राजनीति की दृष्टि से बहुत ही कमज़ोर व्यक्ति थे। उसकी मृत्यु के तुरंत बाद ही उत्तराधिकार के लिए स्वार्थी अमीरों और पदलोलुप सेनाधिपों द्वारा प्रेरित वंशगत युद्धों का ताँता बँध गया। ग्यारह वर्ष के अन्दर बाबरी ख़ानदान के पाँच बादशाह—बहादुरशाह (१७०७-१७१२), जहाँदारशाह (१७१२), फ़र्रुख़सियर (१७१२-१७१६), रफ़ीउद्दरजात (१७१६) और रफ़ीउद्दौला (१७१६)—गद्दी पर बैठे और उनके छः प्रतिद्वन्द्वियों का अस्तित्व ही मिट गया; वे या तो मार डाले गए या क़ैद कर लिए गए। जो कमजोरी औरँगज़ेब की मृत्यु के बाद उत्पन्न हो गई थी वह मुहम्मदशाह (१७१६-१७४८) के राजत्व काल में और भी तीव्र हो उठी। उस समय वास्तविक रूप में साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े होना प्रारम्भ हो गया। मुहम्मदशाह के दीर्घ राजत्वकाल में निज़ाम,

हो गया था। बाहर के किसी शक्तिशाली वैरी का मुक़ाबला करने में अशक्त होने के कारण वे आपस ही में लड़ कर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगे। राजस्थान के प्रत्येक राजवंश में गृहयुद्धों की अग्नि प्रज्वलित हो उठी जिसकी लपटें हिन्दी प्रदेश के अनेक राजनीतिक केन्द्रों तक पहुँची। राजपूतों की इस शोचनीय अवस्था से मरहटों और पिंडारियों ने भरपूर लाभ उठाया। अंत में जो दुर्बलता मुहम्मदशाह के राजत्वकाल में उग्र हो उठी थी वह अहमदशाह (१७४८-१७५४) के समय में पूर्णत्व को पहुँच गई। उसके बाद आलमगीर द्वितीय (१७५४-१७५६) नाममात्र का बादशाह था। वास्तव में अहमदशाह के बाद मुग़ल बादशाह तो हुए, लेकिन उनकी बादशाहत न रह गई थी। यद्यपि भारतीय प्रजा में अब भी उनके नाम और व्यक्तित्व के प्रति आदर और श्रद्धा बनी हुई थी, तो भी उनका राजनीतिक महत्त्व सभी दृष्टियों से शून्य था। जनसाधारण में प्रचलित सम्राट् के प्रति इस आदर और श्रद्धा-भाव से प्रतिद्वन्द्वी और महत्वाकांक्षी लोग अपनी स्वार्थ-सिद्ध के लिए प्रायः अनुचित लाभ उठाया करते थे।

इस प्रकार औरँगज़ेब की मृत्यु के बाद पचास वर्ष तक हिन्दी प्रदेश पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए विभिन्न छोटी-बड़ी राजनीतिक शक्तियों में बहु-मुखी संघर्ष चलता रहा जिससे साहित्य एवं कला के विकास के लिए अहितकर एवं जटिल परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। मुग़ल साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए, राजकीय आय कम हो गई, दिन-रात युद्ध-विग्रह, लूटमार, रक्तपात होने लगा, राज्य में विद्रोह और बाहर से आक्रमण होने लगे और समस्त हिन्दी प्रदेश में प्रजा दुर्भिक्षों तथा अन्य कष्टों और यातनाओं से पीड़ित रहने लगी। रेवाड़ी, सरहिंद, दादरी, थानेश्वर, पानीपत, बागपत, बुलन्दशहर, अनूपशहर, दनकौर, मथुरा, दील्ली, आगरा, डीग, करनाल, सहारनपुर, इटावा, सोनपत, फरुख़नगर, मिर्ज़ापुर, जयपुर, ग़ाज़ियाबाद, खुर्जा, गढ़मुक्तेश्वर, गुड़गाँव, भरतपुर, रीवाँ, बरेली, पटना, वृन्दावन दिल्ली, राजस्थान, मरहठा-राज्य, पंजाब और बिहार आदि के अनेक छोटे-बड़े स्थानों में समय-समय पर लूटमार, स्त्रियों का अपहरण, विध्वंस और विनाश आदि बातें साधारण घटनाएँ थीं। इनमें से अनेक स्थान तो हमेशा के लिए उजड़ गए। कुछ न मालूम कितनी बार उजड़े और कितनी बार बसे। नादिरशाह और अब्दालीशाह ने विभिन्न कालों में दिल्ली और मथुरा-वृन्दावन तथा आगरे के बीच का भूमिभाग लूटा और भीषण नर-संहार किया। उस समय का वर्णन अत्यन्त लोमहर्षण और रोमांचकारी है। यह तो

ख़ैर एक बड़े भारी आक्रमण और लूट का उल्लेख है, लेकिन जब स्वयं भारत-वासी ही आपस में एक दूसरे पर आक्रमण करते थे तो जनता को नाना भाँति के घोर कष्ट और यातनाएँ सहन करनी पड़ती थीं। हिन्दी प्रदेश के एक कोने से दूसरे कोने तक अस्थिरता और अराजकताजन्य हाहाकार मचा हुआ था और एक दृष्टि से किसी भी प्रकार की नियमित, व्यवस्थित और वैध शासन-पद्धति का अंत हो गया था।

हिन्दी प्रदेश की इस शोचनीय अवस्था के अनेक कारण थे। इनमें से सर्वप्रधान कारण एक शक्तिशाली मुग़ल सम्राट् का अभाव था। मुग़ल सम्राटों का राज्यदण्ड भू-लुण्ठित हो चुका था। वे कभी अब्दालीशाह से सहायता की याचना करते थे, तो कभी मरहठों से। वे अपने 'मित्रों' से भी उतने ही सशंकित और भयभीत रहते थे जितने अपने शत्रुओं से। मुग़ल राज्य सत्ता का इतना घोर पतन हो गया था कि अब उसका कोई इलाज न हो सकता था। जितना उसका घोर पतन था उतनी ही उसके फलस्वरूप घोर अराजकता फैली। सरकारी कर्मचारी शाही फ़रमानों की अवज्ञा करने में अपनी शान समझने लगे। सम्राट् प्रतिद्वन्द्वी लोगों के हाथों में कठपुतली के समान हो गए थे। उनका अनादर तक करने में किसी को कोई संकोच न होता था। प्रतिद्वन्द्वी लोग भी साम्राज्य का हित चाहने के स्थान पर पतनोन्मुख और दोषपूर्ण शासन-पद्धति से लाभ उठाकर व्यक्तिगत राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति संचित करने की ओर ही अधिक ध्यान देते थे। वे शक्ति के भूखे थे, न कि प्रजा-हित के। मौक़ा पाकर सब लोग सब तरह की लूटमार करने में लग गए। छल-फ़रेब, सरकारी ख़ज़ाने में से ग़बन, पक्षपात, अपने स्वार्थ के लिए सैनिक तथा शासन-सम्बन्धी अन्य गुप्त भेद जानने की चेष्टा, सबसे अधिक धन देने वाले की सरकारी पदों पर नियुक्ति, और फलतः कमज़ोर कर्मचारियों की उपस्थिति और साथ ही उनके द्वारा अपने दिए हुए धन की पूर्ति के लिए लूटमार, आदि बातें पतित मुग़ल साम्राज्य की साधारण घटनाएँ थीं। आक्रमण करने या सुरक्षा के लिए रक्खी गई बड़ी-बड़ी सेनाओं का अत्यधिक व्यय, उस व्यय की पूर्ति के लिए लगाए गए भारी-भारी करों और कूच करती हुई सेना द्वारा की गई हानि से उत्पन्न आर्थिक कष्ट से जनता आए दिन पीड़ित रहती थी। मरहठों तथा अन्य राजनीतिक शक्तियों की आर्थिक दशा सदैव शोचनीय थी। ऐसे छल-कपट-पूर्ण चौमुखी विनाशकारी वातावरण में हिन्दू-मुसलमान अमीर आमोद और भोग-विलासप्रियता तथा स्वेच्छाचारिता के प्रवाह में बह रहे थे। कठोर राजनीतिक जीवन के स्थान पर उन्हें लाल कुँवर, कूकी,

ऊधम बाई आदि सुन्दरियों के कुटिल कटाक्षों से बिंधना अच्छा लगता था। जीवन के कठोर धरातल पर पैर रखते हुए उन्हें डर लगता था। इन कामिनियों के इशारों पर भी अनेक राजनीतिक अकाण्ड-ताण्डव घटित हो जाया करते थे। और यद्यपि हिन्दू-मुसलमान नरेशों की इस भोग-विलासिता द्वारा संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि ललित कलाओं और उर्दू काव्य को प्रोत्साहन मिला, तो भी ये सब बातें जीवन की गम्भीर और जटिल समस्याओं के प्रति उत्पन्न हुई उदासीनता के फलस्वरूप सम्भव हो सकी थीं। सर्वोपरि, राज्य-सत्ता के प्रतीक के रूप में नरेशों की शक्ति और प्रभाव का दयनीय ह्रास हो चुका था। उस समय कोई भी विदेशी सत्ता सरलतापूर्वक उन पर विजय प्राप्त कर सकती थी।

राजनीतिक अव्यवस्था और अराजकता के अतिरिक्त इस समय हिन्दी प्रदेश आर्थिक दृष्टि से भी अत्यन्त पीड़ित था। निरंतर राजनीतिक कलह और युद्ध-विग्रह के कारण तो प्रदेश की आर्थिक क्षति हो ही रही थी, इसके अतिरिक्त मालगुज़ारी वसूल करने की तत्कालीन प्रचलित पद्धति ने भी कोढ़ में खाज का काम किया। मालगुज़ारी या तो ज़मींदारों के या अप्रत्यक्ष रूप से उनके मुखियों, मुनीमों, गुमाश्तों, पट्टेदारों, कारिंदों आदि के माध्यम द्वारा वसूल की जाती थी। इन लोगों ने उस अराजकतापूर्ण परिस्थिति से लाभ उठाने की दृष्टि से राजकीय आय के मूल उद्गम किसान-वर्ग पर नाना भाँति के अत्याचार किए। प्रधान केन्द्रीय सत्ता के निर्बल हो जाने से ज़मींदारों, गुमाश्तों आदि को मालगुज़ारी उघाने का काम लाभकारी न रह गया था। उस परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ज़मीन का मालिक बन बैठने की चिंता करने लगा। परिणाम यह हुआ कि बहुत-से किसान अपनी ज़मीन खो बैठे जिससे कृषि तथा वाणिज्य-व्यवसाय को बहुत धक्का पहुँचा। इतना ही नहीं, वरन् दिन पर दिन मालगुज़ारी बढ़ने और तरह-तरह के कर लगने के भय से किसान अपना रुपया ज़मीन में गाड़ कर रखने और निर्धनता का जीवन व्यतीत करने लगे। वास्तव में वे धन के भूखे राजकर्मचारियों से अपना धन बचाना चाहते थे। इसी विचार से प्रेरित होकर वे अपनी मालदारी न दिखा कर निर्धनता का जीवन व्यतीत करने पर बाध्य हुए। राज्य और किसान में उस समय एक प्रकार का संघर्ष छिड़ा हुआ था। राज्य की ओर से जितना अधिक रुपया वसूल करने की चेष्टा की जाती थी, किसान उतना ही अपना धन छिपा-छिपा कर रखना चाहते थे, वे अपना धन अपने ही पास रखने की चेष्टा करते थे। इससे हिन्दी प्रदेश के आर्थिक जीवन को बहुत हानि पहुँची।

आपस की व्यावसायिक प्रतियोगिता का, जिसकी वजह से एक व्यापारी अधिक से अधिक उत्पादन और रुपया पैदा करने की शक्ति बढ़ाता है, अंत हो गया। क्योंकि प्रतियोगिता का परिणाम होता अधिक धन, और उस समय अधिक धनोपार्जन करना धन-लोलुप राजकर्मचारियों को निमंत्रण देना था। उत्पादन-क्रिया के नवीन साधनों और उपकरणों का भी कोई विकास न हो सका। औद्योगिक केन्द्रों में कारीगर और खेतों में किसान परंपरागत साधनों का व्यवहार करते रहे। ज़मीन का बहुत बड़ा भाग एक तो वैसे ही ऊसर पड़ा रहता था, उस पर दिन-रात के लड़ाई-झगड़ों के कारण गाँव के गाँव उजड़ जाते थे और फलतः उपजाऊ ज़मीन पर भी काम करनेवालों की कमी होती जाती थी। इस प्रकार किसान, कारीगर और व्यापारी इन तीनों के लिए दिन अच्छे न रह गए थे; उन्हें अत्यधिक आर्थिक हानि सहन करनी पड़ती थी। किन्तु इतिहास-लेखकों का मत है कि इतने पर भी लोगों के पास खाने-खर्चने के लिए पर्याप्त धन था। वे भूखों नहीं मरते थे। हाँ, इसके साथ-साथ वे यह भी अवश्य स्वीकार करते हैं कि तत्कालीन हिन्दी प्रदेश के आर्थिक जीवन के छिन्नभिन्न होने का क्रम शुरू हो गया था—यह क्रम अँगरेज़ी राज्यांतर्गत पूर्ण हुआ। उस समय तो दीवारों में दरारें पड़ने लगी थीं, उन्हें कोई दुरुस्त करने वाला नहीं था। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-काल में वे दीवारें गिर पड़ीं।

सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से इस समय उन सभी बातों का प्रचार मिलता है जिनका उल्लेख बर्नियर ने अपने सत्रहवीं शताब्दी के भारत-यात्रा-विवरण में किया है। समाज में मनु द्वारा निर्धारित मार्ग, वर्णाश्रम धर्म, संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा, छुआछूत, तीर्थ-यात्रा, विधवा-विवाह-निषेध, बाल-विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा, बालहत्या, पर्दा, श्राद्ध, स्त्रियों की अशिक्षा आदि का प्रचार था। सारा जीवन पुरोहितों और पंडों पर आश्रित था। उस समय कोई मध्यम वर्ग न था। लोग या तो धनाढ्य थे या निर्धन। गाँवों की प्राचीन व्यवस्था बनी

के साथ पालन होता रहा। साहित्य के इतिहास में स्वर्ण युग उपस्थित करने वाले रामानन्द, कबीर और वल्लभाचार्य द्वारा प्रेरित आंदोलन कुंठित हो चुके थे और चारों ओर फैली हुई अराजकता के बीच किसी नवीन शक्तिशाली धार्मिक आंदोलन की सम्भावना भी नहीं थी। पहले से चले आ रहे धार्मिक सम्प्रदाय अपनी संकीर्ण परिधि और कर्मकाण्ड लिए भक्तों की मानसिक परितुष्टि करते रहे। सांप्रदायिक ग्रन्थों में उल्लिखित नियमों से वे ज़रा भी इधर-उधर होना नहीं चाहते थे। सुधार प्रवृत्ति के अभाव में लोगों में अजीब-अजीब तरह के पूजा-पाठ प्रचलित हो गए थे। और ये सब बातें धर्म के नाम पर होती थीं। वास्तव में हिन्दू धर्म के उदात्त रूप का प्रचार था तो, किन्तु वह थोड़े से शिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित था। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से संत सप्रदाय ने थोड़ी-बहुत क्रियाशीलता प्रदर्शित की। इस सम्बन्ध में रामानन्द, वल्लभाचार्य, हितहरिवंश, चैतन्य, निम्बार्क, हरिदास आदि द्वारा स्थापित संप्रदायों में से रामानन्दी सम्प्रदाय को ही श्रेय दिया जा सकता है। परोक्ष रूप से रामानन्द द्वारा स्थापित धार्मिक परम्परा—कबीर की सन्त-परम्परा—में इस समय कुछ नए सम्प्रदाय स्थापित हुए, जैसे, चरणदासी संप्रदाय (१७३०, दिल्ली), शिवनारायणी संप्रदाय (१७३४, चंदावर, ग़ाज़ीपुर), ग़रीबदासी संप्रदाय (१७४०, छुडानी और रोहतक) और रामसनेही संप्रदाय (रामचरण द्वारा स्थापित, १७५०, शाहपुर, राजपूताना)। केशवदास का, जो जाति के वैश्य थे, यारी साहब (१६६८–१७२३) के संप्रदाय से सम्बन्ध था। इन संप्रदायों पर यद्यपि कबीर का प्रभाव प्रधान है, तो भी वे परंपरागत हिन्दू धर्म के प्रभाव से बच नहीं सके। १७५० के लगभग लखनऊ और अयोध्या के बीच में कटवा नामक स्थान में जगजीवनदास ने सतनामियों का पुनर्संगठन किया। दूलनदास उनके शिष्य थे जो मृत्यु पर्यन्त रायबरेली के निकट रहे। इन सभी संप्रदायों पर इस्लाम का प्रभाव है, और कुछ समय तक उन्होंने हिन्दू-धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों का विरोध किया। किन्तु वे जनसाधारण के सामने कोई नवीन आकर्षक आदर्श न रख सके और अंत में स्वयं हिन्दू-धर्म की अनेक बातों से प्रभावित हुए। साथ ही उनकी रचनाओं में जनसाधारण में प्रचलित भाषा का रूप भी मिलता है। वैष्णव और निर्गुण संप्रदायों के अतिरिक्त तत्कालीन हिन्दी प्रदेश में शैव, गोरखपंथी, जैन आदि अन्य अनेक छोटे-छोटे संप्रदाय थे। काली, दुर्गा, भवानी आदि के भक्तों का भी अभाव न था। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इन छोटे-छोटे सम्प्रदायों का कोई महत्त्व नहीं है। न संप्रदायों का अनुगमन करने वाले लोग अनेक भद्दी, घृणित और क्रूर

प्रथाओं का पालन करते थे। वास्तव में अठारहवीं शताब्दी का सामाजिक एवं धार्मिक जीवन रूढ़ि और परंपरा के कठोर बन्धन से जकड़ा हुआ था। उसमें गतिशीलता न रह गई थी। गतिशीलता के स्थान पर जीर्ण-शीर्ण प्रथाओं और अंध-विश्वासों का प्रचार था। राजनीतिक, और कुछ हद तक आर्थिक, अराजकता ने उसकी अवरुद्ध गति बनाए रखने में सहायता की।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में जब हिन्दी प्रदेश की ऐसी शोचनीय अवस्था थी, ठीक उसी समय के लगभग एक नवीन शक्ति ने भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया जो शीघ्र ही एक नवीन साम्राज्य की संस्थापक सिद्ध हुई। इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने हिमालय की पर्वतश्रृंखला के उत्तर-पश्चिमी स्थल-मार्ग से भारत पर आक्रमण किया था और हिन्दी प्रदेश में वे पश्चिम की ओर से आए। नए साम्राज्य के संस्थापक ईसाई धर्मानुयायी थे। वे जल-मार्ग से आए थे और पहले-पहल दक्षिण भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर उतरे थे—आक्रमणकारियों के रूप में नहीं वरन् व्यापारियों के रूप में। सिकन्दर महान् (३२७ पू० ई०) और वास्को ड गामा (१४९८) के बीच के काल में भारत और यूरोप में कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। पुनरुत्थान काल (१५ वीं श०) के बाद ही भारतवर्ष यूरोप का ध्यान आकृष्ट करने लगा था। कोलम्बस (१४९२) की असफलता के पश्चात् १४९६ और १६१६ के बीच में जॉन कैबट (John Cabot), सर ह्यू विलूबाई (Sir Hugh Willoughby), फ़ोरबिशर (Forbisher), डैविस हड्सन, बैसिन (Bassin) आदि इँगलैंड निवासियों ने उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व से जल-मार्ग ही नहीं, वरन् बुख़ारा और ईरान होकर भारतवर्ष के लिए स्थल मार्ग भी खोजने के असफल प्रयत्न किए। १५७७ में फ्रांसिस ड्रेक हिन्द महासागर में केवल मलाका द्वीप तक आ पाया था। रोमन कैथोलिक टॉमस स्टीवेन्स सबसे पहला अँगरेज़ था जो १५७९ में भारतीय समुद्र-तट (गोआ) तक पहुँच सका। उसके बाद १५८३ में जॉन एल्ड्रेड (John Eldred), जॉन न्यूबेरी (John Newberry), रैल्फ़ फ़िच (Ralph Fitch), विलियम लीड्स (William Leeds) और जेम्स स्टोरी (James Story) नामक पाँच अँगरेज़ व्यापारी भारतवर्ष आए। न्यूबेरी के पास अकबर के नाम लिखा गया महारानी एलिज़ेबेथ का पत्र भी था। फ़िच अपने दो साथियों, न्यूबेरी और लीड्स, के साथ दक्षिण भारत तथा बंगाल में घूमने के अतिरिक्त उज्जैन, आगरा, फ़तेहपुर, प्रयाग, बनारस, पटना आदि स्थानों में भी आया था। भारतवर्ष आने के बाद वे सब अलग-अलग हो गए और अपने-अपने निर्धारित

मार्ग के अनुगामी बने। १५८८ में स्पेन की नाविक पराजय के बाद इँगलैंड बड़े ज़ोरों से आगे बढ़ा। १५९१ में एलिज़बेथ की आज्ञा प्राप्त कर कुछ व्यापारी तीन जहाज़ लेकर केप ऑव गुड होप के रास्ते से कुछ दुर्घटनाएँ सहन करते हुए भारतवर्ष आए। उनके बाद फिर कई सफल-असफल प्रयत्न हुए। १६०३ में लन्दन का सर जॉन मिल्डेनहॉल (Sir John Mildenhall) नामक व्यापारी ईरान होता हुआ स्थल-मार्ग से आगरा पहुँचा और सम्राट् अकबर से भेंट की। इसी बीच में ३१ दिसम्बर, १६०० को ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई जो आगे चल कर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ जमाने में सफल हो सकी। मुग़ल सम्राटों के समय में व्यापारियों के रूप में अनेक अँगरेज़ बराबर भारतवर्ष आते रहे और बहुत दिनों तक दक्षिण भारत उनका केन्द्र रहा। वास्को ड गामा द्वारा भारत के जल-मार्ग का पता लग जाने के बाद यूरोप की कई जातियों ने भारतवर्ष के साथ व्यापारिक संबन्ध स्थापित किए। ऐतिहासिक दृष्टि से यूरोपीय जातियों में पोर्चुगीज़ जाति अग्रगण्य थी। अनेक पोर्चुगीज़ नाविक, व्यापारी, सैनिक आदि भारतवर्ष आए और उसके पश्चिमी तट पर बस गए। शीघ्र ही उन्होंने साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखा। तलवार के ज़ोर और ईसा के नाम पर वे अपने प्रयत्नों में सफल भी हुए। १५०० से १६०० तक यूरोप की जातियों में से इसी जाति का भारत से अधिक संपर्क रहा। किन्तु राजनीतिक और व्यक्तिगत चरित्र की कमी के कारण उनका पतन भी बहुत शीघ्र हुआ। वैसे १५३४ में वे बंगाल तक पहुँच गए थे और वहाँ की राजनीति में भी भाग लेने लगे थे। १५८० के बाद, फ़िलिप द्वितीय के समय में जब पोर्चुगाल और स्पेन के राज्य सम्मिलित हो गए थे, पोर्चुगीज़ नाविक और व्यावसायिक शक्ति का ह्रास हो गया। १६४० में पोर्चुगाल स्पेन से फिर अलग हो गया। किन्तु इसी बीच में डच और अँगरेज़ भी भारत से सम्बन्ध स्थापित कर चुके थे। उनमें से ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता की संदेश वाहक अँगरेज़ जाति अपना व्यापार बढ़ाने में सफल ही नहीं हुई, वरन् अन्य यूरोपीय जातियो से व्यापारिक प्रतियोगिता होने के कारण उसे भारतीय राजनीति में भी सक्रिय भाग लेना पड़ा। अनेक अँगरेज़ों ने किस प्रकार व्यक्तिगत रूप में जीवन संकट में डाल कर बड़े-बड़े साहसिक कार्य कर अपने देश और जाति को गौरवान्वित किया, किस प्रकार ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई, भिन्न-भिन्न समयों पर किस प्रकार उसके जीवन में उतार-चढ़ाव आते रहे और अन्त में वह किस प्रकार सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता के रूप में भारतीय जीवन में अवतरित हुई, ये सब बातें आधुनिक भारतीय इतिहास के साधारण ज्ञान से

सम्बन्ध रखती हैं। अतएव उनके उल्लेख करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। वास्तव में भारत से उनके सम्बन्ध के इतिहास से यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि यूरोप में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वहाँ के जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण और एलिज़बेथ-युग के इँगलैंड-निवासियों की विविध प्रकार के मसालों के लिए भूख के कारण उन्हें भारतवर्ष के साथ व्यापार करने और सम्बन्ध बनाए रखने की दृष्टि से अन्य यूरोपीय जातियों के साथ प्रतिद्वन्द्विता में भाग लेना पड़ा था। प्रारंभ में व्यापार में ही उनका प्रधान हित सन्निहित था। हिन्दी प्रदेश में आगरा और पटना उनके दो प्रधान व्यापारिक केन्द्र थे। १७०७ से १७५७ तक के काल में उन्हें दक्षिण भारत में मरहठों, मुग़लों और फ्रांसीसियों से मुक़ाबला करना पड़ा। उनके राजनीतिक इतिहास का सूत्रपात फ्रांसीसियों के विरुद्ध दक्षिण में कर्नाटक की लड़ाई से ही होता है। इस समय तक हिन्दी प्रदेश का उनके साथ कोई ऐसा राजनीतिक या सामाजिक संपर्क स्थापित न हुआ था जिसका कोई स्पष्ट प्रभाव लक्षित हो सकता।

किन्तु क्लाइव (भारत में १७४३-१७६७) के आने पर बंगाल अँगरेज़ों का संघर्ष क्षेत्र बना। १७५६ में बंगाल के अन्तिम महान् शासक अलीवर्दी ख़ाँ की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला सिंहासन पर बैठा। सिंहासन पर बैठने के दो महीने बाद ही उसकी अँगरेजों से मुठभेड़ और अब कपोलकल्पित समझी जाने वाली ब्लैक होल की दुर्घटना घटित हुई। उस समय अँगरेज़ों को कलकत्ता छोड़ कर चला जाना पड़ा। किन्तु १७५७ में क्लाइव ने बिना अधिक कठिनाई के कलकत्ते पर फिर अधिकार कर लिया। १७५७ के बाद का समय ईस्ट इंडिया कम्पनी की सत्ता के प्रसार और हिन्दी प्रदेश का उसके अधीन होने का समय है।

रक्खी जा सकती। संसार की विविध संस्कृतियों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन सब के जीवन में ऐसे समय आते रहते हैं जब संकीर्णता के कारण उनका जीवन संकटापन्न बन जाता है। ऐसे समय में जो संस्कृति सुदृढ़ नींव पर स्थापित होती है वही अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकती है, नहीं तो अधिक शक्तिशाली संस्कृति उसे आत्मसात् कर लेती है। इतिहास यह भी बताता है कि किसी संस्कृति की संकीर्णता दूर करने में बाह्य आक्रमण से या किसी दूसरी संस्कृति के साथ संपर्क स्थापित होने से भी बहुत बड़ी सहायता मिलती है। उस समय लोगों की विचार-शक्ति उत्तेजित होती है, उन्हें अपनी संकीर्ण परिधि से बाहर आकर दृष्टिकोण व्यापक करना पड़ता है। इस काल (१७०७-१७५७) में हिन्दी प्रदेश पर न तो कोई ऐसा आक्रमण ही हुआ जिससे नवीन समन्वयात्मक बुद्धि का जन्म होता और न किसी बाह्य सजीव संस्कृति से संबंध ही स्थापित हुआ। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों का प्रभाव थोड़ी सी राजनीतिक हलचल और वेशभूषा तक ही सीमित रहा। दोनों आक्रमणकारी लूटमार कर वापिस चले गए। इस काल में कोई नवीन आक्रमण या संपर्क ही नहीं हुआ, वरन् शताब्दियों पुरानी भारतीय-इस्लामी संस्कृति का भी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक सभी दृष्टियों से वेग मन्द पड़ गया, वह स्वयं ह्रासोन्मुख हो चली थी। चरमोत्कर्ष के बाद उसका पतन आरंभ हो गया था। अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग अन्त तक उसका यह पतन स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। साथ ही यह पतन देश के किसी एक भाग तक सीमित नहीं था। वह तो सार्वदेशिक था। वास्तव में भारतीय-इस्लामी संस्कृति का उस समय जितना विकास होना था वह हो चुका था, वह बहुत पहले ही सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी। अब उसका विकास होना बन्द हो गया था। उसकी इस अवरुद्ध गति का हिन्दू और मुसलमानों पर समान रूप से प्रभाव पड़ा। मुग़लों का तो निस्सन्देह पतन हो ही गया था, किन्तु इसके साथ-साथ मरहठे, सिख और जाट भी तो कोई सुसंगठित साम्राज्य स्थापित न कर सके। क्यों न कर सके, इस का उत्तर तत्कालीन सांस्कृतिक अवस्था में ही मिल सकता है। हो सकता है सांस्कृतिक दृष्टि से लोग इतने मँज चुके थे कि अब अराजकतापूर्ण परिस्थितियों की कटुता और कठोरता सहन कर उन्हें सम्हालना अरुचिकर प्रतीत होता रहा हो। किन्तु इसका अर्थ तो संस्कृति का अपनी जड़ अपने आप काटना हुआ। सजीव, सप्राण एवं सशक्त संस्कृति तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्पन्दन, स्फूर्ति और चेतना उत्पन्न करती है।

वास्तव में अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के जीवन में अराजकता इतनी घुस गई थी, आए दिन इतने युद्ध और कलह होती रहती थी कि किसी नवीन बौद्धिक या साहित्यिक कार्य के लिए अवसर ही न मिल पाता था। हिन्दी साहित्य के लिए तो उचित आश्रय का भी अभाव हो चला था। वैसे भी हिन्दी प्रदेश के मध्य भाग में अधिकतर मुसलमान शासक ही प्रमुख थे जिन्होंने यद्यपि कभी-कभी हिन्दी कवियों को भी आश्रय प्रदान किया, तो भी उर्दू काव्य की ओर उनकी विशेष रुचि थी। राजपूत नरेश हिन्दी कवियों की रचनाओं का आदर कर उन्हें सदैव की भाँति यथोचित प्रोत्साहन प्रदान कर सकते थे। किन्तु उनका समय अधिकतर गृह-कलह में व्यतीत होता था। इस काल में केवल सवाई जयसिंह ही एक ऐसे राजपूत नरेश मिलते हैं जो उच्च कोटि के ज्ञान-विज्ञान या साहित्य में दिलचस्पी लेते थे। उन्होंने बौद्धिक जिज्ञासा और जागरूकता प्रकट की। दिल्ली, बनारस और जयपुर की वेधशालाएँ इस बात की साक्षी हैं। स्थायी रूप से हिन्दी प्रदेश में राज्य स्थापित न कर सकने के कारण मरहठे और सिक्ख भी हिन्दी साहित्य को आश्रय प्रदान न कर सके। हिन्दी कवियों को जिस प्रकार का आश्रय मिल रहा था वह कला और साहित्य के नवीन रूपों के निर्माण के लिए प्रोत्साहन देने वाला नहीं था। इस सम्बन्ध में कवियों की जीवनियाँ अधिक सहायक सिद्ध हो सकती थीं। किन्तु उनके अभाव में कवियों के सम्बन्ध में जितनी ज्ञातव्य बातें संग्रहीत की जा सकी हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अधिकतर कवियों को छोटे-छोटे स्थानीय सामन्तों या सेठ-साहूकारों का आश्रय मिला हुआ था। अपवाद मिल सकते हैं, किन्तु सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वास्तव में सुयोग्य आश्रयदाताओं का अभाव था। साहित्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि प्रतिभाशाली कवियों की बिल्कुल कमी नहीं थी, उस अंधकारपूर्ण दुनिया में भी कभी-कभी प्रकाश की रेखाएँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं, किन्तु उस बुरे समय में साहित्यिक जिज्ञासा और नवीन उद्भावनाओं की अधिक आशा नहीं की जा सकती। लोग थके-मांदे और शिथिल से प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है वे विभिन्न घटनाओं के घटाटोप में दब गए थे। प्रसिद्ध कवि देव को अधिकतर सेठ-साहूकारों का आश्रय मिला। ऐसे आश्रय में रह कर वे केवल परम्परा का पालन करने में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित कर सकते थे। और केवल नवीन सामाजिक भावों और विचारों या कला की दृष्टि से ही नहीं, भाषा की दृष्टि से भी समय अनुकूल नहीं था। स्थानीय प्रयोगों के साथ ब्रजभाषा परम्परागत

साहित्य का माध्यम बनी रही। कविगण विविध अलंकारों से उसका शृंगार करने में अपनी कला की सार्थकता समझते थे। भाषा में परिवर्तन होना संभव भी नहीं था। न तो उस समय हिन्दीभाषियों का किसी नवीन जाति से संपर्क स्थापित हुआ था और न कोई ऐसा आन्दोलन ही छिड़ा जिसके फल-स्वरूप ब्रजभाषा के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करती जिस प्रकार मध्य युग में भक्ति आंदोलन के फलस्वरूप स्वयं ब्रजभाषा ने किया था। जिस समय हिन्दीभाषियों का एक नवीन—यूरोपीय जाति से सम्बन्ध स्थापित हुआ उस समय शब्दों, प्रयोगों आदि की, और ब्रजभाषा के स्थान पर दूसरी भाषा—खड़ीबोली—का साहित्य (गद्य) में पदार्पण करने की दृष्टि से भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन मिलता है। किन्तु यह सब कुछ १७५७ के बाद हुआ। इस प्रकार इस काल (१७०७-१७५७) में भाषा, भाव, अभिव्यंजना प्रणाली आदि की दृष्टि से परम्परागत और रूढ़ि-गत साहित्य का सृजन पाया जाता है। जो नए धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित हुए थे वे भी भावों एवं विचारों की दृष्टि से अपने जैसे प्राचीन सम्प्रदायों से अधिक भिन्न नहीं हैं। लाल कृत 'छत्रप्रकाश' (१७०७ के लगभग) के अतिरिक्त कोई दूसरी ऐसी वीर रचना नहीं है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी हो। इसी प्रकार रस, अलंकार और पिंगल के सम्बन्ध में भी नवीन प्रतिपादन-शैली नहीं मिलती। इस काल में सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने वाली बात यही है कि व्यक्तिगत रूप में प्रतिभाशाली कवियों के रहते हुए भी किसी नवीन साहित्यिक विचार-धारा या रूप का जन्म न हो सका। वास्तव में इसका उत्तरदायित्व सामन्तवादी समाज के चौमुखी विध्वंस और निरंतर युद्ध-जनित अराजकता पर ही रक्खा जा सकता है।

इस युग में नवीन साहित्यिक विचार-धारा या रूप का जन्म न हो सका हो, यह दूसरी बात है, किन्तु परंपरागत साहित्य-निर्माण में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले कवियों का अभाव नहीं रहा। सामूहिक दृष्टि से देखने पर भले ही यह युग अन्धकारपूर्ण प्रतीत होता हो, किन्तु व्यक्तिगत उदाहरणों की दृष्टि से अधिक निराश होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सवाई जयसिंह एक ऐसे ही व्यक्ति थे। इस अन्धकारपूर्ण युग में उनका कार्य वास्तव में सराहनीय है। साहित्यिक क्षेत्र में भी अनेक प्रतिभाशाली कवि और उनकी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें बड़े अच्छे ढंग से परम्पराविहित काव्य-सौंदर्य का प्रस्फुटन हुआ है। ऐसे कवियों में, हम अन्य अनेक के अति-रिक्त, देव (१६८६-१७३० रचना-काल), श्रीधर मुरलीधर (१७०३ र० का०),

सुरति मिश्र (१७०६-१७३७ र० का०), कवीन्द्र उदयनाथ (१७४७ र० का०), श्रीपति (१७२० र० का०), दास (१७२८-१७५० र० का०), रसलीन (१७३७-१७४१ र० का०), रघुनाथ (१७३३-१७५३ र० का०), दूलह (१७४३-१७६८ र० का०), रूपसाहि (१७५६ र० का०), ऋषिनाथ (१७३३-१७७४ र० का०), घनानन्द (१७२० र० का०), गुमान मिश्र (१७४३-१७८३ र० का०), लाल (१७०७ के लगभग र० का०), सबलसिंह चौहान (१६६१-१७२४ र० का०), नागरीदास (१७२३-१७६२ र० का०) आदि की गणना कर सकते हैं। इनमें से अधिकतर कवि रीतिकालीन परंपरा के ही अनुगामी थे। लाल का वीर-काव्य भी परम्परा का पालन मात्र है। सबलसिंह चौहान की सबसे प्रसिद्ध कृति महाभारत का अनुवाद है। अपने-अपने क्षेत्र में इन सभी कवियों ने सृजनात्मक शक्ति का परिचय दिया है। प्रसिद्ध नीति कवि वृन्द (१७०४) और हास्यरस के कवि अलीमुहिब ख़ाँ ('खटमल बाईसी', १७३०) भी इसी काल में हुए। १७४१ में रामप्रसाद निरंजनी के 'भाषा योग वासिष्ठ' की खड़ीबोली गद्य में रचना हुई। यह इस काल की एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। क्योंकि, यद्यपि इस रचना से इसी काल में खड़ीबोली गद्य की क्रमबद्ध परंपरा का सूत्रपात न हो सका, तो भी यह ग्रंथ आगे स्थापित होने वाली खड़ीबोली परम्परा का, अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर, एक सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। खड़ीबोली हिन्दी गद्य के जन्म-सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि १८०० और उसके बाद खड़ीबोली के उर्दू रूप में से अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहिष्कार कर आधुनिक संस्कृत-प्रधान गद्य गढ़ लिया गया। इस भ्रमात्मक धारणा का निराकरण भी इसी ग्रंथ से भली भाँति हो जाता है। 'भाषा योग वासिष्ठ' जैसी खड़ीबोली गद्य-रचना के अतिरिक्त इस काल में ब्रजभाषा गद्य में टीका-टिप्पणियाँ भी तैयार होती रहीं। किन्तु ऐसी रचनाएँ १७०७ से पहले भी हुआ करती थीं। इसलिए ये ब्रजभाषा गद्य-टीकाएँ हिन्दी साहित्य में कोई नवीनता प्रस्तुत नहीं करतीं। गद्य के अतिरिक्त फ़र्रुख़सियर (१७१२-१७१६) के राजत्व-काल में निवाज कवि ने 'शकुन्तला नाटक' की रचना की। किन्तु एक तो ऐसे नाटक इस काल से पहले भी लिखे जा चुके थे और दूसरे यह नाटक केवल नाम मात्र का नाटक है। 'नाटक' शब्द के अतिरिक्त नाटक के तत्त्वों का उसमें अभाव है। उसे, और उसी की भाँति अन्य रचनाओं को, काव्य-ग्रन्थ ही कहा जाय तो अधिक समीचीन होगा। उनसे आधुनिक नाट्य-साहित्य का जन्म किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता।

परन्तु, इस काल में वीर, भक्ति और रीति आदि की साहित्य-धारा अक्षुण्ण बनी रही। जिस तरह के समाज और जीवन की जिन परिस्थितियों में उसका निर्माण हुआ, वह उसे परम्परापोषित और रूढ़िगत बनाए रखने के लिए ही अनुकूल थी। आलोच्य काल (१७५७-१८५७) को भी वही काव्य-संपत्ति उत्तराधिकार में मिली।

अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के कवियों की रचनाओं का अध्ययन करते समय यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि उनका सम्बन्ध जीवन की वास्तविकताओं से नहीं था। उनकी सृष्टि एक ह्रासोन्मुख युग में हुई। वह युग ऐसा था जब कि लोगों के सामने जीवन के एक सर्वमान्य नैतिक आदर्श और सामूहिक उत्तरदायित्व का अभाव था, जब कि चारों ओर की यातनाओं, कष्टों और पैशाचिकता के कारण उत्पन्न जीवन की अनिश्चितता मुंह बाए सबको सशंकित किए रहती थी और जब कि समाज की आर्थिक शक्ति थोड़े से लोगों के हाथ में संचित थी। ऐसे समाज में निबलों का अपने से शक्तिशाली व्यक्तियों के आश्रय में रहना अनिवार्य था। और जब आश्रयदाता ही जीवन की कठोर वास्तविकता से भाग कर सपनों की रंगीन दुनिया में छिपने की चेष्टा कर रहे थे तो कविगण भी, जिनके पास उस समाज में स्वतंत्र आजीविका का कोई साधन नहीं था, उनका अनुगमन किए बिना न रह सके। धनधान्य से पूर्ण होने के कारण सामन्तों, कुलीनों और सेठ-साहूकारों के दरबारों में किसी केन्द्रीय अंकुश के न रह जाने से उत्पन्न स्वेच्छाचारिता के वशीभूत हो लोग आमोद-प्रमोद, राग-रंग, साहित्य, कला आदि पर दिन पर दिन अधिकाधिक व्यय करने लगे थे। समाज के छिन्न-भिन्न होने तथा आए दिन युद्धों के फलस्वरूप फैली जीवन की विभीषिकाओं के बढ़ने के साथ-साथ आमोद-प्रमोद से मन-बहलाव की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती थी। संगीत, सुरा, सुन्दरियाँ और नृत्य आदि उनकी दिनचर्या के प्रधान अंग बन गए थे। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में प्राप्त जैसे एक नवीन सृजनात्मक जीवनादर्श के अभाव में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे केवल परंपरा का पालन मात्र ही कर सकते थे। जो कुछ नवीनता और चमत्कार मिलता है वह कहीं-कहीं केवल व्यक्तिगत प्रतिभा के कारण मिलता है। भारतीय इतिहास में १७०७ से पहले भी ऐसे युग कई बार आ चुके थे जिनमें अराजकता और अव्यवस्था प्रमुख हो उठी थी। किन्तु उस समय किसी एक सत्ता के स्थापित होते ही जीवन की गति सामान्य रूप धारण कर लेती थी और तत्पश्चात् साहित्य, कला और ज्ञान-विज्ञान खूब फूलते-फलते थे। अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के

से उचित-अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा किया करती थी। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी मुग़ल सम्राट् शक्ति-संचय कर अपना नाम सार्थक न बना सके। १७४८ में मुहम्मद शाह की मृत्यु उस शताब्दी के इतिहास की एक प्रमुख घटना है, क्योंकि उसके बाद फिर अराजकता और अव्यवस्था उत्पन्न करने वाली शक्तियों का दिन-पर-दिन ज़ोर बढ़ता गया और भारतीय शासन-सूत्र एक नवीन विदेशी सत्ता के हाथ में चला गया।

आलोच्य काल (१७५७-१८५७) के प्रारंभ में भारतीय राजनीतिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई थी।[1] मुग़ल साम्राज्य लगभग समाप्त हो चुका था। अब्दाली शाह (१७५७ और १७५९) और मरहठों का प्रभुत्व चारों ओर फैला हुआ था और शाहआलम (१७५९-१८०६) दर-दर मारा फिरता था। इसी काल में हिन्दी प्रदेश ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन हुआ और मुग़ल साम्राज्य का बिल्कुल अंत हो गया। शाहआलम के बाद दो और 'मुग़ल सम्राट्' हुए—अकबरशाह, द्वितीय (१७६०-१८३७) और बहादुरशाह (१७७५-१८६२)। किन्तु उनकी दशा तो शाहआलम से भी कहीं अधिक ख़राब थी।

'अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में राजनीतिक परिस्थिति एक तो वैसे ही

---

[1]—'The Mughal government had become bankrupt. All the provinces except Bengal had long ceased to send any revenue, some had become independent, some had been usurped by others. Thus the territory still obeying the Emperor's authority was reduced to a belt round the capital, viz., the upper Doab or the Meerut Division on the east and the Rohtak and Gurgaon districts on the west. From heret he Emperor got his revenue and the household and personal expenses......The hopeless poverty of the Emperor subjected him to deepening distress and insult. He was not left with any conveyance. The troops starved. The Royal family had to starve even. While this was the condition of the city and the palace, the countryside fared no better. The power of the central Government had become weak and despised and rebels and usurpurs triumphed over the Imperial Government'. (१७५४) सर यदुनाथ सरकार: 'दि फ़ाल ऑफ़ दि मुग़ल एम्पायर', जि० २, कलकत्ता, १९३४, पृष्ठ ३३-३७।

अत्यन्त शोचनीय हो गई थी, उस पर भी १७५७ और १७५९ में अफ़ग़ान आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली द्वारा किए गए भीषण नरसंहार और लूटमार से पंजाब, सरहिंद, दिल्ली, आगरा और मथुरा तक के प्रदेश में हाहा-हाकार मचा और जनता का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। दिल्ली तो करीब-करीब उजड़ गई थी। ऐसी ही दशा अन्य कई बड़े-बड़े नगरों की हुई। और जिस समय सन्, १७५७ में अहमदशाह अब्दाली दिल्ली से अफ़ग़ानिस्तान वापिस जा रहा था, उस समय क्लाइव बंगाल में प्लासी की युद्ध-भूमि में विजय प्राप्त कर रहा था और शाहआलम अपने मंत्रियों के चंगुल से जान बचा कर भागने की कोशिश कर रहा था। १७५८ में मुग़ल सम्राट् जगह-जगह भिखारी की तरह सहायता की भीख माँगता फिर रहा था। उधर मरहठे भी शक्ति-संचय कर अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए विशेष चिन्तित थे। १७५७ और १७५८ के युद्धों के फलस्वरूप उन्हें काफ़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ी थी। वे आए दिन दिल्ली और उसके चारों ओर के प्रदेश पर आक्रमण कर अपनी क्षति-पूर्ति करना चाहते थे। इतने में अब्दाली शाह अपनी असंख्य सेना लेकर फिर भारतवर्ष पर चढ़ आया और पंजाब, दिल्ली, सरहिंद और उत्तरी दोआब युद्ध के काले बादलों से छा गया। सदाशिव भाऊ के सेनापतित्व में मरहठों ने पानीपत के मैदान में अफ़ग़ान आक्रमणकारी और उनके साथ मिले हुए नाजिब, शुजा और रुहेलों आदि मुसलमानों की संगठित सैनिक शक्ति का मुक़ाबला किया। घमासान युद्ध के बाद १४ जनवरी, १७६१ को मरहठे बुरी तरह पराजित हुए। इस पराजय के फलस्वरूप उनकी राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक और आपस की स्थिति को बड़ा भारी धक्का पहुँचा। मरहठों की संघ-शक्ति कुछ दिनों के लिए छिन्न-भिन्न हो गई। यद्यपि उन्होंने सैनिक दृष्टि से अवध (१७६१) पर भी हमला किया था, किन्तु उससे कोई लाभ न हुआ। १७६१ में चोट खाए हुए मरहठे सात-आठ वर्ष तक उत्तर भारत में विजेताओं के रूप में दिखाई न पड़े। १७६९-७० में वे फिर सम्हले और हिन्दी प्रदेश के पश्चिमी भाग को युद्धभूमि बनाया। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक एलफ़िन्सटन का मत है कि वास्तव में पानीपत की लड़ाई से ही मुग़ल साम्राज्य का अंत मान लेना चाहिए, क्योंकि उसके बाद समस्त साम्राज्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गया था, राजधानी उजड़ गई थी, सम्राट् के नाम से विभूषित व्यक्ति दूसरों के सामने हाथ फैला रहा था और उधर पूर्व की ओर कुछ विदेशियों ने विजय प्राप्त करनी शुरू कर दी थी। लेकिन मरहठों की शक्ति अभी बिलकुल क्षीण नहीं हुई थी। लगभग बीस-पचीस वर्षों तक वे जाटों और उनके पड़ोसी

राज्यों पर आक्रमण करते रहे। १७६५ और १८०५ के बीच राजपूताना और बुंदेलखंड में उनके कारण भीषण विध्वंस हुआ। उन्होंने अपने आक्रमणों से राजपूतों में अपने प्रति घृणा के भाव उत्पन्न कर दिए थे। किन्तु १७६१ के बाद मरहटों ने जितने युद्ध किए वे संगठित मरहठा जाति के रूप में न हो कर विविध सेना-नायकों की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के रूप में हुए थे।

१७६१ के बाद कुछ समय तक राजनीतिक शक्ति के लिए वास्तविक प्रतिद्वन्द्विता नाजिब, सिक्खों और जाटों में रही। यद्यपि नाजिब कुछ दिनों तक चिन्तामुक्त अवश्य था, किन्तु उसके पास धन-जन और साधनों का नितान्त अभाव था। उत्तरी भारत में उस समय सूरजमल जाट और शुजाउद्दौला ये दो व्यक्ति बहुत शक्तिशाली और धन-संपन्न थे। १७६५ तक नाजिब जाटों के विरुद्ध कूटनीतिक विजय प्राप्त करता रहा, किन्तु शीघ्र ही दोआब का बहुत बड़ा भाग, निचले हिमालय का और यमुना की पश्चिम ओर स्थित प्रदेश युद्ध-क्षेत्र बन गया। लोगों का आना-जाना कठिन हो गया और वाणिज्य-व्यवसाय एक प्रकार से बन्द हो गया। नाजिब ने अहमदशाह अब्दाली पर आशा लगा रखी थी, किन्तु समय पर वह उसकी सहायता के लिए न आ सका। १७६३ में सूरजमल जाट की मृत्यु हो चुकी थी। उसके बाद उसका पुत्र जवाहरसिंह राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण कर चुका था। १७६७ में सिक्खों ने अहमदशाह अब्दाली को बुरी तरह पराजित किया जिससे उनकी हिम्मत बहुत बढ़ गई। अस्तु, नाजिब, सिक्खों और जाटों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप तत्कालीन अम्बाला ज़िला और सरहिन्द-पटियाला में काफ़ी लूट-मार और विध्वंस का बाज़ार गरम रहा। अंत में यह सब भूमिभाग सिक्खों के अधीन हो गया। क्योंकि अब अफ़ग़ानों के लिए पंजाब का रास्ता एक प्रकार से बन्द हो गया था, इसलिए सिक्खों ने उत्तरी दोआब, नजीबाबाद, सहारनपुर और मेरठ के आसपास अनेक आक्रमण किए और ख़ूब लूटमार की। जाटों ने निचले दोआब में अपनी युद्ध-प्रियता का परिचय दिया। वास्तव में १७५३ के बाद जाटों की राज्य-सीमा का विस्तार दोआब के मध्य और निचले भाग की शांति भंग कर हुआ था। उन्होंने दिल्ली के पश्चिम में भी अपने राज्य का विस्तार करना चाहा, किन्तु सफलता न मिल सकी। जवाहर सिंह के नेतृत्व में जाटों ने अपने सर्वाधिपति जयपुर के माधोसिंह, नाजिब और मरहटों (१७६४-१७६८) के साथ अनेक युद्ध किए। इस प्रयत्न में दिल्ली, आगरा, कालपी प्रदेश की रियासतों और नगरों, और उत्तर-पूर्वी राजपूताना को उजाड़ने के अतिरिक्त और कुछ उनके हाथ न लग सका।

जवाहरसिंह और माधोसिंह के युद्ध में तो दोनों ओर के बड़े-बड़े योद्धा काम आए। कहा जाता है कि जयपुर का शायद ही ऐसा कोई उच्च वंश बचा हो जिसके एक या दो पुत्र युद्ध में मृत्यु को प्राप्त न हुए हों। जयपुर-सेना का सेनापति दलेलसिंह भी अपनी तीन पीढ़ियों के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया। जयपुर के बड़े-बड़े सामन्ती राजघरानों का प्रतिनिधित्व करने के लिए केवल दस-दस वर्ष के लड़के बच रहे थे। इससे युद्ध की भीषणता और फलतः राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन के ह्रास का अनुमान लगाया जा सकता है। स्वयं जाटों के राज्य की नींव भी इस युद्ध से हिल गई। वे हतोत्साह और लुटे हुए से घर वापिस आए। जाटों में जो भगदड़ मची उसकी ख़बर चारों ओर फैल गई और शीघ्र ही उनकी राज्य-सीमा संकुचित होने लगी। माधोसिंह ने तुरन्त ही (फ़रवरी, १७६८) जवाहरसिंह के राज्य पर आक्रमण किया और जवाहरसिंह तथा उसके धन-लोलुप सिक्ख सहायकों और उनकी भाड़े की सेना को पूर्णतः पराजित किया। जवाहरसिंह की तो और भी बुरी गति होने वाली थी, क्योंकि मरहटों और शुजाउद्दौला ने जयपुर, तथा अँगरेज़ों और रुहेलों की सहायता से शाहआलम की रक्षा करते हुए आगरे तक पहुँचने की ठान रखी थी। वे जवाहरसिंह के हाथ से आगरे का किला छीन कर सम्राट् को दिल्ली के राज-सिंहासन पर बिठाना और इस प्रकार सूरजमल जाट और उसके पुत्र जवाहरसिंह के एकदम उठ खड़े हुए राज्य का अंत ही कर देना चाहते थे। किन्तु अंत समय में अँगरेज़ों के इंकार कर देने से यह आयोजना पूर्ण न हो सकी और जवाहरसिंह को दम लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जुलाई, १७६८ में उसके जीवन का ही अन्त हो गया।

सिक्खों की बढ़ती हुई शक्ति के सामने नाजिब साहस और आत्म-विश्वास खो बैठा और अंत में मार्च, १७६८ में दिल्ली की बागडोर अपने पुत्र ज़ाबित ख़ाँ के हाथ में सौंप कर अपने बसाए हुए नगर नजीबाबाद में जाकर एकान्तवास करने लगा। ज़ाबित ख़ाँ ने सिक्खों से संधि स्थापित कर ली। इसी समय के लगभग अर्थात् १७७० के प्रारंभ में मरहटों ने फिर उत्तरी हिन्दुस्तान (या तत्कालीन केवल हिन्दुस्तान) पर आक्रमण करने शुरू कर दिए और पानीपत में पराजय के फलस्वरूप अपने खोए हुए राज्य को वापिस लेने की चेष्टा करने लगे। फलतः दोआब का भूमिभाग फिर भीषण नर-संहार और अराजकता का केन्द्र बना। अब्दाली शाह मरणासन्न था और मरहठों ने अपने आपस के झगड़े तय कर लिए थे। उस समय उन्होंने निज़ाम और हैदरअली के साथ

भी मित्रता स्थापित कर ली थी। इस प्रकार वे अपनी समस्त शक्ति और साधनों का उत्तर भारत में प्रयोग करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र और निश्चिन्त थे। उनकी इस नीति के फलस्वरूप मथुरा, दनकौर, टप्पल, डिबाई, नौभील आदि स्थानों में युद्ध के परिणाम दृष्टिगोचर हुए। वास्तव में वे नाजिब से मिल कर जाटों को कुचल देना और अलीगढ़, शिकोहाबाद, सादाबाद आदि के चारों ओर के मध्य दोआब को अपने और नाजिब के बीच बाँट लेना चाहते थे। किन्तु उनके इस उद्देश्य की पूर्ति न हो सकी। क्योंकि नाजिब स्वयं जाटों और रुहेलों के साथ मिलकर उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहा था। वास्तव में मरहठे चाहते यह थे कि शाहआलम को कठपुतली के रूप में राजसिंहासन पर बिठा कर स्वयं एक बार फिर दिल्ली का शासन करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे समय-समय पर भिन्न-भिन्न नीति और साधन ग्रहण करते रहते थे।

१७६१ के बाद राजपूतों को मरहठों के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा तैयार करने का स्वर्ण अवसर मिला था। किन्तु उनका पारस्परिक जातिगत विद्वेष, गृह-कलह, और उचित नेतृत्व, चरित्र और कूटनीति के अभाव आदि ने उन्हें ऐसा न करने दिया। १७६६ में मल्हारराव होल्कर ने अपनी पूरी शक्ति राजपूतों के दमन और अपना तथा मरहठों का प्रभुत्व स्थापित करने में लगा दी। यद्यपि उसे कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी, तो भी दोआब, बुंदेलखंड, मालवा और राजपूताना में भारी उपद्रव तथा कोलाहल मचा और रक्तपात हुआ।

१७५४ से १७६१ तक मेवाड़ में भी शान्ति नहीं रही। राजसिंह द्वितीय के शासन-काल (१७५४-१७६१) में मरहठों की राज्य और धन-लिप्सा ने मेवाड़ का सर्वनाश कर डाला था। इसके अतिरिक्त स्वयं वहाँ के सेना-नायकों की प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप उत्पन्न नित नए युद्धों ने सभी प्रकार की शासन-संबन्धी व्यवस्था का अन्त कर दिया था। लगभग आधी शताब्दी तक मेवाड़ की यही अधोगति रही। अँगरेज़ों ने आकर फिर से वहाँ सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की नींव डाली। मरहठे मेवाड़ के गृह-युद्धों में हस्तक्षेप करते थे। किन्तु किसी एक तरफ़ से धन मिल जाने पर अलग हट जाते थे। १७६१ से १७६७ तक मेवाड़ में कुछ शान्ति बनी रही। किन्तु यह शक्ति की नहीं वरन् विजयसिंह जैसे शासकों की दुर्बलता और पारस्परिक मतभेद और विद्वेष की द्योतक थी। जब कभी मरहठे आक्रमण करते थे तो काफ़ी धन देकर उनकी पिपासा शान्त कर दी जाती थी।

वास्तव में राजपूत उस समय इतने शक्ति और साहस-हीन हो गए थे कि चुपचाप पराजय स्वीकार कर लेना और किसी न किसी प्रकार आई हुई विपत्ति को टाल देना उनकी साधारण और सामान्य नीति हो गई थी। साहसपूर्वक विपत्तियों का सामना करना वे भूल गए थे। आलोच्य काल में अजमेर, मेवाड़, मारवाड़ आदि की कहानी एक हृदय-विदारक कहानी है। इनके अतिरिक्त भारत में यूरोपीय सैनिक संगठन का सूत्रपात हो जाने से नए-नए हथियारों और नये ढंग की मोर्चाबन्दी का प्रचार हो जाने से रजपूती शक्ति कुछ पुरानी पड़ गई थी। फलतः नवीन सैनिक विधि सीखने के स्थान पर वे अपने छोटे-छोटे राज्यों तक ही सीमित रहे। परिवर्तित परिस्थितियों के साथ-साथ उनमें परिवर्तन न हुआ। कुछ राजपूत नरेशों ने यूरोपीय सैनिक शिक्षक रखे तो थे, किन्तु वे शिक्षक उन्हें उच्च कोटि की शिक्षा न दे सके। इससे राजपूत नरेश और सैनिक कुछ सीख ही न पाए। उलटे यूरोपीय शिक्षकों का व्यय बढ़ाकर उन्होंने अपने राज्यों का आर्थिक ह्रास और किया। उनमें शक्ति थी, और साथ ही जातिगत और वंशगत गर्व था। अपनी उस परम्परागत शक्ति और गर्व का उपयोग या दुरुपयोग उन्होंने आपस में लड़कर ही किया जिससे उनके राज्यों की निर्धनता बढ़ी और अन्त में वे स्वयं नष्ट हो गए। १८१८ तक सभी राजपूत नरेशों ने अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली।

इधर निर्वासित शाहआलम सहायता की याचना करता हुआ एक स्थान से दूसरे स्थान भागा-भागा फिर रहा था। उसे रुहेला-अफ़ग़ानों पर विश्वास न रह गया था, क्योंकि वे बाबर-वंश का अस्तित्व मिटाकर अफ़ग़ानों के हाथ में दिल्ली की राज्य-सत्ता दे देना चाहते थे। नाजिब के परामर्श और तत्कालीन सूबा हिन्दुस्तान के सबसे अधिक शक्तिशाली और धनाढ्य शासक शुजाउद्दौला (अवध) के कहने से शाहआलम ने उसके (शुजा) चचेरे भाई और इलाहाबाद के सूबेदार मुहम्मद कुली ख़ाँ की सहायता से १७५९ में बिहार पर असफल आक्रमण किया। इसी बीच में पिता की मृत्यु का समाचार सुन उसने अपने को सम्राट् घोषित कर दिया और इस बार शुजा की सहायता से १७६० और १७६१ में दो बार बिहार और बंगाल पर आक्रमण किया, किन्तु अँगरेज़ों की संगठित सैनिक शक्ति ने उसे बार-बार पीछे लौटने पर विवश किया। सम्राट् को फ्रेंच सहायकों से कोई विशेष सहायता न मिल सकी। १७६१ में ही जब सम्राट् ने लॉ (Law) और उसके फ्रांसीसी साथियों की सहायता से तीसरी बार बिहार पर आक्रमण किया तो उसे फिर अँगरेज़ों से पराजित होना पड़ा। सम्राट की सेना के आने-जाने से

बिहार के जनसमुदाय को यथेष्ट आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। अन्त में कोई चारा न देख कर सम्राट् ने अँगरेज़ों के ही सामने हाथ फैलाया। अँगरेज़ों ने उसका स्वागत किया। दूसरे शब्दों में मुग़ल-सम्राट्, शाहआलम, अँगरेज़ों के हाथ की कठपुतली बन बैठा। पानीपत के युद्ध के बाद उसने कई बार दिल्ली लौट जाने की इच्छा प्रकट की। अँगरेज़ बिहार की पश्चिमी सीमा से आगे बढ़ने के लिए तैयार न थे। ऐसी हालत में शुजा अपनी गुप्त मंत्रणाओं से शाहआलम का मार्ग-प्रदर्शन करने लगा। पानीपत के युद्ध (१७६१) के बाद मरहटों को कमज़ोर पड़ते देख शुजा ने सम्राट् को बुन्देलखण्ड में कालपी प्रदेश पर आक्रमण करने की सलाह दी। उस समय जाट, बुन्देले, राजपूत, अहीर और रुहेले आदि सभी सामन्तों ने मरहठों को चौथ देनी बन्द कर दी थी। शुजा ने स्वयं सम्राट् की सेना का संचालन किया। प्रारंभ में उसे कुछ सफलता मिली भी, किन्तु अन्त में महाराज छत्रसाल के प्रपौत्र हिन्दूपति के सामने उसे मुँह की खानी पड़ी। अस्तु, सम्राट् की जो स्थिति थी वह ज्यों की त्यों बनी रही और १७६३ तक वह दिल्ली पहुँचने में असफल रहा। शुजा अब वज़ीर हो गया था। शाहआलम इलाहाबाद में अपने दिन बिताने लगा। इसी बीच में अँगरेज़ों द्वारा अपदस्थ और निर्वासित मीर-क़ासिम सम्राट् और शुजा की सहायता माँगने आया। वज़ीर शुजा बड़ी भारी सेना लेकर बिहार पर आक्रमण करने चला। किन्तु उसका अन्त २३ अक्तूबर, १७६४ को बक्सर की घोर पराजय में हुआ। जो कुछ शक्ति शेष रह गई थी वह ३ मई, १७६५ को कड़ा (इलाहाबाद) के युद्ध में समाप्त हो गई। अब सम्राट् अँगरेज़ों के टुकड़ों पर पलने लगा और शुजा ने भी उनकी संरक्षा में रहना स्वीकार किया। बदले में सम्राट् ने १२ अगस्त, १७-६५ के फ़रमान द्वारा अँगरेज़ों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी। शुजा को अपनी सेना कम कर देनी पड़ी। अब उसे अपने मंत्रियों की नियुक्ति के लिए अँगरेज़ों की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। इस प्रकार बक्सर के युद्ध के फलस्वरूप समस्त हिन्दी प्रदेश का रास्ता अँगरेज़ों के लिए खुल गया और, व्यावहारिक दृष्टि से, अब कोई मुग़ल-सम्राट् न रह गया।

जाने की इच्छा और भी बलवती हो उठी। उस समय सिक्खों ने दोआब में उपद्रव मचाना शुरू कर दिया था। जवाहरसिंह की मृत्यु (१७६८) के बाद जाटों का कोई विशेष महत्त्व न रह गया था। सम्राट् को अँगरेजों से भी किसी विशेष सहायता की आशा न रह गई थी। शुजा ने इस संबंध में उदासीन नीति ग्रहण कर रखी थी। ऐसी परिस्थिति में मरहठों का मुँह ताकने के अतिरिक्त सम्राट् के पास और कोई चारा न रह गया था। मरहठों ने उत्तरी हिन्दुस्तान में फिर से पैर रखने शुरू कर ही दिए थे। ७ फ़रवरी, १७७१ को उन्होंने दिल्ली में शाहआलम को सम्राट् घोषित किया। ६ जनवरी १७७२ को शाहआलम ने दिल्ली में फिर पदार्पण किया। किन्तु वह नाम मात्र का सम्राट् था।[1] वास्तविक शक्ति मरहठों के हाथ में थी। इसी समय शुजा ने अँगरेजों की सहायता से रुहेलखण्ड में और दिल्ली के आस-पास उसके सम्बन्धी नजफ़ खाँ ने उपद्रव किए। मरहठों की शक्ति बढ़ जाने के कारण नजफ़ खाँ का किया हुआ उपद्रव अधिक उग्र रूप धारण न कर सका। किन्तु १७८८ में कुछ दिनों के लिए मरहठों के दिल्ली से चले जाने पर अवसर देखकर नाजिब खाँ के पौत्र गुलाम क़ादिर खाँ ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया और शाहआलम को बन्दी बना कर निर्दयतापूर्वक उसकी आँखें फोड़ डालीं। बाद में मरहठों ने आक्रमणकारी को दिल्ली से बाहर निकाल दिया और उसकी अत्यन्त दुर्गति की। महादजी सिंधिया यूरोपियनों द्वारा शिक्षित अपनी सेना की सहायता से १८०३ तक दिल्ली का

१—शाहआलम की अत्यंत हीन और शोचनीय दशा का एक उदाहरण इस प्रकार है :—

'When on the 5th of June, 1785 Sir Charles Malet met Shah Alam, near Muttra, he was given a Khillat—a princely dress—a sirpech, a tiara of jewels and a horse and an elephant. On examination the diamond and emerald 'Serpech' was found to be composed of green glass and false stones; the horse was worn out, and in the last stage of existence; and the elephant, when his trappings were taken off, was found to have a long ulcerated wound on the back from the shoulder to the tail. The whole was emblematical of the fallen state of the unfortunate monarch, or rather the shadow of a prince, by whom they were presented'....

—जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ओरिएंटल मेम्वायर्स', जि० २, लंदन, १८३४, पृ० ४२२-४२५.

शासन करता रहा। १८०३ में लॉर्ड लेक द्वारा पराजित होने पर दिल्ली मरहठों के हाथ से निकल कर अँगरेज़ों के अधिकार में चली गई।

अंधे मुग़ल सम्राट् शाहआलम की १६ नवंबर, १८०६ को मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसका उत्तराधिकार, अँगरेज़ों के संरक्षण में, उसके पुत्र अकबरशाह द्वितीय (ज० २४ अप्रैल, १७६०—मृ० ३० सितम्बर, १८३७) को मिला। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र बहादुरशाह (ज० १७७५) उत्तराधिकारी बना। १८५७ के विद्रोह के फलस्वरूप वह रंगून भेज दिया गया, जहाँ ७ नवंबर, १८६२ को उसकी मृत्यु हुई। ये दोनों 'सम्राट्' नाम से विभूषित मात्र थे। उनका राजनीतिक महत्त्व नितान्त नगण्य था। वास्तव में वे अँगरेज़ों के बन्दी थे।

अस्तु, १७५७ से १८५७ तक मुग़ल साम्राज्य का अत्यन्त क्षोभपूर्ण अंत हुआ। इतना ही नहीं वरन् जाटों, मरहठों और सिक्खों के पतन से भारतीय स्वतंत्रता के नाम पर जो कुछ अवशिष्ट रह गया था वह भी लुप्त हो गया।

इस प्रकार जब भारतवर्ष में चारों ओर विनाश और अराजकता का साम्राज्य था, जब अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के राजनीतिक क्षेत्र में एक दूसरे से और सब आपस में लड़ रहे थे, जब विभिन्न यूरोपीय जातियाँ व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता लिए हुए संघर्षपूर्ण जीवन व्यतीत कर रही थीं, उस समय उत्तर भारत के पूर्वी कोने में एक नवीन साम्राज्य की नींव पड़ रही थी।

'सैरुलमुताख़रीन' के लेखक सैयद गुलाम हुसेन ने बंगाल के अन्तिम यशस्वी नवाब, अलीवर्दी ख़ाँ, की एक भविष्य वाणी का उल्लेख किया है जो आगे चल कर बिल्कुल सत्य प्रमाणित हुई। मिर्ज़ा महमूद या सिराजुद्दौला का अँगरेज़ों के प्रति विरोधी रुख देखकर अलीवर्दी ख़ाँ ने सोचा था कि मेरी मृत्यु के बाद ये टोपी वाले (अँगरेज) देश के एक कोने से दूसरे कोने तक मालिक बन बैठेंगे। एक बार उसके सेनापति मुस्तफ़ा ख़ाँ ने अँगरेज़ों को तलवार के ज़ोर से कलकत्ते के बाहर निकालने का प्रस्ताव रखा भी था, किन्तु उसने बिना बात अँगरेज़ों से लड़ना ठीक न समझा। उसे आशंका थी कि समुद्र के किनारे भड़की हुई आग फिर किसी के रोके न रुकेगी। मुस्तफ़ा ख़ाँ के प्रस्ताव में उसे विनाश के बीज दिखाई दिए। १७५६ में उसकी मृत्यु हो गई।

पैर रखते ही वंश को राज्य और सिंहासन की प्राप्ति हुई, उसी व्यक्ति के कारण वंश और राज्य-सत्ता दोनों का सर्वदा के लिए विनाश हुआ। उसके राज्य-सिंहासन पर बैठते ही तत्कालीन हिंदुस्तान का सर्वतोमुखी पतन प्रारंभ हुआ और उसके एक विस्तृत और घने बसे हुए भूमिभाग का शासन-सूत्र विदेशियों के हाथ में चला गया। अँगरेज़ों से सिराजुद्दौला की तनातनी हो ही चुकी थी। १७५७ में क्लाइव ने फिर कलकत्ते पर अधिकार प्राप्त कर लिया और प्लासी के युद्ध में विजय प्राप्त की। वास्तव में प्लासी के युद्ध के समय मीर जाफ़र तथा अन्य वज़ीरों और जगत् सेठों ने उसके साथ विश्वासघात किया, नहीं तो उसकी सैनिक शक्ति विदेशियों को परास्त करने के लिए काफ़ी थी।

भारत के आधुनिक इतिहास में प्लासी का युद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युद्ध माना जाता है। विजय प्राप्त होते ही अँगरेज़ों के लिए मुर्शिदाबाद और शेष उत्तर-भारत का मार्ग खुला हुआ था; वे मनमाने ढंग से आगे बढ़ सकते थे। १८५७ तक अर्थात् सौ वर्षों में उन्होंने जो उन्नति की उसे देखते हुए अलीवर्दी ख़ाँ की आशंका सत्य रूप में परिणत होती दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में समुद्र के किनारे भड़की हुई आग फिर किसी के रोके न रुकी। इतिहास-लेखकों ने जो १७५७ को भारतवर्ष में अँगरेज़ी साम्राज्य का वपन-काल माना है वह एक प्रकार से ठीक ही है। उसके बाद भारतवर्ष का जीवन ही बदल गया।

प्लासी के बाद अँगरेज़ों को बंगाल में अनेक राजनीतिक और ज़मींदारी के अधिकार प्राप्त हुए। अपनी सुविधानुसार मीर जाफ़र (१७५७-१७६१ और १७६३-१७६५) और मीर क़ासिम (१७६१ १७६३) को मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बिठा कर या उन्हें अपदस्थ कर उन्होंने आर्थिक या राजनीतिक दृष्टि से खूब स्वार्थ-सिद्धि की। बंगाल और बिहार में वे नवाबों के भाग्य-विधाता बन गए थे। उन्हें उत्तर भारत में उस समय शाहआलम और शुजा से भय था। किन्तु १७५९-१७६१ के बीच में तीन बार सम्राट् को पराजित कर उन्हें संतोष हुआ और अंत में उसे अपने संरक्षण में ही ले लिया। बिहार में रामनारायण और मीर जाफ़र के पुत्र मीरन के शासन-काल में सुख-शान्ति बनी न रह सकी और पटना, छपरा, भागलपुर, पुर्णिया आदि नगर आए दिन विध्वंस-लीला के केन्द्र बने। राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के साथ-साथ अँगरेजों ने उचित-अनुचित सभी रीतियों से धन इकट्ठा करने की चेष्टा की। अँगरेज़ों की अत्यधिक आर्थिक माँगों के कारण ही उनका मीर जाफ़र और मीर क़ासिम से युद्ध-विग्रह हुआ। उनकी आर्थिक नीति बंगाल और बिहार की देशी जनता के लिए भयावह सिद्ध हो रही थी। पटना में उनके धृष्टतापूर्ण व्यवहार से भारतवासी

अत्यन्त दुःखी थे। इतिहास-लेखकों का मत है कि जिस समय उन्होंने पटना पर अधिकार प्राप्त किया उस समय उसे इतना लूटा कि नगरनिवासियों के घरों में एक तिनका तक बाकी न बच रहा था। १७६३ में उन्होंने मीर जाफ़र को फिर से सिंहासन पर बिठा दिया था और मीर क़ासिम से उनका युद्ध छिड़ गया था। मीर क़ासिम ने शाहआलम और शुजा से सहायता की याचना की। उसकी याचना के फलस्वरूप बक्सर का युद्ध हुआ जिसके परिणाम की ओर पीछे संकेत किया जा चुका है। इस युद्ध से भारतीय शासकों की ही अधोगति नहीं हुई थी, वरन् सम्राट् और शुजा की अपार सेना की लूट-खसोट के कारण प्रजा को इतना कष्ट हुआ कि, सैयद गुलाम हुसेन के कथनानुसार, वह अँगरेज़ों की विजय की प्रार्थना करने लगी। मेजर मुनरो के सेनापतित्व में बक्सर में विजय प्राप्त करने के बाद अँगरेज़ एक प्रकार से इलाहाबाद, लखनऊ और चुनारगढ़ के मालिक बन बैठे। बनारस पर भी शुजा के माध्यम द्वारा उनका प्रभाव पड़ने लगा था। १७६५ में क्लाइव दुबारा बंगाल का गवर्नर नियुक्त होकर आया। अब तक ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक संस्था मात्र थी। किन्तु अब वह एक राजनीतिक सत्ता के रूप में भी देश के सामने आई। क्लाइव के प्रयत्नों के फलस्वरूप कम्पनी को सम्राट् की ओर से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई। अब माल की व्यवस्था अँगरेज़ों के हाथ में और निज़ामत नवाब के हाथ में थी। इस दुहरी शासन-व्यवस्था से जनता को अत्यधिक कष्ट पहुँचा।

स्वार्थ-सिद्धि के लिए कोई कसर न उठा रखी थी। भारत के तत्कालीन वातावरण में दुर्बल किन्तु महत्त्वाकांक्षी नरेशों, सामन्तों और सेनापतियों का भी अभाव नहीं था।

ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में समस्त हिन्दी प्रदेश में अंगरेजों का प्रभुत्व छा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। बिहार तो एक प्रकार से उनके अधिकार में आ ही चुका था। दक्षिण भारत में अंगरेज़ साम्राज्य की नींव दृढ़ करने में लगा हुआ था। अँगरेज़ ज्यों-ज्यों हिन्दी प्रदेश की ओर बढ़ते गए त्यों-त्यों उनमें और मरहठों में संघर्ष बढ़ता गया। इस प्रकार से उस समय हिन्दी प्रदेश में ये ही दो प्रबल शक्तियाँ रह गई थीं। दोनों ही ने कठपुतली बने मुग़ल सम्राट् और अवसरवादी तथा कमज़ोर नरेशों और ज़मींदारों को अपने उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनाया। कहना न होगा कि बहुत से छोटे-छोटे राजे-महाराजे और ज़मींदार तो केवल मरहठों के उपद्रवों और अत्याचारों से तंग आकर अँगरेज़ों की शरण में आ गए थे। शरण में ले लेने के बाद उन्होंने उनसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति की। शुजा उस समय उनका सबसे बड़ा मित्र था। उसने अँगरेज़ों की मदद से १७७४ में रुहेलों का उपद्रव शान्त किया। हिन्दी प्रदेश में शुजा ही सबसे पहले अँगरेज़ों के घनिष्ठ संपर्क में आया था। १७७५ में शुजाउद्दौला (१७५३-१७७५) का पुत्र आसफ़ुद्दौला (१७७५-१७९८) जब गद्दी पर बैठा तो उसे आधुनिक गाज़ीपुर, बनारस, जौनपुर ज़िले, और मिर्ज़ापुर ज़िले का एक भाग अँगरेजों को देना पड़ा। बदले में सम्राट् से ले लिए गए इलाहाबाद और कड़ा ज़िले उसे दे दिए गए।। तत्पश्चात् अँगरेज़ी सेना की आर्थिक सहायता न करने और विद्रोह उभाड़ने के षड्यंत्र में बनारस के राजा चेतसिंह को और चेतसिंह की सहायता करने के अपराध में अवध की बेगमों को दण्ड दिया गया। आसफ़ुद्दौला अपनी उदारता और कला-प्रियता के लिए तो प्रसिद्ध था, किन्तु उसके समय से ही अवध दिन पर दिन पतनोन्मुख होता गया। प्रथम और द्वितीय मरहठा-युद्धों (१७७५-१७८२) में अँगरेज़ों की बंगाल सेना ने १७८० में मरहठों से तत्कालीन हिन्दुस्तान की एक और कुंजी, ग्वालियर को छीन लिया। १७९८ में लॉर्ड वेलेजली के आने से पूर्व अँगरेज़ समुद्र से लेकर गंगा की घाटी में बनारस तक अपनी सत्ता का प्रसार भली भाँति कर चुके थे। उनके राज्य के बाद अवध का राज्य था। १७९८ में आसफ़ुद्दौला के बाद सआदत अली ख़ाँ उत्तराधिकार का भागी बना। अँगरेजी सेना का व्यय न दे सकने के कारण उसे १८०१ में लखनऊ की संधि के अनुसार गोरखपुर, बस्ती, आज़म-

गढ़ आधुनिक ज़िले और दोआब में से आधुनिक इलाहाबाद, फ़तेहपुर, कानपुर, इटावा, मैनपुरी, एटा, फ़र्रुख़ाबाद ज़िले और रुहेलखंड का अधिकांश भाग अँगरेज़ों को दे देना पड़ा। यह भूमिभाग समर्पित प्रदेश (Ceded Province) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी वर्ष फ़र्रुख़ाबाद के नवाब ने अपना सारा राज्य कम्पनी को सौंप पेंशन स्वीकार कर राजकीय कार्यों से अवकाश ग्रहण किया। १८०२ में अँगरेज़ों ने होल्कर से पराजित पेशवा को वेसीन की संधि पर हस्ताक्षर करने को राज़ी किया और आधुनिक मेरठ डिवीज़न और मथुरा और आगरा ज़िलों का अधिकांश भाग एक प्रकार से अपने संरक्षण में ले लिया। मरहटों की स्वतंत्रता के प्रति पेशवा का यह विश्वासघात ग्वालियर के सिंधिया और नागपुर के भोंसला राजा को बिल्कुल अच्छा न लगा। इस संघर्ष का अन्त तृतीय मरहठा युद्ध (१८०२-१८०४) में हुआ। गवर्नर-जनरल के भाई आर्थर वेलेज़ली ने दक्षिण में और लॉर्ड लेक ने तत्कालीन हिन्दुस्तान में सेना का संचालन किया। १८०३ में लॉर्ड लेक ने अलीगढ़ और लासवारी के युद्धों में महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त की और दिल्ली और आगरा पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उसने सिंधिया की फ्रांसीसियों द्वारा शिक्षित सेना को बड़ा भारी आघात पहुँचाया और वह मुग़लों की राजधानी दिल्ली में ही मुग़ल सम्राट् का संरक्षक बन बैठा। सिंधिया ने यमुना के उत्तर में अपने समस्त अधिकारों का परित्याग कर अंधे और वृद्ध सम्राट् शाहआलम को अँगरेज़ों की दया पर छोड़ दिया। पेशवा के साथ १८०३ की नई संधि के अनुसार अँगरेज़ों को यमुना के दक्षिण में बुन्देलखण्ड मिला। सिंधिया और भोंसला के बाद अब केवल जसवंतराव होल्कर रह गया था जो मालवा और राजपूताना में लूटमार कर अपनी सेना का पालन कर रहा था। अँगरेज़ों ने उसे दबाने की चेष्टा की, किन्तु इस बार वे अपने नाम पर चार चाँद लगाने में असमर्थ रहे। १८०५ में लॉर्ड लेक भी भरतपुर का क़िला न जीत सका। उस पर १८२६ में लॉर्ड कॉम्बरमीअर (Combermere) ने विजय प्राप्त की। अस्तु, वेलेज़ली के छः वर्षों के शासन-काल में लॉर्ड लेक ने १८०२ और १८०५ के बीच उत्तरी दोआब को अँगरेज़ों के अधीन बनाया और सम्राट् को एक प्रकार से बन्दी रूप में रख छोड़ा। इन नए तथा अवध के नवाब से मिले पहले प्रदेशों को मिला कर Ceded and Conquered Provinces (समर्पित तथा विजित प्रदेश) कहा गया। इस प्रकार १८०५ तक हिन्दी प्रदेश के मध्य भाग पर अँगरेज़ों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था।

भारतवर्ष के आधुनिक इतिहास में असाई और लसवारी की लड़ाई में आर्थर वेलेज़ली द्वारा असाई (Assaye, १८०३) और लार्ड लेक द्वारा लसवारी (१८०३ में प्राप्त विजयों का ही महत्त्व है। अँगरेज़ों की इन विजयों ने मरहठों की संघ शक्ति को छिन्न-भिन्न कर फ्रांसीसियों के प्रभाव और कूटनीति का मूलोच्छेदन कर दिया। अब अँगरेज़ों का रास्ता बिल्कुल साफ़ था। मार्क्विस वेलेज़ली ने मुग़ल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर ब्रिटिश साम्राज्य का नवीन प्रासाद निर्मित कर भारतीय जीवन में एक भिन्न युग की अवतारणा की।

गवर्नर-जनरल सर जॉर्ज बार्लो (१८०५—१८०७ के शासन-काल में भारत में ब्रिटिश उत्तरदायित्व की ओर अधिक ध्यान न दिया गया और राजपूत सामन्त होल्कर और सिंधिया की दया पर छोड़ दिए गए। कोर्ट के आज्ञा-पत्र के अनुसार मिंटो (Minto) ने भारतीय नरेशों के पारस्परिक संघर्ष में हस्तक्षेप करना उचित न समझा और मध्य भारत तथा बुन्देलखण्ड के कुछ भागों में गृह-युद्ध होते रहे। किन्तु उसने पंजाब, अफ़ग़ानिस्तान और ईरान से राजनीतिक संबंध स्थापित किए और १८१५ की सगौली की संधि के अनुसार नैपाल-युद्ध के बन्द हो जाने पर उसने भी ब्रिटिश राज्य की सीमा का विस्तार किया। संधि के अनुसार अँगरेज़ों को गढ़वाल, कुमायूँ और देहरादून के आधुनिक ज़िले मिले। इन ज़िलों के मिल जाने से नैनीताल, मसूरी और शिमला जैसे आरोग्य-वर्द्धक पहाड़ी स्थान मिले जिन्होंने आगे चल कर भारतवासियों और अँगरेज़ों में पारस्परिक घनिष्ठ सामाजिक संबंध स्थापित करने की आवश्यकता ही कम कर दी और अन्ततः जिनका अँगरेज़ों के भारत के प्रति दृष्टिकोण पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। १८१७ में अँगरेज़ों ने मध्य भारत और राजपूताना में पिंडारियों का दमन किया। पिंडारियों का मुख्य केन्द्र मालवा में था। इसी वर्ष सिंधिया को ग्वालियर की संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े और इसी वर्ष पूना, नागपुर और इन्दौर की तीन मरहठा शक्तियों ने फिर सिर उठाया और इस प्रकार अन्तिम मरहठा-युद्ध (१८१७—१८)का सूत्रपात हुआ जिसमें मरहठों को पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करना पड़ा। इस युद्ध के बाद अँगरेज़ों और मरहठों की प्रतिद्वन्द्विता हमेशा के लिए समाप्त हो गई। देश में अब उनका बहुत अधिक प्रबल विरोधी कोई न रह गया था। १८१८ में ही राजपूताना के लगभग सभी नरेशों ने अँगरेज़ों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। १८४० में जालौन के राजा की मृत्यु के बाद बुन्देलखण्ड का कुछ भाग उनके अधिकार में आ गया। इसी समय के लगभग अँगरेज़ों ने

भी समाप्त हुआ। सिक्खों की ही एक ऐसी शक्ति रह गई थी जिसका अँगरेज़ों से विरोध चल रहा था। १८०४ में अँगरेज़ों की सत्ता सतलज नदी तक स्थापित हो चुकी थी। महाराजा रणजीत सिंह (१७८०—१८३९) की मृत्यु के बाद १८४५ में प्रथम सिक्ख-युद्ध हुआ। १८४८—४९ के द्वितीय सिक्ख-युद्ध के फलस्वरूप पंजाब पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। १८५३ में लॉर्ड डलहौज़ी ने झाँसी के राजा का राज्य ब्रिटिश बुन्देलखण्ड में मिला लिया। इसी वर्ष अंतिम भौंसले की निस्सन्तान मृत्यु हो गई। उसका राज्य मिला कर आधुनिक मध्य प्रान्त (प्रदेश) का निर्माण हुआ।

अन्त में अब केवल अवध रह गया था। शुजाउद्दौला की मृत्यु के पश्चात् आसफ़ुद्दौला (१७७५-१७९८), वज़ीर अली, सआदत अली ख़ाँ (१७९८-१८१४), ग़ाज़ीउद्दीन हैदर (१८१४-१८२७), नसीरुद्दीन हैदर (१८२७-१८३७), मुहम्मद अली शाह (१८३७-१८४१), अमजद अली शाह (१८४१-१८४७) और वाजिद अली शाह (१८४७-१८५६) के शासन-काल में अवध अँगरेज़ी शक्ति के अंतर्गत सुरक्षित था। अवध के नवाब भी सदैव स्वामिभक्त रहे। किन्तु अत्यधिक व्यय, भोग-विलास, आमोद-प्रमोद, शासन-सम्बन्धी अव्यवस्था आदि के कारण जनता में अराजकता फैलने लगी थी। चारों ओर विनाश ही विनाश दिखाई पड़ता था। १८३६ में राज्यकोष एक प्रकार से ख़ाली ही हो गया था। स्लीमैन ने अपने ग्रंथों में अवध की इस अराजकता-पूर्ण दीनहीन अवस्था का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस दुरवस्था का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व अँगरेज़ अपने ऊपर भी समझते थे, क्योंकि उनके रहते हुए अवध की ऐसी शोचनीय अवस्था हो गई थी। यह कलंक मिटाने के लिए डलहौज़ी ने एक भी गोली चलाए बिना १३ फ़रवरी, १८५६ में अवध को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। वाजिद अली शाह को अपना अपदस्थ होना अच्छा तो न लगा था, किन्तु अपनी असहायावस्था में उसे नतमस्तक होना पड़ा। उसने बारह लाख वार्षिक पेंशन पर कलकत्ते के पास गार्डन् रीच में अपनी वृद्धावस्था व्यतीत की। किन्तु डलहौज़ी के इस कार्य का अच्छा प्रभाव दृष्टिगोचर न हुआ। अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा यूरोपीय शिक्षा और संस्कृति के प्रचार से देश के धार्मिक और सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार की आशंकाएँ उत्पन्न हो गई थीं। डलहौज़ी के इस तथा ऐसे ही अन्य राजनीतिक कार्यों ने इन आशंकाओं को और भी बल दिया। इन सब कारणों का सामूहिक परिणाम १८५७ के विद्रोह के रूप में हुआ। इतिहास-लेखकों का मत है कि इस विद्रोह के कारण भारत में अँगरेज़ी साम्राज्य की नींव हिल उठी थी। जिस

समय लार्ड कैनिंग (१८५६-६२) ने राज-कार्य संभाला उस समय उसे एक भीषण संकट का सामना करना पड़ा। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश और अवध से लेकर बंगाल तक लूटमार और खून का बाजार गरम रहा। आर्थिक और राजनीतिक कारणों से अवध और बुंदेलखंड में उसका रूप अत्यधिक उग्र था। सिपाहियों ने भी उसमें सक्रिय भाग लिया। इस विद्रोह की आग मध्य भारत तक फैली जहाँ झाँसी की रानी ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। किन्तु व्यवस्थित सैनिक संगठन, वैज्ञानिक साधनों तथा एक सामान्य उद्देश्य के अभाव में विद्रोह असफल रहा। अप्रैल, १८५९ में उसका पूर्णतः अंत हो गया। अँगरेजों को अपने श्रेष्ठ और वैज्ञानिक साधनों के अतिरिक्त सिक्खों और राजपूताना के कुछ नरेशों से भी सहायता प्राप्त हुई।

आलोच्य काल में अँगरेजों के नवीन साम्राज्य की इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि भारत में जिस साम्राज्य की नींव क्लाइव ने डाली, १७७४ में नियुक्त सर्वप्रथम गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्ज (१७७२-१७८५) ने उस साम्राज्य के लिए एक शासन-व्यवस्था प्रस्तुत की, कॉर्नवालिस (१७८६-९३, १८०५) ने उस पर प्रासाद निर्मित किया, वेलेज़ली (१७९८-१८०५) ने ईस्ट इंडिया कंपनी को देश की सर्वोपरि सत्ता बनाया और भारतीय नरेशों को अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता छोड़ने पर बाध्य किया, यद्यपि वे अपनी-अपनी राजकीय उपाधियों से विभूषित अवश्य रह सकते थे, मिंटो (१८०७-१८१३) ने वेलेज़ली के कार्य को संगठित और दृढ़ किया, हेस्टिंग्ज (१८१४-१८२३) ने वेलेज़ली का कार्य पूर्ण किया, और लॉर्ड एमहर्स्ट (१८२३-१८२८) ने भरतपुर के किले पर विजय प्राप्त कर वेलेज़ली के अवशिष्ट कार्य की अंतिम परिणति प्रस्तुत की, बैंटिंक (१८२८-१८३५) ने शासन-सम्बन्धी सुधारों को जन्म दिया, और भारत में अँगरेज़ी शासन के इतिहास में प्रथम बार जनसाधारण के कल्याण के लिए सामाजिक सुधारों की ओर ध्यान देकर नवीन युग की अवतारणा की, और अंत में, डलहौज़ी (१८४८-१८५६) ने, जिसकी देशी राज्यों को मिलाने की नीति से भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिणाम दृष्टिगोचर हुए, अँगरेज़ी साम्राज्य का प्रासाद पूर्ण किया। उसने उन स्थानों में रँग भरा जो वेलेज़ली और लार्ड हेस्टिंग्ज़ द्वारा खींचे गए साम्राज्य के नक्शे में ख़ाली रह गए थे।

१८५८ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के सौ वर्ष के लंबे तथा विविधतापूर्ण इतिहास की इतिश्री हो गई। व्यापार करने के उपलक्ष्य में उसे महारानी

एलिज़बेथ द्वारा १६०० में प्रथम चार्टर (अधिकार पत्र) मिला था। १७७३ के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट द्वारा उसे राजनीतिक शक्ति प्राप्त हुई। यह कार्य लॉर्ड नॉर्थ के प्रधान-मंत्रित्व में हुआ। १७८४ में पिट के इंडिया ऐक्ट द्वारा बोर्ड ऑव कन्ट्रोल की स्थापना हुई और बंगाल को दूसरे अहातों से ऊँचा स्थान मिला। १८१३ में समस्त अँगरेज़ जाति को भारत से व्यापार करने का अधिकार मिला और केवल चीन के संबंध में कम्पनी का एकमात्र अधिकार रह गया। १८-३३ के ऐक्ट द्वारा कम्पनी बिल्कुल ही व्यापारिक संस्था न रह गई और अनेक शासन-संबंधी सुधार हुए। १८५३ में अन्तिम बार कम्पनी का चार्टर बदला गया, किन्तु अवधि का निर्णय ब्रिटिश पार्लियमेंट के हाथ में रहा। अब कोर्ट के डाइरेक्टरों की शक्तियाँ कम कर दी गई थीं और भारतवर्ष का शासन केवल कम्पनी के स्थान पर समस्त अँगरेज़ जाति का उत्तरदायित्व बना।

अंत में १८५७ के विद्रोह ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के भाग्य का अन्तिम बार निबटारा कर दिया और इस प्रकार भारतवर्ष के आधुनिक इतिहास की एक शताब्दी पूर्ण हुई। १८५८ के 'दि ऐक्ट फ़ॉर दि बेटर गवर्नमेंट ऑव इंडिया' के अंतर्गत भारत का शासन-सूत्र कम्पनी के हाथ से निकल सम्राट् के मंत्रि-मंडल के हाथ में चला गया। किन्तु देश का राजनीतिक मानचित्र और साम्राज्यवादी उद्देश्य सार रूप में लगभग वही रहे जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासनान्तर्गत थे।

आलोच्य काल की राजनीतिक परिस्थिति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि १७०७ में औरँगज़ेब की मृत्यु के बाद चारों ओर अव्यवस्था, अराजकता और अशान्ति का राज्य स्थापित हुआ। औरँगज़ेब के उत्तराधिकारियों के कमज़ोर हाथ उसका भारी राजदण्ड न सम्हाल सके। जिन कारणों से राजनीतिक अधःपतन हुआ उन पर पीछे विचार हो चुका है। राजनीतिक अधःपतन के बाद निरंकुश सेनाधिपतियों का उदय हुआ। ये सेनाधिपति या तो राजनीतिक विप्लवों के कारण असहाय और अकिंचन रह गए थे अथवा लूटमार के धन का लोभ उन्हें सैनिक जीवन की ओर खींच लाया था। इस प्रकार आलोच्य काल का इतिहास निरन्तर युद्ध-विग्रह का एक विस्तृत लेखा है। युद्ध लगभग प्रत्येक वर्ष होते थे और उनकी भीषणता का रूप विजेता के स्वभाव पर निर्भर रहता था। युद्धों के कारण दोनों पक्षों को केवल दुःख उठाने के और कुछ भी लाभ नहीं होता था। अनेक युद्ध तो छोटी-छोटी बातों पर हो जाते थे और जिनका परिणाम कुछ भी न निकलता था। इतने

प्रति विद्रोह, अवज्ञा, षड्यंत्र, अत्याचार, घूँस, मंत्रियों का विश्वासघात, छल, कपट और बेईमानी, राजकोष से ग़बन, व्यक्तिगत हित, भारी-भारी क़र्ज़, असन्तोष, संशय-बुद्धि आदि बातें सामन्त वर्ग के जीवन की सामान्य विशेषताएँ हो गईं। इस पर उनका 'स्व' और 'अहं' से पूरित और आमोद-प्रमोद तथा भोग-विलास पूर्ण जीवन उन्हें अपनी आर्थिक औरर राजनीतिक बिसात से बाहर जाने को बाध्य कर रहा था। अपनी सामान्य आय से उन्हें संतोष ही न होता था। वे चाहते थे कि दुनिया भर का धन, वैभव, ऐश्वर्य और विलास इकट्ठा होकर उन्हीं के पास चला आवे। आसपास निगाह डालने पर उनकी लोलुपता सभी प्रकार के प्रतिबंध तोड़ डालती थी। केंद्रीय सरकार की दुर्बलता के कारण उनकी महत्त्वाकांक्षा अकांड ताण्डवों का आधार बनती हो तो कोई आश्चर्य नहीं। भूखे कुलीन और निर्धन दरबार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जनसाधारण के जीवन का शोषण कर अपना काम चलाते थे। अनेक सामंतों और कुलीनवंशजों की संतान के लिए सैनिक जीवन के अति-रिक्त आजीविका का अन्य साधन भी नहीं था। युद्ध ही उनकी आजीविका थी। बेकार होने पर लूटमार करना ही उनके पास एकमात्र साधन रह जाता था, विशेष रूप से उस समय जब अस्त्र-शस्त्र लिए हुए ही उन्हें सेना से अलग जाने दिया जाता था। अवसर मिलते ही वे अरक्षित गाँवों और नगरों पर टूट पड़ते थे। इस प्रकार कला और उद्योग-धंधों के अनेक केन्द्र उजड़ गए। आबादी की आबादी एक संकटापन्न स्थान को छोड़ कर दूसरे निरापद स्थान को चली जाने लगी। इससे जीवन में उत्पन्न अव्यवस्था का अनुमान

---

practised the worst and ugliest actions, without fear or remorse; so far are they from thinking it a shame or an infamy to imitate and follow such examples. From those men sprung an infinity of evil-doers, who plague the Indian world, and grind the face of the wretched inhabitants. Those men having in process of time assembled in bodies, then arose an age of senseless, slothful Princes, and Grandees, ignorant and meddling. Justice and equity declined—ignorance, imprudence, violence and civil war rampant. These excesses rendered a remedy impossible. In consequence of such wretched adminstrations, that every part of India is gone to ruin."—सैयद गुलाम हुसैन ख़ाँ : 'सियरुलमुताख़रीन' (अँगरेज़ी अनुवाद), जि० ३, पृ० १६२-१६३

१—'सैर मुताख़रीन' के पृ० ८८, [illegible], में फ्रांसीसी सेनानायक ला (M. law) के शब्द उद्धृत करते हुए लिखा है :

'I have seen all the country from Bengal to Shahdjehanabad, and have been able to observe nothing but the ruin of the poor, and the oppression of the lesser ones, by their rulers and superiors. And although I have proposed to some of those ignorant inconsiderate Princes, namely to the Vezir Umed-el-mulc, and to Shuja-ed-doula, to endeavour to bring order and tranquillity and union in the empire, after which might be easily recovered from the English; I have found attention nowhere, and nowhere did any one pay any regard to my representations, nor did any one so much as once examine the good and bad side of my proposed expedition.'

रमणीयता तथा सौन्दर्यप्रियता और वास्तविक जीवन से विमुखता थी, तो दूसरी ओर जन-जीवन में अशांतिपूर्ण वातावरण था। ऐसे समय में साहित्य, कला, उद्योग, वाणिज्य-व्यवसाय, कृषि आदि की नवोन्मेषशालिनी शक्ति का विकास होना असंभव था। राजनीतिक परिस्थिति जनसाधारण के जीवन और जीवन की शांति-अपेक्षित साधनाओं के लिए अभिशाप स्वरूप थी। उस समय नवीन और क्रियात्मक भावों और विचारों की उद्भावना नहीं हो सकती थी। सामंतवादी युग की क्रियात्मक शक्ति एक प्रकार से समाप्त हो चुकी थी। अधिक से अधिक जो कुछ था उसी को सुरक्षित रक्खा जा सकता था। और ऐसे संकटापन्न समय में जब कि जीवन और संपत्ति का अस्तित्व ही अनिश्चित था, जब कि चारों ओर मृत्यु ही मृत्यु दिखाई पड़ती थी, लोगों का, आत्म-रक्षा की स्वाभाविक भावना से प्रेरित होकर, रूढ़िप्रिय हो जाना, और संकट के समय कछुवे की भाँति, अपने आप में सिमट कर आत्मनिष्ठ और आत्मतुष्ट हो जाना आश्चर्य-जनक नहीं था। उनमें गति, आगे बढ़ने की शक्ति, के स्थान पर गतिहीनता, अपरिवर्तनशीलता और स्थिरता उत्पन्न हो गई थी। जीवन तो तभी स्फूर्तिदायक और शक्तिदायक हो सकता है जब कि उसमें गंगा का-सा उन्मुक्त प्रवाह हो, जो आगे बढ़ते हुए भी अनेक नदी-नालों का पानी आत्मसात करती हुई अपने अन्तिम ध्येय सागर तक पहुँच जाती है। जीवन को बाँध कर नहीं रखा जा सकता। बाँध कर रखने से उसमें नाना प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। आलोच्य-काल में संकटपूर्ण परिस्थितियों के कारण जीवन अप्रवहमान होकर अपनी ही सीमाओं में बँध गया था। फलतः उस समय जीवन-क्रम और जीवन के मूल्य सभी कुछ परम्परा-ग्रस्त हो गए। परम्परा के पालन में ही लोगों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। काव्य-कला, वास्तु-कला चित्र-कला आदि सब में हमें परम्परा का ही सूक्ष्म, किन्तु साथ ही साथ सुन्दर पालन मिलता है—विशेष रूप से उस समय जब कि एक महान् युग का अन्त हो रहा हो और एक ऐसी जाति के साथ संपर्क स्थापित हो जो एक नितान्त भिन्न सांस्कृतिक दृष्टिकोण लेकर आई थी।

जहाँ तक अँगरेज़ों, और उनके माध्यम द्वारा यूरोपीय संस्कृति, के साथ संपर्क स्थापित होने से संबंध है हिन्दीभाषियों का आलोच्य काल में कोई विशेष घनिष्ठ संपर्क स्थापित न हो सका। इतिहास यह बताता है कि हिन्दी प्रदेश में १८१८ और उसके कुछ बाद तक का समय अँगरेज़ों के लिए संघर्षों, युद्धों, राज्य-विस्तार, शक्ति-संगठन और शासन-व्यवस्था का समय है। यह परिस्थिति दो विभिन्न जातियों में सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने में सहायक

सिद्ध न हो सकती थी। साथ ही एक निश्चित भिन्न संस्कृति होने के कारण अंग्रेज़ों का उत्कर्ष और आकृष्ट होकर उनसे प्रेरणा ग्रहण करने के लिए समय की आवश्यकता थी। एकाएक ऐसा होना संभव नहीं था। कुछ समय और बीत जाने पर आलोच्य काल के अन्तर्गत जनता में प्रेस तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों और नवीन शिक्षा के प्रचार तथा शासन-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण केवल हिन्दी गद्य को कुछ प्रोत्साहन मिला। वैसे भी जो जनता अशिक्षित थी उसके सामने आए थे उसका भार वहन करने के लिए गद्य ही उपयुक्त माध्यम था। सामान्य जीवन और फलतः काव्य, जो साहित्य का एकमात्र प्रधान और प्रमुख अंग था और जिसके पीछे शताब्दियों की परम्परा होने के कारण सरलतापूर्वक बदल भी नहीं सकता था, जहाँ था वहीं रहा। उसमें परम्पराओं का ही पालन होता रहा; उसमें स्थिरता और गतिहीनता बनी रही। आलोच्य काल के बाद नवीन परिस्थितियों के कारण जीवन और काव्य की सीमाओं का विस्तार हुआ और नवीन भावों तथा विचारों की उद्भावना हुई। समाज के साथ-साथ साहित्य भी गतिशील हुआ।

आर्थिक

जिन राजनीतिक कारणों से मुग़ल साम्राज्य का पतन हुआ और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, उन पर संक्षेप में विचार कर लेने के बाद अब आलोच्य काल में हिन्दी प्रदेश की आर्थिक परिस्थितियों पर विचार कर लेना उचित होगा, क्योंकि इस काल की राजनीतिक घटनाओं का बहुत बड़ा प्रभाव आर्थिक परिस्थिति पर और फलतः देश के सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा।

आर्थिक दृष्टि से आलोच्य काल दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पहला, जब कि हिन्दी प्रदेश या उसके विभिन्न भाग मुग़लों, अफ़ग़ानों, मरहठों, जाटों सिक्खों, या राजपूतों में से किसी एक या विभिन्न भारतीय शक्तियों के हाथ में थे, और दूसरा, जब कि हिन्दी प्रदेश के विभिन्न भाग समय समय पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासनान्तर्गत होते गए और धीरे-धीरे अंत में समस्त प्रदेश पूर्णतः उसके अधीन हो गया। दोनों भागों पर अलग-अलग क्रमिक रूप में विचार करना अधिक सुविधाजनक होगा।

भारतवर्ष के आर्थिक जीवन के प्रधान केन्द्र यहाँ के गाँव रहे हैं। यहीं से भारतीय कोष का स्रोत प्रवाहित होता है। प्राचीन समय में राज्य के तीन प्रधान स्तंभ माने जाते थे—शासक, जो राज्य का शासन-भार सम्हालता

था; सेना, जो शासक की सहायता करती थी ; और कृषक, जो दोनों के लिए आवश्यक धन प्रदान करते थे। कृषक-भूमि पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न हो कर सामूहिक अधिकार होता था, अर्थात् दूसरे शब्दों में, भूमि पर शासक का अधिकार होता था और कृषक का ज़मीन जोतना-बोना अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य-रूप में था। उपज का एक निर्धारित अंश उसे राजकोष में जमा करना पड़ता था। भारतवर्ष में ईसा की तेरहवीं शताब्दी से लेकर लगभग अठारहवीं शताब्दी के अंत तक यही प्रथा प्रचलित थी। कहा जाता है कि कृषि पर आधारित देश के इस आर्थिक जीवन को बनाने-बिगाड़ने में जलवायु के बाद शासन का ही सबसे बड़ा हाथ रहता था। यद्यपि मनुस्मृति में कृषि-सम्बन्धी नियमों का विस्तार से उल्लेख नहीं हुआ, तो भी बाद के ग्रंथों, जैसे कौटिल्य के अर्थशास्त्र, के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन भारत में भी कृषि-सम्बन्धी व्यवस्था बहुत-कुछ वैसी ही थी जैसी मुसलमानों ने अपने शासन की स्थापना करते समय पाई और जो उस शासन के लगभग अन्त तक बनी रही। प्राचीन व्यवस्था में भी हम शासक और कृषक के पारस्परिक सम्बन्ध को ही प्रधान पाते हैं। शासक के लोक-प्रिय होने, या निरंकुश और अत्याचारी होने, या वैध शासक होने से उसके और कृषक के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। कृषक अपने और अपने परिवार के परिश्रम से उत्पन्न धन का एक अंश राजकोष में जमा करता था और बदले में शासक द्वारा धन-जन की रक्षा की आशा रखता था।

औरँगज़ेब के शासन-काल के प्रारंभिक वर्षों में कृषि-सम्बन्धी व्यवस्था इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार अधिक थी, यद्यपि उसका प्रधान आधार प्राचीन भारतीय व्यवस्था ही थी। उस समय व्यक्तिगत रूप में कृषकों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाने लगा था, जो एक प्रकार से ब्रिटिश शासनान्तर्गत व्यवस्था का प्रारंभिक रूप है। किन्तु उस समय शासन-सम्बन्धी प्रतिबंधों तथा कठोर नियमों और अत्यधिक राजकीय माँगों के कारण किसान कृषि-कर्म छोड़ कर या तो अन्य व्यवसाय ग्रहण करने लगे थे अथवा उन प्रदेशों में जाकर बसने की चेष्टा करने लगे थे जहाँ मुग़ल शासन नहीं था। उन पर भारी-भारी कर लगाए जाने लगे और अकबर के समय की अपेक्षा लगान बहुत अधिक बढ़ गया। औरँगज़ेब की मृत्यु के बाद भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में जो अव्यवस्था और अराजकता फैली उसके कारण किसानों से वसूल किए गए लगान में और भी अधिक वृद्धि हुई और कुल कृषि-संपत्ति विजेताओं, सुपुर्दगी पाने वालों (Assignees) और कृषकों में बँटने लगी। १७ वीं शताब्दी में सुपुर्दगी

करने वालों का कार्य अत्यन्त लाभकारी समझा जाता था। किन्तु राजनीतिक परिवर्तनों के कारण इस कार्य को अधिक लाभकारी न समझा जाने लगा। १८ वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में सुपुर्दगी पाने वाले लोग दाने-दाने को तरस गए। आगे चल कर शाहआलम के समय में इस व्यवस्था में अनेक सुधार कर उसे लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न हुआ। कहा जाता है कि प्रयत्न करने वालों को कुछ सफलता मिली थी। किन्तु तब भी लोग सुपुर्दगी पाने के स्थान पर ताल्लुक पाना अधिक लाभकारी और प्रतिष्ठा के अनुकूल समझने लगे। निरन्तर युद्ध-विग्रह और गाँवों के उजड़ जाने के फलस्वरूप मरहटों, जाटों, अवध के नवाबों तथा अन्य राजनीतिक शक्तियों की आर्थिक माँगों को पूर्ण करना सुपुर्दगी पाने वालों की शक्ति से बाहर की बात थी। जो इन माँगों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होते थे उन्हें या तो कृषकों पर नाना प्रकार के अत्याचार करने पड़ते थे या स्वयं अपमानित होना पड़ता था। अस्तु, १८ वीं शताब्दी में ताल्लुक के रूप में जमीन पर अपना अधिकार करना कहीं अधिक अच्छा समझा जाता था। इस कारण भी किसी न किसी प्रदेश पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आलोच्य काल में प्रायः संघर्ष होने और केन्द्रीय राज्य-सत्ता की आज्ञाओं का उल्लंघन किया जाने लगा। राजनीतिक महत्त्व के अतिरिक्त उसमें आर्थिक लाभ भी था। किन्तु इसका अन्तिम भार किसान पर ही पड़ता था। अतः आलोच्य काल में सुपुर्दगी के स्थान पर किसी भूमिभाग का मालिक बन बैठने की महत्त्वाकांक्षा के कारण अथवा सुपुर्दगी के उत्तरदायित्व के पूर्ण होने के कारण किसानों को ही अत्यधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ती थी। इससे कृषि-कर्म और फलतः हिन्दी-प्रदेश की आर्थिक अवस्था को भारी आघात पहुँचा।

किन्तु प्रसिद्ध भारतीय ग्राम-व्यवस्था के अंतर्गत कृषि-कर्म अनेक व्यवसायों में से एक प्रधान व्यवसाय था। भारतवर्ष की ग्राम-व्यवस्था को समझ लेना एक प्रकार से अँगरेज़ी राज्य की स्थापना से पूर्व देश का आर्थिक जीवन समझ लेना है। देश के अन्य भूमि-भागों की भाँति हिन्दी प्रदेश में भी गाँवों की संख्या ही अधिक पाई जाती है। अँगरेज़ों के आने के समय तक ये गाँव, यद्यपि राजनीतिक विशृंखलता और अराजकता के कारण समय-समय पर आघात सहते रहते थे, तो भी आदर्श जनसत्तात्मक और आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर केन्द्रों के रूप में थे। आने-जाने की आधुनिक सुविधाओं के अभाव में एक गाँव दूसरे गाँव या नगर से दूर पड़ता था। और इस प्रकार प्रत्येक गाँव का निजी आर्थिक जीवन होना अनिवार्य था। इन छोटे-छोटे और अत्यन्त

प्राचीन गाँवों में ज़मीन पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं था। यद्यपि प्रधान कर्म कृषि-कर्म था, तो भी अन्य प्रकार की दस्तकारियों का प्रचार और श्रम-विभाजन ग्राम-व्यवस्था की अपनी विशेषताएँ थीं। जहाँ कहीं भी कोई नया गाँव बसता था तो यही व्यवस्था तुरंत व्यावहारिक रूप ग्रहण कर लेती थी। गाँव वालों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव में ही हो जाती थी। गाँव में जो चीज़ पैदा होती या बनाई जाती थी वह वहीं के सब लोगों के काम आती थी; उसका सामूहिक रूप में उपभोग होता था। वह क्रय-विक्रय की वस्तु बन कर बाज़ार में नहीं पहुँचती थी। सामान्य रूप में प्रचलित श्रम-विभाजन इस प्रकार की उत्पादन-क्रिया में नहीं मिलता। पैदा की हुई वस्तुओं के उपभोग के बाद जो कुछ बचता था वह निर्धारित नियम के अनुसार किसी-न-किसी रूप में राजकोष में जमा कर दिया जाता था। राजकोष में जमा करते समय ही गाँव का सामूहिक उत्पादन एक प्रकार से विनिमय की वस्तु बनता था।

इस प्रकार की ग्राम-व्यवस्था भारत के सभी भागों में पाई जाती थी। एक स्थान से दूसरे स्थान की व्यवस्था में थोड़ा बहुत भेद अवश्य रहता था, किन्तु मूलतः उनमें साम्य ही दृष्टिगोचर होता था। सामान्यतः ज़मीन पर सामूहिक अधिकार रहता था और भू-संपत्ति गाँव के सब लोगों में वितरित हो जाती थी। कृषिकर्म के अतिरिक्त उनके आर्थिक जीवन में कातना और बुनना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग-धंधे थे। इन एक-से तथा परम्परागत कार्य करने वालों के अतिरिक्त ग्राम-व्यवस्था में मुखिया, जो एक साथ न्यायाधीश, पुलीस और कर इकट्ठा करने वाला होने के कारण अत्यधिक प्रभावपूर्ण और शक्तिशाली व्यक्ति समझा जाता था, पटवारी, चौकीदार, सीमारक्षक, जलाशयों का अधिकारी, जो कृषि-कार्य के लिए पानी बाँटता था, पुरोहित, ज्योतिषी, अध्यापक (ब्राह्मण) या कवि, लुहार, बढ़ई, कुम्हार, नाई, धोबी, सुनार, चमार, भंगी आदि अन्य आवश्यक और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति रहते थे। प्रत्येक गाँव में एक पंचायत होती थी जिसका निर्णय अंतिम और सर्वमान्य समझा जाता था। अस्तु, प्राचीन ग्राम-व्यवस्था में कृषि-कर्म के साथ-साथ उद्योग-धंधों या दस्तकारियों का भी उच्च स्थान था। इन सब व्यक्तियों के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व पूरे समाज पर था। यदि जन-संख्या बढ़ जाती थी तो इसी व्यवस्था के अनुकरण पर किसी दूसरी ख़ाली जगह एक और व्यवस्था स्थापित कर ली जाती थी।

इन आत्म-निर्भर ग्राम-व्यवस्थाओं की उत्पादन प्रणाली अत्यन्त सरल

होती थी। एक बार नष्ट हो जाने पर यह व्यवस्था उन्हीं प्रणालियों और नामों को लिए हुए पुनर्जीवित हो उठती थी। उत्पादन प्रणाली की यह सरलता भारतीय समाज की अपरिवर्तनशीलता का एक बहुत बड़ा कारण रही। राजवंशों और राजकीय सत्ताओं के तीव्र परिवर्तनों के सामने समाज की अपरिवर्तनशीलता विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है। राजनीतिक क्रांतियों और विप्लवों से विनाश के बाह्य चिह्न अवश्य प्रकट हो जाते थे, किन्तु व्यवस्था के मूल संगठन में कोई अन्तर न पड़ने पाता था। वही व्यवस्था और वही सरल उत्पादन-प्रणाली एक वंश से दूसरे वंश तक चलती चली जाती थी। इस प्रकार के आर्थिक जीवन ने सांस्कृतिक जीवन में भी परम्परा पालन को जन्म दिया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भूमि पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न होकर सामूहिक अधिकार होता था अर्थात् दूसरे शब्दों में वह राज्य द्वारा अधिकृत होती थी। प्रत्येक गाँव की यह भूमि राज्य द्वारा वितरित की जाती थी। जो किसान मुखिया की अध्यक्षता में खेत जोतते-बोते थे वे प्रायः उसी गाँव के निवासी होते थे। खेती करने के हल तथा अन्य साधन प्रायः प्रत्येक किसान के अपने-अपने होते थे, किन्तु पूरे गाँव की ओर से भी इन साधनों के मिलने का प्रबन्ध रहता था। मुखिया साधन रखने और देने के अतिरिक्त किसानों के लिए बीजों का संग्रह करता था और साथ ही इस बात पर ध्यान रखता था कि श्रम करने योग्य व्यक्ति आलसी बने तो नहीं बैठे। वही लगान इकट्ठा करने वाले के साथ गाँव की ओर से समझौता (जमाबन्दी) करता और गाँव में प्रत्येक कुटुम्ब का भाग निर्धारित करता था। उत्पादन-शक्ति के अनुसार प्रत्येक गाँव में कुछ खेत सार्वजनिक कार्यों के लिए रख लिए जाते थे और जिनकी पैदावार ब्राह्मणों, धोबियों, लुहारों, चमारों, अंधों, लूलों-लंगड़ों, गाँव की रक्षा करने वाले कुछ सैनिकों आदि के भरण-पोषण के लिए नियत कर दी जाती थी। नाई मुख्य. हजामत बनाता था और त्योहारों, विवाहों आदि उत्सवों पर मशाल जलाता था। उसके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व सारे समाज पर था। इसी प्रकार गाँव के कारीगरों को भी व्यक्तिगत रूप से कुछ नहीं दिया जाता था। दान-पुण्य-सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त राज्य से समझौता करते समय अनाज का बहुत बड़ा अंश देवी-देवताओं के लिए भी अलग निकाल कर रख लिया जाता था। संक्षेप में, आलोच्य काल के अंतर्गत कोई भूखा न रहने पाता था। सबके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व समाज पर था।

अँगरेज़ी राज्य स्थापित होने से पूर्व सब किसान मिलकर मुखिया के नेतृत्व में, न कि व्यक्तिगत रूप में, सरकारी प्रतिनिधि से बातचीत करते थे और लगान देते समय उनके और सरकार के बीच में मध्यस्थ का कोई स्थान न था। यदि कोई मध्यस्थ होता भी था तो उसे साधारण पारिश्रमिक मिलने के अतिरिक्त कोई विशेष लाभ नहीं होता था। किन्तु गांव के मुखिया और सरकारी प्रतिनिधि के बीच एक और व्यक्ति होता था जिसने आगे चलकर ज़मींदार के रूप में किसानों का आर्थिक शोषण करना शुरू कर दिया। यह व्यक्ति वह था जो दोनों पक्षों का हित ध्यान में रखता था। यह एक प्रकार से तत्कालीन माल विभाग का क्लर्क हुआ करता था, जो सब प्रकार के नियमों से परिचित होता और हिसाब रखता था। किन्तु आलोच्य काल में इस व्यक्ति ने अपने पद का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया। प्रत्येक फ़सल के अवसर पर वह मुखिया द्वारा किसानों को धन, बीज आदि देने, व्याज वसूल करने और इस सहायता के बदले ज़मीन गिरवी भी रखने लगा। और इस प्रकार जमाबंदी के समय अब वह महाजन के रूप में रहता था। कभी-कभी तो जमाबंदी का रुपया वह स्वयं दे देने के लिए प्रस्तुत हो जाता था। इस व्यक्ति की शक्ति दिन-पर-दिन बढ़ती गई और अंत में, ज़मींदार के रूप में, किसानों के लिए अत्यन्त दुःखदाई सिद्ध हुआ। बेचारे किसान उसकी चालाकी न समझ पाए। उनसे उधार लिया हुआ धन वापिस करने के लिए गाँवों में कुछ खेत अलग नियत किए जाने लगे। किन्तु इससे उनका दुःख किसी प्रकार भी दूर न हो सकता था। उस समय एकमात्र उपाय यही था कि जमाबंदी प्रथा तोड़ दी जाती और लम्बे-लम्बे पट्टों पर ज़मींन देकर किसानों को आर्थिक संकट से बचाया जाता। किन्तु उस समय ऐसा न हो सका और ज़मींदार तथा उसके साथी अन्य सरकारी कर्मचारी किसानों को लूटते और उन पर अत्याचार करते रहे। इस प्रणाली के अंतर्गत किसानों को नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़े।

इसके अतिरिक्त अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं जब कि गाँव के गाँव और उसकी भू-संपत्ति किसी नरेश या बड़े सरकारी कर्मचारी, नर्तकियों, देवदासियों तथा भक्तों के नाम अर्पित कर दी जाती थी।[1] वास्तव में यदि हिसाब लगाया जाय तो प्रत्येक हिन्दू की संपत्ति का तृतीयांश धार्मिक संस्थाओं और

१—जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ऑरिएंटल मेम्बायर्स', जि० २, लंदन १८३४, द्वितीय संस्करण, पृ० ४४-४७

दान-पुण्य पर ख़र्च होता था।[1] फिर परम्परा से अथवा धनोपार्जन की दृष्टि से भीख माँगने वालों की संख्या भी कम न थी। उन पर भी हिन्दू काफ़ी व्यय करते थे। आलोच्य काल में बहुत से नगरों और गांवों में प्रत्येक सप्ताह हाटें लगा करती थीं जिनमें पास-पड़ोस के व्यापारी अपनी-अपनी चीज़ें बेचते अथवा उनका विनिमय करते थे। इन हाटों में भी अनेक लूले-लँगड़े भिखारी, गोद में बच्चे लिए भिखारिनें, नाचने-गाने वाले फ़क़ीर आदि एकत्र होते और हाथ फैला-फैला कर दान माँगते थे। उनकी प्रार्थनाएँ अस्वीकृत तो न होती थीं, किन्तु इससे बहुत सा राष्ट्रीय धन अनुत्पादक रूप में पड़ा रह जाता था। राजनीतिक अराजकता फैलने के साथ-साथ भीख माँग कर निर्वाह करने वाले फ़क़ीरों और साधुओं की संख्या में भी वृद्धि हुई। इस प्रकार तत्कालीन हिन्दी प्रदेश में नाम मात्र के साधुओं और फ़क़ीरों की संख्या-वृद्धि के कारण यहाँ के आर्थिक जीवन को क्षति ही पहुँची। आय का थोड़ा-सा भाग धार्मिक कृत्यों पर ख़र्च कर दिया जाय तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु धर्म के नाम पर समाज के धन की उत्पादकता नष्ट करना किसी भी हालत में वांछनीय नहीं था।

इस सरल ग्राम-व्यवस्था के अतिरिक्त हिन्दी प्रदेश में अनेक छोटे-बड़े औद्योगिक नगर थे। यद्यपि गाँवों के आर्थिक जीवन का नगरों के आर्थिक जीवन से अधिक घनिष्ठ संबंध नहीं था, तो भी राजनीतिक उथल-पुथल के कारण बिगड़ी नगरों की आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव गांवों की आर्थिक परिस्थिति पर अवश्य पड़ता था। नगरों के बाज़ारों में रुपए-पैसों का ढेर लगाए रेज़गारी देने वालों, जूते बनाने वालों, घोड़े बेचने वालों, हिन्दू मज़दूरों और व्यापारियों, कारीगरों और शिल्पियों, खिलौने और लकड़ी का सामान बनाने वालों, कश्मीरी दुशाले और दिल्ली के दुपट्टे बेचने वालों, सराफ़ों और साहूकारों, तंबोलियों, चटाई बुनने वालों और बर्तन बनाने और बेचने वालों आदि के विविध दृश्य उपस्थित रहते थे। बाज़ार प्रायः तंग और गंदे होते थे। उनमें खूब भीड़ लगी रहा करती थी और तरह-तरह के व्यापारी घूमते-फिरते नज़र आया करते थे। इन में से अनेक व्यापारियों के बड़े-बड़े मकान युद्धों के कारण नष्ट हो चुके थे। खेती और उद्योग-धंधों का काम मुसलमान बहुत कम करते थे। ये कार्य उन्होंने अधिक परिश्रमी और सहनशील हिन्दू जाति के लिए छोड़ रखे थे। वे या तो व्यापार या सैनिक जीवन व्यतीत करते

१—वही, जि० १, पृ० १३८

थे। नगरों की साप्ताहिक हाटों में वस्तुओं का या तो क्रय-विक्रय होता या विनिमय। पटना, मुंगेर, तिरहुत, बनारस, दिल्ली, गाज़ीपुर, फ़ैज़ाबाद, फ़ीरोज़ाबाद, लखनऊ, नगीना—तत्कालीन उत्तर भारत का बरमिंघम—कालपी, हीरापुर, बाँदा, बनारस के पास सैयदपुर, कन्नौज, कानपुर, छपरा, चुनार, मिर्ज़ापुर, आगरा, जयपुर, जोधपुर, इटावा आदि हिन्दी प्रदेश के अनेक बड़े-बड़े नगर थे जो अपने-अपने उद्योग-धंधों, व्यापार और धनसंपन्नता के लिए विख्यात थे और जिनमें नमक, शोरा, शीशा, हथियारों, रुई, नील, दुशालों, पत्थर की बनी चीज़ों, सोने-चाँदी के आभूषणों, कंबलों, बर्तनों, रत्नों, सूती कपड़ों, रेशम और रेशमी कपड़ों, बढ़िया ऊनी कपड़ों, कालीनों, लोहे की बनी चीज़ों, गुलाब और इत्रों, खिलौनों, ज़ीन और घोड़े के सामानों, दस्तानों, पीतल के बर्तनों, मूर्तियों, लकड़ी की बनी चीज़ों, कमख़ाब, तनज़ेब तथा अन्य प्रकार के बढ़िया-बढ़िया कपड़ों, चीनी, महाजनी आदि का व्यापार होता था। हिन्दी प्रदेश के व्यापारिक यातायात में यहाँ की नदियाँ अत्यन्त सहायक सिद्ध हुईं। नगरों का आर्थिक और सामाजिक जीवन प्रधानतः हाथ से चलने वाले करघों और चरख़ों पर आधारित था। किन्तु राजनीतिक विप्लवों और युद्धों की निरंतर भीषण विध्वंस-लीला के फलस्वरूप अनेक समृद्ध व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्रों का ह्रास हुआ। बहुत से नगर तो बिल्कुल ही उजड़ गए। किन्तु तब भी, इतिहास लेखकों का मत है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में जब अँगरेज़ अपनी शक्ति संगठित करने में लगे हुए थे, उस समय भी अनेक प्राचीन व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्र अपना वही पहले-जैसा महत्त्व बनाए हुए थे। रक्तपात और लूटमार एवं विध्वंस होने पर भी कहीं पूर्ण धनाभाव के चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते थे। आर्थिक संगठन और व्यवस्था में भी कोई विशेष परिवर्तन न हुआ क्योंकि, तत्कालीन हिन्दुस्तान में विविध कारणों से उत्पन्न अराजकता समाज की केवल ऊपरी सतह को ही छू पाई थी।[१]

किन्तु भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता के जन्म और उसके विकास के साथ-

---

१—'All the civil wars, invasions, revolutions, conquests, famines, strangely complex, rapid and destructive as the successive action in Hindustan may appear, did not go deeper than its surface'.

—'मार्क्स ऐण्ड ऐंगल्स ऑन इंडिया', पृ० १६

साथ हिन्दी-प्रदेश के आलोच्यकालीन आर्थिक जीवन का दूसरा शुरू होता है। अँगरेज़ अपने साथ औद्योगिक क्रांति के बाद की साम्र आपनिवेशिक नीति लाए थे। उन्होंने भारतवर्ष में एक ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था स्थापित की जिनका परिणाम उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम द ही दृष्टिगोचर होने लगा था।

यह इतिहास के साधारण ज्ञान का विषय है कि भारत में ब्रिटिश न्तर्गत देश में एक प्रकार से आन्तरिक शांति स्थापित हो गई थी। उनसे इस आन्तरिक शांति का अभाव था। उन्होंने शासक की व्यक्तिगत सां स्थान पर क़ानूनी राज्य की स्थापना की। इसके साथ-साथ उदारतापूर्ण लोकोपकारी आदर्शवादिता उन्नीसवीं शताब्दी भारत के अँगरेज़ी राज्य प्रमुख विशेषता है। दीवानी पद प्राप्त होने के तुरंत बाद ही ईस्ट इंडि कम्पनी ने न्यायालयों की स्थापना कर सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थि किया। उसके बाद अन्य अनेक लाभकारी और प्रगतिशील परिवर्तन हु जैसे, पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार, शासन-संबंधी सुधार, सार्वजनिक हित के लिए सरकारी कार्य आदि। भारतवासियों ने इन विविध परिवर्तनों का स्वागत किया जिनके फलस्वरूप उनमें बौद्धिक जागरण का बीजारोपण हुआ। इसके विपरीत ब्रिटिश राज्यान्तर्गत भारतीय आर्थिक फलतः सांस्कृतिक, जीवन की कहानी अत्यन्त दुःखद और हृदयविदारक है। अँगरेज़ी राज्य के स्वादिष्ट फल चखने के लिए भारतवासियों को भारी मूल्य देना पड़ा—ऐसा मूल्य जिसके फलस्वरूप वे अपना अस्तित्व ही विलीन कर बैठे।

अँगरेज़ों द्वारा आर्थिक शोषण का चक्र १७५७ के प्लासी-युद्ध के बाद शुरू होता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कुछ कर्मचारियों ने व्यक्तिगत रूप में मीर जाफ़र, मीर क़ासिम और उनके दुर्बल उत्तराधिकारियों से उचित एवं न्यायपूर्ण समझौते करने की चेष्टा अवश्य की। किन्तु कम्पनी की सरकारी नीति के फलस्वरूप बंगाल और बिहार का अत्यधिक आर्थिक शोषण हुआ। किसानों, व्यापारियों, कारीगरों, शिल्पियों, कच्चे माल से चीज़ें तैयार करने वालों आदि को कम्पनी की आर्थिक नीति से बड़े-बड़े नुक़सान सहने पड़े जिनका घातक प्रभाव गाँवों पर भी पड़े बिना न रह सका। तरह-तरह के बढ़िया कपड़े तैयार करने वालों को तो, जो भारतीय औद्योगिक जीवन के केन्द्र-बिन्दु थे, सबसे अधिक आर्थिक यातना सहन करनी पड़ी। ज़मींदारों, नवाबों, राजाओं और जगतसेठों को भी फ़ौलादी पंजे से दबा कर निचोड़ लिया गया। अपनी धन-

थे। नगरों की साप्ताहिक हाटों में वस्तुओं का या तो क्रय-विक्रय होता या विनिमय। पटना, मुंगेर, तिरहुत, बनारस, दिल्ली, गाज़ीपुर, फ़ैज़ाबाद, फ़ीरोज़ाबाद, लखनऊ, नगीना—तत्कालीन उत्तर भारत का बरमिंघम—कालपी, हीरापुर, बाँदा, बनारस के पास सैयदपुर, कन्नौज, कानपुर, छपरा, चुनार, मिर्ज़ापुर, आगरा, जयपुर, जोधपुर, इटावा आदि हिन्दी प्रदेश के अनेक बड़े-बड़े नगर थे जो अपने-अपने उद्योग-धंधों, व्यापार और धनसंपन्नता के लिए विख्यात थे और जिनमें नमक, शोरा, शीशा, हथियारों, रुई, नील, दुशालों, पत्थर की बनी चीज़ों, सोने-चाँदी के आभूषणों, कंबलों, बर्तनों, रत्नों, सूती कपड़ों, रेशम और रेशमी कपड़ों, बढ़िया ऊनी कपड़ों, कालीनों, लोहे की बनी चीज़ों, गुलाब और इत्रों, खिलौनों, ज़ीन और घोड़े के सामानों, दस्तानों, पीतल के बर्तनों, मूर्तियों, लकड़ी की बनी चीज़ों, कमख़ाब, तनज़ेब तथा अन्य प्रकार के बढ़िया-बढ़िया कपड़ों, चीनी, महाजनी आदि का व्यापार होता था। हिन्दी प्रदेश के व्यापारिक यातायात में यहाँ की नदियाँ अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई। नगरों का आर्थिक और सामाजिक जीवन प्रधानतः हाथ से चलने वाले करघों और चरख़ों पर आधारित था। किन्तु राजनीतिक विप्लवों और युद्धों की निरंतर भीषण विध्वंस-लीला के फलस्वरूप अनेक समृद्ध व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्रों का ह्रास हुआ। बहुत से नगर तो बिल्कुल ही उजड़ गए। किन्तु तब भी, इतिहास लेखकों का मत है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में जब अँगरेज़ अपनी शक्ति संगठित करने में लगे हुए थे, उस समय भी अनेक प्राचीन व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्र अपना वही पहले-जैसा महत्त्व बनाए हुए थे। रक्तपात और लूटमार एवं विध्वंस होने पर भी कहीं पूर्ण धनाभाव के चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते थे। आर्थिक संगठन और व्यवस्था में भी कोई विशेष परिवर्तन न हुआ क्योंकि, तत्कालीन हिन्दुस्तान में विविध कारणों से उत्पन्न अराजकता समाज की केवल ऊपरी सतह को ही छू पाई थी।[१]

किन्तु भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता के जन्म और उसके विकास के साथ-

---

१—'All the civil wars, invasions, revolutions, conquests, famines, strangely complex, rapid and destructive as the successive action in Hindustan may appear, did not go deeper than its surface'.

—'मार्क्स ऐण्ड ऐंगल्स ऑन इंडिया', पृ० १६

साथ हिन्दी-प्रदेश के आलोच्यकालीन आर्थिक जीवन का दूसरा अध्याय शुरू होता है। अँगरेज़ अपने साथ औद्योगिक क्रांति के बाद की साम्राज्यवादी औपनिवेशिक नीति लाए थे। उन्होंने भारतवर्ष में एक ऐसी पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जिसका परिणाम उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द में ही दृष्टिगोचर होने लगा था।

यह इतिहास के साधारण ज्ञान का विषय है कि भारत में ब्रिटिश राज्यान्तर्गत देश में एक प्रकार से आन्तरिक शांति स्थापित हो गई थी। उससे पहले इस आन्तरिक शांति का अभाव था। उन्होंने शासक की व्यक्तिगत रुचि के स्थान पर क़ानूनी राज्य की स्थापना की। इसके साथ-साथ उदारतापूर्ण और लोकोपकारी आदर्शवादिता उन्नीसवीं शताब्दी भारत के अँगरेज़ी राज्य की प्रमुख विशेषता है। दीवानी पद प्राप्त होने के तुरंत बाद ही ईस्ट इंडिया कम्पनी ने न्यायालयों की स्थापना कर सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया। उसके बाद अन्य अनेक लाभकारी और प्रगतिशील परिवर्तन हुए, जैसे, पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार, शासन-संबंधी सुधार, सार्वजनिक हित के लिए सरकारी कार्य आदि। भारतवासियों ने इन विविध परिवर्तनों का स्वागत किया जिसके फलस्वरूप उनमें बौद्धिक जागरण का बीजारोपण हुआ। इसके विपरीत ब्रिटिश राज्यान्तर्गत भारतीय आर्थिक फलतः सांस्कृतिक, जीवन की कहानी अत्यन्त दुःखद और हृदयविदारक है। अँगरेज़ी राज्य के स्वादिष्ट फल चखने के लिए भारतवासियों को भारी मूल्य देना पड़ा—ऐसा मूल्य जिसके फलस्वरूप वे अपना अस्तित्व ही विलीन कर बैठे।

अँगरेज़ों द्वारा आर्थिक शोषण का चक्र १७५७ के प्लासी-युद्ध के बाद शुरू होता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कुछ कर्मचारियों ने व्यक्तिगत रूप में मीर जाफ़र, मीर क़ासिम और उनके दुर्बल उत्तराधिकारियों से उचित एवं न्यायपूर्ण समझौते करने की चेष्टा अवश्य की। किन्तु कम्पनी की सरकारी नीति के फलस्वरूप बंगाल और बिहार का अत्यधिक आर्थिक शोषण हुआ। किसानों, व्यापारियों, कारीगरों, शिल्पियों, कच्चे माल से चीज़ें तैयार करने वालों आदि को कम्पनी की आर्थिक नीति से बड़े-बड़े नुक़सान सहने पड़े जिनका घातक प्रभाव गाँवों पर भी पड़े बिना न रह सका। तरह-तरह के बढ़िया कपड़े तैयार करने वालों को तो, जो भारतीय औद्योगिक जीवन के केन्द्र-बिन्दु थे, सबसे अधिक आर्थिक यातना सहन करनी पड़ी। ज़मींदारों, नवाबों, राजाओं और जगतसेठों को भी फ़ौलादी पंजे से दबा कर निचोड़ लिया गया। अपनी धन-

लोलुपता की तृप्ति के लिए कम्पनी के कर्मचारी छोटे से छोटे अवसर को भी हाथ से न जाने देते थे। और इस प्रकार, जैसा कि अँगरेज़ी में कहा गया है, 'Shaking the proverbial pagoda tree of the East' प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन ज्यों-ज्यों हिन्दी प्रदेश में स्थापित होता गया उनकी आर्थिक नीति का घातक प्रभाव यहाँ भी दृष्टि-गोचर होने लगा। हिन्दी प्रदेश दुर्भिक्षों और निर्धनता के प्रदेश में परिवर्तित हो गया। जब कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिली तो परिस्थिति और भी अधिक शोचनीय हो गई। क्योंकि कम्पनी मालगुज़ारी तो इकट्ठा करती थी, किन्तु जनता या देश की उन्नति के प्रति उसका कोई उत्तर-दायित्व नहीं था। साथ ही बन्दोबस्त प्रथा का लाभ न समझ सकने के कारण वह ज़मींदारियों और रियासतों को नीलाम पर चढ़ाने लगी। परिणाम यह हुआ कि अनेकानेक ज़मींदारों और राजाओं की रियासतें महाजनों के हाथ में चली गईं और पुराने बड़े-बड़े ख़ानदान नष्ट हो गए। ज़मींदार भी अधिक से अधिक रुपया वसूल करने के लिए जनता पर अत्याचार करने में प्रवृत्त हुए। १७७५ में अवध के नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद बनारस उसके उत्तरा-धिकारी आसफ़ुद्दौला के अधिकार में चला गया। और इस प्रकार वहाँ के राजा चेतसिंह को भी कम्पनी की छत्रछाया में आना पड़ा। कम्पनी की आर्थिक माँगों का इतना घातक प्रभाव पड़ा कि नौ वर्ष के अन्दर बक्सर से बनारस तक सर्वनाश ही सर्वनाश और निर्जनता दृष्टिगोचर होने लगी थी। बहुत से गाँव तो बिल्कुल उजड़ गए।[1] आसफ़ुद्दौला के शासन-काल में और उसके बाद भी अवध की ऐसी ही शोचनीय दशा हुई। इतने पर भी कम्पनी न तो नवाब के रुपए पर रक्खी गई अपनी सेना हटाने के लिए तैयार थी और न करों तथा अन्य आर्थिक माँगों का बोझ कम करने के लिए। वास्तव में कम्पनी का साया पड़ते ही बनारस और अवध का वैभव ही लुट गया। १७७५ और १७८४ के बीच बनारस और अवध के कारीगर, किसान और व्यापारी एक प्रकार से बिल्कुल तबाह हो गए। गाँवों में दुर्भिक्ष और बुभुक्षा तथा तज्जनित अनिष्टकर प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगे। धीरे-धीरे यही दशा हिन्दी प्रदेश के अन्य भागों की हुई। यद्यपि अब कम्पनी की घातक आर्थिक नीति अत्यंत सूक्ष्म रूप से बरती जाने लगी थी, तो भी उसके भयंकर परिणाम

१—देखिए, रमेशचन्द्र दत्त : 'इकोनोमिक हिस्ट्री ऑव इंडिया', लंदन १९०६, चतुर्थ अध्याय

किसी से छिपे न रह सकते थे। यहाँ का रुपया इँगलैंड भेजा जाने लगा जिससे राष्ट्रीय निर्धनता की और भी अधिक वृद्धि हुई। और, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, १८१६ तक ईस्ट इंडिया कम्पनी का समस्त हिन्दी प्रदेश पर प्रभुत्व स्थापित हो गया था।

जहाँ तक बन्दोबस्त प्रथा से सम्बन्ध है १७९५ में कॉर्नवालिस और जॉन शोर के समय में केवल बिहार और तत्कालीन सूबा बनारस ही इस्तमरारी बन्दोबस्त से लाभ उठा सके थे। समर्पित तथा विजित प्रदेशों (Ceded and Conquered Provinces) में अल्पकालीन बन्दोबस्त प्रथा जारी की गई। फलतः जहाँ-जहाँ कम्पनी के कर्मचारी गए उन्होंने थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक से अधिक धन संचित करने की चेष्टा की। एक तो निरंतर युद्ध-विग्रह के फलस्वरूप वैसे ही कृषि को यथेष्ट क्षति पहुँच चुकी या रही थी, उस पर भी कम्पनी की अल्पकालीन बन्दोबस्त प्रथा से जनता की आर्थिक अवस्था सुधरने का और भी कम अवसर रह गया। कंपनी के कुछ कर्मचारी ऐसे अवश्य थे जो समर्पित और विजित प्रदेशों में भी इस्तमरारी बन्दोबस्त प्रथा जारी करना चाहते थे। किन्तु सरकारी आय कम हो जाने के भय से कोर्ट के डाइरेक्टरों ने उनका प्रस्ताव अस्वीकृत ठहराया। वे किसानों से अधिक से अधिक लगान लेना चाहते थे। कोर्ट ने लगभग चालीस वर्ष तक यही प्रथा जारी रखी। कोर्ट के डाइरेक्टरों का यह अन्तिम निश्चय १८१९-२० में हुआ। किन्तु इसी बीच में महालवारी बन्दोबस्त प्रथा जारी हुई जिसके अनुसार कंपनी किसी ज़मींदार से उसी समय मालगुज़ारी माँग सकती थी जब तक कि ज़मींदार का मुनाफ़ा मालगुज़ारी के १/५ से अधिक सिद्ध न हो जाता। क्योंकि १८२१ में इस्तमरारी बन्दोबस्त प्रथा जारी करने के सम्बन्ध में सभी प्रकार की चर्चा बन्द हो चुकी थी, इसलिए महालवारी प्रथा की आयोजना समर्पित और विजित प्रदेशों के बोर्ड ऑव कमिश्नर्स के मंत्री होल्ट मैकेंज़ी (Holt Mackenzie) ने प्रस्तुत की और जिसे सरकार ने स्वीकार भी किया। किन्तु एक तो यह नवीन व्यवस्था समर्पित और विजित प्रदेश अधिकृत करने के बीस वर्ष बाद स्थापित हुई और दूसरे इसमें भी अनेक दोष थे जिससे न तो किसान का आर्थिक बोझ हल्का हुआ और न ज़मींदार को लाभ हुआ। जनता की निर्धनता पहली जैसी ही बनी रही। महालवारी बन्दोबस्त प्रथा भी एक प्रकार से अल्पकालीन प्रथा थी। एक निश्चित अवधि के पूर्ण हो जाने पर सरकार फिर कर निर्धारित करती थी और जब चाहती तब अपनी माँग बढ़ा भी लेती थी। बेंटिंक ने इस बन्दोबस्त प्रथा के दोषों का अनुभव किया। ईस्ट इंडिया कंपनी

के पिछले सत्तर वर्षों के शासन-काल में भारतवर्ष की ग्राम-व्यवस्था को ज़बर-दस्त आघात पहुँच चुका था। उसका एक प्रकार से धीरे-धीरे लोप होता जा रहा था। वास्तव में कंपनी ने प्रत्येक किसान से अलग-अलग सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की, न कि, अपने शासन-काल से पहले की भाँति, किसानों के एक समूह या ग्राम के साथ। ग्राम-व्यवस्था और उसके सामाजिक महत्व का उसके लिए कोई अस्तित्व ही न था। अतः, महालवारी प्रथा भी अपनी कठोरता के कारण टूट गई। अन्त में बेंटिंक ने १८३३ का रेग्यूलेशन ६ जारी किया जिसमें डलहौज़ी ने कुछ सुधार उपस्थित किए। इस रेग्यूलेशन ने किसानों को कुछ लाभ पहुँचा। अब सरकार ने अपनी माँग भी निश्चित और कुछ कम कर दी थी। अस्तु, कंपनी की लगान-सम्बन्धी माँगों ने किसानों को समृद्ध बनाने के स्थान पर और भी निर्धन और उन्हें महाजनों और ब्रिटिश अदालतों का शिकार बनाया।

वास्तव में ब्रिटिश शासकों की पहली पीढ़ी—क्लाइव और हेस्टिंग्ज़—कुछ भी निश्चित न कर पाई थी। वे यहाँ के किसानों की समस्या सुलझाने के प्रयत्न में स्वयं उलझन में पड़ गए और समय-समय पर परिवर्तनशील उनके कठोर उपाय कष्टदायक और असफल सिद्ध हुए। उनसे बाद के ब्रिटिश शासकों ने इस सम्बन्ध में हिन्दी प्रदेश में कई प्रयोग किए, किन्तु जनसाधारण को उनसे कोई लाभ न पहुँच सका। डॉ० फ्रांसिस ब्यूकैनैन ने कोर्ट की आज्ञानुसार १८०८ और १८१५ में बंगाल और उत्तर भारत के कुछ ज़िलों का आर्थिक दृष्टि से निरीक्षण किया था (१८०० में वेलेज़ली की आज्ञानुसार वे इसी प्रकार दक्षिण भारत का निरीक्षण कर चुके थे)। असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण मौन्टगोमरी मार्टिन ने उनका कार्य १८३८ में लंदन से तीन जिल्दों में प्रकाशित किया।[1] फ्रांसिस ब्यूकैनैन ने पटना, गोरखपुर आदि के आसपास की शोचनीय आर्थिक परिस्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यद्यपि ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्यान्तर्गत अराजकता के स्थान पर शांति और क़ानूनी व्यवस्था स्थापित अवश्य हुई, किन्तु देश की भू-संपति के सम्बन्ध में उसकी अत्यधिक कर-निर्धारण की नीति ने आर्थिक दृष्टि से बहुत बड़ा आघात पहुँचाया है। वास्तव में कुछ इतिहास-लेखकों का तो यहाँ तक मत है कि हिन्दी प्रदेश में पिछले आक्रमणों का इतने व्यापक रूप से घातक प्रभाव दृष्टिगोचर न हुआ था जितना कि कंपनी के अंतर्गत उसके भारी-भारी भूमि-

---

१—'हिस्ट्री ऑव ईस्टर्न इंडिया', १८३८

करों और कर वसूल करने की विधि से हुआ। उसकी नीति से खेतीबारी नष्ट हुई और बहुत से लोग बेकार हो गए। किसानों के सर्वनाश के साथ-साथ उनके आश्रित खेतीबारी के औज़ार, पालकियाँ, संदूकें, दरवाज़े, गाड़ियाँ, नाव आदि बनाने वाले कारीगर भी बेकार होकर आर्थिक यातनाएँ सहन करने लगे।

कंपनी के शासन-काल में शांति स्थापित हो जाने और कंपनी की भूमि-कर सम्बन्धी नीति से देश की कृषि पर अच्छे और बुरे दोनों ही प्रभाव पड़े। शांति स्थापित हो जाने के फलस्वरूप बहुत सी बेकार और बंजर पड़ी हुई ज़मीन फिर से जोती-बोई जाने लगी और ज़मींदारों ने भी किसानों को लाभ पहुँचाने के लिए उत्सुकता प्रदर्शित की। किन्तु इतने पर भी किसान ग़रीबी की ओर ही बढ़ते गए। पहला कारण तो सरकार की भूमि-कर सम्बन्धी नीति थी। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कारण हिन्दी प्रदेश के उद्योग-धंधों की अवनति थी। उद्योग-धंधों की अवनति से जनता की आय में बड़ी भारी कमी हुई और फलतः निर्धनता और भी बढ़ा। डॉ० ब्यूकैनैन की रिपोर्ट में इस प्रकार की दुरवस्था का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दी प्रदेश तथा भारत के अन्य भूमि-भागों की दशा दिन-पर-दिन और भी ख़राब ही होती गई।

अँगरेज़ों के भारतागमन से पूर्व देश के आर्थिक जीवन में कृषि के अतिरिक्त उद्योग-धंधों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। नवीन विदेशी शासन के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय के दोनों साधनों को भारी धक्का पहुँचा। कृषि की अवनति उत्पादन के प्राचीन और अविकसित साधनों से उतनी न हुई थी जितनी किसान पर पड़े आर्थिक बोझों के कारण हुई। इसी प्रकार नवीन शासकों के स्वार्थपूर्ण आर्थिक दृष्टिकोण के कारण भारतीय उद्योग-धंधों का ह्रास एवं विनाश हुआ। एक समय था जब भारत की बनी हुई चीज़ें एशिया और यूरोप के बाज़ारों में बिकती थीं। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीय कारीगरों और जुलाहों के मार्ग में विविध आर्थिक और हिंसात्मक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित कीं। वह इँगलैंड के उद्योग-धंधों को आगे बढ़ाना और भारतीय उद्योग-धंधों को इँगलैंड के उद्योग-धंधों के सहायक के रूप में परिवर्तन कर अंत में भारतवर्ष को इँगलैंड के कल-कारख़ानों के लिए कच्चा माल भेजने वाला उपनिवेश बना देना चाहती थी। भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यवाद सदैव इसी नीति से संचालित होता रहा। आलोच्य काल में पहले तो कम्पनी ने भारतीय कारीगरों और जुलाहों को

अपने यहाँ वेतन पर रख कर माल तैयार कराया। किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने व्यापारिक प्रतिनिधियों को इतने अधिक क़ानूनी अधिकार सौंप दिए कि वे सर्व-शक्तिमान हो कारीगरों और जुलाहों के साथ मनमाना व्यवहार करने लगे। साथ ही भाँति-भाँति के प्रलोभन दे उन्हें उनके जीवन के निर्धारित मार्ग से विचलित किया। उधर एक ओर तो इँगलैंड में भारत से जाने वाले बढ़िया कपड़े पर भारी-भारी आयात-कर लगा कर उसे वहाँ पहुँचने न देने का भरसक प्रयत्न किया गया और दूसरी ओर 'फ्री ट्रेड' नीति के अन्तर्गत इँगलैंड का बना हुआ माल बिना किसी आयात-निर्यात-कर के या नाममात्र के लिए थोड़ा सा कर देने के बाद धड़ाधड़ देश में खपने लगा। देश में कृषि और उद्योग-धंधों की बराबर अवनति हो रही थी और दुर्भिक्षों तथा भूमि-करों और कम्पनी की आर्थिक नीति द्वारा उसकी दशा दिन पर दिन बिगड़ती ही जा रही थी। किन्तु इतने पर भी कम्पनी सदा इस बात के लिए चिंतित रहती थी कि यहाँ किस प्रकार इँगलैंड की बनी हुई चीज़ें सस्ते से सस्ते दामों पर खपाई जायँ। वह भीतरी से भीतरी गाँव तक अपने देश का बना हुआ माल पहुँचा देना चाहती थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह छोटे-छोटे स्थानों में मेले लगाया करती थी और उनमें इँगलैंड के बने हुए माल का सुन्दर प्रदर्शन करती थी, ताकि लोग उनकी ओर आकर्षित हों और उनकी बिक्री बढ़े। उदाहरण के लिए वेलेज़ली ने रुहेलखंड तथा अन्य स्थानों में ऐसे कई मेले लगवाए थे। किन्तु उस समय कंपनी इस बात का अनुभव न कर पाई थी कि जनता की ग़रीबी बढ़ने के साथ-साथ उसकी क्रय-शक्ति का भी ह्रास होता जाता है। उस समय तो वह अपनी राजनीतिक शक्ति के आधार पर अपने आर्थिक हितों और स्वार्थों की रक्षा करती और उन्हें आगे बढ़ाती हुई अग्रसर होती गई। उसकी नीति के चक्र में लाखों कारीगर और जुलाहे पिस गए और भारतीय जनता की समृद्धि का स्रोत सूखने लगा। यूरोप में वाष्प-शक्ति द्वारा संचालित कर्घों तथा अन्य मशीनों के आविष्कार से भारतीय उद्योग-धंधों का जो कुछ अस्तित्व शेष रह गया था वह भी समाप्त हो गया। साथ ही भारतीय नरेशों और उच्च कुलों के पतन के फलस्वरूप आश्रय के अभाव से भी इस क्रिया में सहायता मिली। इस प्रकार १८२३ तक उद्योग-धंधों की पूर्ण अवनति के बाद भारत केवल एक कृषि-प्रधान देश रह गया।

भारत में अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के पीछे यूरोप की राजनीतिक परिस्थिति भी कार्य कर रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द में नैपोलियन

की बढ़ती हुई शक्ति के कारण यूरोप में इँगलैंड के बने हुए माल की खपत बन्द हो गई, और फलतः आर्थिक संकट से बचने के लिए इँगलैंड को नए-नए बाज़ारों की खोज करनी पड़ी। ऐसी परिस्थिति में इँगलैंड के व्यापारियों ने भी कम्पनी के व्यापारिक एकाधिपत्य के विरुद्ध स्वर उच्च किया जिसका परिणाम यह हुआ कि जब १८१३ में कम्पनी का चार्टर बदला गया तो उससे उसका व्यापारिक एकाधिपत्य छीन लिया गया। इसलिए अब तक जो कार्य केवल कम्पनी कर रही थी वही कार्य इँगलैंड की समस्त वणिक जाति द्वारा होने लगा अर्थात् अब इँगलैंड का पूरा व्यापारिक समाज अपने देश की बनी चीज़ें बाहर के बाज़ारों में खपाने पर सन्नद्ध हुआ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने न केवल भारतीय उद्योग-धंधे नष्ट किए, वरन् उन वैज्ञानिक आविष्कारों और विधियों एवं साधनों से जिसके द्वारा यूरोप इतनी प्रगति कर सका था (१८३०) भारत को वंचित रखा। डॉ० ब्यूकैनैन की रिपोर्ट के बाद भी उन्होंने देश की दशा सुधारने का कोई प्रयत्न न किया।

अस्तु, उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने पर कृषि ही भारत की संपत्ति रह गई। किन्तु उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने और अनेक सेनाओं के टूट जाने आदि के फलस्वरूप उत्पन्न हुई बेकारी के कारण कृषि क्षेत्र में भी काम करने वालों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई कि वहाँ भी उन्नति और विकास के स्थान पर अवनति ही अधिक दृष्टिगोचर होने लगी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जो भूमि-कर लगाए थे वे बहुत अधिक ही नहीं थे, वरन् उन्हें वसूल करने में उसने अत्यधिक कठोरता से कार्य किया। साथ ही वे कर सदैव बदलते रहते थे जिसके फलस्वरूप किसान अपने आर्थिक जीवन में निश्चितता का अनुभव ही न कर पाते थे। भारतीय नरेशों ने इतना अधिक और अनिश्चित कर कभी न लिया था। महालवारी बन्दोबस्त प्रथा और फिर बाद को बेंटिंक के रेग्यूलेशन से कृषि-कर्म करनेवालों का बोझ कुछ हल्का तो अवश्य हुआ, किन्तु अन्य अनेक प्रकार के करों और आर्थिक माँगों के कारण उस बोझ का हल्का होना न होना बराबर ही था।

उद्योग-धंधों और कृषि संबंधी पूर्ण ह्रास और संकट के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी ऐसे थे जिनसे ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासनान्तर्गत भारत की निर्धनता में वृद्धि हुई। वास्तव में कम्पनी दोनों हाथों से धन बटोरने में लगी हुई थी। देश का धन इँगलैंड में जमा होने लगा था। कम्पनी के बड़े-बड़े पदाधिकारियों की संतानों को नौकरियाँ भी भारतवर्ष में दी गईं।

यद्यपि १८३३, १८५३ और १८५८ (विक्टोरिया) की घोषणाओं के अनुसार सैद्धान्तिक रूप में भारतवासियों का सरकारी नौकरियां पाने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था, किन्तु व्यावहारिक रूप में बहुत दिनों तक उन्हें उच्च सरकारी नौकरियां न मिल सकीं। जो निम्न श्रेणी के सरकारी नौकर थे उन्हें वेतन बहुत कम मिलता था। देश की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए, सड़कों, नहरों, पुलों आदि का निर्माण भी बहुत दिनों तक न हुआ। सबसे अधिक आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि विदेशों के साथ व्यापार बन्द हो जाने पर भी देश के बने हुए और देश ही में एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे जाने वाले माल पर इंगलैंड से आए हुए माल की अपेक्षा कहीं अधिक भारी चुंगी लगती थी जिससे १८३६ तक देशी व्यापार को बड़ा भारी आघात पहुँचा। ऑकलैंड ने यह अनीतिपूर्ण व्यवस्था दूर की। कोर्ट के डाइरेक्टरों ने उसकी यह बात बहुत मन मार कर मानी थी। किन्तु ऑकलैंड ने जहाँ एक ओर यह सत्कार्य किया वहाँ दूसरी ओर उसके प्रथम अफ़ग़ान युद्ध (१८३८) और उसकी असफलता के कारण देश में भारी आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। इसके अतिरिक्त अनेक टकसालों के बन्द हो जाने और फलस्वरूप बिक्री कम हो जाने के कारण सोने-चाँदी का भाव गिर गया। चारों ओर दरिद्रता फैल जाने से उनकी बिक्री और भी कम हो गई। सरकार में रुपया जमा करने पर अब कम्पनी से सूद भी कम मिलने लगा था और अँगरेज़ों की नील की खेती बिगड़ जाने से भारतवासियों का लाखों रुपया मारा गया। अदालत के कुप्रबंध और रुपए के वसूल होने में आशंका होने के कारण महाजनी का कारबार, जिससे सूद का अच्छा लाभ था, एकदम बन्द हो गया। विलायत से सस्ता सामान आने के कारण एक तो वैसे ही यहाँ के कारीगरों का काम बन्द हो गया था, उस पर सरकार ने यहाँ से रुई ख़रीदना भी बन्द कर दिया। बीमा और सूद के कारण भी व्यापार में घाटा हुआ।[1] वाष्प-शक्ति द्वारा संचालित नावों और छोटे-छोटे जहाज़ों के चल जाने से मल्लाहों, नाव बनाने वालों, गाड़ीवानों और बैल उधार देने वालों की आजीविका का साधन नष्ट हो गया। बाद को भी रेलों के निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया गया जो अँगरेज़ व्यापारियों के लिए अधिक लाभदायक था, न कि नहरों के निर्माण की ओर जो भारतीय किसान के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता था।

१—राधाकृष्णदासः 'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जीवन चरित्र' (राधाकृष्ण-ग्रंथावली), पृ० ३२३-३२६, में बाबू हर्षचन्द्र का कथन (२९ जुलाई, १८३४)

साथ ही अँगरेजों के अन्य उपनिवेशों में धन की आवश्यकता की पूर्ति, संसार के अन्य भागों में लड़े गए साम्राज्यवादी युद्धों का और भारत सरकार का इंग्लैंड में व्यय, कुम्पनियों (Stocks) पर मुनाफा आदि अनेक मदों के लिए भारतीय जनता पर भारी-भारी कर लगा कर धन उपलब्ध किया गया। इस प्रकार किसी न किसी रूप में कम्पनी के भारतीय शासन का व्यय पूरा कर देश का धन विदेश जाने लगा और जनता की दरिद्रता दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि जब १८३३ में कम्पनी से व्यापार करने का अधिकार छीन लिया गया और १८५८ में उसे तोड़ दिया गया तब भी भारतीय सरकार की आर्थिक नीति में कोई परिवर्तन न हुआ और देश का साम्राज्यवादी शोषण बराबर जारी रहा।

अँगरेजों के हाथों भारतीय उद्योग-धंधों, कृषि, व्यापार आदि नष्ट होने के अतिरिक्त कुछ कारण ऐसे भी थे जो स्वयं भारतीय जीवन में सन्निहित थे और कुछ देश की परिवर्तित परिस्थिति के कारण उत्पन्न हो गए थे। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के उत्तराधिकार नियम कुछ ऐसे थे (और हैं) जिनसे कृषि योग्य भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे बिना न रह सकती थी। इसके फलस्वरूप उत्पन्न आर्थिक विपन्नता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भारतीय नरेशों और उच्चवंशजों की शौकीनी भी यहाँ तक बढ़ गई थी कि कंपनी द्वारा आर्थिक शोषण होते देख कर भी वे राजकीय आय का अधिकांश भाग विलासिता और आमोद-प्रमोदों पर व्यय किए बिना न रहते थे। अनेक सार्वजनिक आर्थिक व्यवस्थाओं के छिन्न-भिन्न होने और अनाज सम्बन्धी स्थानीय माँगों में कमी आ जाने के फलस्वरूप केवल कृषि-भूमि का मूल्य ही नहीं गिर गया था, वरन् किसानों के पास जो कुछ धन था उसे भी वे अराजकताजन्य परिस्थिति में भारतीय राजनीतिक शक्तियों के दबाव में और लूटे जाने से बचने की दृष्टि से जमीन में गाड़कर रखने लगे जिससे धन की उत्पादक शक्ति नष्ट हुई और दरिद्रता का प्रचार हुआ। आक्रमणकारी शक्तियों के सामने वे दरिद्र भिखमंगों के रूप में प्रकट हो आर्थिक यातनाओं से त्राण पा जाना चाहते थे। साथ ही भारतीय शासकों के पतन से देशी सैनिक वर्ग की, जिसमें उच्चवंशीय संतान भी सम्मिलित थी, कंपनी के राज्य में बुरी हालत थी। उन पर विश्वास न हो सकने के कारण कंपनी उन्हें अपनी सेना में भर्ती करना न चाहती थी। इसलिए स्थान-स्थान पर बेकार घूमते हुए सैनिकों के मुख से यही सुनाई पड़ता था कि 'कंपनी के अमल में कुछ रोजगार नहीं है।' यह बात सैनिक वर्ग के मुख से ही नहीं, वरन् उन व्यापारियों

के मुख से भी सुनाई पड़ती थी जो भारतीय शासकों के अन्तर्गत उनके नागरिक और सैनिक विभागों को विविध आवश्यक तथा आमोद-प्रमोद की सुन्दर-असुन्दर वस्तुएँ देते थे। अब उनकी आय भी कम हो गई। अँगरेज़ों के लिए उनकी बनी वस्तुओं की कोई आवश्यकता न थी।[१] कंपनी को यदि आवश्यकता होती थी तो वह विजित प्रदेशों के देशी सैनिकों की अत्यल्प संख्या को नौकरी देकर बाकी को निकाल देती थी। इस अत्यल्प संख्या को नौकरी देने से विजित प्रदेश के सैनिक वर्ग की आर्थिक परिस्थिति में कोई आशाजनक सुधार न हो सकता था। निकले हुए सैनिक या तो बेकार घूमते फिरते थे, या निकृष्ट कोटि के साधु और फ़क़ीर बन बैठते थे, जिससे धार्मिक जीवन पतित होता था, या अपने सम्बन्धियों और मित्रों के आश्रित जीवन व्यतीत कर समाज के लिए बोझ बन जाते थे। इससे कुछ समय के लिए तो पूरी सामाजिक व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो गई। एक तो लगान वसूल करने वाले सरकारी कर्मचारी वैसे ही किसानों पर नाना भाँति के अत्याचार कर, यहाँ तक कि वध कर के भी, उनकी धन-संपत्ति लूटने में प्रयत्नशील थे, दूसरे ये बेकार घूमते हुए सैनिक उन्हें और भी पीड़ित करने लगे। एक ही ज़मीन को बार-बार जोतने-बोने से उसकी उर्वरा शक्ति कम होने लगी थी जिससे किसान की दरिद्रता अधिक ही हुई। भारतीय शासकों के अंतर्गत, विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर, प्रथम तो भूमि-कर बहुत अधिक नहीं थे, दूसरे वे जो धन संचित करते थे उसका उपयोग देश में ही करते थे। कंपनी द्वारा संचित धन देश को समृद्ध बनाने में न लगाया गया। फलतः देशवासी अधोगति की चरम सीमा को पहुँच गए। उच्चवंशों की भी कम दुर्गति न हुई। अनेक कुलीन वंश तो सदा के लिए मिट गए। बहुत से आर्थिक संकट में फँस कर धीरे-धीरे विनाशोन्मुख हो रहे थे। भारतीय शासकों के अंतर्गत अनेक उच्चवंशीय व्यक्ति अपने-अपने शासकों के प्रतिनिधि बनते, उच्च से उच्च पद सुशोभित करते और आर्थिक लाभ उठाते थे। अब कंपनी के राज्य में ऐसे अनेक विविध कार्य अँगरेज़ों द्वारा संपन्न होने लगे और प्राचीन उच्च वंशों को न केवल पद-सम्बन्धी वरन् साथ ही अर्थ सम्बन्धी क्षति सहन करनी पड़ी।[२] आलोच्य काल में कंपनी ने समाज के मध्यम वर्ग को भी विकसित

१—मेजर स्लीमैन : 'रेम्बिल्स ऐंड रिकलेक्शन्स', लंदन १९१५, पृ० १६६, ३६४-३६५

२—विलियम टेनेंट (Tennant) : 'इंडियन रिक्रिएशन्स', जि० १, एडिनबरा, १८०३, पृ० २६४

परन्तु, आलोच्य काल के प्रारंभ में ग्राम-व्यवस्था की प्राचीन आर्थिक प्रणाली बनी रहने के कारण समाज का जीवन भी प्राचीनता के अनुरूप बना रहा और फलतः साहित्यिक रूपों, आदर्शों और भावों एवं विचारों में कोई परिवर्तन न हो सका। आगे चल कर ईस्ट इंडिया कम्पनी की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राज्य-सत्ता के अंतर्गत प्राचीन व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक वह बिल्कुल निष्प्राण हो एक युग की समाप्ति का प्रतीक बनी। कम्पनी ने प्राचीन आर्थिक व्यवस्था नष्ट कर किसी ऐसी नवीन व्यवस्था को जन्म न दिया जो जनसाधारण के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकती। १८४३ में भारतवर्ष वह भारतवर्ष न रह गया था जो अँगरेज़ों के आगमन के समय धन-धान्य से पूर्ण और समृद्ध था।[1] यह सर्वनाश

१—सी० जे० सी० डेविडसन ने अपनी 'डायरी ऑव ट्रैविल्स ऐंड ऐड्वेंचर्स इन अपर इंडिया', जि० १, लन्दन १८४३, पृ० ४ तथा ४२, में कहा है:—

In 1843 India was hardly the same India as it was when 'our gallant bribe-of-lacs-taking forefathers honoured it by their collections'............ (पृ० ४)

'The surplus wealth of India, that used to be employed in building extensive towns, crowded ghats, magnificient stone or brick sarais, some of them capable of containing from six to eight thousand people, enormous massive bridges, splendid

ब्रिटिश सैनिक और कर इकट्ठा करने वाले की निर्दयता के कारण उतना न हुआ था जितना कि वाष्प-शक्ति द्वारा संचालित मशीनों और 'फ्री ट्रेड' वाली आर्थिक नीति के कारण। वास्तव में कम्पनी ने प्राचीन ग्राम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न कर प्राचीन काल से चली आ रही तथा मन्द प्रगति वाली सामाजिक व्यवस्था का मूलोच्छेदन कर भारतीय जीवन में एक अदृश्य क्रांति उत्पन्न कर दी थी। किन्तु उस क्रांति का कोई रचनात्मक पक्ष न होने से संपूर्ण सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था घोर अराजकतापूर्ण हो गई। साहित्य इन घोर अराजकतापूर्ण परिस्थितियों के प्रभाव से किसी प्रकार भी न बच सकता था। जिन विशेष परिस्थितियों और कारणों (पाश्चात्य वैज्ञानिक साधन, शिक्षा आदि) से गद्य को प्रोत्साहन मिला उनका उल्लेख पीछे हो चुका है।

धार्मिक

आलोच्य काल की राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों पर विचार कर लेने के बाद उसके धार्मिक जीवन का भी अध्ययन कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इससे न केवल तत्कालीन संप्रदायों और धार्मिक विश्वासों का परिचय प्राप्त होगा, वरन् साथ ही प्रचलित विचार-परंपरा पर भी प्रकाश पड़ेगा, क्योंकि किसी भी समाज के धार्मिक जीवन और उसकी विचार-परंपरा तथा जीवन के आदर्शों में घनिष्ठ संबंध होता है। भारतवर्ष में यह बात और भी विशेष रूप से लागू होती है, क्योंकि यहाँ धार्मिक जीवन और सामाजिक जीवन के बीच विभाजन रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। आलोच्य काल के हिन्दू अपना धर्म वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत महाकाव्यों और पुराणों से निकला हुआ मानते थे और जिसने त्रिमूर्ति, सर्वेश्वरवाद, ब्राह्मणों की सर्वोपरि सत्ता, विस्तृत पौराणिक पंथ और कर्मकांड, बहुदेववाद, बलि-प्रथा आदि को जन्म दिया था। समय-समय पर अनेक प्राचीन जातियों का आर्यों के विस्तृत प्रभाव के अन्तर्गत आते रहने और बौद्ध तथा जैन धर्मों के कारण मूल विश्वासों और सिद्धान्तों में थोड़ा बहुत परिवर्तन सदैव होता रहा और अन्त में हिन्दू धर्म ने वह रूप धारण किया जो आलोच्य काल में प्रचलित था और जिसे 'लोक प्रचलित हिन्दू धर्म' के नाम से पुकारा जाता था। अनेक प्राचीन और नवीन विश्वासों और कर्म-काण्डों का आपस में घुलमिल कर 'हिन्दू'

---

mosques and temples, was all gone; it had disappeared entirely. The country had become one of the poorest in the world.' (पृ० ४२).

रूप धारण करने की क्रिया एक प्रकार से ईसा की छठी-आठवीं शताब्दी से मानी जाती है। हिन्दू धर्म का इसके विविध और व्यापक रूप धारण करना इसके विकास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यह पक्ष हमें महाकाव्यों और पुराणों में विशेष रूप से मिलता है। महाकाव्यों और पुराणों ने ऐसे चरित्र प्रदान किए जो हिन्दू जीवन, और फलतः साहित्य, के अंग बने बिना न रह सके। इन चरित्रों में से अनेक चरित्र दन्तकथाएँ और स्थानीय होते हुए भी हिन्दू जीवन में पूज्य और श्रद्धा-भक्ति के पात्र माने जाते थे, और इस प्रकार विकासशील हिन्दू धर्म में वैदिक देवी-देवताओं के स्थान पर महाकाव्यों और पुराणों के दिए हुए देवी-देवता स्थापित हुए। त्रिमूर्ति में से केवल विष्णु और महेश की भक्ति का ही अधिक प्रचार हो सका। दोनों संप्रदायों ने अपनी-अपनी स्वतंत्र उपासना पद्धतियाँ विकसित कीं। शिव को लोकोत्तर योगी और दार्शनिक के रूप में स्थापित किया गया और हिम-मंडित हिमालय उनका निवास-स्थान माना गया। शिव-पूजा की ओर बड़े-बड़े ब्राह्मणों से लेकर साधारण ग्रामीण तक आकर्षित हुए और उनमें अघोरियों, ऊर्ध्वबाहियों, आकाशमुखियों, कापालिकों, अवधूतों, कनफटों, परमहंसों आदि योगियों और संन्यासियों के संप्रदाय निकले। शैव योगियों और संन्यासियों की कुछ क्रियाएँ तो अत्यंत भयंकर और वीभत्स मानी जाती थीं। इसीलिए वैष्णव धर्म की अपेक्षा शैव धर्म का कुछ कम प्रचार हुआ। इसके विपरीत वैष्णव धर्म सौन्दर्य, लालित्य, रमणीयता, मानव-प्रेम आदि श्रेष्ठ और उदात्त गुणों से समन्वित था। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत अवतार-कथाओं में हिन्दू धर्म की अनेकानेक विभूतियाँ सन्निहित हैं। वैष्णव अवतारों में से जीवन के विविध पक्षों से संबंध रखने के कारण राम और कृष्ण ही अधिक लोक-प्रिय हो सके। इनमें से भी अपनी मर्यादाओं के बंधनों के कारण राम संप्रदाय का बहुत अधिक प्रसार न हो सका। कृष्ण संप्रदाय के अंतर्गत राधावल्लभी, टट्टी आदि अनेक संप्रदाय उठ खड़े हुए। इन दोनों (राम और कृष्ण) सम्प्रदायों ने सबसे अधिक हिन्दी साहित्य की गति निर्धारित की और इन्हीं दोनों संप्रदायों के अंतर्गत अनेक आचार्य और सुधारक हुए जिन्होंने हिन्दू समाज की निम्नातिनिम्न श्रेणी तक धर्म का प्रचार कर उसे धर्म के व्यापक रूप की शीतल छाया में लाने की चेष्टा की। कबीर एक ऐसे ही सुधारक थे जिन्होंने, वैष्णव धर्म में दीक्षित होते हुए भी, अपना एक अलग पंथ चलाया। इसी प्रकार के कुछ आन्दोलन १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उठ खड़े हुए थे। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सगुण या निर्गुण किसी भी प्रकार के वैष्णव आन्दोलन का जन्म न हुआ। हिन्दी समाज

में जैन और शाक्त मतावलंबी भी थे। आलोच्य काल में जितने भी धार्मिक संप्रदाय मिलते हैं उन सब का जन्म आलोच्य काल से पहले ही हो चुका था और आलोच्य काल तक आते-आते वे बहुत-कुछ अपनी सजीवता और सप्राणता खोकर अंधविश्वासों और तज्जनित दोषों और विकारों में लिप्त हो गए थे। कालान्तर में उनके उच्च सैद्धान्तिक आदर्शों और व्यावहारिक पद्धतियों में महान् अन्तर हो गया था। इसलिए आलोच्य काल में हिन्दू धर्म की अत्यन्त शोचनीय अवस्था मिलती है। उसमें जो कुछ भी अच्छा या बुरा था उसका किसी सुदूर अतीत से संबंध जोड़ दिया जाता था। संप्रदायों की शाखाओं और उपशाखाओं की उसमें भीड़ लग गई थी। यद्यपि इन विभिन्न संप्रदायों के आचार्यों और उनके शिष्यों में थोड़ी बहुत पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता अवश्य बनी रहती थी, किन्तु उनके अनुगामियों में, जनसाधारण में, जो वैष्णव, शैव, निर्गुणिये आदि सभी प्रकार के होते थे, इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता के उल्लेख नहीं मिलते।

किन्तु भिन्न-भिन्न वर्गों और संप्रदायों में विभाजित होते हुए भी समाज के धार्मिक विश्वासों में कुछ समानताएँ पाई जाती थीं, जैसे, एक ही परब्रह्म में विश्वास, आत्मा की अमरता, परलोक में पाप-पुण्य का फल-भोग, पुनर्जन्म आदि। सब संप्रदायों के लोग अपने-अपने सिद्धान्तों का मूल रूप वेदों में बतलाते थे। उनमें जो कुछ वैमनस्य था, वह भी अधिक तीव्र नहीं था। उनके नैतिक सिद्धांत उदार थे और दान तथा अतिथि-सत्कार, प्रत्येक व्यक्ति के प्रति आदर भाव आदि बातें उनके सामान्य जीवन में प्रवेश कर चुकी थीं। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि ज्यादातर लोग निम्न कोटि के असंख्य देवी-देवताओं में अधिक विश्वास रखते थे। उन देवी-देवताओं के उतने ही असंख्य गुण और प्रतीक माने जाते थे और साथ ही भवानी, सरस्वती, लक्ष्मी, गौरी, काली, वरुण, अग्नि, सूर्य, गणेश, बृहस्पति, कुवेर, यम आदि को लगभग प्रत्येक भूमिभाग, वन, पर्वत, नदी, गाँव, नगर आदि का संरक्षक भी माना जाता था और उनकी उसी रूप में पूजा होती थी। उच्च वर्गों के लोग लगभग सभी उच्चकोटि के देवी-देवताओं में विश्वास रखते, तीर्थ-यात्राएँ करते और सभी प्रकार के लोक-प्रचलित त्यौहार मनाते थे। ब्राह्मण धर्मानुयायियों के अतिरिक्त हिन्दी प्रदेश में अनेक प्राचीन जातियाँ भी निवास करती थीं जो धर्म के अनेक प्राचीन रूपों और भूत-प्रेतों आदि शक्तियों में विश्वास करती थीं। किन्तु हिन्दी साहित्य से उनका कोई विशेष संबंध नहीं है।

अपने-अपने सांप्रदायिक रीति-रिवाजों के अतिरिक्त हिन्दू लोग सामान्यतः थोड़े-थोड़े समय के बाद कुछ महत्त्वपूर्ण धार्मिक त्यौहार मनाते थे। ये त्यौहार पहाड़ों, नदियों के किनारों पर या नगरों के बाहर बाग-बगीचों में मनाए जाते थे। इन त्यौहारों के मनाने में परम्परा का पालन विशेष रूप से किया जाता था। शिवरात्रि, होली, रथयात्रा, झूला, जन्माष्टमी, दिवाली, रामलीला,[1] दशहरा, माघ मेला, ग्रहण के अवसरों पर लगे मेले आदि विशेष महत्त्वपूर्ण त्यौहार समझे जाते थे। और भी अनेक छोटे-छोटे त्यौहार साधारणतः रात-दिन मनाए जाते थे। यह कहना अनुचित न होगा कि आलोच्य काल के हिन्दुओं का अधिकांश जीवन पर्वों और त्यौहारों से घिरा रहता था। ऐसे अवसरों पर वे कुछ पूज्य माने जाने वाले वृक्षों की पूजा भी करते और पवित्र तालाबों तथा नदियों में स्नान कर वैष्णव या शैव संप्रदाय-संबंधी तिलक लगाते थे। यह तिलक ब्राह्मण द्वारा लगाया जाता था। स्नान करने के बाद वे किसी मूर्ति की पूजा और प्रसाद ग्रहण करते थे। धन-प्राप्ति की दृष्टि से ब्राह्मण ऐसे सुअवसरों को हाथ से न जाने देते थे और हिन्दू समाज पर अपना अंकुश जमाए रखने का प्रयत्न करते थे।

धार्मिक पर्वों, त्यौहारों और मेलों का हिन्दुओं के लिए अत्यधिक सामाजिक महत्त्व था और इस प्रकार की सामाजिक भावना उनमें अत्यन्त बलवती थी। इससे बड़ी दूर-दूर के गाँवों से रात-दिन के परिश्रम के बाद आने वाले हिन्दुओं का मनोरंजन ही नहीं होता था, वरन् जब वे घर लौटते थे तो हिन्दू धर्म के प्रति और भी अधिक दृढ़ भावना लेकर लौटते थे। वर्ष भर में जीवन की एकरसता मिटाने के लिए वे इन विभिन्न पर्वों और त्यौहारों की अत्यन्त उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते थे। धन व्यय करने और घोर शारीरिक कष्ट उठाने पर भी उन्हें अपने जीवन की लालसा पूर्ण करने में आनन्द का अनुभव होता था। इन सब बातों से हिन्दू धर्म दृढ़ हुआ और लोगों में संगठन तथा आत्मीयता की भावना उत्पन्न हुई।

किन्तु हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रिवाजों की संख्या इतनी अधिक थी कि जीवन में उन्हें प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ धार्मिक कृत्य करना पड़ता रहता था।

१—रेजीनाल्ड हेबर का कथन है कि बनारस में राम-लक्ष्मण-सीता आदि का स्वरूप धारण करने वाले बच्चों को अन्त में मिठाई में विष मिलाकर दे दिया जाता था ताकि यह कहा जा सके कि उन्होंने जिन देवी-देवताओं के स्वरूप धारण किए थे वे उन्हीं में लीन हो गए।

समाज इतना धर्म-ग्रस्त था कि पग-पग पर उसे ब्राह्मणों का मुँह जोहना पड़ता था। साथ ही लोग धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन जीवन की अन्य आवश्यक बातों की उपेक्षा कर करते थे। स्वयं शास्त्रों से अनभिज्ञ रहने के कारण वे न तो भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों में संतुलन ही बनाए रख सके और न आध्यात्मिक तत्वों का महत्त्व ही समझ पाए। ब्राह्मणों के कहने मात्र से वे सब कुछ करने के लिए तत्पर हो जाते थे। यदि जनसाधारण में शास्त्रों के प्रति केवल अनभिज्ञता और अंधभक्ति एवं अंधविश्वास ही प्रचार होता और ब्राह्मण दूरदर्शी और जनसाधारण के वास्तविक आध्यात्मिक कल्याण के लिए चिंतित होते तब भी कोई बात नहीं थी। किंतु यहाँ अंधा अंधे का नेतृत्व करने में लगा हुआ था। अधिकतर ब्राह्मण जिन कार्यों के करने के लिए दूसरों को 'बाधित' करते थे उन कार्यों के महत्त्व से वे स्वयं अपरिचित रहते थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान अपूर्ण और अवैज्ञानिक था। परिणाम यह हुआ कि जनता में अनेक अमानुषी और घृणित धार्मिक आचार-विचारों और रीति-रस्मों का प्रचार हो गया और वह निर्जीव धार्मिक रूढ़ियों और परम्पराओं में फँसी रह गई। ब्राह्मणों ने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार हिन्दू धर्म का उदात्त रूप लोगों के सामने न रखा। काल-गति के अनुसार न तो ब्राह्मण ही बदले और न समाज ही। दोनों ही धर्म के प्रधान तत्वों को भूल कर अप्रधान और गौण तत्वों—ऐसे गौण तत्व जो धर्म के आवश्यक अंग नहीं माने जा सकते और जिनका परित्याग कर धर्म के वास्तविक रूप को कोई आघात नहीं पहुँच सकता था—के पीछे पड़े रहे। जो बातें देश-काल की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण दूर हो जानी चाहिए थीं या जिन्हें अधिक महत्त्व न दिया जाना चाहिए था वे ही बातें समाज और समाज के धार्मिक नेता ब्राह्मणों को ग्रस्त किए रहीं और उन्हीं पर ज़ोर दिया जाता रहा। अँगरेज़ जब हिन्दू समाज को अनेक अमानुषी और घृणित धार्मिक कृत्यों में प्रवृत्त होते देखते थे तो वे हँसते और हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना करने लगते थे, क्योंकि वे तो उसी रूप को हिन्दू धर्म का वास्तविक रूप समझते थे।

इतना ही नहीं, समाज में और भी अनेक ऐसे धर्माचार प्रचलित थे जो कभी भी एक गतिशील और सजीव एवं सप्राण समाज के लिए वांछनीय नहीं समझे जा सकते। भैरव, भवानी, दुर्गा तथा अन्य किसी रौद्ररूप देवी-देवता पर बकरों और भैंसों की ही बलि नहीं चढ़ाई जाती थी, वरन् प्रायः ऐसे 'शुभ' अवसर आते थे जब कि किसी मनुष्य की बलि ही आवश्यक समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त समाज में आम और चमेली या शालग्राम और तुलसी

के विवाह, पुच्छलतारे, जादू-टोने, सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से समाधियों और मकबरों की पूजा, गो-मांस खाने के कारण समाज में पापाचार बढ़ जाने में विश्वास, भूत-प्रेतों में आस्था, बरगद, पीपल और तुलसी की पूजा, यूरोपीय सरकार को महादेव का विशाल रूप समझना, कंधों पर लाद कर दूर-दूर तक गंगा-जल ले जाना, साँड़ों को पवित्र कर सड़कों पर छोड़ देना, किसी भी भयभीत करने वाली, यहाँ तक कि पत्थर तक, की पूजा करना, फ़क़ीरों और दरवेशों में अंध-विश्वास आदि बातें आलोच्यकालीन हिन्दू समाज के धार्मिक जीवन में प्रधानता धारण किए हुए थीं। यहाँ तक कि महामारियों को भी देवी-देवता के रूप में पूजा जाता था। वास्तव में समाज प्रत्येक 'धार्मिक' कृत्य और रीति-रस्म की दैवी उत्पत्ति में विश्वास रखता था। उसे केवल सृष्टि, बहुदेववाद, सर्वदेववाद, त्रिमूर्ति, कर्म, आवागमन, पुनर्जन्म आदि के दैवी होने में ही विश्वास नहीं था, वरन् वह समझता था कि विविध धार्मिक प्रतीक, व्रत, पूजा-पाठ, साधुओं, सर्पों आदि की रचना भी देवताओं द्वारा हुई थी। वह समझता था कि इस नीले पर्दे के पीछे ईश्वर नाम का कोई व्यक्ति बैठा-बैठा सृष्टि-संचालन करता रहता है और वहीं स्वर्ग और नरक हैं। इस समय धर्म के नाम पर जो कोई भी अपने शरीर को घोर से घोर यातना और पीड़ा दे सकता था वही जनसाधारण में पूज्य समझा जाने लगता था। ब्राह्मणों और पशुओं को भोजन देना पुण्य-कृत्य था। वृद्धावस्था में बनारस में रहना और मृत्यु को प्राप्त होना हिन्दुओं की उत्कट इच्छा रहती थी। काशी हिन्दुओं का सांस्कृतिक केन्द्र था। किन्तु आलोच्य काल में वहाँ अ-पण्डित ब्राह्मणों, नांदियों, और विचित्र-विचित्र साधनाओं में लीन रहने वाले साधुओं और यतियों की भीड़ लगी रहती थी। इन्हीं से सामान्य हिन्दू की आध्यात्मिक परितुष्टि होती थी, यद्यपि ज्ञानी पंडितों और हिन्दू धर्म के उदात्त और उत्कृष्ट रूप में विश्वास रखने वालों का नितान्त अभाव नहीं था।

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी हिन्दुओं के जीवन में दया और सरलता का यथेष्ट स्थान था। जब अँगरेज़ सिपाही बंदरों या चिड़ियों को मारते थे तो हिन्दुओं को अच्छा नहीं लगता था। गो-पूजन उनमें प्रचलित था। यद्यपि इस प्रथा के पीछे सामाजिक और आर्थिक कारण थे, तो भी हिंदुओं का यह विश्वास था कि मनुष्य रूप धारण करने से पूर्व जीवात्मा गऊ का रूप धारण करती है और पृथ्वी गाय के सींगों पर ही स्थित रहती है। गो-वध और गो-मांस समाज में नितान्त वर्जित थे। प्राण जाने पर भी कोई हिन्दू इस नियम का उल्लंघन नहीं करता था। केवल गाय के सम्बन्ध में ही नहीं, अन्य सभी

समाज इतना धर्म-ग्रस्त था कि पग-पग पर उसे ब्राह्मणों का मुँह जोहना पड़ता था। साथ ही लोग धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन जीवन की अन्य आवश्यक बातों की उपेक्षा कर करते थे। स्वयं शास्त्रों से अनभिज्ञ रहने के कारण वे न तो भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों में संतुलन ही बनाए रख सके और न आध्यात्मिक तत्वों का महत्त्व ही समझ पाए। ब्राह्मणों के कहने मात्र से वे सब कुछ करने के लिए तत्पर हो जाते थे। यदि जनसाधारण में शास्त्रों के प्रति केवल अनभिज्ञता और अंधभक्ति एवं अंधविश्वास ही प्रचार होता और ब्राह्मण दूरदर्शी और जनसाधारण के वास्तविक आध्यात्मिक कल्याण के लिए चिंतित होते तब भी कोई बात नहीं थी। किंतु यहाँ अंधा अंधे का नेतृत्व करने में लगा हुआ था। अधिकतर ब्राह्मण जिन कार्यों के करने के लिए दूसरों को 'बाधित' करते थे उन कार्यों के महत्त्व से वे स्वयं अपरिचित रहते थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान अपूर्ण और अवैज्ञानिक था। परिणाम यह हुआ कि जनता में अनेक अमानुषी और घृणित धार्मिक आचार-विचारों और रीति-रस्मों का प्रचार हो गया और वह निर्जीव धार्मिक रूढ़ियों और परम्पराओं में फँसी रह गई। ब्राह्मणों ने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार हिन्दू धर्म का उदात्त रूप लोगों के सामने न रखा। काल-गति के अनुसार न तो ब्राह्मण ही बदले और न समाज ही। दोनों ही धर्म के प्रधान तत्वों को भूल कर अप्रधान और गौण तत्वों—ऐसे गौण तत्व जो धर्म के आवश्यक अंग नहीं माने जा सकते और जिनका परित्याग कर धर्म के वास्तविक रूप को कोई आघात नहीं पहुँच सकता था—के पीछे पड़े रहे। जो बातें देश-काल की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण दूर हो जानी चाहिए थीं या जिन्हें अधिक महत्त्व न दिया जाना चाहिए था वे ही बातें समाज और समाज के धार्मिक नेता ब्राह्मणों को ग्रस्त किए रहीं और उन्हीं पर ज़ोर दिया जाता रहा। अँगरेज़ जब हिन्दू समाज को अनेक अमानुषी और घृणित धार्मिक कृत्यों में प्रवृत्त होते देखते थे तो वे हँसते और हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना करने लगते थे, क्योंकि वे तो उसी रूप को हिन्दू धर्म का वास्तविक रूप समझते थे।

इतना ही नहीं, समाज में और भी अनेक ऐसे धर्माचार प्रचलित थे जो कभी भी एक गतिशील और सजीव एवं सप्राण समाज के लिए वांछनीय नहीं समझे जा सकते। भैरव, भवानी, दुर्गा तथा अन्य किसी रौद्ररूप देवी-देवता पर बकरों और भैंसों की ही बलि नहीं चढ़ाई जाती थी, वरन् प्रायः ऐसे 'शुभ' अवसर आते थे जब कि किसी मनुष्य की बलि ही आवश्यक समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त समाज में आम और चमेली या शालग्राम और तुलसी

के विवाह, पुच्छलतारे, जादू-टोने, सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से समाधियों और मकबरों की पूजा, गो-मांस खाने के कारण समाज में पापाचार बढ़ जाने में विश्वास, भूत-प्रेतों में आस्था, बरगद, पीपल और तुलसी की पूजा, यूरोपीय सरकार को महादेव का विशाल रूप समझना, कंधों पर लाद कर दूर-दूर तक गंगा-जल ले जाना, साँड़ों को पवित्र कर सड़कों पर छोड़ देना, किसी भी भयभीत करने वाली, यहाँ तक कि पत्थर तक, की पूजा करना, फ़क़ीरों और दरवेशों में अंध-विश्वास आदि बातें आलोच्यकालीन हिन्दू समाज के धार्मिक जीवन में प्रधानता धारण किए हुए थीं। यहाँ तक कि महामारियों को भी देवी-देवता के रूप में पूजा जाता था। वास्तव में समाज प्रत्येक 'धार्मिक' कृत्य और रीति-रस्म की दैवी उत्पत्ति में विश्वास रखता था। उसे केवल सृष्टि, बहुदेववाद, सर्वदेववाद, त्रिमूर्ति, कर्म, आवागमन, पुनर्जन्म आदि के दैवी होने में ही विश्वास नहीं था, वरन् वह समझता था कि विविध धार्मिक प्रतीक, व्रत, पूजा-पाठ, साधुओं, सर्पों आदि की रचना भी देवताओं द्वारा हुई थी। वह समझता था कि इस नीले पर्दे के पीछे ईश्वर नाम का कोई व्यक्ति बैठा-बैठा सृष्टि-संचालन करता रहता है और वहीं स्वर्ग और नरक हैं। इस समय धर्म के नाम पर जो कोई भी अपने शरीर को घोर से घोर यातना और पीड़ा दे सकता था वही जनसाधारण में पूज्य समझा जाने लगता था। ब्राह्मणों और पशुओं को भोजन देना पुण्य-कृत्य था। वृद्धावस्था में बनारस में रहना और मृत्यु को प्राप्त होना हिन्दुओं की उत्कट इच्छा रहती थी। काशी हिन्दुओं का सांस्कृतिक केन्द्र था। किन्तु आलोच्य काल में वहाँ अ-पण्डित ब्राह्मणों, नांदियों, और विचित्र-विचित्र साधनाओं में लीन रहने वाले साधुओं और यतियों की भीड़ लगी रहती थी। इन्हीं से सामान्य हिन्दू की आध्यात्मिक परितुष्टि होती थी, यद्यपि ज्ञानी पंडितों और हिन्दू धर्म के उदात्त और उत्कृष्ट रूप में विश्वास रखने वालों का नितान्त अभाव नहीं था।

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी हिन्दुओं के जीवन में दया और सरलता का यथेष्ट स्थान था। जब अँगरेज़ सिपाही बंदरों या चिड़ियों को मारते थे तो हिन्दुओं को अच्छा नहीं लगता था। गो-पूजन उनमें प्रचलित था। यद्यपि इस प्रथा के पीछे सामाजिक और आर्थिक कारण थे, तो भी हिंदुओं का यह विश्वास था कि मनुष्य रूप धारण करने से पूर्व जीवात्मा गऊ का रूप धारण करती है और पृथ्वी गाय के सींगों पर ही स्थित रहती है। गो-वध और गो-मांस समाज में नितान्त वर्जित थे। प्राण जाने पर भी कोई हिन्दू इस नियम का उल्लंघन नहीं करता था। केवल गाय के सम्बन्ध में ही नहीं, अन्य सभी

पशुपंक्षियों के सम्बन्ध में वे पुनर्जन्म और देहान्तरगमन का सिद्धान्त लागू करते थे ।

हिन्दू धर्म की अवनति का सबसे बड़ा प्रमाण क्रूर कर्म करने और घोर यातनाओं में प्रवृत्त होने वाले साधुओं और यतियों में जनसाधारण का अंधविश्वास था । ये साधु जनता में भय-प्रेरित श्रद्धा उत्पन्न करते थे । आलोच्य काल में ऐसे साधुओं की संख्या काफ़ी अधिक थी । यातनाओं और क्रूर प्रथाओं का समाज में इतना प्रबल प्रचार हो गया था कि जब तक कोई 'पापी' अपने शरीर को अच्छी तरह पीड़ित नहीं कर लेता था, तब तक वह 'पाप' से मुक्त हुआ नहीं समझा जाता था । अव्यवस्थित शासन-प्रबंध, लूटमार आदि के साथ-साथ ये क्रूर प्रथाएँ समाज में एक भयंकर वातावरण उत्पन्न किए रहती थीं । ब्राह्मणों ने उसे बता रखा था कि जो व्यक्ति जितनी अधिक आत्म-यंत्रणाएँ सहन कर सकेगा उतनी ही शीघ्र वह तमिस्रा की ज्वालाओं से बच सकेगा । तमिस्रा से बचने के साधन ब्राह्मणों के हाथ में थे । जनता इतनी अधिक श्रद्धालु थी कि वे जो कुछ मार्ग सुझाते थे उसका नतमस्तक हो चुप चाप अनुसरण करने लगती थी । परलोक सुधारने का और कोई चारा भी तो नहीं था । एक प्रकार से धर्म का वास्तविक स्वरूप ही यही समझा जाने लगा था ।

आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश में अनेकानेक संप्रदायों से संबंध रखने वाले साधुओं की संख्या अत्यधिक बढ़ गई थी । इसका एक प्रधान कारण सैनिकों की बेकारी था । सेना से निकाले गए अनेक सैनिकों ने साधु-वेश धारण श्रद्धालु हिन्दू जनता के आश्रित रहना प्रारंभ किया । साधु-वेश धारण करने के अतिरिक्त वे डाकुओं का व्यवसाय ग्रहण कर लेते थे । इँगलैंड में भी एलिज़बेथ के शासनान्तर्गत बेकार सैनिकों और नाविकों ने लूटमार शुरू कर दी थी । उनका यह कर्म १६०१ के क़ानून द्वारा रोक दिया गया था । भारतवर्ष में ऐसी कोई व्यवस्था न हो सकी । ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल के संक्रान्ति-युग में बेकार व्यक्तियों का साधु-जीवन व्यतीत करना समाज को अन्य प्रकार की अशान्तियों से बचाता था । साधु-जीवन व्यतीत करने में कोई धार्मिक बाधा भी नहीं थी ! कोई भी व्यक्ति साधु होकर जनता पर अपना आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर सकता था । हिन्दुओं के लिए बैरागी और गोसाईं और मुसलमानों के लिए फ़क़ीर हो जाना आसान बात थी । इस रूप में उन्हें समाज

से कम-से-कम खाना तो मिल ही जाता था।[1] ऐसे भक्तजनों में से योगियों और संन्यासियों का सबसे अधिक आदर था। गीता में वर्णित योगियों की महिमा का अनुचित लाभ उठाया जाने लगा। ये साधुजन किस प्रकार की क्रियाओं में प्रवृत्त होकर हिन्दू जनता की श्रद्धा-भक्ति जाग्रत् करते थे, यह तथ्य कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा। अनेक साधु तो सिर पर दोनों हथेलियों को जमाए लगातार खड़े रहते थे अथवा वे मुट्ठी बाँधे और भुजा फैलाए वर्षों खड़े रहते थे जिससे वे सूख कर काँटा हो जाते और नाखून बढ़ कर हथेलियों के आरपार हो जाते थे। बहुत से 'भक्त' ऐसे थे जो दण्डवत करते हुए बनारस से जगन्नाथ तक की यात्रा करते थे। इस कार्य में कितने दिन लगते होंगे इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। कुछ लोग अपने सीने पर बाँहें रखे खड़े रहते थे, कुछ लोग अपने हाथ सदैव के लिए बन्द रखते थे, कुछ लोग कीलों की शय्या पर सोते थे, कुछ लोग अपने को जंजीरों से बाँध कर एक ही स्थान पर पड़े रहते थे, कुछ लोग लेट कर सोने के स्थान पर किसी वृक्ष के सहारे झुके हुए सोया करते थे। देवी-देवताओं के रथों के नीचे लेटकर जान दे देने के उदाहरण भी मिल जाते हैं। एक बार कई संतानों का वृद्ध पिता महामारी शान्त करने के लिए अग्नि की ज्वालाओं में भस्म हो गया।[2] सिर पर भारी से भारी बोझ लाद कर चलना, भारी लोहे की जंजीर घसीटना, हाथों और घुटनों के बल चलना, एक तीर्थ-स्थान से दूसरे तीर्थ-स्थान तक पेट के बल रेंग कर जाना, आग पर चलना, उलटे सिर लटक जाना, अपने को रस्सी से बाँध कर चारों ओर घुमाते रहना, लोहे के बड़े-बड़े छल्ले शरीर में पिरोना, अपने को आग में भस्म कर देना, जीवित अवस्था में जल-प्रवाह लेना, अपने को ज़िंदा ज़मीन में गाड़ देना आदि कुछ अन्य 'धार्मिक प्रथाएँ' थीं।

इस प्रकार के 'साधु' एक स्थान से दूसरे स्थान तक अपने-अपने चेले बनाते हुए घूमते फिरते थे। उन्हें समाज पवित्र और एक रहस्यात्मक शक्ति से संपन्न मानता था। जहाँ वे जाते थे लोगों की भीड़ जमा हो जाती थी। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब उच्च वंशों की स्त्रियाँ उनके पास भोजन लेकर जातीं और 'आशीर्वाद' प्राप्त कर वापिस आती थीं। अनेक 'साधु' तो ऐसे थे जो 'अजगर करे न चाकरी......' में विश्वास रख मादक द्रव्यों का

१—मेजर स्लीमैन : 'रैम्बिल्स ऐंड रिकलेक्शन्स', लंदन, १९१५, पृ० ३७०

२—'स्केचेज ऑव दि हिन्दूज', पृ० १२८

सेवन करते रहते थे। मुसलमानों में भी ऐसे भक्तों का अभाव नहीं था।[1] हिन्दी प्रदेश में आत्म-यातनाओं और पीड़ाओं द्वारा सूखे हुए शरीर लिए और पेड़ों के नीचे बैठे हुए अथवा नग्नावस्था में घूमते हुए साधुओं के दृश्य साधारण थे। इनकी तुलना उन ब्राह्मण 'गुरुओं' से की जा सकती है जो किसी प्रकार के संयम-व्रत अथवा आत्म-पीड़न आदि में विश्वास न रख ख़ूब खाते-पीते और मोटे पड़े रहते थे। उनके पास ऐश्वर्य और वैभव सभी कुछ था। वे बड़े ठाठ-बाट से रहते और ऐश की ज़िन्दगी व्यतीत करते थे। कभी-कभी तो बहुत से 'भक्त' केवल आर्थिक प्राप्ति के लिए ही विविध 'आध्यात्मिक क्रियाओं' में संलग्न हो जाया करते थे। उनका प्रधान ध्येय आत्म-साधना न होकर दर्शकों में भय उत्पन्न कर स्वार्थ-साधन रहता था। समाज में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं था जो हिन्दू धर्म का वास्तविक स्वरूप पहिचानते थे और जो ऐसा धार्मिक क्रियाओं को अशास्त्रीय घोषित कर उनका निस्संकोच खण्डन करते थे। किन्तु समाज ऐसे 'साधु'-संन्यासियों, वैरागियों और गुसाइयों को सहन करता चला जाता था। बनारस, अयोध्या, हरद्वार, पटना तथा राजपूताना के अनेक नगरों और गाँवों में ऐसे साधु और उनके चेले भरे पड़े रहते थे। दिखाने के लिए वे दया-भाव और निर्लिप्त बुद्धि से प्रेरित रहते थे। किन्तु समाज की श्रद्धा-भक्ति का अनुचित लाभ उठा कर नाना प्रकार की प्रवंचनाओं में प्रवृत्त होना उनका सामान्य व्यवहार रहता था। इतना सब कुछ होते हुए भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि समाज में सच्चे भक्तों और धार्मिक व्यक्तियों का नितान्त अभाव नहीं था। किन्तु समाज इन सच्चे भक्तों और धार्मिक व्यक्तियों के संपर्क में आने के बहुत कम अवसर पाता था।

कपटी जीवन व्यतीत करने वाले 'साधु-संन्यासियों' की संख्या इतनी अधिक थी कि उन्होंने न केवल हिन्दू धर्म ही कलंकित कर रखा था, वरन् वे गाँवों के आर्थिक और औद्योगिक जीवन में बाधा डालने और शासन-सम्बन्धी सुव्यवस्था छिन्न-भिन्न करने में किसी प्रकार का संकोच न करते थे। जनता उनकी केवल 'आध्यात्मिकता' से ही प्रभावित नहीं रहती थी, वरन् उनसे सशंकित और आतंकित रहती थी। वे जो कुछ किसी से कराना चाहते करा लेते थे या जिस किसी से जो कुछ लेना चाहते थे ले लेते थे। किसी को इंकार करने का साहस न हो पाता था। समाज के धनिक-वर्ग में उनका ख़ूब

१—जेम्स फ़ोर्ब्स: 'ओरिएंटल मेम्वायर्स', जिल्द १, पृ० ४७१-४७२, जिल्द २, पृ० २७६

आदर-सम्मान था। वे जादू-टोनों अथवा मनुष्य की खोपड़ी में रखे हुए उल्लू, चमगादड़, साँप और नर-मांस आदि द्वारा सहज ही में अपना आतंक जमा लेते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो वे किसी सेना से मुठभेड़ ले बैठते थे। वे समाज की शक्ति और सम्पत्ति पर बड़े भारी भार-स्वरूप थे।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में उच्च श्रेणी के हिन्दुओं ने पाश्चात्य शिक्षा के प्रभावान्तर्गत धर्म के नाम पर इस प्रकार के आत्म-पीड़न और यातनाओं की घोर निंदा की और नवीन शासकों के उनके उद्देश्यों के साथ सहानुभूति थी।[2] यह प्रभाव पहले बंगाल और फिर हिन्दी प्रदेश में फैलता गया।

आलोच्च काल में यदि बहुत से ऐसे साधारण मुसलमान थे जो हिन्दू धार्मिक आचार-विचारों का पालन करते थे,[3] तो ऐसे अनेक हिन्दू भी थे जो मुसलमान संतों और धर्म तथा पवित्र स्थानों की पूजा करते थे। बहराइच में वे सैयद सालार नामक संत की प्रसिद्ध समाधि पूजते थे। सैयद सालार ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक शहीद हुआ था। भदरी के पास सलोने (Salone) नामक स्थान में शाह पूना (Puna) आला नामक एक प्रसिद्ध पवित्र मुसलमान रहता था जिसके प्रति हिन्दू-मुसलमान दोनों को ही श्रद्धा थी। आसफ़ुद्दौला ने उसके पूर्वजों को बारह गाँव दान में दिए थे जिनकी वार्षिक आय पच्चीस हज़ार रुपए थी। इस रुपए से वह अपने कुटुंब का भरण-पोषण करता और पथिकों तथा तीर्थ-यात्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था।[4] सैयद सालार के पिता, शौक सालार का भी इसी प्रकार आदर होता था।[5] शेख़ ख़्वाजा मुइनुद्दीन की दरगाह में हिन्दू भी अपनी

१—विलियम टेनेंट: 'थॉट्स ऑन दि एफ़ेक्ट्स ऑव दि ब्रिटिश गवर्नमेंट ऑन दि स्टेट ऑव इंडिया', एडिनबरा. १८०७, पृ० १४४-१४७

२—जी० डब्ल्यू० जानसन: 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', लंदन, १८४३, पृ० १२३

३—विक्तर जाक्मॉं (Victor Jacquemont): 'एता पोलीतीक ऐ सोशिएल द लिंद दु नॉर्द ऑं १८३०' (१८३० में उत्तरी भारत को राजनीतिक और सामाजिक अवस्था), पेरिस, १९३३, पृ० १२०.
तथा,
मेजर स्लीमैन: 'रैम्बिल्स ऐंड रिकलेक्शन्स', लंदन, १९१५, पृ० ५४३

४—मेजर स्लीमैन: 'जर्नी थ्रू दि किंगडम ऑव अवध', जि० १, लंदन, १८५८, पृ० ४८-४९, २३३-२३४

५—वही, जि० २, पृ० ३२४-३२५

श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते थे। जिस समय अजमेर सिंधिया वंश के अधिकार में था उस समय वह भी इस प्रसिद्ध दरगाह के दानदाताओं में से था।[१] वास्तव में हिन्दू समाज यह सोचता था कि पाप-कर्मों के फलस्वरूप ईश्वर ने उसे दंड देने के लिए मुसलमान आक्रमणकारियों को भेजा था। लोग सोचते थे कि यदि शहीदों और संतों की इस लोक में पूजा-अर्चना की जायगी तो स्वर्ग में वे उन्हें उसका प्रतिदान देंगे।

आलोच्यकालीन हिन्दुओं के धार्मिक जीवन का अध्ययन करने से यही ज्ञात होता है कि वे शक्ति के किसी भी प्रतीक की पूजा करने के लिए उत्सुक रहते थे, चाहे उस शक्ति का प्रयोग स्वयं उन्हीं के विरुद्ध क्यों न हुआ हो। अपने इस कार्य में वे कुछ-न-कुछ लाभ ही समझते थे। सामान्यतः हिन्दुओं में आशा और भय का संचार रहता था। आशा और भय की तीव्रता या शिथिलता के अनुसार ही उनकी पूजा या श्रद्धा-भक्ति का स्वरूप स्थिर होता था। धर्म या धार्मिक कर्मकाण्ड की चिंता किए बिना संभवतः वे सिकन्दर महान्, चंगेज़ ख़ाँ, तैमूर, नादिरशाह आदि के मकबरों की भी पूजा करते।

अस्तु, हम यह देखते हैं कि आलोच्य काल में यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से हिन्दुओं का एक अनादि, अनंत, अजर-अमर ईश्वर में विश्वास था और उसके संबंध में उन्होंने बड़ी ही सुन्दर और सुखद भावना बना रखी थी, किन्तु उनके सिद्धान्त और व्यवहार में बहुत बड़ा अन्तर था। उनका संबंध वैष्णव, जैन, शैव, शाक्त अथवा अन्य किसी भी धार्मिक संप्रदाय से रहा हो, एक बात उन सबमें समान रूप से मिलती है। वे सभी धर्म के बाह्य और अप्रधान एवं गौण रूप में विश्वास रखने लगे थे। वे धर्म के शाश्वत रूप को भूल कर ऐसी बातों से चिपके रहे जो देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहनी चाहिए थीं, जिनका परित्याग कर देने से धर्म की कोई ग्लानि नहीं होती। इस प्रकार हिन्दू धर्म की गतिशीलता नष्ट हो चुकी थी और उसमें सड़ाँद आने लगी थी। उसका घोर पतन हो चुका था। सच बात तो यह है कि हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में ही पतन के बीज निहित थे। समाज के धार्मिक नेताओं के प्रति अंधभक्ति और उनके वचनों में अंध-विश्वास ही इसका प्रधान कारण था। उनका विरोध करने की भावना या उनके साथ संघर्ष स्थापित करने के साहस का अभाव था। जनता को शास्त्रीय

१—रेजीनाल्ड हेबर : 'नैरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्रॉविन्सेज़ ऑव इंडिया, १८२४-१८२५, जि० २, लंदन १८२८, पृ० ४४१-४४२

ग्रंथों के दर्शन तक न हो पाते थे। उस समय दर्शन होने की कोई संभावना भी नहीं थी। शास्त्रीय शिक्षा उच्च वर्ण के केवल कुछ लोगों तक ही सीमित थी। शास्त्रों की अच्छी-अच्छी बातें वे ही लोग जानते थे। इतर व्यक्तियों को उनका अध्ययन करने और सच्चा ज्ञान प्राप्त कर अपने विचारों को परिष्कृत और परिमार्जित करने का अधिकार ही नहीं था। हिन्दू धर्म के सामान्य अनुगामियों में इसीलिए धर्म का विकृत रूप ही प्रचलित रहा और इसी रूप को विदेशियों ने 'पॉप्युलर हिन्दूइज़्म' के नाम से पुकारा। जो शिक्षित थे वे वेदों, उपनिषदों, पुराणों आदि का अध्ययन करते थे। जो अशिक्षित थे उन्होंने बौद्धिक आत्मसमर्पण कर रखा था; उनमें जो कुछ बुद्धि थी उसका भी प्रयोग करना छोड़ दिया था। ब्राह्मणों ने प्राचीन दुरूह और जटिल धार्मिक शब्दावली का प्रयोग कर धर्म को एक भूलभुलैयाँ बना रखा था। ब्राह्मणों की सहायता बिना न कोई उसमें घुस सकता था और न बाहर आ सकता था। ब्राह्मण भी जो कुछ कहते थे वह उनके अपने वचन न होकर ईश्वरीय वचन होते थे। ऐसी परिस्थिति में साधारण व्यक्ति के लिए ब्राह्मण-वचन क अवहेलना करना अत्यन्त कठिन क्या एक प्रकार से असंभव ही था। परम्प से ज़रा भी हटने वाला 'पापी' घोषित कर दिया जाता था और उसे तरह-त के प्रायश्चित, व्रत आदि करने पड़ते थे। हिन्दू धर्म में अनेक अच्छी बातें इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। किन्तु आलोच्य काल का हिन्दू पं पुजारियों, पुरोहितों, 'गुरुओं' आदि के संरक्षण में अज्ञान और भय से संवे रह कर ही अपने 'धर्म' पर आरूढ़ रहता था। ब्राह्मण उसके अज्ञान और के प्रहरी थे। ये ही लोग सामान्य हिन्दुओं से विष्णु, शिव, शक्ति, हनु भूत-प्रेत आदि की पूजा कराते थे, पिण्ड-दान कराते थे, लोगों के सिर मु थे, तिलक लगाते और यज्ञोपवीत पहिनाते थे, गंगा स्नान कराते थे, पा प्रायश्चित कराते थे, तीर्थ-यात्रा में साथ देते थे, मंदिर बनवाते थे, स्व नरक के दर्शन कराते थे, वर्ण-व्यवस्था की 'जटिलताएँ' समझाते थे, 'संन्यासियों', 'योगियों' आदि की पूजा कराते थे, कहने का तात्पर्य य जीवन के अन्त तक एक हिन्दू पर छाए रहते थे। शाक्त अपनी 'गुह्य भी धर्म के आवरण से ढक कर करता था। यहाँ तक कि ठगी और प्रथा भी धर्म का आश्रय लेकर ही प्रचलित थीं। इन सब प्रथाओं क का आशीर्वाद मिला हुआ था। तत्कालीन हिन्दुओं का साधारण त कि संसार देवताओं के अधीन है, देवता मंत्रों के वशीभूत हैं, मंत्र केवल ब्राह्मणों को है, इसलिए देवता ब्राह्मणों के वशीभूत हैं। सा

यही समझता था कि यदि ब्राह्मण प्रसन्न हैं तो देवता प्रसन्न हैं। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत इसके अतिरिक्त और कुछ संभव भी नहीं था। वास्तव में आलोच्यकालीन हिन्दू धर्म जीवन्मृत था—एक महान् राष्ट्रीय धर्म की शताब्दियों बाद ऐसी ही शोचनीय अवस्था हो गई थी। राजनीतिक और आर्थिक विशृंखलता ने उस अवस्था को और भी तीव्र गति प्रदान की। अपनी पतित अवस्था में हिन्दू धर्म ने व्यावहारिक जीवन में अनेक असामाजिक और अनुदार प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया, अनेक ऐसी सामाजिक और धार्मिक क्रूर प्रथाओं को बनाए रखने में सहायता की जिनके अंतर्गत हिन्दू समाज बुरी तरह से आतनाद कर रहा था। उसका सौम्य, भव्य और मानवोचित रूप एक प्रकार से लुप्त हो चुका था। समाज विकृत, दार्शनिक और धार्मिक विचार सहन कर लेता था। सत्रहवीं शताब्दी में बर्नियर ने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में धर्म के संबंध में जो कुछ लिखा है, उसका और भी पतित रूप ही हमें आलोच्य काल में मिलता है। वैसे सब देशों और सब समयों में पुरातनत्व के प्रति मोह मानव-स्वभाव की विशेषता रही है, किन्तु हिन्दू धर्म का यह पतित रूप बहुत पुराना नहीं था और दुर्भाग्यवश साधारण व्यक्तियों को अपने धर्म का प्राचीन इतिहास जानने का न तो कोई साधन था और न कोई अवसर ही था। ब्राह्मण के कथनानुसार समाज धर्म के उसी रूप को सनातन काल से चला आ रहा मानने लगा था। इतना ही नहीं, वह उस रूप की ईश्वरीय उत्पत्ति में विश्वास करता था! इसीलिए विस्तृत कर्मकाण्ड के किसी भी अंश की उपेक्षा और अवहेलना करना महा ही नहीं घोरातिघोर पाप समझा जाता था जिसके विचार मात्र से एक हिन्दू काँप उठता था। स्वेच्छापूर्वक या अनिच्छापूर्वक धर्म के लिए कष्ट और यातनाएँ सहन करने से उसे बहुत ही संतोष मिलता था, क्योंकि उसे विश्वास था कि कष्ट सहन करने का फल अवश्य मिलेगा। यह भावना जितनी अधिक तीव्र होती थी उतनी ही अधिक उसे आत्म-तुष्टि प्राप्त होती थी।

आलोच्यकालीन इस धार्मिक परिस्थिति को सुरक्षित रखने में घरेलू, सामाजिक, राजनीतिक आदि कारणों के अतिरिक्त व्यक्तिगत लाभ और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा का भी बहुत बड़ा हाथ था। उस समय हिन्दू धर्म और विविध प्रकार की मूर्ति-पूजा का जो स्वरूप स्थिर हो गया था उसका समाज के कुछ प्रभावशाली वर्गों की आर्थिक परिस्थिति से घनिष्ठ संबंध था। शास्त्रीय ग्रंथों के प्रहरी 'पंडितों', मंदिरों के पंडों-पुजारियों, गंग-पुत्रों, पुरोहितों, 'गुरुओं', ज्योतिषियों आदि की प्रतिष्ठा और आर्थिक परिस्थिति धर्म के तत्कालीन

स्वरूप पर ही आधारित थी। उनका सुधार हो जाने से उन्हें दोनों बातों से हाथ धोना पड़ता। अँगरेज़ी शासनान्तर्गत प्रचलित नव शिक्षा और विविध सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप यही हुआ भी। और फिर श्रद्धालु भक्तों द्वारा जीवन में सुधारवादी दृष्टिकोण ग्रहण कर लेने के फलस्वरूप बनारस और मथुरा जैसे तीर्थ स्थानों का वाणिज्य-व्यवसाय नष्ट हो जाने की आशंका थी। इन तीर्थ स्थानों में भक्त लोग स्नान-दान, पंडों-पुजारियों को दान देने, बाज़ार से तरह-तरह की चीज़ें और पत्थर या पीतल की बनी हुई मूर्तियाँ ख़रीदने आदि में धन व्यय करते थे। धर्म में परिवर्तन या सुधार हो जाने से इन सभी वर्गों की आर्थिक क्षति होने कि संभावना थी। धनिक वर्ग तो वैसे ही किसी प्रकार के परिवर्तनों से भयभीत रहता है, क्योंकि समाज में ज़रा भी परिवर्तन होने से उनकी आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो सकती है। यही कारण है कि वह सदैव ऐसे नियमों और सिद्धान्तों का समर्थक रहा है जो लोगों को संतोषी होना और अपनी आपत्तियों और कठिनाइयों का उत्तरदायित्व सामाजिक व्यवस्था और संगठन पर न मानकर अपने ऊपर मानना सिखाता है। इस दृष्टि से धर्म उसका सबसे बड़ा सहायक होने के कारण दोनों में सदैव गठबन्धन रहा है। इतिहास इस बात का साक्षी है। धर्म लोगों को सिखाता है कि अत्याचार और कष्ट किसी विशेष वर्ग के कारण नहीं वरन् अपने-अपने कर्मानुसार हैं; जो जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है। ईश्वरीय विधान के अंतर्गत उन्हें सहिष्णुता और सहनशक्ति सिखाई जाती है। इन तथा इसी प्रकार के अन्य धार्मिक सिद्धान्तों के अंतर्गत पीड़ित या दलित वर्ग के विद्रोह की संभावना नहीं रह जाती। अस्तु, धनिक वर्ग को धर्म और धर्माधिकारियों से बढ़ कर सहायक और कौन मिल सकता था। इसी प्रकार सामन्तवाद ने भी अपनी सुरक्षा के लिए सदैव धर्माधिकारियों से सहायता ली है।[1] आलोच्य काल में एक गोसाईं जी मथुरा में

---

[1]—दे०, आर० एच० टॉनी (Tawney): 'रिलीज़न ऐंड दि राइज ओव कैपिटलिज़्म'

'Their laws being interwoven with their religious doctrines, perhaps threw too great a preponderance on the side of the priesthood; but the evil which this might have occasioned seems, in some sort, to have been rectified by the exclusion of the members of that order from any temporal employments; so that while they guarded the people from tyranny, they

रहते थे। वहाँ के लोग उनके 'असाधारण आध्यात्मिक कर्मों' में केवल इसीलिए विश्वास करते थे क्योंकि हिम्मत बहादुर तथा अन्य सामन्त उन गोसाईंजी का अत्यधिक आदर करते थे।[१] वह गोसाईं आग और पानी पर चल सकता था। यह उदाहरण प्रदर्शित करता है कि जनता का उचित दिशा में नेतृत्व करने के स्थान पर सामन्तवर्ग तत्कालीन धर्म के प्रचलित रूप को बनाए रखने में सहायता पहुँचा रहा था। राज्य से निर्वासित मरहठा राजकुमार, अमृतराव पेशवा, बनारस में बिना सोचे-समझे जो कोई साधु-वेष में आता था उसी को अतुलित धन दान करता था और इस प्रकार अनेक धूर्तों और प्रवंचकों का पालन-पोषण होता था। हिन्दी प्रदेश के अन्य स्थानों में भी सामन्तवर्ग जीर्ण-शीर्ण धार्मिक व्यवस्था की रक्षा के लिए भूमि और गाँव दान में देता था। धर्म समाज को एक मानव-शरीर के रूप में देखता था जिसमें प्रत्येक अंग अपने-अपने स्थानानुसार कार्य करता है और जहाँ विभिन्न अंगों में पारस्परिक संघर्ष की कोई संभावना नहीं। दूसरे शब्दों में, समाज में जो जहाँ है और जिसे जितना मिला है, वह वहीं रहे और अधिक की आशा न रखे। धनियों और सामन्तों को इससे अधिक और क्या चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में नव शिक्षा और ईसाई पादरियों के साथ संपर्क स्थापित होने के फलस्वरूप शिक्षित वर्ग के धार्मिक दृष्टिकोण में कुछ-कुछ परिवर्तन होने लगा था। किंतु साधारण जन-समाज जैसा था वैसा ही बना रहा, उसमें परिवर्तन-क्रिया उत्पन्न ही न हुई थी। पिछले समय में जिस प्रकार इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म की कमज़ोरियों से लाभ उठाया था, उसी प्रकार आलोच्य काल में ईसाइयों ने उठाना शुरू किया।[२] उच्च श्रेणी के शिक्षित वर्ग का समाज के क्रमशः क्षीण होने की ओर बराबर ध्यान था। वह अपने धर्म की दुर्बलताओं से पूर्णतः परिचित था और यह भी अच्छी तरह जानता था कि यदि आर्थिक लोभ न होता तो अधिकाधिक संख्या में लोग ईसाई हो गए होते। आर्थिक लाभ यही था कि धर्म-परिवर्तन के कारण एक हिन्दू का

---

secured to the sovereign the peaceable obedience of his subjects.'—'स्केचेज़ ऑव द हिन्दूज़', पृ० ३४१

१—जेम्स फ़ोर्ब्स :'ऑरिएंटल मेम्वायर्स', जि० २, लंदन, १८३४,पृ०४१९

२—रेजीनाल्ड हेबर : 'नैरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्रॉविन्सेज़ ऑव इंडिया... १८२४-१८२५', जि०२, लन्दन, १८२८, पृ० १४,३१-३२

अपने पूर्वजों की सम्पत्ति में कोई भाग न रह जाता था। १८४३ के लगभग इस बात की चर्चा फैल गई थी कि ईस्ट इंडिया कम्पनी एक ऐसा क़ानून बनाने वाली है जिसके अंतर्गत एक हिन्दू अपना धर्म छोड़ कर अन्य कोई धर्म स्वीकार कर लेने पर भी पैत्रिक संपत्ति में उत्तराधिकार सुरक्षित रख सकता था। हिन्दू शिक्षित वर्ग ने ऐसे क़ानून को अपने धर्म और समाज के लिए घातक समझा और कम्पनी सरकार के इस प्रस्तावित क़ानून का प्राणपण से विरोध करने का विचार किया। किन्तु यह नौबत ही न आने पाई और कम्पनी सरकार ने अपना इरादा छोड़ दिया।[1]

अलोच्यकालीन धार्मिक जीवन के संबंध में, मैक्समूलर के शब्दों में, इसी बात से संतोष किया जा सकता है कि —'All this is true; but ask any Hindu who can read, and write, and think, whether these are the gods he believes in, and he will smile at your credulity.'

अंत में इस बात से तो इंकार नहीं किया जा सकता कि वार्षिक धर्मोत्सव, तीर्थस्थान और व्रत, पूजा-पाठ, गंगा-स्नान आदि धार्मिक क्रियाएँ सामाजिक जीवन के लिए हितकारी और उसे पूर्ण बनाने में कुछ-कुछ सफल अवश्य हो रही थीं। किन्तु दुर्भाग्यवश इन्हीं क्रियाओं से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही थी। धार्मिक जीवन और फलतः सामाजिक जीवन रूढ़ि-गत हो गया था और पंडे-पुजारी उस पर बुरी तरह छाए हुए थे; उनके बोझ के कारण हिन्दू धर्म का गला घुटा जा रहा था। उसकी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन तथा समन्वयात्मक शक्ति का संपूर्ण ह्रास और गतिशीलता नष्ट हो गई थी। नवीन स्वस्थ भावों और विचारों को आत्मसात कर अपना बनाने की उसमें क्षमता न रह गई थी। लोग बड़े संतोषी और महत्वाकांक्षाओं से हीन हो गए थे। तत्कालीन धार्मिक जीवन के अंतर्गत लोगों के पास ज्ञान और विवेक का प्रकाश न पहुँच सका। उनकी श्रद्धा-भक्ति देवी-देवता की अपेक्षा पंडे-पुजारियों के प्रति ही केंद्रित रह जाती थी। उनमें अनेक भद्दे अंध-विश्वासों और कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का प्रचार हो गया था। वे धर्म के वाह्य, कालानुसार परिवर्तनशील, गौण तथा निकृष्ट रूप में

---

[1]—जी० डब्ल्यू० जॉनसन : 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', जि०१, लन्दन १८४३, पृ० २३७

रम कर उसके शाश्वत एवं उदात्त रूप को भूल गए। वास्तव में समाज के धार्मिक शिक्षक ही उसके अभिशाप सिद्ध हुए। अस्तु, हिन्दू धर्म की ऐसी अवरुद्ध और पतित गति द्वारा न तो धर्मानुयायियों का कोई हित हुआ, और न जीवन और फलतः साहित्य को ही कोई नवीन प्रेरणा मिल सकी। साहित्य के लिए धर्म निर्जीव शक्ति के रूप में रह गया था। हिन्दू धर्म उस पुष्प की भाँति था जो चारों ओर अपनी सुरभि फैला कर मुरझा गया था।

सामाजिक

हिन्दू समाज के धार्मिक पक्ष पर विचार कर लेने के उपरान्त अब उस आलोच्यकालीन सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन कर लेना चाहिए जिसमें यह धर्म प्रचलित था।

हिन्दी प्रदेश के हिन्दुओं के सम्बन्ध में कहा जाता है कि अदालतों और व्यापार को छोड़ कर, जहाँ छल-कपट बरता जाता था, सामान्यतः हिन्दू मझोले क़द के, ज़रा पतले किन्तु सुगठित शरीर और अच्छी तथा भाव-व्यंजक मुखाकृति, काली आँखों और गंभीर मुद्रा वाले, पवित्र तथा धार्मिक, बड़ों के आज्ञाकारी, शिष्टाचार बरतने वाले, दयावान, उदार, नम्र, आदर-सत्कार करने वाले, कृत्रिमतारहित, परंपरा-प्रिय, दानशील, सहिष्णु, दूसरों का लिहाज़ रखने वाले, सतर्क, ख्याति तथा शांति-प्रिय, और बन्धु-बांधव-प्रिय होते थे। विपत्ति के समय भाग्य पर भरोसा रख चुपचाप कष्ट सहन करना, पितृभक्ति और वैवाहिक जीवन के प्रति प्रेम भी उनकी विशेषताएँ थीं। किन्तु साथ ही एक विरोधी तथ्य भी उल्लेखनीय है। यद्यपि वे वयोवृद्धों का अत्यधिक आदर-सम्मान करते थे, तो भी उन्हें वे कुटुम्ब पर बोझ-स्वरूप समझते थे। हिन्दू अधिकतर शाकाहारी थे और हलका तथा सादा खाना प्रायः सुबह और शाम खाते थे। उनके बर्तन अत्यन्त शुद्ध और स्वच्छ रहते थे। उनमें मादक द्रव्यों के सेवन का अभाव था। उनका घर और घर का सामान साफ़ और सादा रहता था। वे सिर घुटवाते, दाढ़ी बनवाते, घनी मूँछे और सिर पर चोटी रखते थे। नित्य स्नान करना उनके दैनिक जीवन का कार्यक्रम था।

जो हिन्दू धनाढ्य थे वे लंबा सफ़ेद अँगरखा पहनते थे और या तो सफ़ेद मस्लिन (मजलीन) का या रंगबिरंगा कामदार दुपट्टा गले में डालते या कमर में पटुका बाँधते थे या केवल सफ़ेद मस्लिन या कैलीको का बना हुआ सादा जामा पहनते थे। अँगरखा सीने पर ज़रा चुस्त और कमर से नीचे

घेरदार होता था। सीने पर उसकी तनियाँ होती थीं जिन्हें हिन्दू बाईं ओर और मुसलमान दाईं ओर बाँधते थे। जामों पर वे कभी-कभी रुई की या ज़री से कढ़ी हुई सिल्क की वास्कट पहनते थे। उनके वस्त्रों में पटुका सबसे अधिक कामदार होता था। अँगरखा या जामा के साथ वे लंबा चुस्त पाजामा पहनते या धोती बाँधते थे। सिर पर वे या तो साफ़ा बाँधते थे या कामदार टोपी पहनते थे। उनके जूते लाल चमड़े के बने हुए होते थे जो कभी-कभी कामदार और जिनका आगे का पंजा हमेशा ऊपर की ओर मुड़ा होता था। कमरे में घुसते समय वे जूते दरवाज़े पर ही उतार देते थे। कानों में वे मोती या लाल से जड़ी हुई सोने की बालियाँ और हाथों में सोने या चाँदी के कड़े पहनते थे। राजवंश या किसी कुलीन वंश का हिन्दू बहुमूल्य वस्त्रों और आभूषणों से अपने को सुसज्जित करता था। ब्राह्मण न तो सिर ढकते थे और न कमर से ऊपर के हिस्से पर कोई वस्त्र ही धारण करते थे। जाड़ों में शाल-दुशाले ओढ़ कर वे अपना काम चलाते थे। यज्ञोपवीत उनकी वेशभूषा का एक आवश्यक अंग था। निम्न श्रेणी के हिन्दू सामान्यतः सूती मिर्ज़ई (गंजी) और धोती या जाँघिया की तरह का चुस्त पाजामा पहनते थे। कुछ लोग सिर पर साफ़ा बाँधते और कमर पर एक साधारण कपड़ा लपेट लेते थे। ग़रीब से ग़रीब भी कम-से-कम एक हाथ में चाँदी का कड़ा अवश्य पहनता था। उनके घरों में बहुत कम सामान रहता था और जीवन में उनकी इच्छाएँ भी बहुत कम रहती थीं। वे अपने सीधे-सादे हल्के औज़ारों से काम करते हुए अपना जीवन व्यतीत कर देते थे।

हिन्दू स्त्रियाँ कोमल, सुन्दर और सुडौल शरीर वाली होती थीं। वे अपने लावण्य और आकर्षक मुखाकृति के लिए प्रसिद्ध थीं। किन्तु बाल-विवाह के कारण तीस-पैंतीस की अवस्था में ही उनका शरीर ढल जाता था। उस समय हिन्दू स्त्रियों को नाचने-गाने की शिक्षा नहीं दी जाती थी। नाचने-गाने वाली स्त्रियों का वर्ग अलग होता था। वे स्वच्छ और साफ़-सुथरे ढंग से रहतीं और पवित्र मानी जाती थीं। वे साड़ी या पैर के टख़नों तक लम्बा और सुन्दर घेरवाला लहँगा और कमर से ऊपर चोली धारण करती थीं। सिर से पैर तक वे विविध प्रकार के सोने-चाँदी के आभूषणों से लदी रहती थीं। हाथ की उँगलियों में बहुत सी अँगूठियाँ, विशेष रूप से अँगूठे में आरसी, पहनने का उन्हें बहुत शौक़ था। ग्रामीण या निम्न श्रेणी की स्त्रियों के पास कपड़े घटिया और आभूषण कम और सस्ते रहते थे—किन्तु ग़रीब से ग़रीब स्त्री के पास आभूषण होते अवश्य थे। शरीर को वाह्यालंकारों से सुसज्जित करना अमीर

या ग़रीब सभी हिन्दू स्त्रियों के लिए अत्यन्त गर्व और प्रसन्नता की बात समझी जाती थी। वे नित्यप्रति स्नान करतीं और बालों में सुगंधित तेल डालती थीं।

वास्तव में कि आलोच्यकालीन भारतीय समाज में शरीर ही को नहीं वरन् चित्रकला, वास्तु-कला, काव्य-कला आदि लगभग सभी क्षेत्रों में तड़क-भड़क या बढ़िया सजावट का बहुत शौक़ था। वे प्रदर्शन-प्रिय थे। अपने को जो जितना अधिक अलंकृत कर सकता था वह उतना ही बड़ा आदमी समझा जाता था। वस्त्रों या आभूषणों को अलंकृत करते समय वे अनुकरणीय वस्तु का अत्यन्त परिश्रम के साथ विस्तृत और ज्यों-का-त्यों अनुकरण करने की चेष्टा करते थे। यदि अनुकरणीय वस्तु सामने न हुई तो फिर उनकी कल्पना अत्यधिक तीव्र रूप धारण कर लेती थी।

मेजर स्लीमैन् के कथनानुसार आलोच्यकालीन हिन्दुओं में तीव्र सार्वजनिक भावना थी और इस संबंध में वे उदारतापूर्वक धन व्यय करते और दूसरे व्यक्तियों को आश्रय देते थे। धनिक वर्ग सदैव समाज के लिए हितकारी कार्य करने की चेष्टा करता था। अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अन्य सभी वर्ग उसका अनुकरण करने का प्रयत्न करते थे। कुँआ खुदवाना, तालाब बनवाना, बाग़-बग़ीचे बनवाना, पेड़ लगवाना आदि कार्य अत्यन्त पुण्य के कार्य समझे जाते थे। प्रत्यक्ष रूप से ही नहीं वरन् गुप्त रूप से भी वे सार्वजनिक कार्यों के लिए दान देते थे और दूसरी दुनिया में उसके फल की आशा लगाए रहते थे।

हिन्दुओं की समस्त सामाजिक आर्थिक और घरेलू व्यवस्था सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा पर आधारित थी। प्रत्येक कुटुम्ब में एक कर्ता होता था। वह सबसे अधिक आदरणीय व्यक्ति होता था और सभी को उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता था। घर वाले उससे कुछ-कुछ डरते भी थे। वह सरल साधारण जीवन व्यतीत करता और बहुत अधिक शिक्षित नहीं होता था। वह धार्मिक, कट्टर और परम्परा-प्रिय होता था। कुटुम्ब के पालन-पोषण और देख-रेख में वह परम्परा का विशेषतः ध्यान रखता था। कर्ता की मृत्यु के बाद जेष्ठ पुत्र उसका स्थान ग्रहण कर लेता था। कभी-कभी किसी स्त्री को भी कर्ता का पद ग्रहण करना पड़ता था। स्त्री-धन के अतिरिक्त स्त्रियों को अन्य कोई धार्मिक या आर्थिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। वे पूर्णतः पुरुषों पर निर्भर थीं। वे पुरुषों से अलग ज़नाने में रहतीं और दूसरों के सामने अपने पतियों से बोल

न सकती थीं। विधवाओं को कठोर जीवन व्यतीत करना पड़ता था। स्त्रियों के लिए मातृत्व ही परम लक्ष्य था। विवाह बड़ी धूमधाम से होते थे। सामान्यतः एक पति अपनी पत्नी से राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य किसी गम्भीर विषय के संबंध में बातचीत नहीं करता था। बच्चों तथा घर की देख-रेख करना स्त्रियों का प्रधान कर्तव्य था। पुत्रोत्पत्ति की लालसा सभी को लगी रहती थी। पत्नी अपनी सास के शासन में रहती थी और कुटुम्ब में स्वच्छंद प्रेम (रोमांस) के लिए कोई गुंजायश नहीं थी। स्वच्छंद प्रेम वैवाहिक जीवन में संभव न होकर उससे बाहर केवल नर्तकियों के साथ ही संभव था। नाई, ज्योतिषी, पुरोहित और गुरुजी हिन्दू सम्मिलित कुटुम्ब के आवश्यक अंग थे। ये लोग बड़े लालची हुआ करते थे। हिन्दुओं का जन्म-संबंधी (नामकरण, कनछेदन, अन्नप्राशन आदि) संस्कारों, यज्ञोपवीत संस्कार, श्राद्ध, विवाह, तीर्थ स्थान, गंगा-स्नान, कुल-देवता की पूजा तथा अन्य धार्मिक पर्वों और त्यौहारों में ही अधिकतर ध्यान लगा रहता था। उच्च श्रेणी के लोगों के घरों में दास रखने की प्रथा भी थी।

सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा की एक सबसे बड़ी विशेषता थी परम्परा और रूढ़ि का पालन। यदि किसी कुटुम्ब में व्यापार होता था, तो भावी संतान भी प्रायः व्यापार ही करती थी। व्यापार-संबंधी शिक्षा उसे अपने बंधु-बांधवों से ही प्राप्त होती थी। इस प्रथा के अनुसार बेकारी की समस्या तो कभी उपस्थित ही न होती थी, और साथ ही एक प्रकार से व्यापार और कला में दक्षता और विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए सर्वोत्तम अवसर भी प्राप्त हो जाता था। किन्तु परम्परा-पालन, व्यक्तित्व का अभाव, आदि बातें समाज की प्रतिभा को जो विविध रूपों और मार्गों द्वारा प्रकट हो सकती थीं, एक ही दिशा और सीमित क्षेत्र तक ही रहने देती थीं। सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा के अंतर्गत प्रायः ऐसा भी देखने में आ जाया करता था कि एक व्यक्ति धनोपार्जन करता है और अन्य व्यक्ति बैठे-बैठे खा रहे हैं। इस प्रकार समाज में काहिल और पर-मुखापेक्षियों का भी अभाव नहीं था।

सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा के बाद हिन्दू समाज में द्वितीय महत्त्वपूर्ण व्यवस्था चार वर्णों की थी। समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभाजित था। आलोच्य काल में गोत्रों और कुलों अथवा भौगोलिक स्थानों पर आधारित वर्ण-व्यवस्था अन्य अनेक वर्गों और उपवर्गों में विभाजित हो गई थी। ये विभिन्न वर्ग और उपवर्ग आपस ही में विवाह, खान-पान, तथा

अन्य सामाजिक संबंध रखते थे। गोत्रों और कुलों अथवा भौगोलिक स्थानों पर आधारित अनेक वर्गों और उपवर्गों के अतिरिक्त अनेक ऐसे वर्ग भी थे जिनका नामकरण उनके व्यवसाय के आधार पर हुआ था, जैसे, सुनार, लुहार, माली, तेली, बढ़ई, दर्ज़ी आदि। व्यावसायिक वर्गों में भी अनेक भेद-उपभेद थे। उठने-बैठने, खान-पान, विवाह इत्यादि की दृष्टि से इन व्यावसायिक वर्गों-उपवर्गों का आचार-व्यवहार आपस के लोगों तक ही सीमित था।

समाज का इन छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभाजन ईश्वरीय विधान के अनुसार माना जाता था। हिन्दुओं का विश्वास था कि सृष्टि की आदि रचना इसी रूप में हुई थी। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध कार्य करना पाप का भागी होना था, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का अपने-अपने पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार ही किसी एक विशेष वर्ण में जन्म होता था। अस्तु वर्ण-व्यवस्था भंग करना ईश्वरीय विधान भंग करने के बराबर था। अपने वर्ण में रहते हुए वर्ण-धर्म और वर्ण-व्यवसाय का पालन करना प्रत्येक का पुनीत कर्त्तव्य समझा जाता था। सामाजिक आचार-विचार, नियम, पद, जीवन-क्रम, पारस्परिक व्यवहार, खान-पान-सम्बन्धी व्यवस्था आदि सभी कुछ मनु द्वारा निर्धारित हो चुका था और उसमें परिवर्तन की ज़रा भी संभावना नहीं थी। मनु द्वारा निर्धारित मार्ग की अवहेलना करने से प्रायश्चित करना पड़ता था या जाति-च्युत होना पड़ता था। जाति-च्युत होने के भीषण भय से लोग प्रायः कठोर से कठोर प्रायश्चित करने के लिए प्रस्तुत हो जाया करते थे।

हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था के जन्म और उद्देश्य सम्बन्धी मीमांसा करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। किन्तु आलोच्यकाल में मूल वर्ण चार न रह कर असंख्य होगए थे और समाज अनेक छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट गया था। इस प्रकार के जीवन में सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य शास्त्रीय दृष्टिकोणों से ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। वे अपने महत्त्वपूर्ण स्थान का उचित-अनुचित लाभ उठाने कभी में चूकते थे। वे गुरु और पुजारी तो थे ही, किन्तु साथ ही, अपनी शिक्षा और अपने ज्ञान के कारण, अनेक राजकीय विभागों में भी वे उच्च स्थान प्राप्त किए हुए थे। अपना पद बनाए रखने के लिए वे समाज को मनु द्वारा निर्धारित नियमों की निरंतर याद दिलाते रहते थे। अनेक ब्राह्मण तो ऐसे थे जिनके पास अतुलित धन था, जिनमें विनम्रता का अभाव था और जो प्यादों के साथ पालकियों पर चढ़ कर निकलते थे। धार्मिक रीति-रस्मों और संस्थाओं से उन्हें खूब धन मिलता था। ऐसी परिस्थिति

में उनका आलसी और विलासी हो जाना स्वाभाविक था। निम्न श्रेणी के ब्राह्मण खाना पकाने या पानी पिलाने का काम भी करते थे। धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ब्राह्मणों का शेष सभी वर्णों पर प्रभुत्व स्थापित था। क्षत्रिय राजनीतिक दृष्टि से पतित हो चुके थे। उनमें से बहुत से तो उपेक्षा और निर्धनता-पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनमें राजनीतिक दूरदर्शिता और कूटनीति के स्थान पर संकीर्णता विलास-प्रियता, क्रूरता जिसमें उन्हें आनंद आता था, धन-लोलुपता, अपव्यय, अंध-विश्वास, मादकता, आलस्य आदि का प्रचार था। बहुत से तो अफ़ीम खाने लगे थे। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक आदि सभी दृष्टिकोणों से क्षत्रिय-वर्ग अपनी पिछली गतिशीलता खो बैठा था। हाँ, व्यक्तिगत रूप से अपवाद स्वरूप, हमें प्रतिभा-शाली और तेजस्वी क्षत्रिय मिल अवश्य जाते हैं। वैश्यों की दशा भी कोई बहुत अच्छी नहीं थी। रुपए के लिए वे सब कुछ कर सकते थे। उन्होंने अँगरेज़ों के साथ अनेक प्रकार के व्यापारिक संपर्क स्थापित किए। उनके दिमाग़ में व्यापार-सम्बन्धी विचार ही उठ सकते थे। इस दृष्टि से ही वे 'विचारवान्' कहे जा सकते हैं। जीवन के अन्य क्षेत्रों से जहाँ तक सम्बन्ध है वे अपनी विचारशून्यता का परिचय दिए बिना न रहते थे। अपनी व्यापार-सम्बन्धी परंपरागत शिक्षा प्राप्त करने के अतिरिक्त उन्हें अशिक्षित ही कहा जायगा। यही कारण है कि ब्राह्मणों का उन पर पूरी तरह से अंकुश जमा हुआ था। वैश्य-वर्ग धार्मिक कृत्यों पर जी खोल कर ख़र्च करता था। किन्तु धार्मिक कृत्यों पर ख़र्च करते हुए भी उसे वास्तविक अर्थ में धार्मिक नहीं कहा जा सकता। यदि एक ओर वह ब्राह्मणों के माध्यम द्वारा अपना यह लोक और परलोक निरापद बनाना चाहता था तो दूसरी ओर वह विविध प्रकार के राग-रंगों, वेश्यागमन आदि में भी धन ख़र्च करता था। धनाढ्य वैश्य या तो बाहर बैठे-बैठे हुक्का पिया करते और मोटे हो जाते थे या अन्तःपुर में समय व्यतीत करते थे। समाज में सबसे अधिक संख्या शूद्रों की थी और शूद्र वर्ग के अंतर्गत अनेक प्रकार के कारीगर सम्मिलित थे। वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत सबसे अधिक कष्ट इसी वर्ण को सहन करना पड़ता था।

वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि कोई भी व्यक्ति अपना वर्ण छोड़ कर दूसरा वर्ण ग्रहण न कर सकता था। इस संबंध में भ्रम के लिए तिल पर भी स्थान न था। प्रत्येक वर्ण का अलग-अलग कर्त्तव्य और जीवन-क्रम निर्धारित था। जन्म से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने चारों ओर खिंची हुई परिधि के भीतर रहता था और सराहनीय बात

यह है कि छोटी-छोटी-बातों के आधार पर निर्मित असंख्य परिधियों के होते हुए भी एक परिधि दूसरी परिधि की सीमा का उल्लंघन न कर सकती थी। कोई भी व्यक्ति एक पैर एक परिधि में और दूसरा पैर दूसरी परिधि में रख कर खड़ा न हो सकता था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसी अमोघ नियम का पालन करना परम धर्म समझा जाता था।

ऐबे दुब्वा (Abbc Dubois) नामक एक फ्रांसीसी यात्री का कथन है कि विभिन्न वर्णों और अनेक जातियों तथा उपजातियों में विभाजित होने के कारण ही भारतीय समाज बर्बर न रह सका और न संकटकालीन परिस्थितियों में उसका बर्बरतापूर्ण अवस्था में पतन ही हो सका। इसके विपरीत समाज ने कला और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में निपुणता और दक्षता प्राप्त कर उन्हें उस उच्च कोटि के कलात्मकता सौन्दर्य तक पहुँचा दिया जो आज मानव सभ्यता और संस्कृति की निधि हैं। और यह कार्य भी उस समय संपन्न हुआ जब कि संसार की अन्य जातियाँ बर्बर जीवन व्यतीत कर रही थीं। समय-समय पर वर्णगत उत्तराधिकार और परंपरा के अमोघ नियम ने हिन्दू समाज की रक्षा की।

फ्रांसीसी यात्री का यह कथन बहुत कुछ ठीक है। किन्तु यह वर्ण-व्यवस्था आलोच्य काल तक आते-आते दोषपूर्ण हो गई थी और उसके अंतर्गत अज्ञान, अन्याय, अत्याचार और अपमान को प्रश्रय मिल रहा था। समाज में लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या ऐसी थी जो इस व्यवस्था के अंतर्गत असह्य यातना सहन कर रही थी और उफ़ तक न कर सकती थी। वैसे इस संबंध में उफ़ करने की चर्चा छेड़ना ही व्यर्थ है, क्योंकि इस व्यवस्था के बताए गए दैवी रूप और परम्परा एवं कठोर नियमों के कारण लोग अपमानजनक अवस्था में रहते हुए भी आनन्द का अनुभव करते और उसे जीवन-निधि की भाँति संचित कर रखते थे। किसी जाति या उपजाति से संबंध रखना और उसके नियमों का अक्षरश: पालन करना मान और प्रतिष्ठा का सूचक समझा जाता था। बिना इसके सिर ऊँचा नहीं होता था।

शताब्दियों से चली आ रही इस व्यवस्था के अंतर्गत रहते-रहते वह समाज के जीवन का आवश्यक अंग बन गई थी। लोग उसे प्रतिष्ठा-सूचक भले ही समझने लगे हों किन्तु आलोच्य काल में यह व्यवस्था समाज की सम्यक् प्रगति में निश्चित रूप से बाधक सिद्ध हो रही थी। उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ण के लोगों को हीन और उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। सामाजिक अत्याचार समाज का सामान्य नियम बन गया। निम्न वर्ण के लोग कर्म-फल समझ कर चुपचाप सब कुछ

सहन कर लेते थे। यदि अच्छे कर्म किए होते तो अवश्य उच्च वर्ण में जन्म लेते। फिर युग-युग से चली आ रही एक सामाजिक परम्परा और सामाजिक भय ने निम्न वर्ण के लोगों में सामाजिक यातना सहन करना उनके स्वभाव-संस्कारों के रूप में परिणत कर दिया था। विद्रोह-भावना का उनमें जन्म ही न हो पाता था। इसके अतिरिक्त शिक्षा संबंधी और साहित्यिक तथा दार्शनिक क्षेत्रों में भी इस व्यवस्था ने परम्परा-पालन को ही आश्रय दिया। एक तो शिक्षा का प्रचार और विद्याध्ययन, परम्परा के अनुसार, ब्राह्मणों तक ही सीमित रहा और दूसरे अँगरेज़ी शासनान्तर्गत नवीन ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का अधिक और तीव्र गति से प्रचार न हो सका। ब्राह्मण बहुत दिनों तक नवीन सभ्यता और संस्कृति के प्रति सशंकित बने रहे और अब्राह्मण, संस्कारवश, नवीन या किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्सुक ही नहीं थे, वरन् वे अपने को अधिकारी भी नहीं समझते थे। शिक्षा का प्रचार ब्राह्मणों तक सीमित होने के कारण धार्मिक और सामाजिक जीवन की बागडोर उन्हीं के हाथ में थी। फलतः वे घमंडी हो गए थे और मनमाने तरीके से जब और जहाँ जैसा विधान देना चाहते थे देते थे। उन्होंने दूसरे वर्णों को विद्याध्ययन का अवसर न देकर उन्हें अज्ञानांधकार में रखा जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा समाज के लिए हितकर सिद्ध न हुआ। वर्ण-व्यवस्था ने लोगों को एक ऐसी संकीर्ण परिधि में रहने पर बाध्य किया कि जिससे किसी भी प्रकार की प्रगति संभव न हो सकी। समाज में पंडों-पुरोहितों का आध्यात्मिक आतंक छा गया और धर्म के नाम पर लोग दिन-दहाड़े ठगे जाने लगे। लोग भीरु और परमुखापेक्षी बन गए। अपने देश की सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था के प्रति जो भावना काम कर रही थी, वही भावना विदेशी आक्रमणकारियों के प्रति भी सक्रिय रहती थी। हिन्दू धर्म में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और मानव मात्र में साम्य भाव रखना सिखाने वाले सिद्धान्तों का अभाव नहीं है, किन्तु इसी हिन्दू धर्म के अनुयायी निम्न वर्ण के किसी व्यक्ति को कष्ट से पीड़ित होते देखकर पत्थर के बन उसकी तरफ़ से आँखें फेर लेते थे। एक कीड़े की जान लेने के विचार मात्र से वे काँप उठते थे, किन्तु एक निम्न वर्ण के व्यक्ति को मरते देख उनका हृदय दया से द्रवित न हो पाता था। उच्च वर्णों के लोग निम्न वर्ण के व्यक्ति को छू तक न सकते थे। खानपान, सामाजिक आचार-विचार आदि संबंधी नियम इतने कठोर थे कि लोग उन्हें भंग करने के विचार मात्र से भयभीत हो उठते थे। वे एक गंदे और दरिद्र ब्राह्मण का आदर-सत्कार कर सकते थे, किन्तु प्रगतिशील विचारों से प्रेरित होकर वे सामाजिक नियमों

की अवहेलना न कर सकते थे। निम्न वर्ण वालों को नागरिक अधिकार तक प्राप्त न थे। सवर्ण हिन्दू निम्न वर्ण के लोगों को कपड़े पहिने मरे हुए सवर्ण हिन्दू के कपड़े उतार कर पहिनने को देता था, वह उनकी छाया मात्र से कलंकित हो जाता था और धर्म-स्थानों तथा देव-मंदिरों के आसपास उन्हें फटकने तक न देता था। संक्षेप में, पतित वर्ण-व्यवस्था और उसके असंख्य नियम आलोच्यकालीन हिन्दू समाज के आवश्यक अंग थे। आर्य सभ्यता और संस्कृति के प्रारंभिक काल में ब्राह्मण महान् थे। उन्होंने साहित्य, कला और विज्ञान के विकास में विशेष योग दिया। किन्तु अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में वे अपने पूर्व गौरव के कंकाल मात्र थे। वे समाज में सड़ाँद और दुर्गंध फैला रहे थे। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन करना न तो वे चाहते थे, और संभवतः परिवर्तन करने में असमर्थ भी थे। आलोच्य काल में सवर्ण हिन्दुओं का निम्न वर्ण के लोगों के प्रति किया गया व्यवहार सभी प्रकार के मानवोचित मापदण्डों के विरुद्ध था।

और क्योंकि हिन्दू समाज अन्य धर्मावलंबियों को ग्रहण करने में विश्वास नहीं रखता था, इसलिए उसकी कट्टरता और कठोर नियम सुरक्षित बने रहे। वह स्मृतियों, प्रधानतः मनुस्मृति, पर आधारित अपनी व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल हो सका। मुसलमान और अँगरेज़ शासक भी हिन्दुओं को कोई नवीन सामाजिक व्यवस्था न दे सके। किन्तु साथ ही, जब तक कोई मृत्यु-भय या आर्थिक प्रलोभन न हो, तब तक मुसलमानों और ईसाइयों को हिन्दू का धर्म-परिवर्तन कराने में अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। वास्तव में भारतवर्ष में विधर्मों का प्रचार उनके श्रेष्ठत्व के कारण उतना नहीं हुआ जितना कि स्वयं हिन्दू धर्म की कमज़ोरियों के कारण हुआ। यदि ये कमज़ोरियाँ न होतीं तो एक हिन्दू के लिए धर्म-परिवर्तन करना कठिन ही था, क्योंकि उसके जीवन के नैतिक, आर्थिक और नागरिक पक्षों का उसकी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के साथ इतना घनिष्ठ संबंध था कि उसका छोटे से छोटा कर्म भी अछूता न रह पाता था।[१]

आलोच्य काल भारतीय इतिहास का संक्रान्ति काल था। अतः सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के कुछ नियमों का उल्लंघन होना अनिवार्य था। किन्तु

१—जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ऑरिएंटल मेम्वायर्स', जि०१, लन्दन, १८३४, पृ० ३८-४२

साथ ही उनके लिए प्रायश्चित भी था। हाँ, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग अन्त में हिन्दी प्रदेश की परिस्थिति कुछ बदल गई थी। पाश्चात्य शिक्षा, वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचार तथा वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग-धन्धों द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियों के कारण प्राचीन सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने और पुरानी दीवारें गिरने लगीं।

समाज में उच्च पद होने तथा ब्रह्म-हत्या क्या ब्राह्मण के शरीर को ज़रा भी आघात पहुँचाना महा पाप समझा जाने के कारण ब्राह्मणों ने कुछ ऐसी प्रथाएँ प्रचलित कर रखी थीं जिन्हें कभी भी न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। ऐसी प्रथाओं में से एक प्रथा ब्राह्मणों द्वारा 'धरना' रखने और दूसरी प्रथा 'खोर' की थी। इन दोनों प्रथाओं का उस समय प्रयोग किया जाता था जब ब्राह्मण किसी सरकारी या ग़ैर सरकारी बात का विरोध करते थे। 'धरना' एक प्रकार का दुराग्रह था जिसके द्वारा वे अपनी इच्छानुसार ज़बरदस्ती काम कराने की चेष्टा करते थे। 'खोर' प्रथा 'धरना' प्रथा का ही एक क्रूर और उग्र रूप था। 'खोर' करते समय वे किसी गाय या वृद्धा स्त्री को लकड़ियों पर रख कर जलाते या जला देने की धमकी देते थे। उदाहरण के लिए १७८० में जब माल विभाग के अफ़सर ने कुछ ब्राह्मणों से कर वसूल करने की चेष्टा की तो उन्होंने विरोध-प्रदर्शन के रूप में लकड़ियों पर एक वृद्धा स्त्री को रख कर जलाना चाहा। किन्तु शहर का अँगरेज़ सुपरिंटेंडेंट समय पर पहुँच गया और एक जीवित प्राणी की हत्या होने से बच गई। हिन्दू समाज में ब्राह्मण अवध्य हैं,इस व्यवस्था के कारण कुछ दिन तक तो अँगरेज़ सरकारी कर्मचारी डरते रहे, किन्तु अन्त में उन्हें क़ानून द्वारा यह क्रूर प्रथा बन्द करनी ही पड़ी।[1]

आलोच्यकालीन हिन्दू समाज में विवाह करना आवश्यक समझा जाता था। माता-पिता अपनी संतान का विवाह अधिक से अधिक ग्यारह वर्ष की अवस्था तक अवश्य कर देते थे। सामान्यतः लड़कियों का विवाह तीन या चार वर्ष की अवस्था में और लड़कों का विवाह छः या आठ वर्ष की अवस्था में हो जाता था। विवाह अपनी ही जाति में किन्तु एक ही गोत्र बचा कर होते थे। बहु-विवाह शास्त्र-सम्मत अवश्य था, किन्तु एक पत्नी के जीवित रहते

१—वही, जि० २, पृ० २४-२६,तथा, विलियम टेनेंट: 'थोट्स ऑन दि इफ़ेक्ट्स ऑव दि ब्रिटिश गवर्नमेन्ट ऑन दि स्टेट ऑव इंडिया,' एडिनबरा, १८०७, पृ० १५०-१५१

पति सामान्यतः दूसरा विवाह नहीं करता था। एक पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह उस समय प्रायः आवश्यक माना जाता था जब कि पहली पत्नी वंध्या हो। उस समय संतानहीन होना बड़े भारी दुर्भाग्य की बात समझी जाती थी। सन्तान न होने पर श्राद्ध, पिंड-दान तथा अन्य धार्मिक कृत्य कौन करता। श्राद्ध, पिंड-दान आदि न होने से आत्मा को सद्गति और शांति प्राप्त न हो सकती थी। यदि एक से अधिक विवाह द्वारा भी संतान न होती थी तो दत्तक पुत्र रखने की प्रथा थी। संतान होना अनिवार्य समझा जाता था, चाहे वह औरस हो या दत्तक। विवाह के समय पुरोहित, ज्योतिषी और ब्राह्मण का काफ़ी प्रमुख स्थान रहता था। दहेज़-प्रथा आलोच्य काल में प्रचलित नहीं थी। विवाहोत्सव बड़ी धूम-धाम से और काफ़ी धन व्यय करके मनाया जाता था। ख़ूब खुशियाँ मनाई जाती थी, ख़ूब नाच-गाने व दावतें होती थीं और आतिशबाज़ी छोड़ी जाती थी। ग़रीबों और ब्राह्मणों को दान दिए जाते थे। उत्सव कई दिन तक चलता था और प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सामाजिक परिस्थिति के अनुसार उसे मनाता था। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग अंत में लड़के का अँगरेज़ी पढ़ना-लिखना जानना विवाह के लिए बहुत अच्छा गुण समझा जाने लगा था।[1] स्त्री-शिक्षा का प्रचार न होने के कारण लड़की में सौंदर्य और घर का काम-काज करने में निपुण होना प्रधान गुण समझा जाता था। बाल-विवाह के उपरान्त मातृत्व ही लड़कियों के जीवन का चरम लक्ष्य था। कभी-कभी वृद्ध-विवाह भी संपन्न होते थे—८ या १० वर्ष की लड़की का विवाह एक काफ़ी वयस्क पुरुष के साथ। और प्रायः सहवास-काल आने से पूर्व ही पति का देहान्त हो जाता था।[2] तत्पश्चात् कन्या को बचपन से ही वैधव्य की यातना और नियंत्रण सहन करते हुए जीवन की लम्बी यात्रा तै करनी पड़ती थी, क्योंकि समाज विधवा विवाह की आज्ञा नहीं देता था। किन्तु यह विधवा-विवाह-निषेध केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आदि उच्च वर्णों तक ही सीमित था। निम्न वर्ण के लोगों में विधवा-विवाह प्रचलित था। संभवतः निम्न वर्ण और अपने बीच भेद रखने के लिए उच्च वर्णों ने अपने ऊपर यह प्रतिबंध लगा रखा था[3]।

हिन्दी प्रदेश में सामान्यतः शव जला दिए जाते थे। चिता या तो किसी

१—जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ओरिएंटल मेमायर्स', जि० १, लंदन, १८३४, पृ० ५५-५६

२—'दि स्केचेज़ ऑव दि हिन्दूज़', पृ० २५०

३—मेजर स्लीमैन : 'रैम्बिल्स ऐंट रिकलेक्शन्स', लंदन, १९१५, पृ० २६

नदी के किनारे बनाई जाती थी और यदि यह संभव नहीं होता था तो अस्थियाँ अवश्य किसी पवित्र नदी में प्रवाहित की जाती थीं। दाह-क्रिया के बाद कर्म-कांड प्रारंभ हो जाता था। कुछ लोग मृत शरीर को किसी पवित्र नदी में बहा दिया करते थे। ऐसे हिन्दू भी मिल जाते थे जो शव की दाह-क्रिया न कर उसे ज़मीन में गाड़ते थे। मृत्यु के समय ज़ोर-ज़ोर से रोने-पीटने की प्रथा प्रचलित थी जो वास्तव में मुसलमानी प्रथा थी और मुसलमानों ने जिसे यहूदियों से अपनाया था। कुछ घरानों में स्त्रियाँ स्वयं नहीं रोती-पीटती थीं, वरन् भाड़े की रोने-पीटनेवालियों को बुलाती थीं।[1]

आलोच्यकालीन हिन्दू समाज में शव की दाह-क्रिया करने का तो सर्वत्र प्रचार था ही, किन्तु इसके साथ-साथ जीवितों को जलाने की प्रथा भी प्रचलित थी। विधवा स्त्रियों के लिए सती-प्रथा की व्यवस्था थी। सोलहवीं शताब्दी में सबसे पहले आने वाले अँगरेज़ यात्रियों ने सती-प्रथा का उल्लेख किया है।[2] सत्रहवीं शताब्दी में भारत आने वाले प्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने भी सती-प्रथा के भीषण दृश्यों के संबंध में लिखते हुए Les demons de Brahmens कह कर अपना रोष प्रकट किया है। सती-प्रथा का सविस्तार उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है वह यह है कि ऐसी क्रूर और भीषण प्रथा को भी धार्मिक रूप दे दिया गया था और इच्छा न होने पर भी फूल सी कोमल नवविवाहिता वधुओं तक को पति के मृत शरीर के साथ जलने पर बाध्य किया जाता था। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब कि विधवाएँ अपने मृत पतियों के साथ ज़िंदा ज़मीन में गड़ जाती थीं।[3] किन्तु इस प्रथा के संबंध में कुछ अपवाद भी थे। गर्भवती स्त्रियों को सती होने की आज्ञा नहीं थी। साथ ही यदि पति की मृत्यु विदेश में हो जाती थी तो जब तक उसके जूते, छड़ी, पटुका और पगड़ी चिता पर रखने के लिए न आ जाती थी तब तक विधवा को सती होने की आवश्यकता नहीं थी। ब्राह्मण विधवाओं के और अन्य वर्णों की विधवाओं के सती होने की क्रिया

१—जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ओरिएंटल मेम्वायर्स,' जि० २, लंदन, १८३४, पृ० २८४-२८५

२—'दि फ़र्स्ट इँगलिशमैन इन इंडिया", पृ० ७७, १०१, ११०

३—'दि स्वेवेज़ ऑव दि हिन्दूज़', पृ० २८०, तथा, जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ओरिएंटल मेम्वायर्स,' जि० २, पृ० २७

में कुछ अन्तर रहता था और इसके अतिरिक्त ब्राह्मण विधवा को सती होने या न होने की पूर्ण स्वतंत्रता थी ![1]

सती-प्रथा के संबंध में यह कथा विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि, कहीं-कहीं किसी विधवा को सती होने के लिए मजबूर करने पर भी, प्रत्येक विधवा स्त्री के लिए सती होना अनिवार्य नहीं था। किन्तु एक विधवा के लिए सती होना गौरवपूर्ण अवश्य समझा जाता था, लोग उसे आदर की दृष्टि से देखते थे और ऐसी सतियों की पुण्य स्मृति-स्वरूप समाधियाँ बनवाई जातीं और फिर वे पूजी जाती थीं। अँगरेज़ यात्रियों ने हिन्दी प्रदेश में ऐसी अनेकानेक समाधियों का उल्लेख किया है। विभिन्न यात्रियों द्वारा दिए गए विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा बंगाल, बिहार और बिहार से पश्चिम दिशा में आधुनिक उत्तर प्रदेश के ग़ाज़ीपुर ज़िले तक, महाराष्ट्र और राजस्थान में अधिक प्रचलित थी। ग़ाज़ीपुर में सतियों की संख्या कलकत्ते से भी ज़्यादा रहती थी। बनारस में सती-प्रथा कम प्रचलित थी। यहाँ के ब्राह्मणों ने उसकी निन्दा तो की, किन्तु उसके स्थान पर पुरुषों के लिए आत्म-बलि की स्वीकृति दी। एक लकड़ी या बाँस में बँधे हुए घड़ों के सहारे तैर कर मँझधार में पहुँचना और वहाँ उन्हें पानी से भर उनके साथ जल-मग्न हो जाना बनारस में सामान्य दृश्य रहता था, जहाँ, इसके अतिरिक्त, पुरुषों की आत्म-बलि के लिए अन्य अनेक परम्परागत साधन भी प्रचलित थे। सच तो यह है कि बनारस में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक आत्म-बलि प्रदान करते थे। सती-प्रथा तत्कालीन दिल्ली प्रान्त में भी प्रचलित नहीं थी। किन्तु जहाँ वह प्रचलित थी वहाँ उच्च और निम्न दोनों प्रकार के वर्णों में प्रचलित थी।

सती-प्रथा के कारणों पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, किन्तु संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समाज में पति के उच्च पद के साथ-साथ विवाह को धार्मिक और आध्यात्मिक बंधन और मृत्यु हो जाने पर भी पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार, दूसरे लोक में पत्नी के इस पुण्य-कार्य का दोनों के लिए प्रतिफल और साथ ही विधवा होकर जीवित रहने पर समाज में हृदय विदारक यातनाओं की भयंकर कल्पना मात्र आदि कारणों से ही सती-प्रथा का प्रचार हो सका था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह प्रथा सम्भवतः सिथियनों-तातारों से ग्रहण की गई थी जिनमें किसी भू-सामन्त की मृत्यु हो

१—'दि स्केचेज़ ऑव दि हिन्दूज़,' पृ० २६०, तथा, रेजीनाल्ड हेबर : 'नैरेटिव ऑव ए जर्नी...', जि० १, लंदन, १८२८, पृ० ३५१-३५२

जाने पर उनके दासों में अपने को मार डालने की प्रथा प्रचलित थी। बंगाल में सती-प्रथा के प्रचलित होने के कारणों पर विचार करते हुए डॉ० मार्शमैन के मतानुसार उस समय, अर्थात् १९वीं शताब्दी में, उच्च और मध्यम श्रेणियों के लोगों में विलास-प्रियता तथा नाना भाँति के सुखोपभोगों की उत्कट इच्छा और पाश्चात्य जीवन-पद्धति का अनुकरण करने के फलस्वरूप खर्च बढ़ जाने से और फलतः अनेक कुटुम्बों में आर्थिक संकट उपस्थित हो जाने के कारण विधवा माताओं अथवा अन्य संबंधियों की विधवा स्त्रियों का पालन-पोषण करने की असमर्थता ने सती-प्रथा को आश्रय दिया[1] और सती-वेद की दुहाई दी गई।

इतिहास-लेखकों का मत है कि अकबर तथा अन्य मुसलमान शासकों ने यह प्रथा बन्द करने की चेष्टा की थी। किन्तु कहा जाता है कि तत्कालीन विभिन्न सूबों के अध्यक्षों ने हिन्दुओं से धन लेकर राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि की।[2] मरहटे भी इस प्रथा के विरुद्ध थे। प्रारंभ में अँगरेज़ शासक भी यह प्रथा बन्द करना चाहते थे। किंतु इस आशंका से कि कहीं हिन्दू उसे अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप और ईसाई मत का प्रचार न समझ बैठें वे इस तथा अन्य क्रूर प्रथाओं के प्रति उदासीन रहे। हेस्टिंग्ज़ और वेलेज़ली के प्रयास विफल सिद्ध हुए थे। उन्होंने केवल एक यह आज्ञा-पत्र प्रकाशित किया था कि सती-दाह होते समय निकटवर्ती पुलीस थाने में उसकी सूचना देनी चाहिए। किन्तु इस आज्ञा का उल्लंघन करने पर दण्ड की कोई व्यवस्था न रखी गई थी। कभी-कभी सरकारी अफ़सर लोगों को समझा-बुझा कर सती-दाह न करने पर राज़ी अवश्य कर लेते थे।

किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशाब्द में पाश्चात्य शिक्षा और विचारों के प्रचलित हो जाने से बंगाल में ब्राह्मणों का वह स्थान न रह गया था जो अँगरेज़ी राज्य स्थापित होने के समय अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में था। और यद्यपि अब भी अनेक नवशिक्षित हिन्दू इस प्रथा के प्रति पवित्र भावना रखते थे, किन्तु अब राजा राममोहन राय के अनुयायियों की संख्या ही अधिक हो गई थी। सदर दीवानी अदालत के न्यायाधीशों और अनेक यूरोपियनों ने भी इस प्रथा के विरुद्ध अपना-अपना मत प्रकट किया। वे चाहते थे कि बल-प्रयोग न कर लोगों में इस प्रथा के विरुद्ध प्रचार करना चाहिए। अंत में जनमत से सहायता प्राप्त कर और क्वीन्स कॉलेज, बनारस के

१—रेजीनाल्ड हेबर : 'नैरेटिव ऑव ए जर्नी...', जि०१, लंदन, १८२८, पृ० ७२

२—'दि स्क्रैचेज़ ऑव दि हिन्दूज़', पृ० २५९

पंडितों से परामर्श कर ४ दिसम्बर, १८२९ के बंगाल रेग्यूलेशन xvii के द्वारा सती-प्रथा बिल्कुल बंद कर दी गई। १८३० में यह क़ानून मद्रास और बंबई में भी लागू कर दिया गया। बंगाल में राधाकांत देव, हरिमोहन टाकुर आदि जैसे नवशिक्षित किन्तु कट्टर हिन्दुओं ने इस क़ानून का विरोध किया और प्रिवी कौंसिल तक अपील की, किन्तु उन्हें सफलता न मिल सकी। १५ मई, १८३३ को अवध के नवाब ने भी अपने राज्य में यह प्रथा बन्द कर दी।

और यदि सती-प्रथा ब्राह्मणों, सेठ-साहूकारों, सरकारी कर्मचारियों, निम्न श्रेणी के लोगों आदि में अधिक प्रचलित थी, तो तत्कालीन राजपूताना, जौनपुर, बनारस प्रान्त, आगरा, बुन्देलखण्ड आदि स्थानों के राजपूतों में लड़कियों को जन्मते ही मार डालने की क्रूर और नृशंस प्रथा प्रचलित थी। राजपूतों को छोड़ कर अन्य हिन्दुओं में कन्या-जन्म बहुत बुरा नहीं समझा जाता था। साथ ही जिन राजपूत स्त्रियों के सिर पर बाल-हत्या का पाप चढ़ा रहता था उन्हें लोग सती होने की अधिकारिणी भी न समझते थे। सती होने के लिए पतिव्रता और सु-माता होना आवश्यक था। आलोच्य काल में आत्म-सम्मान और आर्थिक दृष्टि से राजपूतों में सती-प्रथा उतनी अधिक प्रचलित नहीं थी जितनी बाल-हत्या की प्रथा।[1] कन्या का जन्म होते ही वे या तो उसे भूखों रख कर, या अफ़ीम मिला हुआ दूध देकर, या दूध से भरे बड़े बर्तन में डुबकियाँ दे-देकर या गला घोंट कर उसे मार डालते थे और मकान के जिस कमरे में जन्म होता था उसी कमरे में गाड़ देते थे। तत्पश्चात् उस स्थान को गोबर से लीप देते थे। तेरहवें दिन गाँव या कुल का पुरोहित उस कमरे में खाना पका कर खाता था। कट्टर ब्राह्मण इन राजपूतों और पुरोहित-ब्राह्मणों का छुआ खाते-पीते नहीं थे। जब अँगरेज़ शासकों ने यह प्रथा बन्द करने की चेष्टा की तो बाल-हत्या में प्रवृत्त होने वाले राजपूत किसी बहाने से अँगरेज़ी राज्य से भाग कर अवध राज्य में जाकर अपनी इच्छा पूर्ण करते थे।

बाल-हत्या में प्रवृत्त होने वाले राजपूत इस प्रथा का जन्म राजपूत जाति के आदि पुरुष से मानते थे। दूसरे शब्दों में, वे उसे प्राचीनता और धार्मिकता का आवरण देना चाहते थे। वास्तव में 'रजपूती आन' इस प्रथा का मूल कारण थी। मध्य युग में दिल्ली के मुसलमान शासक राजपूतों से उनकी कन्याएँ अक्सर

१—मेजर स्लीमैन : 'जर्नी थ्रू दि किंगडम ऑव अवध', जि० २, लन्दन, १८५८, पृ० २५१

माँग बैठते थे। नतमस्तक राजपूत नरेश मुसलमानों को कन्याएँ देने में अपनी हेठी समझते थे। साथ ही वे, इंकार करने पर, उनका सशस्त्र मुक़ाबला करने में भी असमर्थ थे। ऐसी परिस्थिति में वे जन्म के समय कन्या को मार डालने में ही अपना हित समझने लगे। 'मुक्ति' का यह मार्ग ही कालान्तर में प्रथा के रूप में परिणत हो गया और उसे सुरक्षित रखने के लिए अन्य अनेक कारणों की खोज हुई। बाद में अंध-विश्वास, गर्व, निर्धनता आदि ने उसे बल-प्रदान किया।

भारतीय इतिहास के यह साधारण ज्ञान की बात है कि अँगरेज़ी शासनान्तर्गत राजपूत-नरेश बहुत समृद्ध न रह गए थे। १७८९ में बनारस के रेज़ीडेंट ने अनेक राजपूतों से बाल-हत्या के संबंध में बातचीत की थी। उस समय सब राजपूतों ने इस प्रथा की क्रूरता और भयंकरता स्वीकार न की। प्रत्युत उन्होंने अपने पक्ष-समर्थन के लिए अत्यधिक व्यय और लड़की के बड़ी हो जाने पर अपनी सामाजिक स्थिति और पद-मर्यादा के अनुकूल योग्य वर पाने की कठिनाई का उल्लेख किया। बहुत से तो ऐसे राजपूत थे जो अपने को 'साला'-'ससुरा' कहलाना पसंद न करते थे। वे कन्या को अविवाहित भी न रख सकते थे और न अपने से नीची स्थिति वाले के हाथ में अपनी कन्या का हाथ दे सकते थे। अपने से नीची स्थिति वाले को कन्या देना तो वे बहुत ही बुरा समझते थे। साथ ही उनका यह विश्वास था कि बाल-हत्या भूत-प्रेतादि शक्तियों को ग्राह्य थी। उच्चवंशीय एवं कुलीन राजपूतों में इस विश्वास की अपेक्षा कुल-गर्व ही अधिक था। फलतः उनके यहाँ पुत्रों की संख्या अधिक और कन्याओं की संख्या बहुत कम होती था। राजपूतों की लगभग सभी जातियों में बाल-हत्या की प्रथा प्रचलित थी—विशेष रूप से राजवंशी और गौड़ राजपूतों में। धनकौड़ियों में यह प्रथा बिल्कुल प्रचलित नहीं थी। ब्राह्मण तथा अन्य हिन्दू इस प्रथा को भीषण, घृणित और निंद्य समझते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में यह प्रथा मिटती अवश्य जा रही थी। अँगरेज़ शासकों ने आर्थिक दण्ड, अपने अधीन राजपूतों को समझाने-बुझाने और उनके माध्यम द्वारा अन्य राजपूतों के विचार प्रभावित करने, शास्त्रों के प्रमाण देकर, राजपूतों से प्रतिज्ञा-पत्र भरवा कर आदि विविध साधनों से उसका अंत करने का बहुत-कुछ सफल प्रयास किया। बाल-हत्या रोकने के लिए वे बनारस में १७९५ का रेग्यूलेशन xxi जारी कर चुके थे। प्रसिद्ध फ्रांसीसी प्रकृति-विज्ञान-विशारद, विक्तर जाकूमाँ (Victor Jacquemont) का १८३० में

कहना है : 'The Hindus do not sacrifice their daughters now in order to fulfil their political ambitions, as they used to do under Moghuls'.[1] अवध के नवाब ने भी १५ मई, १८३३ को सती-प्रथा के साथ-साथ बाल-हत्या, आत्म-हत्या, किसी को विकलांग करना या हिजड़ा बनाना आदि प्रथाओं पर भी प्रतिबंध लगा दिया।

आलोच्यकालीन हिन्दू स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं। कोई भी उच्च कुल की स्त्री घर से बाहर पैर न रख सकती थी। घर पर मिलने के लिए आने वाले उन्हें देख तक न सकते थे। वे यह न जानती थीं कि घर से बाहर दुनिया में क्या हो रहा है। अपने पतियों, भाइयों तथा कुटुम्ब के अन्य किसी पुरुष के साथ बैठ कर वे खाना न खा सकती थीं। पुरुष वर्ग के खाना खा लेने के बाद ही भोजन करना उनका धर्म माना जाता था। स्त्रियों के जीवन में परिवर्तन के लिए एक प्रकार से कोई स्थान न था। उच्च श्रेणियों की स्त्रियाँ अन्तःपुर में रहते हुए पुरुष-वर्ग के भोग-विलास का साधन मात्र थी। निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ पर्दे में न रह कर स्वतंत्रतापूर्वक सब जगह आ-जा सकती थीं।

हिन्दुओं में खानपान संबंधी कठोर व्यवस्था थी। एक जाति या धर्म का व्यक्ति दूसरी जाति या धर्म वाले के साथ खा-पी नहीं सकता था। विजातीय या विधर्मावलंबी द्वारा छू भर लेना किसी वस्तु को अपवित्र कर देने के लिए बहुत था। खानपान तथा छूआछूत संबंधी नियंत्रणों के कारण अँगरेज़ शासकों को सैनिक और असैनिक दोनों क्षेत्रों में विविध प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता था। युद्ध के समय भी सैनिक अपने जातिगत और धर्मगत संस्कार न छोड़ पाते थे। अमीर लोग यात्रा करते समय अपने साथ गंगा-जल रखते थे। जेम्स फ़ोर्ब्स ने अपने 'ऑरिएंटल मेम्वायर्स' में उदाहरण देते हुए लिखा है कि एक राजपूत महिला ने अपना सिर काट डालने के लिए अपने पुत्र से केवल इसीलिए प्रार्थना की क्योंकि उसके भोजन पर एक मुसलमान की साया पड़ गई थी। बहुत-से लोग घर से बाहर केवल दूध को छोड़ कर अन्य कोई वस्तु ग्रहण न करते थे। खानपान तथा छूआछूत संबंधी नियम निम्न श्रेणी

१—'एना पोर्ज़ोंक ऐ सोशिएल द लिंद दु नॉर ऑ १८३०......', पृ० १३३

के लोगों तक में प्रचलित थे, यद्यपि वे हिन्दू जो अँगरेजों के यहाँ नौकरी करते थे इन नियमों की अक्सर अवहेलना कर बैठते थे।

इसके अतिरिक्त हिन्दुओं में समुद्र-यात्रा का भी निषेध था। समुद्र-यात्रा करने वाले को प्रायश्चित करना पड़ता था। सूरत से कैम्बे तक जल-मार्ग से यात्रा करने के कारण ही राघोबा को अनेक ब्राह्मणों और धर्म-गुरुओं की भर्त्सना सहन करनी पड़ी थी।[1] उनकी सम्मति में वह धर्म के निश्चित मार्ग से ही विचलित नहीं हुआ था, वरन् उसने एक दैवी नियम का उल्लंघन किया था। समुद्र को वे वरुण के समान ही पवित्र मानते थे।

आलोच्यकालीन हिन्दुओं के दैनिक जीवन में ज्योतिष का भी बहुत बड़ा स्थान था। इस दृष्टि से सामन्ती और अ-सामन्ती वर्गों में कोई भेद नहीं था। यहाँ तक कि मुसलमान भी ज्योतिष में अत्यधिक विश्वास रखते थे। समाज में ज्योतिषियों और भविष्यद्वक्ताओं की भरमार थी। कोई सौदा करने, यात्रा करने, युद्ध में जाने या अन्य कोई विशेष कार्य करने से पूर्व वे ज्योतिषियों से अवश्य मंत्रणा कर लेते थे। सैयद गुलाम हुसेन ख़ाँ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सैरुलमुताख़रीन' में ऐसे अनेक उदाहरण दिए हैं जब कि हिन्दू-मुसलमान सामन्त युद्ध घोषित करने या युद्ध में जाने के लिए ज्योतिषियों के आदेशों का अक्षरशः पालन करते थे। दरवाज़े पर खड़े दुश्मन का मुक़ाबला करने के लिए भी वे पहले ज्योतिषी से सलाह करते थे। बक्सर के युद्ध में जाने से पूर्व शाहआलम और शुजाउद्दौला ने ज्योतिषियों से शुभ मुहूर्त निकलवा लिया था। सूरजमल जाट तथा उसके पुत्र जवाहरसिंह ने भी कई युद्ध के अवसरों पर ऐसा ही किया था। विलियम टेनेंट का कथन है कि १७९७ में अवध के नवाब यदि एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते या कपड़े भी बदलते तो पहले ज्योतिषियों से पूछ लेते थे।[2] लोगों को मुहूर्तों, शुभाशुभ दिनों, जादू-टोनों, कवचों, झाड़-फूँक करने वाले ओझों आदि में बहुत विश्वास था। पशु-पक्षियों के रास्ता काट जाने पर वे शुभाशुभ का विचार करने लगते थे। भूतप्रेतों तथा अन्य प्रकार की शक्तियों का वे आवाहन करते थे। इन तथा ऐसे ही अन्य प्रकार के विश्वासों से सामाजिक जीवन प्रत्येक पल संचालित होता था। समाज को विधि के विधान में पूर्ण आस्था थी।

१—जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ऑरिएंटल मेम्वायर्स', जि० १, लंदन, १८३४, पृ० ३११

२—'इंडियन रिक्रिएशन्स', जि० १, एडिनबरा, १८०३, पृ० २५२

१८४३ के ऐक्ट V के स्वीकृत होने से पूर्व क्रिमिनल लॉ कमिश्नर्स के अनुसार, ब्रिटिश भारत में दास-प्रथा प्रचलित थी। इससे भी पहले १८४१ में सर बार्टिल फ्रेअर (Sir Bartle Frere) की गणना के अनुसार ब्रिटिश भारत में अस्सी और नव्वे लाख के बीच दासों की संख्या थी। दासों का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व न था। उन पर उत्तराधिकार नियम पूर्ण रूप से लागू होते थे। वे ख़रीदे जा सकते थे और बन्धक या किराए पर भी दिए जा सकते थे। दास होते भी कई प्रकार के थे—जातीय, लूट के साथ लाए गए अथवा घरेलू। कर्ज़ न चुका सकने वालों को भी कभी-कभी दासत्व स्वीकार करना पड़ता था। १८४३ के ऐक्ट V द्वारा अँगरेज़ी सरकार ने दास-प्रथा का अंत कर दिया। शाहजहाँनाबाद (दिल्ली) में भी यह घोषणा सुनाई गई थी।

आलोच्यकालीन समाज में प्रधान शासक से लेकर छोटे-छोटे ज़मींदारों तक में स्वेच्छाचारिता का यथेष्ट प्रचार था। ब्राह्मणों और साहूकार-ज़मींदारों और सिंहासन पर बैठने वालों में कोई भी इस प्रवृत्ति से मुक्त न था। जो जितना ऊँचा था वह अपने से नीचे वाले के साथ उतनी अधिक स्वेच्छाचारिता के साथ व्यवहार करता था। नीचे के लोग अपने को सुरक्षित न समझ पाते थे। धन-जन, वाणिज्य-व्यवसाय आदि कभी भी संकट में पड़ सकते थे। आलोच्यकालीन राजनीतिक अराजकता के कारण यह स्वेच्छाचारिता पहले से भी अधिक बढ़ गई थी, उसमें कम-से-कम कमी किसी प्रकार की न हुई थी। यह प्रवृत्ति केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी, वरन् धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों तक में उसका व्यवहार होता था। किन्तु परम्परा और संस्कारों तथा एक विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन होने के कारण सब-कुछ चुपचाप सहन करने में ही लोग अपना हित समझते थे। उच्चपद-प्राप्त व्यक्तियों की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण लगाने वाली कोई शक्ति न थी। उधर पिंडारियों और ठगों से भी समाज पीड़ित था।

शिक्षा की दृष्टि से भी समाज में परंपरा-निर्वाह उसकी विशेषता थी। निम्न वर्णों के बच्चों को अधिक-से-अधिक केवल लिखना-पढ़ना और पैत्रिक व्यवसाय की शिक्षा दी जाती थी। लिखना-पढ़ना सीखने के लिए पास की कोई पाठशाला काफ़ी थी और पैत्रिक व्यवसाय की शिक्षा अधिकतर घर पर ही दी जाती थी। ब्राह्मण-पुत्र ज्योतिष, धार्मिक ग्रन्थों, शास्त्रीय विधान आदि का अध्ययन करते थे। शिक्षक अधिकतर ब्राह्मण ही होते थे। काशी में

साहित्य, आयुर्वेद, ज्ञान-विज्ञानादि का पठन-पाठन होता था, किन्तु उससे लाभ उठाने का अधिकार सभी वर्णों को नहीं था। ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य उच्च वर्णों के कुछ लोग कुछ ही विषयों का अध्ययन कर सकते थे। निम्न वर्ग के लोगों को किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। अँगरेज़ी राज्य के अंतर्गत जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के साथ-साथ शिक्षा-विधि में भी परिवर्तन की आवश्यकता थी, किन्तु समाज ने इस प्रकार की कोई चेतना प्रदर्शित न की। वह अपने परंपरागत मार्ग पर चलता रहा। समाज ने अपनी प्राचीन शिक्षा-विधि स्वयं न बदली। उसका अंत तो अँगरेज़ शासकों द्वारा स्थापित नवीन शिक्षा-संस्थाओं द्वारा होना था। आलोच्य काल में स्त्री-शिक्षा का भी प्रचार न था। बौद्धिक जीवन स्त्रियों के लिए उपयुक्त समझा ही न जाता था। पत्नीत्व, मातृत्व, और अपने को विविध अलंकारों एवं आभूषणों से सुसज्जित करना ही उनके जीवन के प्रधान उद्देश्य थे। घरेलू काम-काज करने की शिक्षा उन्हें बड़ी-बूढ़ियों की देखरेख में घर पर ही मिल जाती थी।

अस्तु, अँगरेज़ी शासन स्थापित होने के समय और उसके अंतर्गत हिन्दी प्रदेश का सामाजिक जीवन अनेक कट्टर, गतिहीन, रूढ़िबद्ध, असामाजिक और अनुदार अंध-विश्वासों, कुरीतियों और कुप्रथाओं से भरा हुआ था। समाज उस तालाब की भाँति था जिसके जल की उन्मुक्त गति अवरुद्ध हो गई थी और फलतः जिसका पानी सड़कर नाना प्रकार के विकार उत्पन्न कर रहा था। सड़ा पानी निकाल कर तथा स्वच्छ जल भरने वाला कोई न था। शायद सड़े पानी के निकास का रास्ता ही लोग भूल गए थे। समाज में अविद्या का अंधकार चारों ओर फैला हुआ था। पूरी सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था अज्ञान-गर्त में डूबे हुए ब्राह्मणों और पंडों-पुजारियों के हाथ में थी। लोग आए दिन 'कला' और 'विज्ञान' में सयाने प्रवंचकों के शिकार बनते थे। ज्ञान का 'प्रकाश' कुछ ही लोगों तक सीमित था और ये लोग भी अपने जीवन-निर्वाह के लिए परमुखापेक्षी थे। परम्परागत और वंशगत शिक्षा द्वारा लोग नवीन उद्योग-धंधों और मशीनों के प्रति बहुत दिनों तक उदासीन रहे और फलतः उनका दृष्टिकोण सीमित और संकुचित बना रहा। पतित सामन्तवादी प्रथा के बोझ के कारण समाज वैसे ही दबा हुआ पड़ा था। ब्राह्मण शिक्षा प्राप्त करते थे, शास्त्रीय ग्रंथों की कुंजी उनके हाथ में थी और सामन्त और सेठ-साहूकार उन्हें आश्रय प्रदान करने वाले थे और ये सब गतिहीन और परंपरा-प्रिय थे। वे न तो स्वयं बदले और न उनका नेतृत्व स्वीकार करने वालों को

बदलने का अवसर और साधन ही था। सामन्तों और सेठ-साहूकारों के अतिरिक्त समाज में और कोई आश्रय प्रदान करने वाला वर्ग न था। एक प्रकार से संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था निश्चेष्ट और जड़ हो गई थी। इन सब कारणों से साहित्य भी जो संपूर्ण जीवन की ही चरम अभिव्यक्ति है, जहाँ का तहाँ पड़ा रहा। विषयों का चयन और रचना शैली भी सीमित और परंपराविहित एवं रूढ़िग्रस्त बनी-रही। उनमें कोई नवीनता प्रदर्शित न हो सकी। ईसाई पादरियों के लाख कहने पर भी कंपनी सरकार ने भारतीय सामाजिक और धार्मिक जीवन से हाथ न लगाया। उसे विप्लव हो जाने का भय था। फलतः साहित्य ही नहीं, चित्रकला, वास्तु-कला तथा कला के अन्य सभी रूप उन्हें जन्म देने वाले समाज के प्रतिबिंब मात्र हैं। जहाँ-जहाँ जीवन नवीनता के सम्पर्क में आया वहीं-वहीं साहित्य और कला में भी नवीनता उत्पन्न हुई, इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश में सृजनात्मक और नई नवनवोन्मेषशालिनी शक्ति का अभाव हो गया था। शिक्षण-संस्थाएँ अनेक थीं, किन्तु वे परंपराबद्ध थीं और उनकी पद्धति समयानुकूल न रह गई थी। प्रतिभाशाली व्यक्तियों और उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाओं का भी अभाव न था। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी भारतीय-इस्लामी सभ्यता और संस्कृति में घुन लग गया था जिसका प्रभाव केवल राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में नहीं, वरन् जीवन के अन्य रचनात्मक क्षेत्रों में भी दृष्टिगोचर हो रहा था। भारतीय-इस्लामी सभ्यता और संस्कृति के सूर्य का मध्यान्ह काल बीत चुका था और अब वह अस्ताचल की ओर जा चुका था। आर्थिक परिस्थिति डाँवाडोल हो चुकी थी। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में कट्टरता, अनुदारता, संकीर्णता और कूप-मण्डूकता का प्रचार था। सामाजिक संगठन वर्ण-व्यवस्था के जटिल बंधनों से जकड़ा हुआ और समुद्र-यात्रा पर प्रतिबंध लगा हुआ था। भारतवर्ष से बाहर क्या हो रहा है, लोगों को इसका कोई ज्ञान न था। जीवन पृथक्-पृथक् और निश्चित टुकड़ियों में बँटा हुआ था और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने नियत और स्थिर कर्त्तव्य-पालन में लगा रहता था, उसे दूसरे व्यक्तियों से कुछ भी मतलब न था। निम्न वर्ग शिक्षा और विकासोपयुक्त अवसरों से हीन थे। वास्तव में वर्ग-व्यवस्था और सम्मिलित कुटुंब-प्रथा ने भारतीय समाज को संगठन, शक्ति और संकटकालीन परिस्थितियों में अपने को सुरक्षित बनाए रखने की क्षमता प्रदान की थी, किन्तु आलोच्यकालीन परिस्थितियों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ये बातें उत्तरोत्तर

विकास और व्यापक एवं सामूहिक सामजिक संगठन के मार्ग में बाधक भी सिद्ध हुईं। संक्षेप में, हिन्दी प्रदेश का सामान्य जीवन, कुछ अपवाद छोड़ कर, प्रसारोन्मुख एवं विकासोन्मुख होने के स्थान पर सिकुड़ कर अपनी गत्यात्मकता खो बैठा था और इसीलिए जीवन की चौमुखी अवनति हुई। राजनीतिक स्वतंत्रता के नष्ट होने के साथ-साथ दार्शनिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, कलात्मक, युद्ध-विद्या-संबंधी आदि सभी प्रकार की अवनति हुई। लोगों को अपने चारों ओर बनाई हुई तंग दुनिया से बाहर की दुनिया के साथ संपर्क और उसका ज्ञान एक प्रकार से शून्य था। ईस्ट इंडिया कंपनी को 'सकलगुणनिधान महाराज कंपनी बहादुर' समझना, उसके विधान, संचालन, इँगलैंड के मंत्रि-मंडल के साथ उसका संबंध आदि के बारे में ज्ञान न होना ये बातें इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं। अतीत के साथ समुचित और विवेक पूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना कभी हानिकारक सिद्ध नहीं हो सकता, किंतु अतीत के खूँटे से बँध जाना प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करना है। प्राचीन भग्नावशेषों की नींव पर नवीन प्रासाद निर्मित करना तो सर्वथा श्लाघनीय है, किन्तु उन्हीं में पड़े रह कर जीवन व्यतीत करना निंदनीय और गर्हित ही समझा जायगा। आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश का जीवन एक विस्तृत ध्वंसावशेष के रूप में था। आवश्यकता झाड़-झंखाड़ और मलवा हटा कर नई इमारत बनाने की थी। और इस आवश्यकता की पूर्ति के चिन्ह भी प्रकट होने लगे थे। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि नवीन प्रभाव ग्रहण करने में भारतवासियों ने देर भले ही की हो, किन्तु सदैव के लिए उनसे विमुख नहीं रहे। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन भी इसी प्रवृत्ति के कारण जन्म ले सका था। आलोच्यकालीन समाज यद्यपि अज्ञान, अविद्या, अंधविश्वास, रूढ़ियों और कुरीतियों एवं कुप्रथाओं से संवेष्टित था, किन्तु तो भी हिन्दी भाषा-भाषी, अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा, यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के संपर्क में आने लगे थे जो परंपरा के विरुद्ध एक नवीन भविष्य का परिचायक था। हिन्दीभाषियों में रूढ़िप्रियता और अपरिवर्तनशीलता थी अवश्य, किन्तु वह अटल न थी। यदि भारतीय जीवन में अटल अपरिवर्तनशीलता होती तो उसका अस्तित्व ही कभी का मिट गया होता। नितांत भिन्न यूरोपीय सभ्यता के प्रति प्रारंभ में बहुत दिनों तक हिन्दीभाषियों को आशंका बनी रही और तत्कालीन संकटापन्न परिस्थिति में अपने परंपरागत जीवन से उनका चिपका रहना स्वाभाविक भी था, किन्तु अँगरेज़ों की इच्छा न रहने पर भी, आलोच्य काल में ही हमें ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जब कि परंपरा का मोह छोड़ कर

कुछ दूरदर्शी लोग नवीन ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन की ओर उन्मुख हो तथा हिन्दी जीवन को अधिक उदार और उन्मुक्त बना कर उसका भावी मार्ग प्रशस्त और सुदृढ़ करना चाहते थे। ऐसे लोगों की संख्या न्यूनातिन्यून अवश्य थी, किंतु एक यही तथ्य कि ऐसे भी लोग थे क्या कम है। वे घनान्धकार में प्रकाश की क्षीण ज्योति के समान और भविष्य के लिए आशा-संबल थे[१]।

---

[१]—'But the customs, habits and prejudices of the Hindus were very much misunderstood by most of the European writers. The period which followed the establishment of British rule in India shows that the unchangeableness of the Hindus was greatly exaggerated...There was a degree of intercourse maintained between India and England. And some of the high class Indians knew about what passed in England and Europe. They came in contact with the European travellers, soldiers and missionaries. This increased their inquisitiveness. Most of the English adminstrators thought of keeping Indians in ignorance and continue to govern them as they were. They were far from the reality. The Indians were knowing and trying to preparing themselves to assert themselves when the time for trial came. They were acquiring knowledge for themselves. The youth had already begun to study western sciences, though orientalists among the rulers wanted them to have as little time as possible for such pursuits and wanted them to devote their time solely to the study of Sanscrit and allied subjects. In 1824, though the Sanscrit College, Benares was lecturing on the antiquated astronomical system after the Ptolemy and Albunazar, and most forward boys were taking pains of casting horoscopes and studying Sanscrit grammar, there was another College in the same city, founded by a wealthy Hindu banker and entrusted by him to the Church Missionary Society, in which besides a grammatical knowledge of the Hindoostanee, as well as Persian and Arabic, the senior boys passed examinations in English grammar, Hume's History of England, Joyce's Scientific Dialogues, the use of the globes and the principal facts and moral precepts of the Gospel, most of them writing beautifully in Persian and very tolerably in the English

प्रस्तुत पुस्तक के 'साहित्यिक प्रतिक्रिया' शीर्षक भाग में यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है कि तत्कालीन चौमुखी अवनति और अप्रगति के कारण शताब्दियों की परंपरा से चला आ रहा हिन्दी का काव्य-रूप किस प्रकार रूढ़ि-ग्रस्त बना पड़ा रहा; भाषा, भाव और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से उसने कोई नवीनता, कोई ताज़गी, प्रकट न की। उसमें बासीपन बना रहा। और, जैसा कि अगले अध्याय में दिखाया जायगा, अँगरेज़ शासकों ने हिन्दी काव्य को ही क्या भारतीय कला और साहित्य के किसी भी रूप को आश्रय प्रदान न किया। परिवर्तित राजनीतिक, शिक्षा-संबंधी, शासन-संबंधी आदि परिस्थितियों, वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचार और पाश्चात्य प्रभाव के कारण केवल गद्य का क्रमबद्ध रूप में सृजन हो सका। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में यह पहली बार संभव हुआ।

---

character, and excelling most boys in the accuracy and readiness of their arithmetic. The English officer in charge of the Benares Vidyalaya was a clever and candid youngman who looked forward to much improvement...Even among Muslims, who though outshined the Hindus in ostentation and lacked in the acquirement of knowledge, had shown some disposition to learn the English language...'

—रेजीनाल्ड हेबर : 'नैरेटिव ऑव ए जर्नी...', जि० ३, १८२८, पृ० २५१-२५२, ३५२, ३५४, ३५९-३६०...

(यह स्मरण रखना चाहिए कि हेबर महोदय उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में भारत आने वाले अत्यन्त प्रसिद्ध ईसाई मिशनरियों में से एक थे।)

४

अँगरेज़ और उनका हिन्दी प्रदेश पर प्रभाव

आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश की जिन राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है उनसे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि उसका अतीत जितना महान् था उतना ही अधिक उसका पतन हुआ था। विद्रोह, विप्लव संघर्ष, अस्थायित्व, जीवन की विकारोत्पादक अप्रवहमान गति, धन-क्षय आदि पतन के भीषण दृश्यों का किसी न किसी परिवर्तित रूप में अन्त होना अनिवार्य था। यूरोप से आए हुए विदेशी भारतीय जीवन का यह काण्ड अच्छी तरह से देख रहे थे और विभिन्न परिस्थितियों के बीच पड़ कर उन्होंने देश में अपना एकछत्र शासन स्थापित कर लिया—जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा पीछे दी जा चुकी है।

अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जब अपनी थोड़ी-बहुत राजनीतिक सत्ता स्थापित कर ली तो इँगलैंड के राजनीतिज्ञों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ। कम्पनी की उत्तरोत्तर विस्तृत होने वाली राज्य-सीमा की शासन-संबंधी, शिक्षा-संबंधी तथा अन्य आवश्यकताओं के फलस्वरूप उसने समय-समय पर, अपनी विचार-पद्धति के अनुसार, जो अंततः चाहे हानिकारक या लाभदायक सिद्ध हुई हो, अनेक परिवर्तन और नवीन नियम तथा विधान प्रस्तुत किए। इस प्रकार देश में एक ऐसी शासन-प्रणाली का प्रचार हुआ जिससे यहाँ के निवासी पूर्व-परिचित नहीं थे तथा जिसका, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, उनके जीवन और विचारों, और फलतः साहित्य, पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। प्रारंभ में ये नियम और विधान कम्पनी के अपने आंतरिक दोष दूर करने के लिए बनाए गए थे, किन्तु बाद में, राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के साथ-साथ, देश का शासन सुचारु रूप में संचालित करने के लिए भी विविध प्रकार के अनेक सुधार उपस्थित किए गए; किन्तु दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है।

हिन्दी प्रदेश के शासन तथा हिन्दी भाषा-भाषियों का नवीन क्रम से जीवन संचालित करने की दृष्टि से, कम्पनी के शासनान्तर्गत, सर्वप्रथम विभिन्न चार्टर ऐक्टों का उल्लेख करना आवश्यक है। कंपनी के शासन-काल में ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत १७७३, १७८४, १७९३, १८१३, १८३३ और १८५३ के चार्टर ऐक्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहले दो लॉर्ड नॉर्थ के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट और पिट ऐक्ट के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनके अंतर्गत ईस्ट इंडिया कंपनी की भारत और यूरोप में सुव्यवस्था तथा अन्य दोष दूर करने के उपाय निर्धारित किए गए और इँगलैंड में बोर्ड ऑव कन्ट्रोल की स्थापना की गई। इन विभिन्न चार्टर ऐक्टों के अंतर्गत गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल के अधिकार और कार्य-क्षेत्र निश्चित किए गए, कंपनी का व्यापारिक रूप उत्तरोत्तर कम किया गया, उसका व्यावसायिक एकाधिपत्य कम किया गया। चार्टर ऐक्टों के अतिरिक्त भारत में ही अनेक नवीन विधान प्रस्तुत हुए, जैसे रेग्यूलेशन और नॉन-रेग्यूलेशन प्रांतों के लिए विविध नियम (विशेषतः १८३३ के ३ और ४-फ़ोर्ट विलियम iv, सी० ८५—१८३६, १८५३) निर्मित हुए, कॉर्नवालिस तथा उनके बाद आने वाले गवर्नर-जनरलों की अध्यक्षता में कॉविनंन्टेड सिविल सर्विस के कर्मचारियों की नौकरी, आचरण आदि के सम्बन्ध में नियम बनाए गए, न्याय-शासन और दीवानी तथा निज़ामत अदालतों (१७७१, १७७२, १७-७३, १७८०, १७८१, १७९३, १७९७, १८००, १८०७, १८३३, १८३७, १८४३ और १८५३) का सगठन और न्याय-पद्धति की आधुनिक प्रणाली की स्थापना हुई, मालगुज़ारी-सम्बन्धी सुधार (१७९३, १७९५, १८२२, १८३३, १८४३-१८५३) हुए, कंपनी का वाणिज्य-व्यवसाय बढ़ाने के लिए अनेक सुधारों और नवीन नियमों का निर्माण किया गया, चुंगियों की व्यवस्था और शासन (१८४२, १८५०) स्थापित हुआ, नहरों का निर्माण और सिंचाई की अन्य आयोजनाएँ (१८५०, १८५४) बनाई गईं, रेलों का निर्माण हुआ[1] (१८५३ और उसके बाद), सड़कें बनी (१८४३, १८५३), रुड़की

१—१८४५ में कोर्ट के डाइरेक्टरों का ध्यान भारत में रेल-निर्माण की ओर सर्वप्रथम गया था। उस समय सैनिक तथा शासन-सम्बन्धी समस्याएँ उनके सामने थीं। किन्तु कोर्ट के इस निर्णय से हिन्दी प्रदेश में रेलों का निर्माण न होकर ईस्ट इंडिया रेलवे कंपनी द्वारा कलकत्ते (हावड़ा) से रानीगंज (१२० मील) तक सबसे पहली रेलवे लाइन बनी; दूसरी ग्रेट इंडियन पेनिन्सुला रेलवे कंपनी द्वारा बंबई से कल्यान तक (३३ मील), और

के टॉमसन कॉलेज की स्थापना (१८४८) हुई, डाकख़ाने (१८३७, १८५०, १८५४) और तारघर [1] (१८५१, १८५३, १८५५, १८५७) स्थापित किए गए तथा सार्वजनिक निर्माण, सेना, जहाज़, पुलीस, जेल, चिकित्सा, अस्पताल, नगरों की सफ़ाई, अर्थ-प्रबंध, सिक्का, बैंकिंग, बीमा आदि सम्बन्धी नियम बनाए गए। १८१८,१८२३ और १८३५ में प्रेस-सम्बन्धी नियम बनाए गए। हिन्दी प्रदेश में तो १८३५ के बाद ही प्रेस स्थापित हुआ था। इस सम्बन्ध में कंपनी की नीति अधिक प्रोत्साहन देनेवाली नहीं थी। प्रारंभिक प्रेस-सम्बन्धी नियम तो कुछ अपमानजनक भी थे। आलोच्य काल में कई शिक्षा-संस्थाएँ तथा आयोजनाएँ भी (नवीन शिक्षा के लिए) प्रचलित हुईं, जैसे, बनारस कॉलेज (१७९१), कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (१८१७), आगरा कॉलेज (१८२३), आगरा स्कूल बुक सोसायटी (१८३७), दिल्ली कॉलेज, कलकत्ता मेडीकल कॉलेज (१८३५), १८१३ का पार्लियामेंट ऐक्ट, मैकॉले की आयोजना (१८३५), सर चार्ल्स वुड की शिक्षा आयोजना (१८५४) और कलकत्ता, बंबई और मद्रास विश्वविद्यालयों (१८५७) की स्थापना, आदि। यद्यपि ईस्ट इंडिया कंपनी भारतीय जीवन के धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों के प्रति, राजनीतिक कारणों से, उदासीनता ग्रहण किए रही [2], तो भी समय-समय पर धार्मिक और सामाजिक

सुधारों के लिए उसे कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता था—या तो नव-शिक्षित समाज के मत के प्रभावांतर्गत [१] अथवा यदि किसी रीति या प्रथा की कुत्सितता बहुत ही बढ़ जाती थी। १८१३ में पार्लियामेंट ने इस सम्बन्ध में एक ऐक्ट स्वीकार भी किया था। कंपनी ने १७९५ में बाल-हत्या (बनारस), १८१० में बाहर से दास बुलाना, १८२९ में सती-प्रथा, १८३१ में दासों की स्वतंत्रता, १८४३ में भारतीय दास-प्रथा, १८५० में वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी कठिनाइयों के दूर करने, १८५६ में विधवा पुनर्विवाह, और ठगी, नर-बलि आदि के सम्बन्ध में अनेक ऐक्ट और नियम स्वीकृत किए।

---

absurd practices. This attitude of the British Government put obstacles in the way of European missionaries. Once a Brahmin said to a preaching missionary: 'Who are you, that come here to find fault with our religion ? What may be your name? Is not this temple (pointing to one) supported by the British Government ? The Brahmins, the priests, the dancing women, and all the attendants upon the altar, do they not receive their monthly allowance from the public treasury ? The endowments, the internal economy, the times of worship and the celebration of the festivals, are they not all under the care and superintendence of the (government) collectors ? Do not European ladies and gentlemen make presents to the god ?'....—जी० डब्ल्यू० जॉनसन : 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', जि० १, लंदन, १८४३, पृ० १४१-१४२

१—'The Hindus who had received English education considered themselves to have escaped from the 'degrading superstitions of Hinduism.' Due to inception of English education many of the tortuous practices displayed in the name of religion were being gradually abhored. They loudly clamoured for the abolition of brutal religious practices. The old superstitions failed to awaken religious terpidation in the hearts of those who had begun to question the infallibility of the Shastras and who did no longer believe in superiority of the Indian religious heirarchy....'

—जी० डब्ल्यू० जॉन्सन : 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', जि० १, लंदन, १८४३, पृ० १९०

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-विकास, सार्वजनिक आयोजनाओं और विविध सुधारों की उपर्युक्त संक्षिप्त रूपरेखा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने सौ वर्ष के इतिहास में हिन्दी भाषा-भाषियों के हित और उनकी प्रगति के लिए, हिन्दी प्रदेश के उद्योग-धंधों, वाणिज्य-व्यवसाय की उन्नति और उसमें वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रचार और यंत्र-युग तथा यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के लिए कितना कम कार्य कर सकी। इन सब बातों के प्रचार से ही यूरोप उन्नति-पथ पर अग्रसर हो सका था और उसी प्रकार हिन्दी प्रदेश में भी नव जीवन का संचार हो सकता था। किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस सम्बन्ध में कोई विशेष प्रयत्न न किया। उपर्युक्त तिथियों तथा इतिहास से यह ज्ञात होता है कि १८१८ तक तो कम्पनी हिन्दी प्रदेश में विजय प्राप्त करने में लगी रही। १८१८ में राजपूताना के नरेशों ने आत्म-समर्पण किया था। १८२६-२७ में भरतपुर के क़िले की विजय और अन्त में १८५७ में अवध का अँगरेज़ी राज्य में मिलाया जाना दो अन्य महत्त्वपूर्ण तिथियाँ तथा ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। किन्तु जहाँ तक हिन्दी प्रदेश पर अँगरेज़ी प्रभुत्व स्थापित होने से सम्बन्ध है १७६४ और १८१८ के बीच का समय ही उग्र राजनीतिक संघर्षों और तीव्र परिवर्तनों का समय है। ऐसे समय में अँगरेज़, स्पष्ट है, सांस्कृतिक विषयों की ओर अधिक ध्यान न दे सकते थे। उसके बाद बहुत दिनों तक वे विजित प्रदेशों को संगठित तथा सुव्यवस्थित करने में लगे रहे। कम्पनी ने जो कुछ थोड़ा-बहुत किया भी वह आलोच्य काल के लगभग अंत में किया और फलतः हिन्दी प्रदेश का जीवन, आलोच्य काल में, अपने परंपराविहित जीवन से कोई अधिक भिन्न रूप धारण न कर सका।[1] विविध

१—'With regard, however, to the British power in India, the period of fairly ascertaining the nature of its influence on the natives, is (according to the opinion of some) hardly yet arrived. Forty years have scarcely elapsed since we first enjoyed the quiet possession of almost any portion of our Indian territory; a period, perhaps, too short fairly to judge of the nature and effects of any government, on the comfort and improvement of its subjects.

'That era, when it arrived at full maturity and vigour, and when it consequently possessed a complete ascendency and control over the politics of India, could alone display its

सुधारवादी नियम और परिवर्तन जीवन-परिधि के कहीं-कहीं किनारे मात्र छू पाए थे, अन्यथा जीवन जैसा का तैसा बना रहा। प्रेस और नवशिक्षा के प्रचार से केवल गद्य-क्षेत्र में हमें नवीनता और उसका प्रथम क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। व्यापक और सम्यक् रूप से देखने पर हिन्दी प्रदेश भाव, विचार, जीवन-क्रम, और फलतः साहित्य की दृष्टि से गतिहीन बना रहा। इसके अतिरिक्त मनुष्य मात्र का पुरातनत्व के प्रति मोह भी हिन्दी प्रदेश के जीवन की अपरिवर्तनशीलता का एक प्रधान कारण था।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि लगभग पचास वर्षों से भी अधिक की अराजकता, अव्यवस्था, निरंतर युद्ध-विग्रह, लूटमार, रक्तपात आदि के बाद हिन्दी भाषा-भाषियों को ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्यांतर्गत सुख और शांति—कम-से-कम बाह्य दृष्टि से—प्राप्त हुई थी। आलोच्य काल के प्रसिद्ध भारतीय इतिहास-लेखक सैयद गुलाम हुसेन ख़ाँ ने यह बात मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है कि केवल युद्ध-विद्या और पारस्परिक ऐक्य की दृष्टि से ही नहीं, वरन् शासन-कला की दृष्टि से भी अँगरेज़ भारतवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़े-चढ़े थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य में लोग कम-से-कम एक दृष्टि से अवश्य सुखी

---

genuine effects, and determine the true nature of its influence. Previous to this period it had to contend for its defence and self-preservation, amidst the surrounding hostility of semi-barbarous states; it was then also cramped and fettered in forming its internal arrangements, for the peace and security of its own subjects; it was often interrupted and disturbed in its plans by contiguous anarchy, constantly perpetuated by the ferocious turbulence of neighbouring chiefs. In estimating, therefore, the improvements that have been made by the British government on the condition of India, we must state in the account, the feebleness of its power after its first establishment, and the recent nature of many of its provisions, which will often justly explain the small progress that sometimes appears to have been made in accomplishing its ends.'

—विलियम टेनेंट : 'थॉट्स ऑन दि इफ़ेक्ट्स ऑव दि ब्रिटिश गवर्नमेंट ऑन दि स्टेट ऑव इंडिया', एडिनबरा, १८०७, पृ० ३

थे अर्थात् क़ानूनी व्यवस्था, स्वेच्छाचारिता का अभाव, जीवन तथा धन-संपत्ति की सुरक्षा, धार्मिक तथा सामाजिक हस्तक्षेप का अभाव, टीकों तथा यूरोपीय चिकित्साशास्त्र के सुखों, सार्वजनिक निर्माण-आयोजनाओं, शिक्षा आदि की दृष्टि से। किसानों, कारीगरों और व्यापारियों[1] ने इस परिवर्तन का स्वागत किया, क्योंकि ऐसे ही वातावरण में वे पनप सकते थे। इसीलिए अनेक किसानों, कारीगरों और व्यापारियों ने भारतीय नरेशों द्वारा शासित अराजकतापूर्ण राज्य छोड़ कर कम्पनी द्वारा शासित शान्तिपूर्ण भूमिभागों में शरण ली। साथ ही जिन नरेशों, ज़मींदारों, नवाबों और रईसों को अँगरेज़ों की छत्रछाया में रहने को मिला उन्होंने नवीन राजनीतिक व्यवस्था पसंद की। भारतीय सामंतों द्वारा लिखे गए अनेक ऐसे पत्र उपलब्ध हैं जिन्होंने मरहठों से परेशान हो कर अँगरेज़ों से शरण की भीख माँगी और निस्संदेह अँगरेज़ों ने अपनी शर्तों पर उन्हें शरण भी दी।

किन्तु आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश के जीवन का यह एक पक्ष है। उसका एक दूसरा पक्ष भी था जो बहुत अधिक उज्ज्वल नहीं है।[2] सबसे पहली बात तो यह है कि सैनिकों तथा सामंतों की एक बहुत बड़ी संख्या ऐसी थी जिनमें देश-प्रेम और आत्म-गौरव की उत्कट भावना थी और जिन्हें अपनी स्वतंत्रता का अपहरण हो जाने पर हार्दिक सन्ताप था। ऐसे सैनिक और सामन्त छोटे-बड़े सभी प्रकार के थे। साथ ही कम्पनी के राज्यांतर्गत स्थापित नई अदालतें,

---

१—'There is no class of men more interested in the stability of our rule in India than this of the respectable merchants; nor is there any upon whom the welfare of our Government and that of the people more depend....'

—मेजर स्लीमैन : 'रैम्बिल्स एँड रिकलेक्शन्स', लंदन, १९१५, पृ० ४०९

२—'...the Asiatic conquerors had soon abated of their ferocity; and the short life of man had been sufficient to repair the waste they had occasioned. But with the English the case was entirely different; their conquests were still in the state they had been in twenty years ago. They had no more society with the people than if they still resided in England; but with the view of making fortunes, rolled in, one after another, wave after wave; so that there was nothing before the eyes of the natives, but an endless flight of birds of prey and passage, with

जिनमें उच्च और निम्न सभी श्रेणियों के लोगों को उपस्थित होना पड़ता था, और नवीन न्याय-प्रणाली समाज के उच्च श्रेणी के लोगों को बिल्कुल अच्छी न लगती थी।[१] अदालत में उपस्थित होना वे अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते थे। ऐसी व्यवस्था से वे पहले कभी परिचित न थे। इसके अतिरिक्त कम्पनी राज्य में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोणों से मुसलमानों की अत्यधिक क्षति हुई थी।[२] एक प्रकार से उनका सांस्कृतिक ह्रास

---

appetites continually renewing for a good that was continually wasting. With us there were no retributary superstitions, by which a foundation of charity compensated for ages to the poor, for the injuries and rapine of a day.

'With us no pride erected stately monuments, which repaired the mischiefs pride had occasioned and adorned the country out of its own spoils: England had erected no churches, no hospitals, no palaces, no schools: England had built no bridges, made no high-ways, cut no navigations, dug no reservoirs. Every other conqueror of every other description, had left some monument of state or of beneficience behind him; but were we to be driven out of India this day nothing would remain to tell us that it had been possessed, during the inglorious period of our dominion, by anything better than the Ourang Outang or the tiger.'—फ़ॉक्स के इंडिया बिल पर दिए गए बर्क के भाषण से

१—'One of the grievances which the high class Indians had against the British rule was the uniform law for all—rich and poor. The rich people did not like to come to the court, appear in a dock, bow down before the court and undergo other necessary processes. They admired alright that a British judge did not observe caste rules and meted out justice to all. But they themselves feel disgraced when asked to appear before the court'—जी० डब्ल्यू० जॉनसन : 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', जि० १, पृ० २०३-२०४

२—'Many of the younger Muslims of rank had been left with no chances of advancement either in the army or in the state. They either sank into sots, or became decoits and rebels. The Company did not have any army corps commanded by

हो गया था या हो रहा था। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमानों में वाहबी आंदोलन का जन्म हुआ। इस आंदोलन के प्रवर्तकों ने मुसलमानों में इस्लामी विशुद्धता और कट्टरता की भावना उत्पन्न की। फिर नील की खेती करने वालों पर किए गए अत्याचार, निम्न श्रेणी के यूरोपियनों का धृष्ट व्यवहार, कम्पनी के सिविल और सैनिक कर्मचारियों की उद्दण्डता,[1] दिल्ली के वयोवृद्ध

---

them. Their rspectability and comforts were on the decay'—रेजीनाल्ड हेवर : 'नैरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्रॉविन्सेज़ ऑव इंडिया., १८२४—१८२५', जि० ३, पृ० २९८

१. आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश में अनेक अँगरेज़ रहते थे। उनके संबंध में रेजीनाल्ड हेवर का कहना है :

'They always quarrelled with and oppressed the natives and did much to sink English character in the native eyes. The conduct of the lower order of Europeans in India was such as to show the absurdity of the system of free colonization. The English society generally composed of merchants and officers. Each of the civil station had a little English society within—the Judge, the Collector, the Registrar, the Station Surgeon and the Postmaster. The military stations were full of military officers, camps, hospitals etc. and church chaplains. Neither the civil nor military officers had much contact with the people, though between officers and magistrates of a certain rank, and the natives of distinction, there was occasional inter-change of visits and civilities......And though they were honest in discharging their duties, the Company government was not generally popular, nor was advancing towards popularity. There were causes of it. One of these was the distance and haughtiness with which a very large proportion of the civil and military servants of the Company treated the upper and middle classes of the natives. Against their mixing the English society, there were certainly many hindrances, though even their 'objection to eating, as far as the Muslims were concerned, could be conquered in the right way. But there were some amusements, as private theatrical entertainments and the sports of the field in which the Indians would

सम्राट्[1] और अवध के नवाब के प्रति लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ का अनुचित व्यवहार, मिशनरियों द्वारा भारतीय धर्म पर किए गए प्रहार, भारतवासियों में सांस्कृतिक आशंका, भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय नष्ट करने वाली सरकारी नीति, अनेक कर, हिन्दी प्रदेश की बढ़ती हुई निर्धनता, नवीन और प्राचीन शासन प्रणालियों का अजीब और असुविधाजनक मिश्रण आदि बातें ऐसी थीं जो लोगों में उत्तेजना पैदा कर रही थीं। ऐसे अवसरों पर या ये बातें सोच कर लोग लहू का घूँट पीकर रह जाते थे। कुछ कर सकने के लिए वे असमर्थ थे। कम्पनी सरकार अत्याचारी थी। वह बल-प्रयोग में विश्वास रखती थी। वह लोकप्रिय न रह गई थी। फलतः लखनऊ, कानपुर, बनारस तथा अन्य बड़े-बड़े शहरों में यूरोपीय यात्रिओं ने अपने को अराजकतापूर्ण परिस्थिति में पाया। इन शहरों में यूरोपियनों और भारतवासियों में झगड़े भी हो जाया करते थे। यूरोपियन और ईसाई, इन नामों

---

have delighted to share, and invitations to which would have flattered them much. The French under Perron and Des-Boignes lived on easy and friendly intercourse with the natives of the rank in Agra and the Doab. Then, the foolish pride of the English absolutely led them to set at nought the injunctions of their own government. The Tasildars and Subadars were not offered chairs. There were hardly a few English collectors who observed this etiquette. Such Indian officers felt aggrieved every time these civilities were neglected. Men of old families, were kept out of their former situations by this and other such slights, and all the natives. endeavoured to indemnify themselves for these omissions on our part by many little pieces of ruden ss which was daily increasing'

—'नैरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्रॉविन्सेज़ ऑव इंडिया...१८२४—१८२५', जि० १, १८२८, पृ० ३३४—३३८ से संकलित किया गया।

१—'It is, however, thought that the natives do not really like us, and that if a fair opportunity offered, the Mussalmans, more particularly, would gladly avail themselves of it to rise against us. But this is from political, not religious, feeling; and it has increased of late years by the conduct of Lord Hastings to the old Emperor of Delhi...'—हेबर

के प्रति लोगों में घृणा की भावना उत्पन्न हो गई थी। लोगों में कम्पनी के शासन के प्रति विरोधी विचार जन्म ले रहे थे और अवसर पाते ही उसका तख़्ता उलट देने के लिए तैयार थे। १८३० में जब कम्पनी का चार्टर समाप्त हुआ तो उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की कि वह फिर उसे न मिले।

सामाजिक दृष्टि से भी अँगरेज़ों और भारतवासियों के पारस्परिक संबंध का अत्यन्त रोचक इतिहास है। उससे यह ज्ञात हो जाता है कि दो जातियों के पारस्परिक संपर्क से आलोच्यकालीन हिन्दी साहित्य पर किस प्रकार कोई प्रभाव दृष्टिगोचर न हो सका। प्रारंभ में जब अँगरेज़ यहाँ आकर बसे थे उस समय उनके दो प्रधान दृष्टिकोण थे—कम-से-कम समय में अधिक से अधिक धनोपार्जन करना और सैनिक जीवन व्यतीत करना। वे भारतीय जीवन से पृथक् अवश्य रहे, किन्तु उसे घृणा की दृष्टि से न देखते थे। जो कुछ उन्हें भारतीय जीवन में पसन्द भी था वह केवल कपड़ों, खाने-पीने, कुछ भारतीय शब्दों तथा अन्य ऊपरी बातों तक सीमित था। वास्तव में वे वैसे ही बने रहे जैसे इँगलैंड में थे।[१] १७५७ के बाद की राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने पर उनमें जातीय गर्व की तीव्र भावना का और भी उदय हुआ और वे झगड़ालू हो गए। किन्तु उनके नागरिक जीवन में ऐंग्लो-इंडियन वातावरण बराबर बना रहा।

किन्तु अठारहवीं शताब्दी के लगभग अंत में भारत आने वाले अँगरेज़ों और भारतवासियों के नागरिक जीवन में भी विच्छेद होने लगा था। अब उनकी नीति जाति-भेद और वर्ण-भेद पर आधारित होती थी। भारतवर्ष में रहते हुए वे या तो निम्न श्रेणी के नौकरों के, जैसे, माली, साईस, घसखुदा,

---

१—'What they borrowed from India were the excrescences of Indian customs and not their essence. Thus they took the zenana from Musulman society but never became Musulmans; and they adopted various current Hindu superstitions without ever absorbing any Hindu philosophical ideas. They adopted Indian words to form numbers of 'Hobson—Jobson,' many of which have been adopted into the language, but they never learnt the local vernaculars themselves, conducting their business in the debased Portuguese current round the coast or by means of interpreters.....'—स्पीअर : 'दि नबोब्स', पृ० २२

चाबुकसवार, दरबान, भिश्ती, सरबान, चौकीदार, ख़ानसामा, आया, हज्जाम, दर्ज़ी, धोबी, आया-दाई, आदि, या सामंतों और सेठों के संपर्क में आते थे। अपार जन-समूह और देश के भीतरी भागों से उनका कोई संबंध नहीं था। विभिन्न भारतीय राज-दरबारों में रहने वाले अँगरेज़ राजदूतों का जनसाधारण से कोई भी संपर्क नहीं था। अँगरेज़ व्यापारी अपने छोटे-छोटे उपनिवेश बना कर अलग रहते थे। उच्च श्रेणी के लोग राज दरबारों में ही आपस में मिल-जुल पाते थे। छावनियों में केवल अँगरेज़ ही अँगरेज़ रहते थे। कलकत्ते से दिल्ली तक के नील के व्यापारी अपना जीवन भारतीय जीवन से पृथक् रखते थे। यूरोपियन सैनिक साहसिकों ने अर्द्ध भारतीय जीवन-क्रम ग्रहण अवश्य किया, किन्तु ऐसे साहसिकों की संख्या एक प्रकार से नगण्य थी। बहुत-से ईसाई पादरी भी थे जो भ्रष्ट और रुपया बनाने वाले थे। १८३० तक ईसाई धर्म-प्रचारकों को राजनीतिक दृष्टि से ख़तरनाक समझा जाता था और फिर भारतीय जनता उन्हें सशंकित दृष्टि से देखती थी। सच बात तो यह है कि १७६० के बाद के अँगरेज़ शासकों की साम्राज्यवादी नीति और केवल सैनिक जीवन व्यतीत करने वाले यूरोपियनों का भारतागमन दो विभिन्न जातियों के पारस्परिक घनिष्ठ संबंध में बाधक सिद्ध होने वाले प्रधान कारण थे। वे भारतवर्ष में छोटे-छोटे इँगलैंड बना कर रहने लगे। वास्तव में भारत-यूरोपीय इतिहास की यह एक अद्भुत घटना है कि जिस समय कम्पनी के कर्मचारियों में भ्रष्टता और दुराचार फैला हुआ था उस समय अँगरेज़ों और भारतवासियों में व्यक्तिगत मित्रता और बराबरी के सामाजिक दर्जे के आधार पर संबंध स्थापित होते थे, किन्तु कॉर्नवालिस, सर जॉन शोर, वेलेज़ली तथा उनके बाद आने वाले शासकों के अंतर्गत ज्यों-ज्यों कम्पनी के कर्मचारियों की भ्रष्टता और दुराचार को दूर करने के प्रयत्न होते गए त्यों-त्यों वे भारतीय जीवन से कटते गए और एक दूसरे को समझने की चेष्टा उत्तरोत्तर कम होती गई। थोड़े ही समय में एक दूसरे के संपर्क में आना असंभव हो गया। कॉर्नवालिस और उसके बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन में भूमि-संबंधी विभिन्न बंदोबस्तों के कारण एक नवीन अभिजात वर्ग की स्थापना ही नहीं हुई, वरन् शासन, न्याय, वैदेशिक आदि विभागों में ऊँचे-ऊँचे सरकारी पद अँगरेज़ों के लिए ही सुरक्षित कर अँगरेज़ कर्मचारियों के एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया गया जिसका जनता से कोई संबंध नहीं था। उस समय कम्पनी ने अकबर के मनसबदारों की भाँति एक भारतीय राजकीय नौकरशाही बनाने की बात न सोची। यह भारतीय नौकरशाही कम्पनी के

प्रति उसी प्रकार राजभक्त और विश्वस्त होती जिस प्रकार मनसबदार अपनी शिक्षा-दीक्षा, उचित वेतन, सद्-व्यवहार, गौरव-प्राप्ति और समुचित उन्नति मिलने आदि कारणों से मुग़ल-सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति प्रकट करते थे। शासन संबंधी विभिन्न विभागों से भारतवासियों को अलग करने की यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म और दुरूह रूप धारण करती जा रही थी। भारतीय जीवन से अनभिज्ञ अँगरेज़ राज-कर्मचारियों के आने से परिस्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय ही होती गई। वास्तव में ईस्ट इंडिया कम्पनी को पुराने राज्य-कर्मचारियों पर विश्वास नहीं था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उसे पुराने भारतीय सैनिकों पर विश्वास न रह गया था। उनके स्थान पर वह अँगरेज़ कर्मचारियों को नियुक्त करना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझती थी। इस प्रकार पुराने राज्य-कर्मचारियों के स्थान पर कम्पनी के राजकीय क्षेत्रों में क्लर्क, साधारण बनिए और व्यापारी ही भारतीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग रह गए थे। एक साधारण अँगरेज़ उन्हें ही भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक समझता था। आए दिन कम्पनी की धमकियाँ मिलते रहने से भारतीय नवाबों और राजाओं का मन उसकी ओर से फिर गया था। यहाँ तक कि देशी वकील भी अँगरेज़ कर्मचारियों की झिड़कियाँ सहन किया करते थे। अँगरेज़ों के भारतीय जीवन से अलग हो जाने में यूरोपीय स्त्रियों का भी हाथ था। ज्यों-ज्यों भारत में यूरोपीय स्त्रियों की संख्या में वृद्धि होने लगी, त्यों-त्यों अँगरेज़ लोग उन्हीं की संगति में रहने लगे और इस प्रकार सजातीयों के साथ रहते-रहते उनमें जातीय और रंग-भेद संबंधी भावना बढ़ने लगी। यूरोपीय स्त्रियों का तो भारतीय जीवन से संपर्क एक प्रकार से नितान्त शून्य था। वे आपस में भारतवासियों को 'odious blacks', 'black brutes', 'black vermins', 'nasty heathen wretches', 'filthy creatures', आदि घृणासूचक शब्दों से संबोधित करती थीं।[1] अँगरेज़ बच्चों में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया था। वे अपने को यदि पर्वत के उच्च शिखर पर बैठा हुआ जानते थे तो भारतवासियों को कर्दम-लिप्त कृमि-कीट की भाँति। उन्नीसवीं शताब्दी में ज्यों-ज्यों समय बीतता गया हालत यहाँ तक बिगड़ी कि बेंटिंक के समय तक आने-जाने भारतवासियों को गवर्नर-जनरल के निवास-स्थान तक सवारी पर बैठ कर आने का अधिकार प्राप्त नहीं था। साथ ही इस समय तक भारतीय नवाब और राजा स्वयं अँगरेज़ों के साथ भोजन करना

१—दे०, [illegible] (Fenton) के '[illegible]'

या उनके साथ सामाजिक संबंध रखना आत्म-सम्मान और आत्मगौरव के विरुद्ध समझने लगे थे। समाज के लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों के यहाँ अँगरेज़ सरकारी कर्मचारियों ने भी आना-जाना बन्द कर दिया था। अदालतों में भारतवासियों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जाता था। छोटे-से-छोटा अँगरेज़ कर्मचारी बड़े-से-बड़े भारतीय से सलाम की आशा रखता था। और इस प्रकार जातीय गर्व को रंग-भेद का रूप धारण करते देर न लगी। जीवन के इन बाह्य क्षेत्रों के बाद फिर नौबत उच्च और अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों तक पहुँची। फिर तो भारतीय नैतिक जीवन पर ही नहीं वरन् यहाँ की सभ्यता, संस्कृति, हिन्दू और मुसलमान धर्मों और उनके अंतर्गत जीवन-संबंधी जो कुछ था सभी पर प्रहार होने लगे। भारतवासियों को गया-बीता और उनकी संस्थाओं को सारहीन समझा जाने लगा। अँगरेज़ समझते थे कि सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों ही दृष्टियों से भारतवासी अति निम्न कोटि के प्राणी हैं।[1] देश में ज्यों-ज्यों रेल तथा यातायात के वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार बढ़ता गया त्यों-त्यों अँगरेज़ों को भारतवासियों से अपने को अलग रखने में सुविधा होने लगी। अब उन्हें गर्मी लगती थी तो तुरंत किसी पहाड़ी स्थान पर चले जाते थे। साथ ही इँगलैंड और भारतवर्ष आने-जाने में कम समय लगते जाने के साथ-साथ उनका ध्यान भारत की अपेक्षा इँगलैंड पर ही अधिक केंद्रित रहने लगा। मुसलमान विजेताओं की भाँति उन्होंने न तो भारत को अपना घर बनाया और न वे यहाँ के लोगों में ही घुलमिल पाए। किन्तु भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति निंदात्मक और संहारात्मक दृष्टिकोण ग्रहण करने पर भी एकाध अँगरेज़ कभी-कभी ऐसा निकल आता था जो यहाँ के जीवन को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से समझने की चेष्टा करता था और यहाँ के रहने वालों के अधिकाधिक संपर्क में आने का इच्छुक रहता था। इसमें भी यह बात ध्यान रखने की है कि इस प्रकार के अपवाद, प्लासी के बाद सरकारी ढंग से और कॉर्नवालिस के बाद व्यक्तिगत रूप में, मुसलमानों के साथ सामाजिक संपर्क स्थापित करने की दृष्टि से मिलते हैं। हिन्दी प्रदेश में मुरादाबाद, मिर्ज़ापुर, पटना, हरिद्वार, आगरा, आदि नगरों के अतिरिक्त सामाजिक संपर्क और आदान-प्रदान के दो प्रधान केन्द्र थे—अवध (लखनऊ) और बनारस। शुजाउद्दौला के समय से कलकत्ता और लखनऊ के बीच यूरोपियन यात्रियों, सैनिकों, रेज़ीडेंटों आदि का ताँता लगा रहता था। ईसाई

१—दे०, टी० जी० पी० स्पीअर कृत 'दि नबॉब्स', ऑक्सफ़र्ड, १९३२

मिशनरियों का आवागमन भी लगा रहता था। लखनऊ में इस छोटे से यूरोपियन समाज का नेतृत्व रेज़ीडेंट के हाथ में रहता था। अवध के नवाबों से इन यूरोपियनों की भेंट होती रहती थी और उन्होंने यूरोपियन चीज़ों में अत्यधिक दिलचस्पी भी प्रकट की।[1] लखनऊ सार्वभौम नगर हो गया था।

१—King Nasir-ud-din Hyder had got made a large balloon in the Dilkosha Park at Lucknow. It was made by a tall and slender young English gentleman, who visited Lucknow, with his uncle, for the special purpose of constructing and ascending in this machine. The balloon began to ascend. It was sixty feet long including boat and all, and twelve feet wide. But high up in the clouds it seemed to be no longer then a small water-jug. The balloon began to descend 17 miles away from there. It was in march. The travelling people thought it was some terrible demon from above to seize and devour them. They got panic- struck and lay senseless on the ground. The king was very glad to meet that young man and gave him several thousand rupees over and above the cost of making the balloon and providing him and his uncle during their stay.'

—मेजर स्लीमेन कृत 'ए जर्नी थ्रू दि किंगडम ऑव अवध १८४९-५०', जि० २, लंदन, १८५८, पृ० ३२६-३२९ से संक्षिप्त किया हुआ।

इस ग्रंथ में वाष्प-शक्ति के प्रदर्शन का भी उल्लेख है। वही, पृ० ३५६।

'There were two bridges over the Gomty in Lucknow and one was a very noble old Gothic edifice of stone. The other bridge laid on boats connected the King's park with his palace. Saadat Ali had brought over an iron bridge from England and a place was prepared for its erection. But on his death his successor declined prosecuting the work on the ground that it was unlucky......'—हेबर के ग्रंथ (२, पृ० ९१) से संकलित किया गया। नवाब सआदत अली इंग्लैंड हो आए थे।

'(1837) In Lucknow some of the buildings partook of both the European and oriental style of architecture and many of them were furhished in the English fashion. One of the King's palaces on the river Gomti was built after the English plan and to this retreat he was in the habit of making excursions, in a small steam-boat, constructed for him in 1819 by an English engineer, the first steam vessel known in India.

१७६७ से १७७० तक इलाहाबाद और तत्पश्चात् दिल्ली में शाहआलम यूरोपीय यात्रियों और सैनिकों का स्वागत करता और उनसे विविध विषय-सम्बन्धी बातचीत करता था। काँत द ब्वान (Comte de Boigne), जनरल पेरों (General Perron), जॉर्ज टॉमस (George Thomas) और कर्नल स्किनर (Colonel Skinner) आदि कई सेना-नायक भारतीय नरेशों के साथ राज-दरबारों में जीवन व्यतीत करते थे। यूरोपियन और भारतीय दोनों पद्धतियों के अनुसार उनके साथ प्रीतिभोज होते थे तथा उनका मनोरंजन किया जाता था। यहाँ तक कि पर्दे के पीछे से बेगमों के साथ उनकी भेंट भी हुआ करती थी। दरबारों में यूरोपियन स्त्रियाँ भी आया-जाया करती थीं। ब्वान अलीगढ़ में रहता था और अविवाहित रहने पर भी अपना रनिवास रखता था। मार्टिन (लखनऊ) और बेगम समरू भी अर्द्ध-भारतीय जीवन व्यतीत करते थे। ऑक्टरलोनी ने दिल्ली, करनाल तथा अन्य स्थानों में मकान बनवाए और भारतीय जीवन की अनेक बातें ग्रहण कीं। उसकी पूर्वी जीवन-प्रणाली देखकर बिशप हेबर को अत्यन्त आश्चर्य हुआ था। फ्रेज़र नामक व्यक्ति भी दिल्ली के कई भारतीय घरों में आता-जाता था। यद्यपि अवध के नवाब यूरोपियनों को दावतों में बुलाते थे, तो भी उनका यूरोपियन स्त्रियों से अधिक संपर्क स्थापित न हो सका। यूरोपियन स्त्रियों को अवध के नवाबों का व्यवहार अच्छा न लगता था, यद्यपि दरबारों में बैठ कर वे तम्बाकू चबातीं और हुक्का पीती थीं। हेस्टिंग्ज़, कोलब्रुक, विलियम जोन्स, विल्किन्स तथा कम्पनी के अन्य

State carriages were of English construction. Europeans were entertained to dinner in the English style.'

'इंडिया बिफ़ोर दि सिपॉय म्यूटिनी' से (पृ० ३६३—३६४) संक्षिप्त किया गया।

१८२४ में अवध के नवाब ने हेबर को नाश्ते के लिए निमंत्रित किया था। हेबर ने एक तंग लंबे कमरे में लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ का चित्र लगा हुआ देखा। मेज़-कुर्सियाँ इँगलैंड की बनी हुई थीं और चीनी बर्तन इँगलैंड और फ्रांस के बने हुए थे। खाने की चीज़ें अँगरेज़ी ढंग से परोसी गई थीं। उनके खाने का ढंग भी यूरोपियनों जैसा था। नाश्ते के समय अवध के नवाब ने हेबर से भाप के ऐंजिनों, एक अँगरेज़ द्वारा आविष्कृत जहाज़ चलाने की एक नवीन वैज्ञानिक विधि, शीराज़ के भूकंप, अँगरेज़ी में लिखे ग्रंथों, हिन्दुस्तानी-अरबी कोष, फ़ोर्ट विलियम कॉलिज के कैप्टेन लौकैट, हेबर की रचनाओं आदि के बारे में बातें कीं। दरबार में कई यूरोपियन एंजीनियर, चित्रकार (जैसे, श्री होम), सर्जन आदि थे। अवध का नवाब सआदत अली अँगरेज़ी बोल लेता था और कभी-कभी अँगरेज़ी पोशाक भी पहिन लेता था। लेकिन अपने पुत्र को वह अँगरेज़ी शिक्षा और संपर्क से अलग रखता था।

उच्च पदाधिकारियों ने स्वयं फ़ारसी भाषा सीखी और इस बात का इंतज़ार न किया कि पहले भारतवासी अँगरेज़ी सीखें। अवध के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी मुसलमान नवाबों और ज़मींदारों का अँगरेज़ों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ।

किंतु, कुछ अपवाद छोड़ कर, हिन्दुओं और अँगरेज़ों में व्यापक रूप में सामाजिक संपर्क के उल्लेख नहीं मिलते।[१] हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था, खान-पान, छूआछूत आदि सम्बन्धी विचार संभवतः बाधक सिद्ध हुए हों। इन विचारों के फलस्वरूप जिस प्रकार स्वयं हिन्दू समाज अनेक टुकड़ियों में बँटा हुआ था उसी प्रकार विदेशियों के साथ घनिष्ठ सामाजिक संपर्क स्थापित होने या न होने का निर्णय भी उन्हीं के आधार पर हुआ। दूसरों से अलग रहना तो हिन्दू पहले से ही सीखे हुए थे। इसके अतिरिक्त हिन्दू नरेशों में से राजपूत नरेश भारतीय-यूरोपीय संपर्क के केन्द्रों से ज़रा दूर पड़ते थे, और मरहटों में, यद्यपि उनका हमारे विषय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, स्वतंत्रता और गर्व की भावना इतनी अधिक तीव्र थी कि वे यूरोपियनों के साथ बराबरी

१—'There was a national, social and religious gulf between the English on the one hand, and the Hindus and Muslims on the other. The Indians had courteous bearing towards the English, but Europeans looked with contempt on the natives, as essentially of a lower order of creation. But the better class of Europeans, the higher in education and position, as a rule, regarded them with respect and treated them with justice and kindess. But when there was honourable contact between Indian gentlemen and Europeans of high order, there was national and religious difference which prevented intimacy.' पृ० ३५-३६ तथा :

'Europeans' knowledge of the inner life of the people was very limited. In spite of many years' contact between them there could be no appearance of real friendship.' पृ० ३३९—३४०

[illegible] (१८८४) में [illegible] के पारस्परिक संबंध के विषय में जो कुछ [illegible] किया है वह [illegible] के संबंध में भी [illegible]

का व्यवहार करने के लिए प्रस्तुत नहीं थे। वे यूरोपियनों के प्रति कुछ सशंकित भी रहते थे। स्वयं अँगरेज़ मुसलमान नवाबों को हिन्दू नरेशों की अपेक्षा कहीं अधिक नम्र तथा विनयशील और आतिथ्य-प्रिय समझते थे—यद्यपि मुसलमानों का जातीय गर्व भी उन्हें अँगरेज़ों के प्रति बहुत अधिक आकृष्ट होने से रोकता था।[1]

किन्तु जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि नरेश चाहे हिन्दू रहा हो या मुसलमान, अँगरेज़ों का संपर्क समृद्ध राजाओं या नवाबों या उच्च श्रेणी के लोगों से ही स्थापित हो सका था, और जो बहुत-कुछ स्वाभाविक भी था। अस्तु, आलोच्य काल में यूरोपीय प्रभाव हिन्दी समाज के केवल इसी उच्च स्तर तक सीमित मिलता है। और यह प्रभाव भी खान-पान, मनोरंजन की सामग्री, इमारतों, खाने-पीने की चीज़ों, घड़ियों, छड़ियों, खिलौनों, बन्दूकों, कपड़ों, पुलों के निर्माण, कारीगरी, विलायती चित्रों, दवाइयों आदि ऊपरी और बाहरी बातों तक ही सीमित था।[2] हिन्दी प्रदेश के लगभग

१—टी० जी० पी० स्पीअर: 'दि नबॉब्‌स', ऑक्सफ़र्ड, १९३२, पृ० १-१४४

२—The progress of the rich was in the imitation of the English habits, though the difference was yet very great. The climate did not allow them to adopt English dress. But their houses were adorned with verandahs and Corinthian pillars; they had handsome carriages, often built in England. They spoke tolerable English and showed a considerable liking for the European society, where they were encouraged on terms of anything like equality. But that was not always the case. Few of the Indians ate with the English which opposed a bar to familiar intercourse......Not only the houses had begun to be designed in European fashion with garden and European architecture, but they had begun to keep carriages and furniture of European make. They had also begun to imbibe English mode of conversation and had begun to read European authors, Chemistry, Natural Philosophy etc. But in-spite of all these things, orthodox people as they were, they continued to observe their daily and austere devotion towards the Ganges and veneration for all other duties of their ancestors......'—हेबर से

सभी बड़े-बड़े नगरों और छावनियों में यूरोपीय वास्तुकला का प्रभाव पड़ रहा था। अवध के नवाबों द्वारा निर्मित विभिन्न अन्य इमारतों में यह प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। मिर्ज़ापुर के राजा ने गंगा के किनारे महल बनवाने के लिए यूरोपियन लोग रखे थे। किन्तु राजा और यूरोपियनों में कोई सामाजिक संपर्क न था। बालमगढ़ के जाट सामन्त ने भी अपना महल यूरोपियन वास्तुकला के अनुसार बनवाया था। इसी प्रकार विक्तर जाकमाँ का कथन है कि यद्यपि बनारस में उच्च श्रेणी के भारतवासी और अँगरेज़ आपस में मिलते-जुलते रहते थे और अँगरेज़ उनसे भारतवर्ष के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात करते रहते थे, किन्तु उनमें सामाजिक सम्बन्ध लगभग शून्य थे। अँगरेज़ जब आपस में मिलते थे तो उनमें खाना-पीना चलता था। भारतवासियों से मिलने पर वे कम-से-कम शब्दों में बात कर चुप्पी साध लेते थे। हिन्दू उनके साथ खान-पान में सम्मिलित न हो सकते थे। वास्तुकला के अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य बाह्य यूरोपीय प्रभाव और यूरोप की बनी चीज़ों का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रयोग मिलता है। राजदरबारों में चोबदार इँगलैंड की बनी पोशाकें पहनने लगे थे। भीतरी से भीतरी भाग में अँगरेज़ी चीज़ों का प्रचार होने लगा था। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, पटना आदि बड़े-बड़े नगरों में विलायती चीज़ें खूब बिकती थीं। जयपुर के राजा ने अपने बाग में अँगरेज़ी तरकारियाँ बो रखी थीं। महल के दरवाज़ों और खिड़कियों के शीशे उसने वेनिस से मँगाए थे। अजमेर के पास नसीराबाद में बम्बई के कुछ ग्रीक और पारसी केवल यूरोप की बनी हुई चीज़ें बेचते थे। विलायती कपड़ों के अत्यधिक प्रचार के अतिरिक्त लोहे की बनी चीज़ें, चीनी के बर्तन, लिखने-पढ़ने का सामान आदि विलायती चीज़ें मारवाड़ में पल्ली नामक भीतरी स्थान में बहुत सस्ती बिकती थीं। हिन्दी समाज का एक बहुत बड़ा भाग इस ऊपरी और बाहरी प्रभाव से भी अलग रह गया। जहाँ तक

'The leaders of the Indian society—both Hindu and Muslim—or the members of the upper society associated and mixed with the Englishmen and adopted, in a great measure their fashionable habits and customs. They imitated their systems of balls and suppers. They placed European furniture in their houses, hung European pictures and copied European architecture.'

—जी० डब्लू० जॉनसन : 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', जि० १, लंदन १८४३, पृ० २१२-२१३

साधारण जीवन और साहित्य एवं कला से सम्बन्ध है इस समय पाश्चात्य प्रभाव एक प्रकार से नगण्य है।

साथ ही इस बात के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं कि जिस ऊपरी और बहरी पाश्चात्य प्रभाव का ऊपर उल्लेख किया गया है उसमें भी एक दूसरे के साथ खान-पान, बैठना-उठना और एक दूसरे के यहाँ आना-जाना अठारहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते बन्द हो गया था और जिन कारणों का पीछे उल्लेख किया जा चुका है उनके अंतर्गत उन्नीसवीं शताब्दी में तो इस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध की बात भी नहीं सोची जा सकती। १८१० और उसके बाद हिन्दुओं का तो अँगरेज़ों के साथ सामाजिक सम्पर्क बिल्कुल ही न रह गया था। मुसलमानों में भी, कुछ अपवादों को छोड़ कर, उनके साथ सामाजिक संपर्क और खान-पान का व्यवहार बन्द हो गया था[१]। हाँ, अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के अनुसार इँगलैंड की बनी हुई चीज़ों का प्रचार बराबर जारी रहा। भारतवासियों को अँगरेज़ों की अपेक्षा फ्रांसीसी कहीं अधिक अच्छे लगते थे। स्वयं अनेक फ्रांसीसियों ने भारतीय वेशभूषा और रीति-रस्म ग्रहण कर ली थीं। अँगरेज़ों की तरह उनमें ऐंठ भी नहीं थी और न वे भारतवासियों से घृणा कर अलग ही रहते थे।

१—हिन्दी प्रदेश और अँगरेज़ों के पारस्परिक, सामाजिक तथा अन्य प्रकार के, संबंध के लिए देखिए :

जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ऑरिएंटल मेम्वायर्स', जि० २, लन्दन, १८३४, पृ० १४७

सी० जे०सी० डैविडसन : 'डायरी ऑव ट्रैविलस ऐंड ऐडवेंचर्स इन अपर इंडिया', जि० १, पृ० ३४

वही जि० २, पृ० ११९

विक्तर जाकमॉ (Victor Jacquemont) : 'एता पोलीतीक ऐ सोशिएल द लिंद दु नॉर ऑ १८३०...', पैरिस, १९३३, पृ० ११०-११३, १२६, १३३, १६९, १८२-१८४

रेजीनाल्ड हेबर : 'नैरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्रॉविन्सेज़ ऑव इंडिया...१८२४-१८२५', जि० १, १८२८. पृ० ३७८

वही, जि० २, पृ० ४५, ४९, ५४, ६५, ६८, ६९-७३, ७६, ७७, ७९-९१, १०२, ३४३, ३४४, ३७३, ३९८, ४०४, ४२७, ४५५-४६२, ४४८

वही, जि० ३, पृ० ३३४-३३८

जी० डब्ल्यू० जॉनसन : 'दि स्ट्रेंजर इन इंडिया', जि० १, लंदन १८४३, पृ० २५२-२५४, २९७

वास्तव में ये सब बातें भारतवासियों और अँगरेज़ों के पारस्परिक संबंधों में हो रहे परिवर्तनों के प्रतीक-स्वरूप थीं, न कि परिवर्तनों के कारण-स्वरूप। स्वयं अपने में वे अधिक निश्चयात्मक और महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। कम्पनी का राज्य ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जाता था, त्यों-त्यों वह अपनी पुरानी बातें भूलती जाती थी और एक औपनिवेशिक साम्राज्यवादी दृष्टिकोण ग्रहण करती जाती थी;[१]

? : 'इंडिया बिफ़ोर दि सिपॉय म्यूटिनी', लन्दन, १८९१, पृ० ३८५

मेजर स्लीमैन : 'रैम्बिल्स ऐंड रिकलेक्शन्स', लंदन, १९१५, पृ० ४७६

मेजर स्लीमैन : 'ए जर्नी थ्रू दि किंगडम ऑव अवध १८४९-५०', जि० २, लन्दन, १८५८, पृ० १५१, २५७, ३५६

विलियम टेनेंट: 'इंडियन रिक्रिएशन्स', जि० १, २, एडिनबरा, १८०३, पृ० ४११, ४२१, ४२३

विलियम टेनेंट : 'थॉट्स ऑन दि इफ़ेक्ट्स ऑव दि ब्रिटिश गवर्नमेंट ऑन दि स्टेट ऑव इंडिया', एडिनबरा, १८०७, पृ० ४, ५०-५१, १७०-२८१

विलियम हॉजेज़: 'ट्रैविल्स इन इंडिया, १७८०-८३', लन्दन, १७९३, पृ० १६

जेम्स केनेडी : 'लाइफ़ ऐंड वर्क इन बनारस ऐंड कुमाऊँ', लन्दन, १८८४, पृ० ३५-३६, ३३९-३४०, ३५७-३६४ आदि

१—'Wherever we go, we find the signs of a great government passed away—signs that must tend to keep alive the recollections, and exalt the ideas of it in the minds of the people. Beyond the boundary of our military and civil stations we find as yet few indications of our reign or characater, to link us with the affections of the people. There is hardly anything to indicate our existence as a people or government in this country; and it is melancholy to think that in the wide extent of country over which I have travelled there should be so few signs of that superiority in science and arts which we boast of, and really do possess, and ought to make conducive to the welfare and happiness of the people in every part of our dominions. The people and the face of the country are just what they might have been had they been governed by police officers and tax-gatherers from the Sandwich Islands, capable of securing life, property, and character, and levying honestly the means of maintaining the establishments requisite for the purpose...'—मेजर स्लीमैन: रैम्बिल्स ऐंड रिकलेक्शन्स', लंदन, १९१५, पृ० ४१३-४१४

धीरे-धीरे उसका ध्यान सब ओर से हट कर देश से धन बटोरने पर केन्द्रित होने लगा और अन्त में उसकी सरकारी नीति का अंतिम ध्येय ही यह हो गया। और फिर भारतीय और यूरोपीय सभ्यता, संस्कृति और जीवन-क्रम तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण में किसी प्रकार का भी मौलिक साम्य नहीं था। कुछ-न-कुछ मौलिक साम्य होने पर ही दो सभ्यताओं और संस्कृतियों में पारस्परिक आदान-प्रदान सरल हुआ करता है। जहाँ यह मौलिक साम्य नहीं है, जहाँ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होती हैं वहाँ या तो एक में दूसरे के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा एक दूसरे को पूर्ण रूप से अपने में मिला कर आत्मसात् कर लेती है।

आलोच्य काल में अँगरेज़ों का बौद्धिक प्रभाव लगभग शून्य रहा। इसका उत्तरदायित्व दोनों पक्षों पर है। भारतवासी अपने सामाजिक और धार्मिक नियंत्रणों से मुक्त होकर बाहर निकलने के लिए तैयार नहीं थे और अँगरेज़ भी विजयी होने, जातीय गर्व और रंग-भेद से प्रेरित होने, और केवल आर्थिक-शोषण और साम्राज्यवादी नीति ग्रहण करने के फलस्वरूप भारतवासियों के साथ न तो समानता का व्यवहार कर उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सके और न उनकी सभ्यता और संस्कृति के विविध अंगों में दिलचस्पी ही ले सके। बहुत दिनों तक कम्पनी सरकार देशी शिक्षा प्रदान करने की नीति ही ग्रहण किए रही। नवीन पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार और प्रसार करने के संबंध में सरकारी नीति तो मैकॉले के बाद प्रारंभ होती है। मैकॉले से पहले स्फुट रूप में या तो ईसाई मिशनरी या कुछ इनेगिने भारतवासी ही पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार करने में लगे हुए थे। इस प्रकार भारतवासियों और अँगरेज़ों के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान का कोई ऐसा माध्यम न था जिसका फल शीघ्र ह दृष्टिगोचर हो सकता। अधकचरे प्रयासों से यह उद्देश्य सिद्ध न हो सकता था। सच बात तो यह है कि अँगरेज़ों ने इस देश को अपना घर कभी भी न समझा। वे भारतीय समाज से घृणा करते और उससे अलग रहते थे। वे केवल शासन-संबंधी क्षेत्र में भारतवासियों से बातचीत करना पसन्द करते थे, और वह भी उच्च श्रेणी के भारतवासियों से। आलोच्य काल के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक सैयद गुलाम हुसेन ख़ाँ ने अपने 'सैरुलमुताख़्रीन' नामक ग्रन्थ में कई बार इस तथ्य का उल्लेख किया है कि अँगरेज़ और भारतवासी दोनों एक दूसरे की बातों के प्रति अनभिज्ञ हैं।[1] सैयद गुलाम हुसेन ख़ाँ के कथन का,

१—जि० ३, पृ० १५४-१५५

दूसरे शब्दों में, यही तात्पर्य है कि दोनों में कोई सांस्कृतिक संपर्क न था। प्रारंभ में जेम्स फ़ोर्ब्स, हेस्टिंग्ज़ आदि ने प्राच्य विद्या का ज्ञान प्राप्त करने में जो अग्रिम भाग लिया था धीरे-धीरे उसके स्थान पर 'Macaulayesque' दृष्टिकोण का जन्म हुआ और भारतवासी जंगली, वर्बर और अतीत के भग्नावशेष समझे जाने लगे।[1] संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन पहले-पहल विल्किन्स, विलियम जोन्स और कोलब्रुक जैसे अँगरेज़ों ने प्रारंभ किया था। शीघ्र ही जर्मनों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। एक प्रकार से राजा शिवप्रसाद और भारतेंदु से पहले, कुछ अपवाद छोड़ कर, हिन्दी प्रदेश के जीवन पर यूरोपीय विचारों का प्रभाव नहीं के बराबर था। अँगरेज़ हिन्दी भाषियों से दूर रहे और हिन्दीभाषी उनके समीप न पहुँच सके। सैयद ग़ुलाम हुसेन ख़ाँ के अनुसार अँगरेज़ शासक भारतीय साहित्यों, कलाकारों और कारीगरों को आश्रय प्रदान न कर सके।[2] इसी बात का संकेत हिन्दी के कवि घासीराम कृत 'पथ्यापथ्य' (१८३५) नामक रचना से भी मिलता है—

छांडके फिरंगन को राज मैं सुधर्म काज जहाँ होत पुन्य आज चलो वह देश को। सुन्यौ मग ही यह साचपुर लोगन तै फूल कुल कमल प्रकाश है दिनेश को ॥कानन कै आनँद सुनयन रिसपान लगे चरजे न माने नित्य ठानत कलेश को। घासीराम दोऊन को[3] धाम सुख होय जबी देप जशवंत सिंह सुमति नरेश को ॥

१—टी० जी० पी० स्पीअर : 'दि नवोब्स', ऑक्सफ़र्ड, १९३२, पृ० १४६

२—'सैरुलमुताख़रीन', जि० ३, पृ० १५६-१५७

'The English did not patronize arts or sciences in India nor did they patronize literary or charitable institutions'—जेम्स फ़ोर्ब्स : 'ओरियंटल मेमायर्स', पृ० ९९

३—पृ० १

आ. साहित्यिक प्रतिक्रिया

हिन्दी प्रदेश के जीवन-संबंधी जिन विविध प्रमुख-प्रमुख पक्षों पर अभी तक विचार किया गया है उससे यह बात बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है कि आलोच्य काल की बौद्धिक और कलात्मक प्रतिक्रियाओं के पीछे आपस में उलझी हुई तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही थीं। जीवन की गति दुर्बल, मंद, लड़खड़ाती हुई और अनेक प्रकार की कठिनाइयों एवं विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण थी। यद्यपि समाज में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं था जिन्होंने प्रचलित दोषों से ऊपर उठने की चेष्टा की, किन्तु जिस समाज में उन्होंने जन्म लिया था वह परम्पराविहित, रूढ़िग्रस्त, कट्टर एवं अपरिवर्तनशील, गति-हीन, पतित और जर्जरित था। उस समय एक महान् युग—सामंती युग—का अंत हो रहा था और समाज एक नवीन युग की प्रसव-वेदना से पीड़ित था, अर्थात्, समाज एक भारी संक्रांति-काल से गुज़र रहा था। ऐसी परिस्थिति में नवनवोन्मेषशालिनी साहित्यिक उद्भावनाओं का जन्म होना असंभव था। साहित्य के प्रधान रूप, काव्य, में पुराने और घिसेघिसाए विषयों, रूपों और शैलियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। हाँ, नवीन शक्तियों के आविर्भाव के कारण एक नई साहित्यिक भाषा—खड़ीबोली—और गद्य के भावी उज्ज्वल जीवन के चिह्न अवश्य प्रकट होने लगे थे। धीरे-धीरे, किन्तु निश्चित रूप से, अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा हिन्दी-भाषा-भाषियों का ज्यों-ज्यों पाश्चात्य साहित्य एवं संस्कृति से संपर्क बढ़ता गया और नवीन राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और आर्थिक शक्तियाँ समाज के जीवन में प्रवेश करने लगीं—और पिछले विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह नवीन ऐतिहासिक प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग अंत में प्रारंभ हुई—त्यों-त्यों पुरानी दीवारें गिरने लगीं। वास्तव में आलोच्य काल के एक बहुत बड़े भाग में नवीन शक्तियों के प्रभाव का अभाव मिलता है। आलोच्य काल के इस बहुत बड़े भाग के बाद ही हिन्दी प्रदेश में नवीन साहित्यिक भावों, विचारों और रूपों का जन्म हो सका। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग अंत में जिन नवीन शक्तियों का बीजारोपण हुआ, वे उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में अंकुरित हुईं, और केवल बीसवीं शताब्दी में पूर्णतः प्रस्फुटित हुई हैं।

अब देखना यह है कि आलोच्यकालीन जीवन की परिस्थितियों के बीच रहते हुए प्रतिक्रियात्मक रूप में समाज ने किस प्रकार आत्माभिव्यंजना की; किस प्रकार उसने जीवन का मूल्य निर्धारित किया। जिस प्रकार सुगंध से फूल

पहिचाना जाता है, उसी प्रकार, सामाजिक या जातीय जीवन की चरम अभि-व्यक्ति होने के कारण, आलोच्यकालीन साहित्य और कला से समाज के जीवन के प्रति दृष्टिकोण और उसकी प्रतिक्रिया का पता चलता है। लोगों में साहित्यिक रुचि थी और उनके पास शताब्दियों की साहित्यिक और कलात्मक परम्परा थी। साथ ही अपनी धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और कलात्मक परम्पराओं से संवेष्टित जीवन के अतिरिक्त उनके पास इस्लाम और पूर्व तथा पश्चिम से आने वाली जातियों की भाषाओं, विचारधाराओं, काव्य-परम्पराओं, सामाजिक आचार-विचारों, ऐतिहासिक और धार्मिक परम्पराओं, जीवन-दर्शन तथा तज्जनित आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं, कला और दस्तकारियों आदि का अपने सामूहिक जीवन पर पड़े शताब्दियों के प्रभाव की संचित निधि थी। साहित्य के माध्यम द्वारा जीवन के इसी व्यापक रूप के सार अंश की अभिव्यक्ति हुई।

५

कविता

आलोच्य काल में कविता ही प्रधान साहित्यिक संपत्ति के रूप में थी। साहित्य का लगभग सारे का सारा रूप काव्यात्मक था। हिन्दी साहित्य के खोज-विद्यार्थियों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप उपलब्ध सामग्री के आधार पर हिन्दी का आदिकालीन साहित्य सिद्ध, नाथ और जैन धार्मिक संप्रदायों तथा राजस्थान के वीर जीवन से संबंध रखने वाली रचनाओं के रूप में मिलता है। प्राचीन भाटों और चारणों की रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से ही अनेक सौन्दर्यपूर्ण स्थलों से परिपूर्ण नहीं हैं, वरन् तत्कालीन भारतीय नरेशों के पारस्परिक युद्ध-विग्रह और विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध उनकी जय-पराजय का लेखा प्रस्तुत करने के कारण उनका महान् ऐतिहासिक और राजनीतिक महत्त्व भी है। आदिकालीन साहित्य के बाद ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग प्रारंभ में वैष्णव धार्मिक आंदोलन का जन्म हुआ जिसके अंतर्गत, बाद में चल कर, अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। उत्तर भारत में रामानंद और वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित धार्मिक मतों का सबसे अधिक प्रचार हुआ। उनके धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धांतों का चरमोत्कर्ष गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास की रचनाओं में प्राप्त होता है। इन दोनों महान् कवियों का संबंध अपने-अपने संप्रदायों से था अवश्य, किन्तु उनकी रचनाओं में संकीर्ण सांप्रदायिकता की छाप नहीं मिलती। इसी वैष्णव आंदोलन की एक प्रमुख शाखा का प्रतिनिधित्व कबीर ने किया। कबीर ने रामानंद से प्रेरणा ग्रहण कर अपने एक नवीन पंथ की स्थापना कर पहले से चली आ रही अपभ्रंशकालीन विचारधारा को आगे बढ़ाया। इस्लाम धर्म के साथ-साथ भारतवर्ष में सूफ़ी मत का आगमन हुआ। सूफ़ियों ने भारतीय भाषा और कथानक ग्रहण कर सूफ़ी आख्यानक काव्यों की परम्परा प्रचलित की। इसी

परम्परा में, अन्य अनेक कवियों के अतिरिक्त, मलिक मुहम्मद जायसी का प्रसिद्ध सूफ़ी मत-संबंधी प्रबंध काव्य 'पद्मावत' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विविध रूप धारण करने वाले इस धार्मिक आंदोलन के प्रधान केन्द्र काशी, अयोध्या और व्रज थे। इस आंदोलन ने स्त्रियों और निम्न जातियों को देश के धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन में भाग दिया और अवधी तथा व्रजभाषा को साहित्यिक गौरव प्रदान किया। हिन्दी साहित्य के इतिहास का यह युग स्वर्ण-युग कहा जाता है। हिन्दी के अनेक महाकवियों का आविर्भाव इसी युग में हुआ। इसी युग में काव्य-रचना-संबंधी सिद्धांतों और लक्षणों का प्रतिपादन भी हुआ। केशव तथा उनके परवर्ती आचार्य-कवियों ने काव्यालोचन की दृष्टि से अनेक सुन्दर ग्रंथों का निर्माण किया। उनका आचार्यत्व शृंगारिक विषय लेकर चला था। इस परंपरा में भी अनेक कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया। इस युग के लगभग अंत में दादूपंथ और सिक्खपंथ जैसे कुछ बड़े-बड़े धार्मिक संप्रदायों की स्थापना और तत्संबंधी साहित्य की रचना हुई। इस युग का अंत ईसा की सत्रहवीं शताब्दी का अंत था।

आलोच्य काल की पीठिका पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि ईसा की अठारहवीं शताब्दी के लगभग प्रारंभ से, विशेषतः औरँगज़ेब की मृत्यु के बाद, मुग़ल साम्राज्य का पतन तथा मरहठों का उत्थान और पतन हुआ। राजपूतों की शक्ति छिन्न-भिन्न हुई और उनका जीवन अवनति के गर्त में सदैव के लिए डूब गया। भारतीय राजनीतिक शक्तियों के ह्रास के समय ही भारतवर्ष में एक विदेशी साम्राज्यवादी जाति ने अपने शासन की नींव स्थापित की। इस काल में देश का जीवन अराजकता और नाना उपद्रवों से पूर्ण था। चारों ओर संहार ही संहार दिखाई पड़ता था। नवीन विदेशी साम्राज्य ने भी बहुत दिनों तक अपने शासन के रचनात्मक पक्ष की ओर ध्यान न दिया।

इन्हीं अराजकतापूर्ण परिस्थितियों के कारण इस काल का काव्य-साहित्य, कुछ अपवादों को छोड़ कर, श्री और गौरव-विहीन मिलता है। वास्तव में यह काल एक नवीन और शक्तिसंपन्न काव्यधारा के जन्म के लिए उपयुक्त नहीं था। इस समय न तो कोई महत्त्वपूर्ण नवीन साहित्यिक धारा ही मिलती है और न किसी कवि में नवीन विचारों की प्रेरक मौलिक प्रतिभा ही। पिछली दो शताब्दियों के अनुरूप साहित्य-सृजन में कवियों ने अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की। अँगरेज़ों ने प्रेस स्थापित किए थे। किन्तु प्रारंभ में तो हिन्दी के कवियों का

इस वैज्ञानिक आविष्कार से संपर्क ही स्थापित न हो सका और आलोच्य काल के लगभग अंत में जब हिन्दी प्रदेश में प्रेस स्थापित होने लगे तो बहुत दिनों तक अपने परम्पराविहित और रूढ़िग्रस्त जीवन-क्रम के कारण हिन्दी के कवि उससे पूर्ण लाभ न उठा सके। वे पतनकालीन छोटे-बड़े सामन्तों और सेठ-साहूकारों के आश्रय में प्राचीन विषयों पर प्राचीन ढंग से रचनाएँ प्रस्तुत करते रहे। वास्तव में यदि देखा जाय तो आलोच्य काल के अंतिम तीस-पैंतीस वर्षों में हिन्दी साहित्य के संक्रांति-काल का बीजारोपण हुआ, और वह भी गद्य के माध्यम द्वारा। यद्यपि घनश्याम शुक्ल (१६८० और १७७८ के बीच आविर्भाव काल) नामक एक कवि ने निम्नलिखित छंद की रचना की :

'प्रबल पठांन तू दलेलखान बलवान,
दच्छिन ते दलहि दबायो मनो हासी ते;
बाँकुरो बहादुर बलोन वीर बरछी लै,
बापहि बचायो है बिलायत गिलासी ते।
कहै घनस्याम युद्ध कीन्हों मेघनाद जैसे,
गरुड़ गोविंदहि छुड़ायो नागफासी ते;
कुमेदान कम्पनी कुम्हेड़ा ककरी से काटि,
काढ़ि लायो काकहि कृपान करि कासी ते'।

जिसमें औरँगज़ेब के राजत्व-काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेना पर दलेल ख़ाँ की विजय का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार कवि सीतलदास ने 'आनंद चमन' में :

...'खूबी सी दौलत मिली तुझे पर तेरा दिल न उदार रहा,
तू ईसा हुआ जमाने का यह दरदमंद बीमार रहा ॥ १५ ॥'

लिखते समय हिन्दी में 'ईसा' का उल्लेख और काव्य में खड़ीबोली का प्रयोग किया, अथवा चंद्रशेखर वाजपेयी ने अपने 'नखशिख' (१८५७) में नायिका के नूपुरों का वर्णन करते हुए कहा है :

...'कंचन रचित राजै नूपुर अनूप कैधौं बाजे बजैं भूपर
मनोज अंगरेज के ॥ ५ ॥'

किन्तु ऐसे छंद अपवाद-स्वरूप ही माने जाने चाहिए। ये पंक्तियाँ काव्य की आगे आने वाली गतिविधि का आभास अवश्य देती हैं, किन्तु जहाँ तक आलोच्य काल से संबंध है ये अपवाद-स्वरूप ही मानी जायँगी। सामान्यतः

कविगण प्राचीन विषय और शैली ग्रहण कर काव्य-रचना करते रहे। आदि-कालीन वीर कवियों तथा मध्य युग के अनेक कवियों ने जीवन की अनेक सामयिक घटनाओं का उल्लेख किया। किन्तु, अभी तक जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, आलोच्य-कालीन हिन्दी कवियों ने ईस्ट इंडिया कम्पनी और भारतीय नरेशों के संघर्ष को अथवा अन्य किसी नवीन विषय को अपनी काव्य-रचनाओं का विषय नहीं बनाया। आलोच्य काल के बाद सेवक, भारतेंदु आदि अन्य कवियों ने जीवन की नवीन परिस्थितियों के बीच रह कर काव्य के अनेक नवीन उपादान चुने। आलोच्य काल में इस प्रवृत्ति का एक प्रकार से अभाव मिलता है। यहाँ तक कि आलोच्य काल के सर्वश्रेष्ठ कवि पद्माकर ने यद्यपि 'हिम्मत बहादुर विरदावली' जैसी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वहीन रचना का निर्माण तो किया, किन्तु अपने समय की अँगरेज़ शासकों से संबंधित ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण और युगांतरकारी घटनाओं के प्रति वे भी उदासीन रहे। इससे स्पष्ट है कि आलोच्यकालीन हिन्दी कवि परम्परा और रूढ़ि के बंधनों में कहाँ तक ग्रस्त थे। वे काव्य-प्रधान हिन्दी साहित्य में कोई नवीन विषय या नवीन दृष्टिकोण उपस्थित कर ताज़गी न ला सके। आलोच्यकालीन काव्य का अध्ययन करते समय यह तथ्य ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है। आगे के पृष्ठों में काव्य के संबंध में जो कुछ कहा गया है वह इसी दृष्टिकोण से कहा गया है और इसी दृष्टिकोण से उसे पढ़ा भी जाना चाहिए। सच बात तो यह है कि इस काल का महत्त्व गद्य के विकास की दृष्टि से है न कि काव्य की दृष्टि से, जो प्रधानतः परम्पराविहित था और जो अपने जीवन के संध्याकाल से गुज़र रहा था। अवस्था के भार से उसकी कमर झुक गई थी; केवल युवावस्था की स्मृतियाँ उसके जीवन का सहारा बनी हुई थीं।

आगे के पृष्ठों में काव्य का अध्ययन करते समय उन बातों का उल्लेख नहीं किया गया जो सामान्यतः अन्य इतिहास-ग्रंथों में उपलब्ध हैं; उन बातों का उल्लेख करना केवल पिष्टपेषण मात्र होता। इसलिए कवियों की कृतियों का अध्ययन करते समय केवल उन्हीं बातों का उल्लेख किया जाना समीचीन जान पड़ा जिनका संबंध आलोच्यकालीन जीवन से है।

अस्तु, इस संक्षिप्त प्रस्तावना और आलोच्यकालीन जीवन की पीठिका को ध्यान में रखते हुए ही आगे काव्य का अध्ययन किया जायगा। काव्य का उल्लेख पहले इसलिए किया गया है क्योंकि आलोच्य काल में यही प्रधान साहित्यिक संपत्ति थी।

१. वीर काव्य

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का हर्षवर्धन (७वीं शताब्दी) की मृत्यु के बाद का समय घोर अशांति और विप्लव का युग था। भारतीय राजनीतिक जीवन अनेक छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट गया था और उसे एक सूत्र में गूँथने वाली कोई शक्ति न रह गई थी। उत्तर भारत में दिल्ली, कन्नौज, अजमेर आदि नगर राजनीतिक केन्द्र थे और तोमर, राठौर, चौहान आदि राजपूत-वंश राज्य करते थे। इन राजपूत-वंशों में पारस्परिक ईर्ष्या और कलह का प्राबल्य हो गया था। धर्म और समाज में भी अनेक दोष उत्पन्न हो गए थे। इन सभी कारणों से भारतीय राजनीतिक शक्तियाँ निर्बल हो चली थीं। इस दुरवस्था से लाभ उठा कर मुसलमान आक्रमणकारी भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर आक्रमण करने लगे। राजपूतों में व्यक्तिगत वीरता और शौर्य का अभाव न था; अभाव था एक संगठित शक्ति का। अनेक राजपूत वीरों ने हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि दी। किन्तु व्यक्तिगत रूप में बढ़ते हुए शत्रु को रोक रखना असंभव था। फलतः थोड़े ही समय में समस्त उत्तर भारत मुसलमान आक्रमणकारियों से पादाक्रांत होने लगा। भारत की इस दीन-हीन राजनीतिक अवस्था की ओर न तो शासकों का ही ध्यान गया और उनके आश्रित रहने वाले तथा उनका यशगान करने वाले कवियों का ही। कविगण आर्थिक लोभ के वशीभूत हो अपने आश्रयदाताओं के व्यक्तिगत पराक्रम का गुणगान करते रहे—इस प्रकार की रचनाओं में व्यक्ति पर आधारित वीर-पूजा की भावना को आश्रय मिला है। साथ ही कवियों ने अतिशयोक्ति और अतिरंजना से कार्य किया है। हिन्दी साहित्य के आदि काल में इसी प्रकार के वीर-काव्यों का प्राचुर्य रहा। उनमें या तो विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने अथवा किसी राजकुमारी के अपहरण आदि के आधार पर छिड़े युद्ध में आश्रयदाता द्वारा प्रदर्शित वीर कृत्यों का उल्लेख है। वीर-ग्रंथों में साहित्यिक सौंदर्य का अभाव नहीं है। इन ग्रंथों में कुछ तो मुक्तक वीर-गीत के रूप में उपलब्ध हैं और कुछ प्रबन्ध-काव्य के रूप में। ये रचनाएँ अत्यधिक राजनीतिक तथा साहित्यिक महत्त्व की हैं। भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी उनका किसी प्रकार भी कम मूल्य नहीं है।

यद्यपि कविगण अपने आश्रयदाताओं के वीर कृत्यों का अतिशयोक्ति और अतिरंजना के साथ वर्णन करते रहे, किन्तु भारतीय ऐतिहासिक घटनाचक्र

में पड़कर उनके आश्रयदाताओं की राजनीतिक परिस्थितियों में अधोमुखी परिवर्तन होने के साथ-साथ वीर-काव्यों के आंतरिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुए बिना न रह सका। अठारहवीं शताब्दी में राजपूतों की राजनीतिक शक्ति पूर्णतः छिन्न-भिन्न हो गई थी। पारस्परिक युद्ध-विग्रह तथा अप्रगतिशील प्रवृत्तियों के फलस्वरूप उत्पन्न चौमुखी विनाश के कारण वे कला और साहित्य को अधिक आश्रय प्रदान न कर सके। कला और साहित्य के लिए सुख-शांति तथा धनधान्यपूर्ण वातावरण तथा सामाजिक स्थायित्व की आवश्यकता होती है। किन्तु विनाश और अधःपतन के वातावरण में भी कवि अपनी परंपरागत साहित्यिक शैलियों का अनुसरण करते रहे। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी स्मरण रखने योग्य है कि आलोच्यकालीन वीर काव्य के प्रसिद्ध रचयिताओं में कोई भी कवि परंपरागत चारण वर्ग से सम्बन्ध रखने वाला नहीं था।

आलोच्य काल में हिन्दी की वीर शैली का पालन करने वाले कवियों में सूदन और उनकी रचना 'सुजान चरित्र' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सूदन के जीवन के सम्बन्ध में अभी हिन्दी संसार को विशेष ज्ञान नहीं है। 'सुजान चरित्र' के अतिरिक्त उनके अन्य किसी ग्रंथ का भी अभी तक पता नहीं लग सका। 'सुजान चरित्र' के केवल एक सोरठे से कवि के सम्बन्ध में थोड़ा-सा परिचय प्राप्त होता है :

'मथुरापुर सुभ धाम, मथुरा कुल उतपत्ति वर।
पिता वसंत सुनाम, सूदन जानहु सकल कवि॥'

इससे ज्ञात होता है कि सूदन मथुरा के रहने वाले माथुर चौबे थे और उनके पिता का नाम बसंत था। सूदन के सम्बन्ध में जानने का दूसरा साधन उनके द्वारा दी गई एक सौ पचहत्तर कवियों की सूची है। किन्तु सूची में दिए गए कवियों के काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात न होने के कारण यह दूसरा साधन भी अधिक सहायक सिद्ध नहीं होता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि इन कवियों में से कुछ कवि सूदन के समकालीन कवि अवश्य रहे होंगे। कवि ने अपने ग्रंथ की रचना-तिथि भी नहीं दी। किन्तु ग्रंथ में सूरजमल जाट के १७४५ और १७५३ तक के युद्धों का वर्णन है। यदि यह अनुमान किया जाय कि सूदन ने आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया है, तब तो उनका रचना काल १७४५ और १७५३ के बीच में सिद्ध होता है। किन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि 'इसमें संवत् १८०२ से लेकर १८१० तक की घटनाओं का वर्णन है। अतः इसकी समाप्ति १८१० के इस-

पन्द्रह वर्ष पीछे मानी जा सकती है। इस हिसाब से इनका कविता-काल संवत् १८२० के आसपास माना जा सकता है।' मिश्रबंधुओं के विचारानुसार भी 'सुजान चरित्र' की रचना सं० १८१० के बाद हुई। वास्तव में इस संबंध में अंतिम निर्णय अभी होने को है। इस ग्रंथ में सूरजमल के सात जंगों का वर्णन है। अंतिम जंग का वर्णन अपूर्ण प्रतीत होता है। इसलिए जब तक ग्रंथ की यकायक समाप्ति के कारण के संबंध में भी अंतिम निर्णय न हो जाय तब तक ग्रन्थ की रचना-तिथि के सम्बन्ध में भी कोई अंतिम निर्णय नहीं दिया जा सकता। संभव है अंत में कवि ने ग्रंथ की समाप्ति के सम्बन्ध में कोई तिथि दी हो। सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल जाट के आश्रय में रहते थे।

'सुजान चरित्र' एक प्रबन्ध काव्य है। इतिहास-लेखकों का मत है कि आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश में अवध के नवाब शुजाउद्दौला और भरतपुर के सूरजमल जाट, ये दो व्यक्ति ही अत्यन्त धनाढ्य और शक्तिशाली नरेश थे। सूरजमल जाट के संबंध में तो कहा जाता है कि वह अत्यन्त सरल और साधारण जीवन व्यतीत करता था और इस प्रकार उसने अतुल धन-संपत्ति जमा कर ली थी। उसकी वीरता के सम्बन्ध में तो सभी इतिहास-लेखक एक स्वर हैं। उसके विरोधी तक उसकी वीरता की धाक मानते थे। इस प्रकार सूदन को एक आदर्श चरित-नायक मिल गया था। उन्होंने जिन घटनाओं का उल्लेख अपने वृहत् ग्रंथ में किया है उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता और महत्त्व में कोई संदेह नहीं है।

'सुजान चरित्र' में सात जंग हैं। एक सर्ग में लगभग एक जंग का वर्णन है। सर्ग अंकों में विभाजित हैं। अंकों की संख्या दो से सात तक है। पहले जंग में मंगलाचरण, संस्कृत तथा १७५ भाषा-कवियों का उल्लेख, आत्म-परिचय और भरतपुर के राजवंश का वर्णन, तथा सं० १८०२ में सूरजमल और असदख़ाँ के बीच हुए युद्ध और असदख़ाँ के मारे जाने का वर्णन है। इस जंग में चार अंक हैं। दूसरे जंग में आमेर और महाराज ईश्वरीसिंह पर मर-हठों की चढ़ाई और सूरजमल की सहायता द्वारा मरहठों की पराजय का उल्लेख है। इस जंग में तीन अंक हैं। तीसरे जंग में सूरजमल और सलावत ख़ाँ के युद्ध, मुग़ल सरदारों के वध और अंत में सलावत ख़ाँ की पराजय का विशद वर्णन है। इस जंग में पांच अंक हैं। चौथे जंग में नवलराम का पठानों के हाथ से मारा जाना, वज़ीर मन्सूर ख़ाँ का अहमदशाह की आज्ञा से पठानों पर आक्रमण करने और सूरजमल को सहायतार्थ बुलाने, रुस्तम ख़ाँ और

सूरजमल के घोर युद्ध, रुस्तम ख़ाँ के मारे जाने और उसकी सेना के भाग जाने का उल्लेख है। इस जंग में सात अंक हैं। पाँचवें जंग में बड़गूजर सिंह के साथ युद्ध और उसके परास्त होने की घटना का वर्णन है। यह कथा चार अंकों में समाप्त हुई है। छठे जंग में अहमदशाह तक दिल्ली के बादशाहों, शांतनु से लेकर पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी के युद्ध, पठान-राज्य, और चग़ताई वंश के तैमूरलंग से लेकर अहमदशाह तक बादशाहों तथा उनके राजत्व-कालों की गणना, मनसूर द्वारा अकबरशाह को दिल्ली का सम्राट् घोषित करने और मनसूर का पक्ष लेकर सूरजमल द्वारा दिल्ली पर आक्रमण और शहर को लूटने तथा लूट की नाना वस्तुओं, जातियों, पुरुषों और स्त्रियों, कपड़ों, बरतनों, हथियारों की अत्यन्त विस्तृत गणना, कोटरा-युद्ध और मनसूर-जंग को अवध की नवाबी मिलने का अत्यन्त रोचक और विशद उल्लेख है। इस जंग का वर्णन छः अंकों में समाप्त हुआ है। सातवें जंग में मल्हारराव के साथ होने वाले युद्ध में सूरजमल की विजय के लिए ईश्वर-प्रार्थना है। ग्रंथ यहीं समाप्त हो जाता है। सूरजमल के विविध युद्धों की प्रधान कथा के अतिरिक्त 'सुजान चरित्र' में ब्रज-शोभा, कृष्ण-लीला, मुचकुंद की कथा आदि कुछ प्रासंगिक कथाओं का समावेश भी है। इन सब बातों की दृष्टि से यह ग्रन्थ उत्तर-मुग़ल-कालीन उत्तर भारत के इतिहास के लिए इतिहास-लेखकों के बड़े काम का है। परंपरानुसार कवि ने आश्रयदाता के पूर्वजों का उल्लेख करते हुए बहुत-कुछ कल्पना और अतिशयोक्ति से काम लिया है। इसके अतिरिक्त 'सुजान चरित्र' में उल्लिखित तिथियों तथा घटनाओं और तत्कालीन इतिहास से संबंधित इतिहास ग्रंथों में उल्लिखित तिथियों तथा घटनाओं में काफ़ी समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नता मिलती है। यदि सूदन ने आँखों-देखी घटनाओं का वर्णन किया था तो यह वैषम्य क्यों? अथवा यही माना जाय कि 'सुजान चरित्र' में उल्लिखित तिथियाँ और घटनाएँ ही ठीक हैं और इतिहास-लेखकों को उन्हें ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेना चाहिए। ग्रंथ की यह संदेहात्मकता दूर हो जाने के बाद निश्चय ही उसका महत्व और भी बढ़ जायगा।

ग्रंथ का अवलोकन करने पर पहली बात जो पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती है वह कवि की विस्तार-प्रियता है। युद्धों, घटनाओं और विविध प्रकार की वस्तुओं का उसने स्थान-स्थान पर आवश्यकता से अधिक विस्तृत वर्णन किया है।

महल सराय में रवाने हुआ तू तू करो,
मुझे अफ़सोस बड़ा बड़ी बीबी जानी का;

आलम में मालुम चकत्ता का घराना यारो,
जिसका हवाल है तनैया जैसा तानी का।
खने खाने बीच से अमाने लोग जाने लगे,
आफ़त ही जानो हुआ ओज देहकानी का;
रब की रजा है हमें सहना वजा है,
वक्त हिंदू का गजा है आया छोर तुरकानी का।'
'लुटै धांस दिल्ली निसां ज्वाल जारै।
मनौ सूर कौ तेज पापै पजारै॥
जरै रङ्ग रंगे घने काठ खम्भा।
हलै ज्वाल की झाल ज्यों पातरंभा॥
टुटै गोल मर्गोल टोड़ा सुहाटी।
मनो स्वर्ण की खानतें सोठ काटी॥
जरैं बङ्गला वङ्गली चित्रसाला।
मनौ पेपने कौ रुच्यौ ख्याल आला॥
जरैं दारु की पुत्रिका यों दतीसी।
मनौ धाम की वाम ठाढ़ी सती सी।...'

इस प्रकार के वर्णनों में यदि उसने स्त्रियों के विलाप करने का उल्लेख किया है तो वहाँ एक भाषा में नहीं, कई भाषाओं में विलाप-वर्णन है। यदि जातियों का उल्लेख किया है तो अनेकानेक जातियों के नाम गिना दिए गए हैं। इन सब बातों से कवि की बहुज्ञता का पता अवश्य चलता है, किन्तु साहित्यिक शैली की दृष्टि से वस्तुओं की विस्तृत सूची रख देने की प्रवृत्ति अधिक श्लाघनीय नहीं कही जा सकती। कहीं-कहीं तो सूदन ने वास्तव में खिलवाड़ किया है। घोड़ों की विभिन्न जातियों के नाम गिनाते समय उन्होंने सफ़ेद कानवाले, काले कानवाले, शरीर पर तरह-तरह के दाग़ वाले घोड़ों में भेद उपस्थित किया है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के भेदों-उपभेदों के संबंध में कहा जा सकता है। हाँ, सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए कवि की यह प्रवृत्ति सहायक सिद्ध हो सकती है। वे इस ग्रंथ से आलोच्य काल में व्यवहृत नाना प्रकार की वेशभूषा, आभूषणों, अस्त्र-शस्त्रों, घोड़ों, खाने-पीने की चीज़ों, तरह-तरह के मकानों और इमारतों, और आचार-विचार तथा रीति-रस्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भाषा के १७५ कवियों की सूची से हम कवि के अनेक समकालीन कवियों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। श्रीपति, उदय, करन,

सुरति मिश्र आदि कवियों से तो हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी परिचित ही है। कुछ कवियों की रचनाएँ अभी ज्ञात नहीं हो सकीं। इस संबंध में एक कठिनाई भी हो सकती है। और वह यह है कि कौन-कौन सी वस्तुएँ वास्तव में कवि के समय में प्रचलित और व्यवहृत होती थीं और कौन-कौन सी वस्तुएँ पहले से चली आ रही साहित्यिक परम्परा के रूप में गिनाई गई हैं। किन्तु यह कठिनाई होने पर भी हम इतना तो कह ही सकते हैं कि अमुक-अमुक वस्तुएँ कवि के समय तक ज्ञात थीं और इस प्रकार उन वस्तुओं का समय निर्धारित करने में 'सुजान चरित्र' से सहायता मिलती है। दिल्ली तथा उसके आसपास की बोलियों के उदाहरण भी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उपादेय हैं। तत्कालीन खड़ीबोली, पंजाबी, मारवाड़ी आदि के रूप 'सुजान चरित्र' से जाने जा सकते हैं। अस्तु, विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से कवि की प्रवृत्ति दोषपूर्ण भले ही मानी जाय, किन्तु अन्य दृष्टिकोणों से वह उपयोगी सामग्री भी प्रदान करती है।

इसके अतिरिक्त 'सुजान चरित्र' का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इससे पता चलता है कि आलोच्य काल में किस प्रकार छोटी-छोटी व्यक्तिगत बातों पर युद्ध छिड़ जाते थे और किस प्रकार पक्ष-ग्रहण करते समय प्रायः हिन्दू और मुसलमान का प्रश्न नहीं उठता था। हिन्दू नरेशों ने मुसलमानों का पक्ष ग्रहण किया और मुसलमानों ने हिन्दुओं का। नगरों पर आक्रमण करते और लूटते समय भी हिन्दू जनता और मुसलमान जनता में भेद नहीं किया जाता था। स्वयं सूरजमल ने दिल्ली के वज़ीर की ओर से युद्ध किया और दिल्ली जलाते और लूटते समय उसने हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं किया था। यही बात उसके अन्य युद्धों के बारे में कही जा सकती है। 'सुजान चरित्र' से यह भी ज्ञात होता है कि आलोच्य काल के सामन्त किस प्रकार छोटी छोटी बातों पर युद्ध में निरंतर संलग्न रहते, और देश-हित का ख़्याल न रख निरपराध जनता पर नाना प्रकार के अत्याचार करते और लूटमार, वध आदि द्वारा देश के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन को अस्थिर बना कर उसे आघात पहुँचाते थे। और यह अकाण्ड ताण्डव उस समय हो रहा था जब कि अँगरेज़ों की विदेशी जाति देश के राजनीतिक जीवन में भाग लेने लगी थी और शीघ्र ही यहाँ की स्वतंत्रता का अपहरण करने वाली थी। सूरजमल ने जिस समय दिल्ली पर आक्रमण किया उस समय नगर की जनता की अत्यन्त दयनीय और शोचनीय दशा हो गई थी। एक ही समाज के अंग होने के कारण कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं के भीषण और क्रूर कृत्यों का

विशद् वर्णन किया। देश के व्यापक हित और मानवता का ध्यान तो जैसे किसी को था ही नहीं। सब लोग विचार, कर्म और दृष्टिकोण की संकीर्ण और सीमित परिधि में रह रहे थे। विनाशोन्मुख भारतीय-इस्लामी संस्कृति के घातक चिह्न हिन्दू-मुसलमानों सब में दृष्टिगोचर हो रहे थे। देश-हित और प्रेम के उदाहरण मिल अवश्य जाते हैं, किन्तु वे स्थानीय उदाहरण मात्र हैं। तत्कालीन राजनीति में यद्यपि सूरजमल का अत्यन्त उच्च स्थान था और वह इस काल के प्रमुख व्यक्तियों में था, किन्तु वह भी छोटी-छोटी बातों से ऊपर न उठ सका, उसमें भी व्यापक राजनीतिक दृष्टिकोण का पूर्ण अभाव रहा। अस्तु, सूदन कृत 'सुजान चरित्र' से यद्यपि तत्कालीन अराजकतापूर्ण राजनीतिक परिस्थिति पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है और अनेक छोटे-छोटे स्थानीय राजनीतिक नेताओं के नाम ज्ञात होते हैं, तो भी उसमें किसी युगांतरकारी राजनीतिक और ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नहीं मिलता।

आलोच्यकालीन वीर-काव्य-संबंधी अध्ययन की दृष्टि से सूदन के बाद पद्माकर (१७५३-१८३३) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—इसलिए नहीं कि उन्होंने किसी महत्त्वपूर्ण वीर-काव्य की रचना की, वरन् इसलिए कि रीति-परंपरा के अंतिम प्रसिद्ध कवि ने भी एक वीर-काव्य की रचना की। पद्माकर मोहनलाल भट्ट के पुत्र और तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्म मध्यप्रान्तान्तर्गत सागर में हुआ था। पद्माकर कई दरबारों में रहे और जिस सामन्त ने उन्हें आश्रय प्रदान किया उसी का उन्होंने यश-गान किया। वे सागर-नरेश रघुनाथ राव आपा सुगरा निवासी नोने अर्जुन सिंह, रजधान के गुसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर, जयपुर के महाराज प्रतापसिंह और जगतसिंह, और ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिंधिया के राज-दरबारों में रहे और, कहा जाता है, कि वे उदयपुर और चरखारी के राज-दरबारों में भी रहे थे। अपने सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथों, 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण', की रचना उन्होंने महाराज जगतसिंह के आश्रय में रह कर की थी। पद्माकर कृत स्फुट वीररस-सम्बन्धी छंदों के अतिरिक्त 'हिम्मत बहादुर बिरदावली' उनका स्वतंत्र वीर-ग्रंथ है।

'हिम्मत बहादुर बिरदावली' की रचना १७६२ के लगभग हुई। इस ग्रंथ में हिम्मत बहादुर के अनेक युद्धों तथा सुगरा निवासी नोने अर्जुनसिंह के साथ बनगाँव में हुए युद्ध का वर्णन है। पद्माकर ने बनगाँव के युद्ध की तिथि वैशाख बदी द्वादशी, बुधवार सं० १८४६ वि० (१७६२ ई०) दी है। बुन्देलखण्ड गज़टियर में इस युद्ध की तिथि १७६६ दी है। वैसे पद्माकर स्वयं १७६२ से १७६६ तक हिम्मत बहादुर के साथ थे। इसलिए इस ग्रंथ की रचना इसी

बीच हुई होगी। हिम्मत बहादुर कुल पहाड़ में रहने वाला ब्राह्मण-पुत्र और राजेन्द्र गिरि नामक गोसाईं का शिष्य था। गोसाईं जी से हिम्मत बहादुर (अनूप गिरि) ने युद्ध-विद्या सीखी थी। हिम्मत बहादुर का बड़ा भाई उमरावगिरि भी गोसाईं जी का शिष्य था। गोसाईं जी की मृत्यु के पश्चात् अनूपगिरि अवध के नवाब शुजाउद्दौला के यहाँ सेना में नौकर हो गया। शुजाउद्दौला ने ही उसे 'हिम्मत बहादुर' की पदवी दी। नवाब ने जब उसे बुंदेलखंड जीतने के लिए भेजा तो वह बुरी तरह पराजित हुआ और बाँदा के सेनापति अर्जुनसिंह से मुंह की खाई। हिम्मत बहादुर ने थोड़े दिनों बाद बनगाँव में अर्जुनसिंह का बड़ी कायरतापूर्वक वध करवाया। पद्माकर ने अपने ग्रंथ में इसी लड़ाई का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसके बाद हिम्मत बहादुर अधिक दिनों तक जीवित न रह सका और उसकी जागीर भी अन्त में अँगरेज़ों के हाथ में चली गई। 'हिम्मत बहादुर विरदावली' में मंगलाचरण के बाद बुन्देलखंड की चढ़ाई, हिम्मत बहादुर की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा और उसके आतंक और हिम्मत बहादुर तथा अर्जुनसिंह के युद्ध का वर्णन और अन्त में हिम्मत बहादुर को आशीर्वाद है। इस ग्रंथ के पात्र तो सभी ऐतिहासिक हैं, यद्यपि उत्तर भारत के इतिहास में उनका कोई महत्त्व नहीं है किन्तु पद्माकर का यह कथन कि अर्जुनसिंह हिम्मत बहादुर के हाथ से ही मारे गया, इतिहास द्वारा प्रमाणित नहीं है। इतिहास-ग्रंथों में अर्जुनसिंह की मृत्यु उसी के वंशजों द्वारा बताई गई है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि पद्माकर जैसे उच्चकोटि के कवि ने ऐतिहासिक दृष्टि से एक नगण्य व्यक्ति का यशगान करने में अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया और वर्णन करते समय उन्होंने भी परम्परागत अतिरंजनापूर्ण शैली का अवलंबन ग्रहण किया। सूदन की अपेक्षा पद्माकर में काव्यत्व और भाषा-सौन्दर्य अधिक मिलता है; सूदन में तो यथातथ्य वर्णनों की भरमार है। उदाहरण के लिए युद्ध-क्षेत्र में चल रही गुजराती तलवार का वर्णन करते हुए पद्माकर कहते हैं:

'उमड़ि अमित गति करि करि ताछन,
जीतत जनु कुलटान कटाछन।
थिरकन थिरकि चलति अंग अंगनि,
जीनन जुर्माक पीन मग संगनि॥"

अथवा आगे चलकर युद्ध का वर्णन करते हुए कहते हैं :

'तहँ रन उतङ्ग मतङ्ग माते
उमड़ि बद्दल से रहे।
चहुँ ओर धुरवा से घुमड़ि
घर धूरि धारन के थहे॥
झम झम झलासे वान वर
चपला चमक वरछीन की।
भननात गोलिन की भनक
जनु धुन धुकार झिलीन की॥ ८०॥
दिसि दिसन दादुर से उमगि
सुन कवि दूंदि मचावहीं।
कलकीर कोकिल से तहाँ
ढाढ़ी महाधुनि छावहीं॥
रन रंग तुंग तुरंग गण
सत्वर उड़त्त मयूर से।
तहँ जगमगाँनी जामगी
चुगनूनहू के पूर से॥ ८१॥'

वास्तव में पद्माकर प्रतिभाशाली कवि थे। किन्तु अपनी समकालीन परिस्थितियों के प्रभाव से वे भी न बच सके। इसीलिए हिम्मत बहादुर जैसे ऐतिहासिक दृष्टि से नगण्य व्यक्ति को अपना चरित-नायक बनाते हुए भी उनकी काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हुए बिना न रह सकी। अतएव उपर्युक्त उदाहरण व अतिरिक्त अन्य अनेक सुन्दर उदाहरण 'हिम्मत बहादुर बिरदावली' में मिल जाते हैं।

जिस प्रकार सूदन की कृति से अनेक वस्तुओं और जीवन-सम्बन्धी तथ्यों का परिचय प्राप्त होता है, उतना और वैसा परिचय पद्माकर की कृति से प्राप्त नहीं होता। किन्तु पद्माकर की कृति में एक दूसरी विशेषता है। सूदन ने यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के नाम गिनाए हैं तो पद्माकर ने एक हथियार के विभिन्न प्रकारों के नामों का विस्तार सहित उल्लेख किया है, जैसे, तोप का उल्लेख करते समय वे अनेक प्रकार की तोपें गिना देते हैं—'रामचंगी', 'ऊँटनाल', 'गनाल', 'मुँगरी', 'चद्दर', 'सिप्पा', 'दमानक' आदि जिनमें छोटी बड़ी सभी प्रकार की तोपें शामिल हैं। इसी तरह उन्होंने 'मगरबी', 'जुनब्बी', 'बन्दरी', 'सूरती', 'लीलम', 'लहरदार', 'खुरासानी', 'निवाजखानी', 'दलेलखानी'

'जहाजी', 'मानासाही', 'मिस्री', 'गुप्ती', 'हलब्बी' आदि तलवार के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है। अस्त्र-शस्त्रों के ये नाम किसी वीर पुरुष, स्थान या शक्ल के आधार पर रखे गए थे। सेना-सम्बन्धी 'अरावो' (तेज़ी के साथ लगातार तोप का चलना), 'जामगी' (तोप छोड़ने के लिए पलीता), 'किलाया' (हाथी के सिर में बँधी हुई रस्सी जिस में महावत अपने पैरों का सहारा देता है) आदि अन्य अनेक शब्दों का पता भी उससे चलता है। सूदन तथा अन्य कवियों की रचनाओं से इस प्रकार की बातें मालूम नहीं होतीं। इस दृष्टि से पद्माकर कृत 'हिम्मत बहादुर विरदावली' एक उपयोगी ग्रंथ है।

सूदन की रचना की भाँति इस रचना से भी तत्कालीन सामंतों के छोटी-छोटी बातों पर आधारित पारस्परिक विध्वंसकारी युद्धों, हिन्दू-मुसलमानों के भेदभाव और व्यापक राजनीतिक दृष्टिकोण तथा अपनी दुनिया की सीमित परिधि से बाहर होने वाली बातों के ज्ञान के अभाव का परिचय प्राप्त होता है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि आलोच्य काल के सामंतों को अपनी शक्ति की अपेक्षा ज्योतिष में अधिक विश्वास हो गया था। यह एक पतनोन्मुख सामाजिक व्यवस्था का प्रतीक था। 'हिम्मत बहादुर विरदावली' के प्रारंभिक अंश में हमें इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। युद्ध-क्षेत्र में जाने के लिए ज्योतिषियों से शुभ दिन निकलवाया जाता है, और उस शुभ दिन के आने तक युद्ध-यात्रा स्थगित कर दी जाती है,[1] यद्यपि ज्योतिषियों की भविष्य वाणी शायद ही कभी सच निकलती थी। सैयद ग़ुलाम हुसेन ख़ाँ के कथनानुसार बक्सर की लड़ाई में जाते समय शुजाउद्दौला ने भी ज्योतिषियों से शुभ दिन निकलवाया था। किन्तु उस युद्ध का परिणाम सर्वविदित है। इसी प्रकार 'हिम्मत बहादुर विरदावली' में अर्जुनसिंह ने अपने अनुयायियों को जो उपदेश दिया है, वह साहित्यिक दृष्टि से भले ही नीरस और अरुचिकर हो, किन्तु उससे यह ज्ञात होता है कि आलोच्य काल में क्षत्रिय जाति अपने उत्साह और बल की अपेक्षा जंत्र-मंत्र-गुटिका और कवचादि में अधिक विश्वास करने लगी थी। राजाओं के लिए द्यूत-क्रीड़ा के 'आवश्यक गुण' का भी 'विरदावली' में उल्लेख है। आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश के सांस्कृतिक जीवन-सम्बन्धी अनेक संकेतों के अतिरिक्त उसमें अनेक स्थानीय सामंतों और उनकी वंशावलियों का उल्लेख मिलता है, किन्तु जिनका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ भी नहीं है।

साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर 'हिम्मत बहादुर बिरदावली' एक सफल रचना नहीं कही जा सकती। पद्माकर जैसे प्रतिभा-संपन्न कवि की इस असफलता के कई कारण थे। वास्तव में वे प्रधानतः शृंगारी कवि थे। वीर-काव्य की रचना तो, ऐसा प्रतीत होता है, उन्होंने अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए की। इसके अतिरिक्त प्रबंध-काव्य-रचना की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। जो चमत्कार और रस की निष्पत्ति मुक्तक काव्य में संभव है वह प्रबंध-काव्य में सहसा संभव नहीं है। कथा के पूर्वापर सम्बन्ध पर ध्यान रखते हुए उसमें रसात्मकता उत्पन्न की जा सकती है। पद्माकर को अभ्यास न होने के कारण ऐसा करने में सफलता नहीं मिली, यद्यपि बीच-बीच में अनेक काव्यत्वपूर्ण स्थल अवश्य मिल जाते हैं। 'हिम्मत बहादुर बिरदावली' का महत्त्व कम करने वाले कारणों में से एक कारण चरित-नायक की क्षुद्रता भी है। चरित-नायक का इतना महान् व्यक्तित्व नहीं कि वह पाठकों में वीरोल्लास उत्पन्न कर सके। साथ ही, सूदन के 'सुजान चरित' की भाँति, नाना वस्तुओं की विस्तृत की सूचियाँ भी ग्रंथ का साहित्यिक सौंदर्य नष्ट करने में सहायक सिद्ध हुई हैं, यद्यपि पूर्वोल्लिखित दृष्टिकोण से उनका महत्त्व भी है।

'सुजान चरित' और 'हिम्मत बहादुर बिरदावली' के अतिरिक्त आलोच्य-काल में एक ही चरित-नायक को लेकर तीन रचनाएँ हुई और जोधराज, चन्द्रशेखर वाजपेयी और ग्वाल उनके रचयिता हैं। इन तीनों कवियों ने रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव (ईसा की १४वीं शताब्दी के लगभग प्रारंभ में) का यश-वर्णन किया है। भारतवर्ष की वीर-परम्परा में यद्यपि हम्मीरदेव का उच्च स्थान है, किन्तु उनका आलोच्य काल से सम्बन्ध नहीं था। सूदन और पद्माकर ने अपने समकालीन महत्त्वपूर्ण अथवा महत्त्वहीन चरित-नायकों का वर्णन किया।

जोधराज की रचना का नाम 'हम्मीर रासो' है। इस ग्रन्थ के निर्माण-काल के सम्बन्ध में मत-भेद है। गार्सां द तासी और ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने तो जोधराज का उल्लेख ही नहीं किया। सेंगर ने एक जोध कवि (४६) का उल्लेख किया है जो अकबर बादशाह के यहाँ था और जिसका उत्कर्ष काल सं० १५६० माना गया है। स्पष्टतः यह जोध कवि प्रस्तुत जोधराज नहीं है। ग्रियर्सन ने भी इस कवि (११८) का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने नीमराणा (अलवर) के जोधराज कवि (८६) का भी उल्लेख किया है। जयपुर के बाबू ब्रजनाथ बंद्योपाध्याय द्वारा 'जर्नल ऑव

दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल' (१८७६) में प्रकाशित 'हम्मीर रासो' के अनुवाद के आधार पर उन्होंने जोधराज को पृथ्वीराज के वंश में चंद्रभान नामक चौहान राजा के आश्रित और बिजावर (बीजबार) में उत्पन्न गौड़ ब्राह्मण बताया है। 'हम्मीर रासो' में कवि ने आत्म-परिचय के रूप में जो थोड़ी सी पंक्तियाँ लिखी हैं उनमें भी इन बातों का उल्लेख है। आत्म-परिचय में कवि ने अपने को 'बालकृष्ण-सुत' भी कहा है। किन्तु शार्ङ्गधर (७) कृत 'हम्मीर रायसा' और 'हम्मीर काव्य' का उल्लेख करते हुए संभवतः ग्रन्थों के शीर्षकों में साम्य और एक ही चरित-नायक से संबंधित कथा-वस्तु होने के कारण जोधराज का आविर्भाव-काल भी १३६३ (?) ई० माना है, अर्थात् उन्होंने जोधराज को हम्मीर का लगभग समकालीन माना है। बाबू श्याम-सुंदरदास ने ग्रंथ का निर्माण-काल १७२८ (१७८५ वि०) माना है। इस संबंध में मिश्रबन्धु का कथन है: 'उक्त बाबू साहब को खवा (जयपुर) के महाराज कुमार ने एक पत्र में लिखा कि नीमराणा (नीवागढ़) के वर्तमान महाराज श्री १०८ जनकसिंह राजा चंद्रभान की दसवीं या ग्यारहवीं पीढ़ी में हैं। एक पीढ़ी लगभग बीस वर्ष की पड़ती है, सो इस हिसाब से भी १७८५ संवत् ग्रंथ-निर्माण का ठीक जान पड़ता है। स्वयं जोधराज ने ग्रंथ समाप्ति का समय यों लिखा है—

> चंद्र नाग वसु पंच गिनि संवत माधव मास;
> शुक्ल सु त्रतिया जीव जुत ता दिन ग्रंथ प्रकास।
> भूपति नीवागढ़ प्रगट चंद्रभान चहुवान;
> साम दाम अरु भेद जुत दंडहि करत खलान।

यहाँ नाग की गिनती से सात का अर्थ लेने से संवत् १७८५ आता है, पर नागों की संख्या साधारणतया आठ की है। यथा—

> अनंतो वासुकिः पद्मो महापद्मश्च तक्षकः;
> कुलीरः कर्कटः शंखश्चाष्टौ नागाः प्रकीर्तिताः।

नागों के अर्थ आठ के लेने से संवत् १८८५ हुआ जाता है, जो उपर्युक्त महाराज कुमार के लेख के प्रतिकूल पड़ता है। जान पड़ता है कि अनंत को ईश्वर समझ कर उनको नागों की गणना से निकालकर जोधराज ने सात का बोध कराया है। जो हो, यथार्थ संवत् १७८५ ही जँचता है।' जोधराज ने नाग से आठ के स्थान पर सात का बोध कराया है, ऐसा मानना मिश्रबन्धुओं की कल्पना मात्र है। इसकी पुष्टि के लिए प्रमाण की आवश्यकता है।

वास्तव में जब तक खवा के महाराज कुमार के कथन की परीक्षा न करली जाय तब तक उनके कथन से साम्य उपस्थित करने के लिए जोधराज द्वारा दी गई तिथि को तोड़ने-मरोड़ने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पं० रामचंद्र शुक्ल के कथनानुसार जोधराज ने अपना प्रबंध-काव्य १८१८ (१८-७५ वि०)[1] में लिखा। यदि प्रेस की भूल[2] न मान इसे ठीक छपा माना जाय तो इसमें और कवि द्वारा दी गई तिथि में दस वर्ष का अन्तर निकलता है। किन्तु ऐसी दशा में पुराणोक्त अष्ट वसु के स्थान पर सात मानने का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दिखाई देता। अस्तु, ग्रंथ के निर्माण-काल के सम्बन्ध में विविध अनुमानों का आश्रय ग्रहण न कर स्वयं कवि द्वारा दी गई तिथि संवत् १८८५ वि० मानना ही उचित होगा।

अभी तक जोधराज का केवल 'हम्मीर रासो' नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सका है। प्रारंभ में मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने चंद्रभान का परिचय देते हुए आत्म-परिचय दिया है। परंपरा के अनुसार उन्होंने अपने आश्रयदाता का आदि पूर्वज सृष्टि-रचना के प्रारंभ में माना है। कमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा, मरीचि, कश्यप, धर्म, अत्रि, पुरूरवा, भृगु, परशुराम आदि पौराणिक व्यक्तियों का तथा आबू पर्वत पर क्षत्रियों की उत्पत्ति के लिए ऋषियों द्वारा किए गए यज्ञ का उल्लेख करते हुए यज्ञ-कुण्ड से क्रमशः चालुक्य, परमार और प्रतिहार क्षत्रियों की उत्पत्ति का वर्णन किया है। दैत्यों का नाश न होने पर उन्होंने दुबारा यज्ञ कर चौहान उत्पन्न किया जिसने दैत्यों का समूल नाश किया। इसी चौहान-वंश में आगे चल कर हम्मीर का जन्म हुआ। अलाउद्दीन द्वारा अपनी सुंदरी बेगम रूपविचित्रा के कारण निकाले गए महिमा को हम्मीर ने शरण दी। बादशाह ने कई बार उसे रणथंभोर से निकाल देने को लिखा, किन्तु हम्मीर ने बार-बार अस्वीकृत किया और दोनों पक्षों में घोर युद्ध छिड़ गया। अंत में अलाउद्दीन बंदी के रूप में हम्मीर के सामने उपस्थित किया गया। भूल से अलाउद्दीन के झंडे आगे रखने से रानियों ने समझा कि हम्मीर पराजित हुए और राजपूत रमणियाँ जौहर कर अग्नि में भस्म हो-

---

१—दे० उनके इतिहास का सं० १९९९ का संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण, पृ० ३८४

२—प्रेस की भूल १८८५ के स्थान पर १८७५ छप जाने में ही नहीं, वरन् १७८५ के स्थान पर १८७५ छप जाने में भी मानी जा सकती है। किंतु इसी समय के लगभग लल्लूलाल कृत 'सभा विलास' की तिथि 'ख ऋषि वसु चन्द्र' में 'वसु' का अर्थ 'आठ' ही है।

दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल' (१८७६) में प्रकाशित 'हम्मी
के अनुवाद के आधार पर उन्होंने जोधराज को पृथ्वीराज के वंश में
नामक चौहान राजा के आश्रित और विजावर (बीजवार) में उर
ब्राह्मण बताया है। 'हम्मीर रासो' में कवि ने आत्म-परिचय के रू
थोड़ी सी पंक्तियाँ लिखी हैं उनमें भी इन बातों का उल्लेख है। आ
में कवि ने अपने को 'बालकृष्ण-सुत' भी कहा है। किन्तु शार्ङ्गधर (
'हम्मीर रायसा' और 'हम्मीर काव्य' का उल्लेख करते हुए संभवतः
शीर्षकों में साम्य और एक ही चरित-नायक से संबंधित कथा-वर
कारण जोधराज का आविर्भाव-काल भी १३६३ (?) ई० माना
उन्होंने जोधराज को हम्मीर का लगभग समकालीन माना है।
सुंदरदास ने ग्रंथ का निर्माण-काल १७२८ (१७८५ वि०) मान
संबंध में मिश्रबन्धु का कथन है : 'उक्त बाबू साहब को खबा (
महाराज कुमार ने एक पत्र में लिखा कि नीमराणा (नीवागढ़)
महाराज श्री १०८ जनकसिंह राजा चंद्रभान की दसवीं या ग्यारह
हैं। एक पीढ़ी लगभग बीस वर्ष की पड़ती है, सो इस हिसाब से
संवत् ग्रंथ-निर्माण का ठीक जान पड़ता है। स्वयं जोधराज ने
का समय यों लिखा है—

> चंद्र नाग वसु पंच गिनि संवत माधव मास;
> शुक्ल सु त्रतिया जीव जुत ता दिन ग्रंथ प्रकास
> भूपति नीवागढ़ प्रगट चंद्रभान चहुवान
> साम दाम अरु भेद जुत दंडहि करत खलान

यहाँ नाग की गिनती से सात का अर्थ लेने से संवत् १७८
पर नागों की संख्या साधारणतया आठ की है। यथा—

> अनंतो वासुकिः पद्मो महापद्मश्च तक्षकः
> कुलीरः कर्कटः शंखश्चाष्टौ नागाः प्रकीर्तिताः

गईं। हम्मीर को यह जान कर अत्यन्त शोक हुआ। वे अपना सिर काट कर शिवजी को अर्पित करना ही चाहते थे कि अलाउद्दीन भी वहाँ पहुँच गया। हम्मीर के कहने से उसने रामेश्वर जाकर समुद्र में प्राण त्याग दिए और स्वयं हम्मीर ने अपना सिर शिवजी को भेंट चढ़ा दिया।

जोधराज के चरित-नायक का उत्तर-भारत की वीर-परम्परा में उच्च स्थान होने के कारण उसका वर्णन भी उसके चरित्र और उसकी ख्याति के अनुसार किया गया है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से 'हम्मीर रासो' बहुत अधिक प्रामाणिक ग्रंथ नहीं है। काव्य-ग्रंथ होने के कारण कुछ तो कवि ने ही कल्पना से काम लिया है और कुछ इतिहास के अपूर्ण ज्ञान के कारण भ्रम उत्पन्न हो गए हैं इतना होने पर भी वीर तथा शृंगार रस की निष्पत्ति, ऋतु-वर्णन, रचना-सौष्ठव, चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' एक सफल रचना है। कहीं-कहीं पर वर्णन-विस्तार, जैसे, महिमा मंगोल और रूप-विचित्रा का प्रेम-प्रसंग, अलाउद्दीन का चूहे से भयभीत होना और हिंदू देवताओं की स्तुति करना आदि कुछ बातें खटकने वाली भी हैं। वस्तुतः कवि में काव्य-प्रतिभा तो है, किन्तु वह प्रबंध-निर्वाह अधिक सुंदर ढंग से नहीं कर पाया। ऐतिहासिकता और पौराणिकता का सम्मिश्रण हो जाने से भी कथा में अव्य-वस्था और अद्भुत तथा अनहोनी बातों का समावेश हो गया है। साथ ही कवि के आविर्भाव-काल और उस समय प्रचलित अनेक रीतियों और वस्तुओं के ज्ञान के सम्बन्ध में भी 'हम्मीर रासो' से बहुत अधिक सहायता प्राप्त नहीं होती। इस दृष्टि से सूदन और पद्माकर के ग्रन्थ अधिक सहायक हैं।

हम्मीर की वीर-गाथा के आधार पर चन्द्रशेखर वाजपेयी (१७९८-१८७५) ने 'हम्मीर हठ' की रचना की। चन्द्रशेखर वाजपेयी के जीवन-वृत्त के संबंध में बहुत अधिक ज्ञात नहीं है। तासी, शिवसिंह सेंगर और ग्रियर्सन ने तो उनका उल्लेख ही नहीं किया। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' द्वारा संपादित चन्द्रशेखर कृत 'हम्मीर हठ' और 'नखशिख' में दी गई जीवनी के आधार पर मिश्रबंधुओं ने थोड़ा-सा जीवन-विवरण दे दिया है। 'रत्नाकर' जी ने कवि के पुत्र पटियाला निवासी पं० गौरीशंकर वाजपेयी से भेंट कर उनके पिता के जीवन के संबंध में सब बातें मालूम कीं। उक्त विवरण के अनुसार चन्द्रशेखर वाजपेयी का जन्म १७९८ (मिती पौष शुक्ल १०, संवत् १८५५) में मौजवाबाद, ज़िला फतहपुर में (असनी के निकट), हुआ था। कवि के पिता पं० मनीराम वाज-पेयी भी अच्छे कवि थे। भाषा-काव्य में चन्द्रशेखर असनी-निवासी करनेस

महापात्र के शिष्य थे। विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद बाईस वर्ष की अवस्था से उन्होंने देशाटन प्रारंभ किया और सात वर्ष तक दरभंगा में रहने के बाद उन्तीस वर्ष की अवस्था में जोधपुर गए और बाँकीराम दानचारण के द्वारा दरबार में पहुँचे। उस समय महाराज मानसिंह सिंहासन पर विराजमान थे। "द्वादस कला सों मारतण्ड ये उवैंगे चण्ड..." आदि कवित्त से प्रसन्न होकर महाराज ने सौ रुपया मासिक वेतन पर चन्द्रशेखर को रख लिया। महाराज मानसिंह की मृत्यु के बाद जब महाराज तख़्तसिंह सिंहासन पर बैठे तो उन्होंने किफ़ायत करनी शुरू की। आधे वेतन पर रहना स्वीकृत न होने के कारण छः वर्ष तक महाराज मानसिंह के यहाँ प्रतिष्ठापूर्वक रहने के बाद चन्द्रशेखर लाहौर की ओर महाराज रणजीत सिंह के पास चले। किन्तु संयोग से पटियालाधिपति महाराज कर्मसिंह (१८१३ में सिंहासन पर) के दरबार में पहुँचे। वहाँ कवि को यथेष्ट धन और मान प्राप्त हुआ। बाद में जोधपुर-नरेश तख़्तसिंह द्वारा बुलाए जाने पर भी वे वहाँ न गए और जीवन के अंत काल तक पटियाले में ही रहे। कभी-कभी छुट्टी लेकर वृंदावन जाया करते थे क्योंकि उनको वहीं का इष्ट था। कवि ने 'वृंन्दावन शतक' की रचना वृंदावन में ही की थी। महाराज कर्मसिंह की आज्ञानुसार उन्होंने नीति का एक वृहत् ग्रंथ प्रस्तुत किया था। महाराज की मृत्यु के बाद चन्द्रशेखर अत्यन्त उदास और दुःखी हुए। किन्तु उत्तराधिकारी महाराज नरेन्द्र सिंह (मृ० १८६२ में) ने उनकी मलीन दशा देख उनको धैर्य बँधाया और उनका पूर्ववत् आदर-मान करने का वचन दिया। उस समय महाराज नरेन्द्रसिंह हम्मीर हठ की एक चित्रावली देख रहे थे। उन्होंने कवि को आज्ञा दी कि तुम इन्हें काव्य में बाँध लाओ। चन्द्रशेखर ने उसी चित्रावली के आधार पर 'हम्मीर हठ' की रचना की। १८७५ (१९३२ सं०) में उनका स्वर्गवास हुआ। उनके बनाए हुए ग्रंथों में 'हम्मीर हठ', 'नखशिख' और 'रसिकविनोद' अधिक प्रसिद्ध हैं तथा प्रकाशित हो चुके हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से चन्द्रशेखर वाजपेयी का उपर्युक्त जीवन-वृत्त कुछ असंगत प्रतीत होता है। उन्हें उन्तीस वर्ष की अवस्था में अर्थात् १८२७ में जोधपुर गया बताया गया है। वहाँ वे छः वर्ष तक रहे। महाराज मानसिंह की मृत्यु के बाद ही वे जोधपुर छोड़ गए। किन्तु गज़टियर (राजपूताना) और सुखसंपत-राय भंडारी कृत 'भारतीय राज्यों का इतिहास' में महाराज मानसिंह की मृत्यु-तिथि १८४३ दी गई है। अस्तु, चन्द्रशेखर या तो सोलह वर्ष जोधपुर दरबार में रहे, अन्यथा वे १८२७ में नहीं वरन १८३७ में जोधपर आए होंगे। १८३७

में उनका जोधपुर आना मानने पर १८४३ में वे पटियाला गए। उस समय महाराज कर्मसिंह विद्यमान थे। पंजाब स्टेट्स गज़टियर, सरकार द्वारा प्रकाशित 'मेमोरैंडा ऑन दि इंडियन स्टेट्स' (१६३४) और सुखसंपतराय भंडारी कृत 'भारतीय राज्यों का इतिहास' के अनुसार महाराज की मृत्यु २३ दिसम्बर, १८४५ को हुई। १८४५ में महाराज नरेन्द्रसिंह सिंहासन पर बैठे और इसी वर्ष कवि ने महाराज की आज्ञानुसार 'हम्मीर हठ' की रचना की। संभवतः कवि ने महाराज कर्मसिंह के आश्रय में कोई ग्रन्थ-रचना न की। ऐसा होना असंभव प्रतीत नहीं होता क्योंकि एक तो वे उनके आश्रय में केवल दो वर्ष रहे, दूसरे उस समय पटियाला आस-पास की रियासतों के साथ युद्ध में संलग्न था और प्रथम सिक्ख-युद्ध (१८४५) भी निकट ही था। इसी वर्ष के अंत में महाराज का देहावसान हो गया।

चन्द्रशेखर ने जोधपुर में अवश्य रचनाएँ प्रस्तुत की होंगी, क्योंकि महाराज मानसिंह स्वयं इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान्, संगीतज्ञ और कवि थे। वहाँ वे बहुत दिनों तक रहे भी। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'खोज रिपोर्ट' (१६०३) में कवि कृत 'हरिभक्त विलास' और 'विवेक विलास' के सम्बन्ध में १८४० तिथि का उल्लेख और पटियाला से उनका सम्बन्ध बताया गया है। किन्तु १८४० में तो कवि का पटियाले में होना संभव प्रतीत नहीं होता। साथ ही इन ग्रंथों की रचना उस समय हुई प्रतीत होती है जिस समय महाराज नरेन्द्रसिंह के पुत्र महेन्द्रसिंह भी विद्यमान थे, क्योंकि दोनों ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में कहा गया है—'इति श्री मन्महाराजे राज गान महाराजाधिराज श्री महाराज नरेन्द्रसिंह महेन्द्र बहादुर आग्यानुगामी कवि चन्द्रसेपर'। महेन्द्रसिंह अपने पिता की मृत्यु के समय दस वर्ष के थे और महेन्द्र सिंह की मृत्यु (२६ वर्ष की अवस्था में) से दो वर्ष पूर्व चन्द्रशेखर की मृत्यु हुई।

'हम्मीर हठ' नामक वीर काव्य की रचना १८४५ में हुई :

> 'कर नभ रस अरु आतमा, संवत् फागुन मास।
> कृष्ण पच्छ तिथि चौथ रवि, जेहि दिन ग्रन्थ प्रकास ॥'

राजनीतिक दृष्टि से इस समय ब्रिटिश सरकार और लाहौर दरबार में पारस्परिक संघर्ष के कारण प्रथम सिक्ख-युद्ध छिड़ गया था। महाराज नरेन्द्रसिंह ने अँगरेज़ों को पूर्ण आर्थिक और सैनिक सहायता दी। इस युद्ध में अँगरेज़ों की विजय हुई। मंगलाचरण, ग्रंथ-निर्माण के कारण आदि का उल्लेख कर कवि ने प्रधान कथा का वर्णन किया है। एक बार वसंत ऋतु में अलाउद्दीन

अपनी रानियों के साथ शिकार खेलने गया। उसकी रानियों में मरहठी बेगम सर्वाधिक सुन्दर थी। पुरुष-वर्ग में मीर महिमा मंगोल सबसे अधिक सुंदर था। मरहठी बेगम मीर महिमा की ओर आकृष्ट होती है। प्रेम प्रसंग के समय मंगोल एक ही बाण में शेर का वध कर अपने शौर्य का परिचय देता है। एक बार अलाउद्दीन मरहठी बेगम के साथ रनिवास में बैठा हुआ था। संयोग से वहाँ एक चूहा निकल आता हैजिसे शाह अपने बाण का लक्ष्य बनाता है। इस पर बेगम हँस देती है। शाह कारण पूछता है। वह दूसरे दिन कारण बता देने का वचन देकर पहले मंगोल के पास शाह के राज्य से भाग जाने का संदेश भेज देती है। मंगोल रणथंभोर के हम्मीर देव की शरण में चला जाता है। दूसरे दिन बेगम ने अपना अपराध स्वीकार किया। अलाउद्दीन उससे तो कुछ नहीं कहता। क्रोध से आग बबूला हो उसने मंगोल को बुलवाया। उसके भाग जाने का समाचार पाकर वह हम्मीर से उसे वापिस माँगता है, किन्तु राजपूत शरणागत को छोड़ना नहीं चाहता और घोर युद्ध आरंभ हो जाता है। जिस समय दुर्ग से बाहर घोर युद्ध छिड़ा हुआ था उस समय दुर्ग में हम्मीर देव एक नर्तकी का नृत्य देख रहे थे। यह रागरंग देख कर अला-उद्दीन कट कर रह गया। उसके कहने से उद्दान मंगोल ने नर्तकी को अपने बाण से वेध दिया। दूसरे दिन फिर नृत्य हुआ। मीर महिमा ने हम्मीर से पूछा कि उद्दान को मारा जाय या सुल्तान को। हम्मीर ने कहा सुल्तान को नहीं किसी और को। मीर महिमा ने सुल्तान का छत्र काट कर धराशायी कर दिया। अलाउद्दीन भयभीत होकर भागने की सोचता है कि हम्मीर का एक भाई; नरमल, उससे जा मिलता है। रणथंभोर के दुर्ग के चारों ओर फिर घमासान युद्ध होने लगा। इस बार गंगा-जल से सिंचन तथा अन्य धर्म-कृत्य कर हम्मीर अपनी पुत्री, देवल कुमारी, से मिलने गए। देवल कुमारी अपने को अलाउद्दीन को दे देने की बात कह पिता के दीर्घकाल तक शासन करते रहने की इच्छा प्रकट करती है। हम्मीर उसे सांत्वना दे तथा बड़गूजर से मिल और अंत में माता का आशीर्वाद ले युद्ध-क्षेत्र में पदार्पण करते हैं। अंत में हम्मीर की विजय होती है। किन्तु जब वे रानियों के जौहर का समाचार पाते हैं तो अत्यंत दुःखी होते हैं और अपना सिर काट कर शिव को अर्पित कर देते हैं।

हम्मीर को चरित-नायक बनाकर शार्ङ्गधर, नयनचंद सूरि, जोधराज, ग्वाल आदि ने समय-समय पर अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इन अन्य ग्रंथों और चंद्रशेखर कृत 'हम्मीर-हठ' में वर्णित कथा की व्यापक रूपरेखा

में बहुत कुछ साम्य है, अन्तर केवल नामों या घटना-विस्तार की दृष्टि से मिलता है। जोधराज और चंद्रशेखर की रचनाओं में तो बहुत-सी बातें आपस में मिलती-जुलती हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से, जोधराज के ग्रंथ की भाँति, चन्द्रशेखर वाजपेयी की रचना में अनेक भ्रांतियाँ मिलतीं हैं। कवि ने ऐतिहासिक तिथियाँ नहीं दीं। इतिहास में हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्ध का कारण कोई स्त्री नहीं मानी गई। उसमें तो अलाउद्दीन के मीर मुहम्मद मंगोल से रुष्ट हो जाने का उल्लेख मिलता है। सुल्तान ने १३८० में रणथंभोर के दुर्ग पर अधिकार प्राप्त कर लिया था और उसने जब मीर को युद्ध-क्षेत्र में घायल अवस्था में पड़ा देखा तो उससे पूछा कि अच्छे हो जाने पर तुम क्या करोगे। उसने उत्तर दिया कि तुम्हारा सिर काट कर हम्मीर के पुत्र को दिल्ली के सिंहासन पर बिठाऊँगा। इस बात पर अलाउद्दीन ने उसे हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया। चन्द्रशेखर और जोधराज दोनों कवियों ने तमाम आपत्तियों के मूल में एक स्त्री मानी है और उनके अनुसार हम्मीर देव अलाउद्दीन से पराजित भी नहीं हुए। स्त्री का बीच में ले आना तो संभवतः वीर-काव्यों की परम्परानुसार है। लगभग प्रत्येक वीर-काव्य में वर्णित युद्धों के मूल में कोई न कोई स्त्री मानी गई है। संभवतः कवियों को इससे अपना काव्यत्व प्रदर्शित करने का अवसर मिला है। अलाउद्दीन की पराजय चरित-नायक का उत्कर्ष दिखाने के लिए ही रक्खी गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। काव्य-ग्रंथ होने के कारण स्त्रियों का ले आना तो अधिक असंगत प्रतीत नहीं होता, किन्तु अन्य ऐतिहासिक घटनाओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना कवियों के अधिकार से बाहर की बात है। किन्तु चन्द्रशेखर कृत 'हम्मीर हठ' पर विचार करते समय उसकी ऐतिहासिकता या प्रबन्ध-कल्पना के गुण-दोषों का प्रश्न उठाना तो एक प्रकार से व्यर्थ है, क्योंकि स्वयं कवि का कथन है :

'महाराज के हुकुम तें, जिहि विधि चित्र चरित्र।
सो सेखर भाषा करी, दूषन कहुँ न मित्र॥'

साहित्य की दृष्टि से चन्द्रशेखर कृत 'हम्मीर हठ' एक सुन्दर रचना है। इस ग्रंथ में अन्य ग्रंथों की अपेक्षा वीर रस का कहीं अधिक सुन्दर परिपाक हुआ है। वीर रस संबंधी वर्णनों का सच्चे और स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादक रूप में होना इस ग्रंथ की प्रधान विशेषता है। कवि ने केवल द्वित्व वर्ण वाले शब्दों द्वारा वीर रस का आभास मात्र दे देने की परम्परा का पालन नहीं किया। कवि के वीर-वर्णनों में एक सजीवता है। स्थान-स्थान पर हमें कवि के

सौंदर्य-बोध के दर्शन होते हैं। मार्मिक स्थल पहिचानने की उसमें शक्ति है। साथ ही उसने कथानक में भी कोई शिथिलता नहीं आने दी। जोधराज की भाँति चन्द्रशेखर वाजपेयी में भी विस्तार-प्रियता नहीं मिलती। उन्होंने घटनाओं के आवश्यकता से अधिक वर्णन और वस्तुओं की लंबी-लंबी सूचियाँ नहीं दीं। सेना, युद्ध-क्षेत्र, अश्वारोहियों, अस्त्र-शस्त्रों के वर्णन में उन्होंने संतुलन से काम लिया है। सूदन अपनी वर्णन-विस्तार-प्रियता के कारण मुख्य वर्ण्य विषय भूल जाते हैं। चन्द्रशेखर में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। वे किसी एक पक्ष पर ज़ोर न देकर काव्य की सुघड़ता पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते हैं। साहित्यिक दृष्टि से अनावश्यक ज्ञान-प्रदर्शन करना उनका स्वभाव नहीं है। उनके वीर रस के वर्णनों में हृदय की सरल एवं सच्ची उमंग मिलती है। युद्ध, मृगया आदि के वर्णनों के अतिरिक्त ग्रंथ में अनेक मार्मिक संवादों का समावेश भी है। उदाहरण स्वरूप ग्रंथ से कुछ छंद यहाँ उद्धृत किए जाते हैं। अलाउद्दीन की भागती हुई सेना का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

'मार गढ़ चक्कवै हमीर चहवान चक्र डारे गोल गरद मिलाय मद मानी के। लोटैं रेत खेत एकै पोटैं लेत देत एकै चोटन समेत लड़े लाड़िले पठानी के ॥ हारे डर मारे राह वसन हथ्यार डारे वाहन संभारे कौन भरे परेसानी के। भाजे जात दिल्ली के अलाउदीन वारे दल जैसे मीन जाल तें परत दिस पानी के ॥ २१२ ॥'

इसमें 'मीन जाल तें परत दिस पानी के' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इसी प्रकार एक और वर्णन इस प्रकार है :

'धूँम धार धुँधरित धूरि धुंधरत धाम धुव।
डिगत कोट डगमगत कूट डोलन्त भूरि भव ॥
भयो सोर परचण्ड घोर चहुँ ओर दण्ड इक।
खंड खंड गिरिवर विहण्डि डार्यो अखंड दिक ॥
जिमि चंड वात बद्दल बिहद उठैं घुमण्डि उमण्डि रे।
तिमि उड़त कोट पव्वै सहित दल दव्वै तल छिति परे ॥२३१॥'

रण-प्रयाण के समय हम्मीर की माता अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए कहती है :

'तीरां ऊपर तीर सहि, सेलां ऊपर सेल।
खग्गां ऊपरि खग्ग सहि, इन सन्मुख सुत खेल ॥ २७६ ॥

> भुज मुख छाती सामुहैं, घावाँ ऊपर घाव।
> पलक न झंपे पूत की, चढ़े चौगुनौ चाव ॥ २८० ॥'

ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनका एक-एक शब्द प्रभावोत्पादक और रोमांचित कर देने वाला है। चन्द्रशेखर वाजपेयी की कविता में काव्यगत तीनों गुणों का सुन्दर समन्वय मिल जाता है। वीर रस के वर्णनों में कवि ने ओज शैली के अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

वीर रस के अतिरिक्त कवि ने अपनी रचना में अन्य रसों को स्थान देकर अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। वीर रस के साथ-साथ रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का उद्रेक प्रायः स्वमेव हो जाता है। साहित्य में ऐसी परंपरा भी मिलती है। युद्ध-क्षेत्र में रक्तपात, मृत सैनिकों आदि का उल्लेख करते हुए कवि वीभत्स रस के अंतर्गत महेश, जोगिनी, महेश के गण आदि को साहित्यिक परंपरा के अनुसार ही ले आता है :

> 'चुञ्चन चुत्थैं गृद्ध मांस जंवुक मिलि भच्छैं।
> चाटैं चरवि पिसाच प्रेत गहि हाड़ प्रतच्छैं॥
> भपैं मोद भरि भूत रुण्ड भैरव लै भज्जैं।
> गहि कपाल रन पान करत चंडी गल गज्जैं॥
> नाचैं निहारि जुरि जोगिनि सुभट जच्छ कन्या वरैं।
> रन भुम्मि भये कायर विमुख सूर समर साका करैं ॥३३१॥'

युद्ध के अंत में कवि ने शान्त रस का भी सुन्दर चित्रण किया है। किन्तु वीर रस छोड़ कर अन्य रसों का उद्रेक करने में कवि की काव्य-प्रतिभा का जितना अधिक परिचय शृंगार-रस-वर्णन या प्रेम-पूर्ण स्थलों के वर्णन में मिलता है उतना अन्य किसी में नहीं मिलता। भाव और भाषा दोनों दृष्टिकोणों से वे एक उच्च कोटि के रीतिकालीन कवि सिद्ध होते हैं :

> 'थोरी थोरी वैसवारी नवल किसोरी सबै भोरी भोरी बातनि बिहँसि मुख मोरतीं। बसन बिभूषन बिराजत बिमल तन मदन मरोरनि तरकि त्रिन तोरतीं॥ प्यारे पातसाह के परम अनुराग रंगी चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं। काम अबला सी कलाधर की कला सी चारु चंपक लता सी चपला सी चित चोरतीं ।११।'

वास्तव में 'हम्मीर हठ' में चंद्रशेखर वाजपेयी की चौमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। यद्यपि उनके ग्रन्थ में आलोच्यकालीन सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध

में अधिक बातें ज्ञात नहीं होतीं, किन्तु उन्होंने अपनी रचना द्वारा हिन्दी की वीर और रीति दोनों परम्पराओं का सुंदर निर्वाह किया है। साहित्य के रीति-कालीन युग में तो वे पालित-पोषित ही थे और आलोच्यकालीन कवियों में निश्चिय ही उनका उच्च स्थान माना जा सकता है। उनकी रचना से अन्य प्रसिद्ध वीर और रीति कवियों की स्मृति सजग हो उठती है।

हम्मीर देव की वीरगाथा के सम्बन्ध में ग्वाल कवि (रचनाकाल १८२२-६१) कृत 'हम्मीर हठ' भी उल्लेखनीय है। ग्वाल कवि मथुरा के रहने वाले बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे और ब्रजभाषा काव्य-साहित्य में उनका आदरणीय स्थान है। उन्होंने १८२४ में 'हम्मीर हठ' की रचना की। ग्वाल ने 'हम्मीर हठ' की रचना क्यों कर की, यह अभी ज्ञात नहीं है। व्यापक रूप में कथानक चंद्रशेखर वाजपेयी के कथानक से साम्य रखता है, यद्यपि थोड़ा अन्तर भी मिलता है। इस ग्रन्थ से भी आलोच्य कालीन जीवन की परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जिस समय ग्वालने अपने ग्रन्थ की रचना की उस समय समस्त हिन्दी प्रदेश पर अँगरेज़ों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। किन्तु 'हम्मीर हठ' की रचना करते समय उन्होंने परम्परा का पालन ही विशेष रूप से किया है।

आलोच्य काल के कवियों में सूर्य्यमल्ल मिश्रण भी उन कवियों में से थे जो प्राचीन साहित्य-धारा की अंतिम रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। जिस समय उनका उदय हुआ उस समय न तो राजपूतों के वीर कार्य ही रह गए थे और न वीरों का यशगान करने वाले कवियों की परम्परा ही रह गई थी। किन्तु उनकी रचनाओं से प्रतीत होता है कि वे मध्य काल और आधुनिक काल के संधि-समय हिन्दी की वीर-परम्परा को अन्तिम बार अमरत्व प्रदान करने वाले एक प्रतिभासम्पन्न प्रकृत कवि थे। उस पतित समय में भी उनमें राजस्थान महान् का स्वाभिमान भरा हुआ था। सूर्य्यमल्ल भी आलोच्य काल के प्रमुख वीर कवियों में से माने जा सकते हैं। वे पिंगल और डिंगल के प्रसिद्ध विद्वान् चण्डीदान जी के पुत्र और चारण जाति की एक प्रसिद्ध शाखा मिश्रण से संबंधित थे। उनके पूर्वज ईश्वर कवि १५८३ (सं० १६४०) में राजा सूर्यमल के शासन-काल में बूँदी आए थे। सूर्य्यमल्ल का जन्म १८१४ (१८७२ वि०) और मृत्यु १८६८ (१६२५ वि०) में हुई। वे दादूपंथी साधु श्री स्वरूपदास के शिष्य थे। अपने बाल्यकाल में ही उन्होंने अद्वितीय प्रतिभा का परिचय देना प्रारंभ कर दिया था। बीस-पचीस वर्ष की अवस्था में वे पूरे आशु कवि हो गए थे। बड़े होने पर सूर्य्यमल्ल बड़े विलासी और मद्यप; संवेदनशील, कवि, पंडित, गुणी, और

उग्र एवं स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति हुए। उन्होंने छः विवाह किए,किन्तु सन्तान एक भी न हुई। इसलिए उन्होंने मुरारिदान (१८३८-१९०७, सं० १८ ५-१९६४) को, जो आगे चल कर एक प्रसिद्ध कवि हुए, गोद ले लिया था। अनेक फुटकर छंदों के अतिरिक्त 'वंशभास्कर' और 'वीरसतसई' उनके दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कहा जाता है उन्होंने 'बलवंत विलास' (१८५८) और 'छंदो मयूख', 'रामरंजाट' (१८२५), 'सती रासो', धातु रूपावलि' नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की। 'वंशभास्कर' एक बृहत् ग्रन्थ है और उसकी रचना बूँदी-नरेश राजा रामसिंह (१८२१-१८८८) की आज्ञा से १८४० में हुई। 'वंशभास्कर' में दिए हुए चौहानों तथा हाड़ों के इतिहास का गद्यात्मक सारांश 'वंशप्रकाश' के नाम से पं० गंगासहाय ने प्रसिद्ध किया है। वास्तव में 'वंशभास्कर' एक बृहत् इतिहास-ग्रन्थ है जिसमें प्रधानतः बूँदी तथा प्रसंगवश राजस्थान की अन्य रियासतों के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। ग्रंथ के लिखने में प्राचीन भाटों की ख्यातों, पुराणों, नाटकों, काव्यों आदि से सहायता ली गई है। उसमें कवि का काव्यत्व की ओर जितना लक्ष्य रहा है उतना ऐतिहासिक सत्य की ओर नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें वैज्ञानिकता का अभाव और त्रुटियाँ तथा कृत्रिमता पाई जाती हैं। कवि ने परम्परागत चारण-शैली में अपने आश्रयदाता और उसके पूर्वजों का गुणगान किया है। इसीलिए उनके वर्णनों में काव्यात्मक सौन्दर्य तो स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है, किन्तु अतिरंजना भी उनमें बराबर पाई जाती है। ग्रन्थ में वीर रस का अत्यन्त प्रभावपूर्ण और सजीव एवं चित्रोपम वर्णन है जिससे कवि के हृदय की सच्ची उमंग का परिचय प्राप्त होता है। राजपूत रमणियों और वीरों का नैसर्गिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में कवि सिद्धहस्त है। युद्धों के अत्यन्त सांगोपांग और रोमांचकारी वर्णनों के साथ-साथ उसमें नामावली का बाहुल्य भी है। सूर्य्यमल्ल कई भाषाओं और अनेक विषयों के पंडित थे। उनके अत्यन्त विस्तृत ज्ञान का परिचय ग्रंथ में स्थान-स्थान पर मिलता है। नामावली के बाहुल्य और पांडित्य-प्रदर्शन के कारण काव्य की सरसता को आघात अवश्य पहुँचा है। काव्य-सौन्दर्य भी सब स्थानों पर समान रूप से नहीं पाया जाता। ग्रन्थ ओजगुण से पूर्ण और अनेक प्रकार के छन्दों तथा प्रासंगिक कथाओं से पूर्ण है। उसमें सुगम और सुबोध भाषा के रूप कम ही दर्शन होते हैं। भाषा की क्लिष्टता के साथ उसमें अर्थ-काठिन्य भी बहुत पाया जाता है। सूर्य्यमल्ल इतिहास की वैज्ञानिक पद्धति से भले ही अपरिचित रहे हों, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे सत्यवक्ता थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता और उनके पूर्वजों तक के

अवगुणों का वर्णन करने में संकोच नहीं किया। सूर्य्यमल्ल-साहित्य के विद्यार्थियों का मत है कि जब उन्होंने राजा रामसिंह के दोषों का वर्णन प्रारम्भ किया तो यह राजा को अच्छा न लगा और इस प्रकार १८५६ में 'वंशभास्कर' का निर्माण बंद हो गया, यद्यपि तीन वर्ष आगे तक वह थोड़ा-बहुत लिखा जाता रहा। कहा जाता है बाद को मुरारिदान ने उसे पूर्ण किया। सूर्य्यमल्ल के 'वंशभास्कर' का हिन्दी की चारण-परम्परा में लिखे गए ग्रन्थों में अत्यन्त उच्च और आदरणीय स्थान रहेगा। उसे राजस्थान का महाभारत कहा जाता है।

सूर्य्यमल्ल का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीरसतसई' है। उनका यह ग्रन्थ भी अपूर्ण है और उसके केवल २८८ दोहे मिलते हैं। अपभ्रंश से चली आ रही वीर-दोहों की तथा हिन्दी की सतसई परम्परा में 'वीरसतसई' अमर रहेगी। स्वयं कवि के अनुसार उसकी रचना १८५७ (१९१४ वि०) में हुई। राजनीतिक दृष्टि से यह वर्ष सन् ५७ के विद्रोह का वर्ष था। सूर्य्यमल्ल देशभक्त और रजपूती स्वाभिमान से भरे हुए कवि थे। राजपूतों की और सामान्यतः देश की दुर्दशा देख कर उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती थी, यद्यपि अपने जीवन की परिस्थितियों के कारण वे अपनी देशभक्ति-सम्बन्धी भावनाओं का स्पष्ट प्रकटीकरण नहीं कर सके। विद्रोह के समय वे चाहते थे कि राजपूत शक्ति फिर से संगठित और जाग्रत् हो। किन्तु राजपूत नरेशों की विलासिता, पारस्परिक कलह तथा द्वेष, और उनकी देश की दीनहीन दशा तथा राजस्थान की शौर्य-परम्परा और क्षात्र धर्म के प्रति उदासीनता देखकर कवि को अत्यन्त क्षोभ हुआ। 'वीरसतसई' की रचना द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें उन्होंने जगाना चाहा, किन्तु उनकी आशा पूर्ण न हुई। 'वीरसतसई' विद्रोह-सम्बन्धी परिस्थिति से प्रभावित होकर लिखी गई थी, इस सम्बन्ध में स्वयं 'सतसई' में अस्पष्ट और बहुत क्षीण संकेत मिलते हैं, किन्तु इस बात की पुष्टि उनके कुछ पत्रों से हो जाती है। अपने उद्देश्य की पूर्ति न होते देख कर उन्होंने क्षोभ और ग्लानिवश 'सतसई' की रचना ही बन्द कर दी :

'डोहे गिड़ बन वाड़ियां, द्रह ऊंडा गज दीह।
सीहण नेह सकेक तौ, सहल भुलाणौ सीह॥२८८॥'

मंगलाचरण के बाद सूर्य्यमल्ल ने 'वीरसतसई' में एक ऐसे वीर समाज की कल्पना की है जिसमें नारी वीरता और स्वतंत्रता की प्रतीक है, जिसमें वह केवल प्रेम करना ही नहीं जानती वरन् जो युद्धक्षेत्र की विभीपिकाओं से भी नहीं घबराती, जो

कायर पति की पत्नी बनने या बने रहने या कायर पुत्र की माता होने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना कहीं अधिक अच्छा और गौरवपूर्ण समझती है:

'सहणी सबरी हूं सखी दो उर उलटी दाह।
दूध लजाणौ पूत सम, बलय लजाणौ नाह ॥१४॥'

पत्नी अपने पति के लिए युद्ध-कर्म को ही उसके मनोविनोद का साधन समझती है। स्वयं कवि के शब्दों में 'वीरसतसई' वीर-भक्षिणी और कायरों के लिए शल्य समान है। उसके सुनते ही वीर पुरुष उबल पड़ते हैं। 'वीरसतसई' के समाज में रानियाँ शृंखलाओं को तोड़ फेंकने वाले सिंहों के समान पृथ्वी के वीर पतियों को जन्म देती हैं, जहाँ के वीरों के लिए देश और विदेश में कोई अन्तर नहीं, जहाँ कायर पति घर में वीरांगना से तिरस्कृत होता है, और जहाँ माता का स्तनपान करने वाले के लिए प्राणोत्सर्ग करना अनिवार्य है। कवि ने ऐसे वीरों की कल्पना की है जो सिर हथेली पर लिए फिरते हैं। समाज की इन वीर नारियों का यह वही रूप है जो हमें गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (१०९३-११४२) और उनके भतीजे कुमारपाल (११४२-११७३) के आश्रय में रहने वाले प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के निम्नलिखित जैसे उदाहरणों में मिलता है :

'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु ॥'

इसके अतिरिक्त 'वीरसतसई' में सूर्यमल्ल ने अपने देश-प्रेम का भी पूर्ण परिचय दिया है। वीर जहाँ जन्म लेता है वहाँ का कण-कण उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। वैभव और ऐश्वर्य से पूर्ण नरेशों के महलों की अपेक्षा वीर का झोंपड़ा कहीं अधिक अच्छा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में जननी जन्मभूमि का कष्ट-निवारण करने वाले के प्रति उन्होंने अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले राजपूत नरेशों पर व्यंग्य किया है। वास्तव में जिस समय उन्होंने 'वीरसतसई' की रचना की उस समय समाज में युद्धोन्माद उत्पन्न करना उनका मुख्य ध्येय था। सूर्यमल्ल का यह ग्रंथ राजस्थान के वीरों और वीरांगनाओं की शताब्दियों से संचित सभी प्रकार की उदात्त परम्पराओं से भरा हुआ है। इससे हमें राजपूत समाज में प्रचलित अनेक रीति-रस्मों और आचार-विचारों का पता चलता है। राजपूतों में प्रचलित सती-प्रथा के स्थान-स्थान पर संकेत मिलते हैं :—

'भूल न दीजै ठाकुरां, पायक माथै पाव।
राख रहीजै दाभियां, तियां धरीजै चाव ॥ ३३ ॥ आदि

इसी प्रकार राजपूतों में युद्ध के समय अथवा व्यसन के रूप में अफ़ीम का प्रचारः

'ऊगै जिम दूणा अमल, लीजै घाज अठेल।
मरजाणी रा खेल में, घरजाणी रा खेल ॥ १६० ॥'

सती होते समय स्त्री के शृंगार और उनकी विधि, स्त्रियों के आभूषणों, गो के प्रति श्रद्धा, चारणों का युद्ध-क्षेत्र में जाकर वीरों को प्रोत्साहित करने की प्रथा, विवाह के अवसर पर नैहर में ही एक दिन सुहागरात मनाने की प्रथा, राजपूतों में प्रचलित मद्य-पान आदि अनेक बातों का ग्रंथ से पता चलता है। 'वीरसतसई' में सेनाओं की मुठभेड़, तलवारों की खनखनाहट, वीरों का जयघोष, युद्ध-क्षेत्र के वीभत्स और करुणाजनक दृश्य, कायरों का प्राण-मोह आदि बातें नहीं हैं। इन बातों का वर्णन तो हमें कवि कृत 'वंशभास्कर' में मिलता है। प्रस्तुत ग्रंथ में युद्ध-वीर के अतिरिक्त दानवीर, सत्यवीर आदि का उल्लेख भी नहीं किया गया। कहीं कहीं जहाँ थोड़े बहुत संकेत हैं भी वहाँ कवि ने गागर में सागर भरने की कुशलता प्रकट की है। उसमें युद्ध-संबंधी वीर रस का प्रकृत रूप मिलता है। उसमें उत्साह ही उत्साह है। पाठक का हृदय वीर रस में अवगाहन कर निकलता है। जहाँ कायरों का मज़ाक बनाया गया है वहाँ हास्य और व्यंग्य की अवतारणा भी हुई है। 'वीरसतसई' की शैली में ओज होते हुए सरलता और स्वाभाविकता है। भाषा, अलंकार आदि किसी भी दृष्टि से उसमें क्लिष्टता और कृत्रिमता नहीं है। साथ ही दोहे जैसे छोटे-से छंद में कवि ने राजस्थान के वीर-जीवन के कर्त्तव्य-पालन-संबंधी विविध प्रकार के चित्र उपस्थित किए हैं। चित्र प्रस्तुत करने की शैली भी अलग-अलग है और ध्वनि उसकी प्रमुख विशेषता है।

वास्तव में आलोच्यकालीन वीर-साहित्य में सूर्य्यमल्ल कृत 'वीरसतसई' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। राजस्थान के अन्य कई कवियों ने वीर-रस-संबंधी दोहों की रचना की, किन्तु सूर्य्यमल्ल की रचना ही अधिक लोकप्रिय हो सकी। सूदन, पद्माकर आदि ने वीर-प्रबंधों की रचना की। स्वय सूर्य्यमल्ल ने 'वंश-भास्कर' जैसे प्रबंध काव्य की रचना की। 'वीरसतसई' एक भाव-प्रधान मुक्तक रचना है। इस दृष्टि से भी आलोच्य काल में उसका महत्त्व है। भाव, भाषा आदि की दृष्टि से 'वीरसतसई' एक उच्च कोटि की रचना है। 'वंश-

भास्कर' यदि राज-पुस्तकालयों में सुरक्षित रखने योग्य है, तो 'वीरसतसई' कंठहार बनने योग्य है :

'भागो कंत लुकाय धण, ले खग आतां धाड़ ।
पहर धणी चा पूंगरण, जीती खोल किंवाड़ ॥ १०६ ॥
बंब सुणायो बींद नूं, पेसंतां घर आय ।
चंचल साम्हे चालियो, अंचल बंध छुडाय ॥ १३२ ॥
सुणतां हाको धव सखी ! मूंछ भुहारां छूय ।
एकण लाखां आंगमे, मेटी कर-कंडूय ॥ १५२ ॥
नहँ पड़ोस कायर नराँ, हेली वास सुहाय ।
बलिहारी जिण देसड़ै, माथा मोल बिकाय ॥ १६७ ॥'

उपर्युक्त प्रसिद्ध एवं प्रमुख कवियों के अतिरिक्त आलोच्य काल में अन्य कवि भी हुए जिनकी रचनाएँ वीर-काव्य के अंतर्गत मानी जाती हैं, जैसे, किशन जी आढ़ा कृत 'भीम विलास' (१८२२), भिखारी बाबू कृत 'गढ़ मण्डला के राजवंश का वर्णन' (१८३०), अजबेश भाट (द्वितीय) कृत 'बघेलवंश वर्णन' (१८३५), मोलाराम (१७६०-१८३३) कृत 'गढ़ राजवंश' (खंडित प्रति), सरदार कवि कृत 'काशिराज प्रकाशिका' (१८६५ में प्रकाशित) आदि । वास्तव में आलोच्यकालीन जीवन की पतित परिस्थितियों में उच्चकोटि के वीर साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना होना संभव नहीं था । सूर्यमल्ल कृत 'वीर-सतसई' जैसे ग्रन्थ-निर्माण के लिए प्रतिभा की आवश्यकता थी । अस्तु, इन ग्रंथों में आश्रयदाताओं की वंशावलियों और जीवन-घटनाओं का ही प्राधान्य है

आदि के रूप में छोटे-छोटे वीर रसात्मक ग्रंथों की रचना की। वास्तव में उन्होंने वीररस को ही नहीं वरन् अन्य रसों को भी अपनी अनेक रचनाओं का आधार बनाया। इसके अतिरिक्त अनेक वीररस-संबंधी रचनाएँ तो ऐसी मिलती हैं जिनके या तो कवियों या निर्माण-काल या दोनों के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका। संभव है आगे की खोज से इन कवियों और ग्रंथों पर कुछ प्रकाश पड़े।

जिन प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है वे आलोच्यकालीन सौ वर्षों की लंबी अवधि को देखते हुए बहुत नहीं है। 'सुजान-चरित' और 'हिम्मत बहादुर बिरदावली' के चरित-नायकों में से पहले के चरित-नायक का ही हिन्दी प्रदेश के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम्मीर से संबंध रखने वाली रचनाएँ एक प्राचीन वीर-कथा का उल्लेख करती हैं, यद्यपि भारतीय इतिहास में यह कथा अत्यन्त प्रसिद्ध रही है। विशुद्ध वीर रस की दृष्टि से सूर्यमल्ल कृत 'वीरसतसई' सर्वोपरि है। सच बात तो यह है कि हिन्दी की वीर-परम्परा भक्ति काल के बाद शिथिल हो चली थी। अँगरेज़ी शासन के अंतर्गत पुराने शौर्य-प्रदर्शन के लिए कोई स्थान न रह गया था। राजनीतिक व्यवस्था में अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहे थे। ऐसी परिस्थिति में राज-दरबारों में रहने वाले कवियों की रचनाओं में आश्रयदाताओं की केवल तारीफ़ के पुल बाँधे गए हों और सच्चे वीर रस के दर्शन न होते हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उस समय आल्हा-शैली तो अवश्य प्रचलित थी, परन्तु आल्हा की वीर-गाथा का नितान्त अभाव था।

२. भक्ति काव्य :

अ. राम-काव्य

रामानंद (ज० १३००) ऐसे पहले धर्माचार्य थे जिन्होंने सबसे पहले उत्तर भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उन्होंने धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त रामानुजाचार्य (ज० १०१६-१०१७) से लिए थे। रामानुजाचार्य ने नारायण नाम पर ज़ोर दिया था। किन्तु रामानन्द ने नारायण के स्थान पर राम के साथ संबंध स्थापित कर उत्तर भारत में वैष्णव मत को नवीन रूप प्रदान किया। रामानन्द और उनके शिष्यों ने धर्मोपदेश जनसाधारण की भाषा में दिए, न कि संस्कृत में। और यद्यपि वैष्णव मत के अंतर्गत निम्न-श्रेणियों और वर्गों के लिए हिन्दू समाज में सदैव सहानुभूति रही है, तो भी

प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य सच्चे वेदान्तियों की भाँति व्यवहार न कर सके। रामानन्द ने वैष्णव मत के व्यावहारिक रूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए और ब्राह्मणों तथा निम्न श्रेणियों के बीच का भेद-भाव मिटा दिया। वैष्णव हो जाने पर सब लोग एक साथ बैठ कर भोजन तक कर सकते थे। रामानन्द ने राम और सीता की पवित्र और मर्यादापूर्ण भक्ति का प्रचार किया। काशी में अपनी शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद वे स्वामी राघवानन्द के शिष्य अवश्य हो गए थे, किन्तु उन्होंने अपने संप्रदाय के अनेक नियमों की जटिलता कम कर विविध सुधार प्रचलित किए और अपने गुरु के मार्ग से भिन्न एक नवीन प्रशस्त मार्ग का निर्माण किया। उन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय स्थापित किया और विशिष्टाद्वैतवाद के प्रति अपने निजी दृष्टिकोण का अपने शिष्यों में प्रचार किया। स्वयं उनके कई शिष्य अलग-अलग संप्रदायों के संस्थापक बने और उनके माध्यम द्वारा आधुनिक उत्तर और मध्य भारत में रामभक्ति विविध रूप धारण कर फैली और गोपाल-कृष्ण वाली भक्ति की प्रतिद्वन्द्विनी बनी। रामानन्द ने अपने मत का प्रचार ईसा की चौदहवीं शताब्दी में किया। कबीर भी उनके शिष्य थे। और यद्यपि कबीर ने राम-नाम ग्रहण किया, किन्तु उनके राम रामानन्द के राम से भिन्न थे। कबीर ने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और मूर्तिपूजा का घोर खंडन कर अपने अलग पंथ की स्थापना की। मलूक, रैदास, सेना आदि रामानन्द के अनुयायी होने पर भी आध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से कबीर के अधिक समीप थे। राम-भक्ति का सबसे अधिक प्रचार सोलहवीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने किया। उनकी रचनाओं में भी, यद्यपि वे रामानन्द की शिष्य-परम्परा में थे, विशिष्टाद्वैत का सांप्रदायिक रूप नहीं मिलता। वास्तव में उस समय गोस्वामी जी भक्ति-मार्ग के सबसे बड़े प्रवर्तक थे।

गोस्वामी तुलसीदास ने राम को एक आदर्श और आज्ञाकारी पुत्र, एक आदर्श भाई और पति, एक आदर्श शासक और, अंत में, परब्रह्म के रूप में चित्रित किया है। सीता जी भी एक आदर्श, पतिव्रता और स्नेहमयी पत्नी के रूप में हैं। गोस्वामी जी के पात्रों की विशेषता यदि किसी एक शब्द द्वारा व्यक्त की जा सकती है तो वह शब्द है—'मर्यादा'। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए मर्यादा पालन अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। संयम, नियम, प्रेम, हृदय की शुद्धता और पवित्रता, विनय, आत्म-समर्पण, [illegible], दया और जगदाधार राम के चरणों में प्रीति उनकी भक्ति के आवश्यक सिद्धान्त हैं किन्तु आलोच्यकालीन राम-कवि गोस्वामी तुलसीदास

द्वारा प्रतिपादित मर्यादा-मार्ग का अनुसरण करते हुए नहीं पाए जाते। ऐतिहासिक दृष्टि से जो प्रधान विचारणीय तथ्य है वह यह है कि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रतिष्ठापित राम-रूप के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया था। आलोच्यकालीन कवि राम, सीता, लक्ष्मण, उर्मिला तथा अन्य पात्रों को अयोध्या की गलियों में घुमाने लगे; ये पात्र सरयू नदी के किनारे विहार और क्रीड़ा करने लगे। राम 'होली', 'रास' आदि प्रेमपूर्ण क्रीड़ाओं में तल्लीन हो जाते हैं। वे अयोध्या की सुन्दरियों से प्रेम करते और रसिक बने अयोध्या की गलियों में चक्कर लगाते फिरते हैं। राम और सीता का यह रूप बहुत कुछ कृष्ण, राधा और गोपियों से प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। सखी-संप्रदाय वाले तो अपने नाम तक स्त्रियों जैसे रख कर तदनुकूल राम के प्रति अपना दृष्टिकोण भी रखते और सीता को सपत्नी या अपने को उनकी सखियाँ समझते थे। राम के संबंध में उनकी पूरी विचारधारा पाठक को ग्लानि से भर देती है। कवियों ने सीता को आज्ञाकारिणी और पतिव्रता नारी के रूप में न देख कर राम की प्रेमिका के रूप में देखा है। इस संबंध में भी कृष्ण-भक्ति का प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है क्योंकि उसमें राधा को प्रधान शक्ति मान कर कृष्ण से भी अधिक उच्च स्थान दिया गया। इससे वैष्णव मत में अश्लीलता का प्रचार हुए बिना न रह सका; उसका रूपकात्मक अर्थ चाहे जो कुछ रहा हो। कृष्ण-भक्त कवियों के अनुकरण पर राम-भक्त कवियों ने भी राम के 'अष्टयाम' लिखे और उनके 'नखशिख' का वर्णन किया। इस संबंध में कृष्ण-भक्ति के अतिरिक्त मन्दिरों के कर्म-काण्ड का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

आलोच्यकालीन कवियों ने या तो राम के रूप में परिवर्तन उपस्थित किया है और यदि ऐसा नहीं किया तो उन्होंने या तो स्वयं राम के सम्बन्ध में अथवा राम-कथा के किसी एक या कई प्रमुख पात्रों के संबंध में विनय-संबंधी रचनाएँ या स्तुतियाँ प्रस्तुत की हैं। कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने केवल अपनी भक्ति-भावना की तुष्टि के लिए वाल्मीकि कृत रामायण अथवा 'अध्यात्म रामायण' अथवा तुलसी कृत 'रामचरितमानस' की कथाओं में से किसी एक का संक्षेप में अथवा विस्तार सहित अपनी भाषा में उल्लेख किया है। बीच-बीच में वे या तो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, गुरु-महिमा, सत्य, दया, दान आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट करते चलते हैं अथवा राम से संबंधित सरयू, चित्रकूट, अयोध्या आदि पवित्र स्थानों का गुणगान कर अपनी भक्ति का परिचय देते हैं। सरयू, चित्रकूट, अयोध्या आदि पर स्वतंत्र रूप से भी विनय या

स्तुतियाँ लिखी गईं। इस प्रकार की रचनाओं के अतिरिक्त अनेक रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनमें केवल सांप्रदायिक सिद्धान्तों और कर्म-कांड का उल्लेख मात्र है। साहित्यिक दृष्टि से ऐसी रचनाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। किसी नरेश द्वारा राम-कथा-सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना होने पर राम की मृगया का अत्यन्त विस्तृत वर्णन मिलता है। वे अपने आमोद-प्रमोद तथा शृंगारी जीवन की प्रतिच्छाया राम के जीवन में देखते हैं। कथा का वर्णन करते समय राम के जन्म, विवाह, दरबार, मृगया तथा अन्य रीति-रस्मों के संबंध में तत्कालीन स्थानीय प्रभाव लगभग सभी कवियों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए, जब कवि राम या सीता के जन्म का वर्णन करने लगते हैं तो वे नामकरण, कर्णभेद, अन्नप्राशन, छठी, टोटका, दान भृत्यों द्वारा किए विविध कार्य आदि अनेक बातें ले आते हैं। इसी प्रकार विवाह का वर्णन करते समय अतिथि गृह में किए गए सभी प्रबन्धों, जैसे, दरबानों, दरबानों के अस्त्र-शस्त्रों, कलशों और उनकी सजावट, सुगंधित द्रव्यों आदि, तथा अनेक रीति-रस्मों, जैसे, आगमन, द्वार-पूजा, पुरोहित द्वारा किए गए कृत्य, दीन-दुःखियों को दान, स्त्रियों द्वारा किए गए अनेक आचार, मण्डप और उसकी सजावट, भाँवर, कुँवर कलेऊ, जौनार, पान, इत्र, गालियों आदि के अत्यन्त विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। यहाँ तक कि कवि राम, सीता आदि के कपड़ों और उनके मुख की सजावट तक का उल्लेख करना नहीं भूले। राम की राज्य-सभा का वर्णन पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानों हम किसी आलोच्यकालीन सामन्त के दरबार का वर्णन पढ़ रहे हैं। गद्दे, तकिए, फर्श-कालीन, पर्दे, शमादान, जुहार करने की प्रथा आदि सब बातें राम के 'दरबार' में मिल जाती हैं। राम और सीता के शयन-गृह में भी शमादान जलता है, फूलों से सुसज्जित शय्या पर मसहरी है, मोटे-मोटे गद्दे और चिकने तथा मुलायम तकिए, मसनद आदि सभी कुछ है। राम और सीता के समय में ये रीति-रस्म और आचार प्रचलित थे अथवा नहीं, इस संबंध में तो निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इन सब प्रकार के वर्णनों में आलोच्यकालीन हिन्दू जीवन अवश्य प्रतिबिंबित होता है। इस दृष्टि से भक्ति-काव्य वीर-काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु अत्यधिक विस्तृत और असम वर्णनों ने रचनाओं का साहित्यिक सौन्दर्य बहुत-कुछ नष्ट कर दिया है। अनेक ग्रन्थ तो केवल वर्णनात्मक हैं। वास्तव में आलोच्य काल में हमें कोई उच्च कोटि का भक्त कवि नहीं मिलता।

जिन बातों का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके संबंध में कुछ कवियों

की रचनाओं से उदाहरण दे देना असंगत न होगा। इस काल के अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों में से रूप सखी नामक कवि ने अपनी 'फागु' (१७६७ के लगभग) नामक रचना में राम और सीता को होली खेलते हुए प्रदर्शित किया है :

'लाल उठाय भुजा हसि टेरे सपा सबै ॥
आये सियाजू के सौंहै सपि निकरि पवै ॥१०८॥
राम कही हसि बात सखा सुन लीजियै ॥
फगुवा देउ मगाइ सुपो इन्है कीजियै ॥१०९॥
नाना वसन अभूपन मेवा मगाई के ॥
पहिरइ सब सखी बहुत सुख पाइ के ॥११०॥
सोई करौ सुख सिंध महारस मानि के ॥
बैठे सिंघासन साथ सिया रूप जानि कै ॥१११॥
को वरनै छवि राज किसोर किसोरी की ॥
जोरी अनूप बनी रतनायेक होरी की ॥११२॥
नाचन लागी अलीगन वाजे मृदंग है ॥
कोई न घाचे जितने होरी रंग है ॥११३॥
अंस भरे भुज देपत प्यारयौ औ प्यारी है ॥
रूप सपी ये ही औसर की वलिहारी है ॥११४॥'[1]

राम सीता की सखियों के बार सँवारते हैं, जो सीता को बुरा लगता है, उनके शरीर के विभिन्न अंगों की प्रशंसा करते हैं और अपने सखाओं से फाग खेलने के लिए कह सब सखा-सखियां के साथ शृंगारपूर्ण मुद्रा में नृत्य करने लगते हैं। स्वयं कवि ने अपना नाम स्त्रियों-जैसा रखा है। सांस्कृतिक बातों की दृष्टि से इस ग्रंथ में परंपरानुगत और सर्वविदित विषयों का ही उल्लेख है। द्विज कुशाल ने अपनी 'रामचन्द्र जी की पत्तल' (१७७१) में राम के विवाह और तत्संबंधी आचार-विचारों और रीति-रस्मों का सविस्तार वर्णन किया है।

१—पृ० १५-१६, एक अन्य कवि राम सखी ने 'रास के पद' में लिखा है :

'प हो आजु बैठे रास मंडिल में राम रसिक रंग भीने ॥
सोहत सपिन मध्य उड ससि ज्यो नटन वेप तन कीन्हें ॥
गावत हसत अजड़ जड़ मोहत प्यारी गल भुज दीन्हें ॥
राम सपे लपि यह सोभा सुप भये रतिद्वी हीन्हें ॥ ४ ॥'

विवाह के समय पत्तल खोलने का जो रिवाज हिन्दुओं में प्रचलित है उसका ज्यों-का-त्यों वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। कवि ने अनेक प्रकार के भोजनों की गणना कराने के साथ-साथ पायल, कंकण, दुलरी, चौलरी, सीसफूल आदि अनेक आभूषणों के नाम भी दिए हैं। रामचरण दास ने 'कवितावली' (१७८७) और 'राम रहस्य' अथवा 'कौशलेन्द्र रहस्य' (१७८३-१७८७ के लगभग) में राम और सीता को कृष्ण और राधा की भाँति शृंगारपूर्ण क्रीड़ाओं और लीलाओं में संलग्न होते हुए चित्रित किया है। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि रामचरण दास अयोध्या के महन्त थे और भोजन, विवाह, आभूषणों, वेशभूषा, रीति-रस्मों आदि के वर्णनों में सामान्य जीवन में प्रचलित वस्तुओं तथा व्यापारों के प्रभाव के साथ-साथ मंदिर के कर्मकाण्ड का भी प्रभाव मिलता है। भोजन और आभूषणों का वर्णन तो मंदिरों में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार है। ऐसी प्रथाएँ आज भी मन्दिरों में बरती जाती हैं। किन्तु फूल-छड़ी, सीता का राम की अँगूठी छीनना, राम का सीता के कंकण छीनना, विवाह के समय द्यूत-क्रीड़ा में प्रवृत्त होना तथा अन्य पवित्र कर्मों में संलग्न होना आदि बातें हिन्दी जनता के सामान्य जीवन का प्रभाव प्रदर्शित करती हैं। स्थानीय प्रभाव भी अलग नहीं रह सके। सांस्कृतिक दृष्टि से इस कवि की 'शत पंचाशिका' (१७८५) नामक दूसरी रचना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। बनारस के जानकीप्रसाद कृत 'युक्ति रामायण' (१८१५ के लगभग) में राम के जन्म से लंका-युद्ध तक की कथा है। यद्यपि यह ग्रन्थ प्रधानतः वर्णनात्मक है और उसमें साहित्यिक सौन्दर्य का भी अभाव है, किन्तु यह उन थोड़ी-सी रचनाओं में से है जिसमें विस्तार-प्रियता के दर्शन नहीं होते। कवि ने साधारण रूप में नामकरण, विवाहोत्सव आदि रीति-रस्मों की ओर संकेत मात्र कर दिए हैं। स्त्री-पुरुषों की प्रसन्नता का वर्णन करने की ओर कवि को विशेष रुचि प्रतीत होती है।

आलोच्य काल में राम-काव्य संबंधी एक विशालकाय ग्रन्थ रुद्र प्रतापसिंह (माण्डव्य) कृत 'सुसिद्धान्तोत्तम'[1] (१८२० के लगभग) है। उसमें वाल्मीकि के आधार पर आदि से अंत तक राम-कथा है। कवि ने यद्यपि अवधी भाषा का प्रयोग किया है और संस्कृत के अनेक तत्सम और क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से उसकी स्वाभाविकता और सरसता बहुत-कुछ जाती रही है, किन्तु उसमें प्रौढ़ता है :

१—१९०१-१९११ में नौ जिल्दों में बनारस से प्रकाशित और सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित और संशोधित

'सीय अधर मकरंद छवि केसर गौर सरीर।
रद पंकज मुक्ता सरिस स्रुति किंजल्क सुधीर ॥ ५५६ ॥
पद्मपत्र सम नयन सोहाये। अंकुर नील भौंह छवि छाये ॥
पद्म ग्रंथि सम ग्रीव सोहावन। भुजा मनहु म्रिनाल किलपावन ॥
पीत पद्म सम वच्छ सुभीता। राजहिं मनहुँ भ्रमर अनभीता ॥
नाभी जनु सर कै गंभीरा। उरु तडाग स्तंभ सधीरा ॥
थिरतर चाल मराल सधीरा। वस्त्र मनहुँ सुवारि गंभीरा ॥
भूखन सकल कनक सोपाना। तेहि सर छवि पनिहारिन जाना ॥
निसिपति-निंदक सियमुख सोहै। ससि मेचकता अलकहि जोहै ॥
नयन मनहुँ म्रिग ससि उर धारी। अधर पत्र सोइ सुधा विचारी ॥'[1]

आलोच्य काल में ऐसी प्रौढ़ भाषा के ज़रा कम ही दर्शन होते हैं। ग्रन्थ में दार्शनिकता और नीति की प्रधानता है। अवसर मिलते ही कवि राम की मृगया या आखेट का सविस्तार वर्णन करने लगता है। साथ ही इस काल के ग्रंथों में सामान्यतः मिलने वाली विस्तार-प्रियता भी मिलती है। नामकरण, छठी, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत-संस्कार, शिक्षारंभ, विवाहोत्सव की तैयारियों और रीति-रस्मों, विविध वस्तुओं (जैसे, पाग, दुपट्टा, सारी, मोती-माल आदि), दान तथा इसी प्रकार की अन्य बातों के अत्यधिक, कहीं-कहीं अनावश्यक, विस्तार के साथ वर्णन मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की अनेक नदियों, जनपदों, नर्तकियों, नटों, व्यायामशालाओं, अखाड़ों में कुश्ती लड़ने की प्रथा. तानपूरा, त्रिसूत्र, एकतारा, मृदंग, सारंगी आदि अनेक प्रकार के वाद्ययंत्रों, सती-प्रथा, दाढ़ी बढ़ाए हुए सभासदों, पर्दों, गद्दों, तकियों आदि के संबंध में भी अत्यन्त रोचक और जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालने वाले अनेक तथ्यों का पता चलता है। पुराणों पर आधारित ज्योतिष और भूगोल-संबंधी संकेत कवि के पांडित्य के परिचायक हैं। कथा पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानों राम अठारहवीं या उन्नीसवीं शताब्दी में रहते थे। राम-कथा के संबंध में रूप सहाय नामक प्रसिद्ध कवि ने 'रामचन्द्र का नखशिख' (१८२६) नामक महत्वहीन रचना की। इस काल के राम-कवियों में स्वामी भगवतदास रामानुजी का प्रमुख स्थान है। उनका रचना-काल १८३२ के लगभग माना जा सकता है। उनके 'श्री राम रहस्य' नामक ग्रन्थ में राम-कथा के, जिसका संक्षेप में वर्णन किया गया है, स्थान पर पौराणिक पक्ष अर

---

[1] ३५७-३५८

रामभक्ति के महत्त्व पर अधिक ज़ोर दिया गया है। कवि ने राम के एकान्त गुप्त चरित्र' का उल्लेख करते हुए राम के सामने एक सखी द्वारा रति-दान की याचना कराई है, यद्यपि राम अपने मार्ग पर दृढ़ रहते हैं और सखी को भक्ति और ज्ञान का उपदेश देते हैं :

'येक सषी रामहिं भरि अंका। लैगै जहाँ भवन निहसंका ॥
कहिसि करहु दासी पर दाया। मदन मोहि मारत रघुराया ॥
जथा मत्त गज केदलि उपारै। इम मनमथ मम जघन विदारै ॥
लषि तव छवि त्रभुवन त्रिय मोहै। दूरिहिं तें व्याकुल जिय जोहै ॥
मैं वसि विरह विकल तव सरनी। पालहु नाथ मेघ जिमि धरनी ॥
सुनि रघुनाथ कहा तजि कोहू। मृग लोचनी अधीर न होहू ॥
तव मम माता भगिनी दोऊ। तुम मम भगिनि अपर ना कोऊ ॥'[1]

इस कवि की दूसरी प्रसिद्ध रचना 'रामकंठाभरण' (१८३२) है जिसमें पदों और कवित्तों को मुक्तक शैली में राम-कथा का संक्षेप में वर्णन है। कवि ने राम तथा सीता और राम-पंचायतन के रूप में लक्ष्मण के रूप-सौंदर्य के साथ-साथ अवध, सरयू, दशरथ, हनुमान आदि का गुण-कीर्तन कर अपनी भक्ति प्रकट की है। राम, सीता तथा अन्य पात्रों को सखा-सखियों के साथ होली तथा अन्य शृंगारपूर्ण क्रीड़ाओं में प्रवृत्त होते हुए चित्रित किया गया है। राम दक्षिण नायक हैं जो सरयू तीर के कुंजों में सीता के साथ रति करते हैं और साथ ही सीता के बराबर ही अन्य स्त्रियों से भी प्रेम करते हैं। साथ ही सखी (कवि) में असूया के भाव भी पाए जाते है :

'कित जागे रति राम रघुनंदन ॥ भोर भये आये मेरे मंदिर
विन गुन माल भाल गे वंदन ॥ सिथल अभूपन पाग लटपटी
उर कजल कुमकुम अरु चंदन ॥ नैयन उनीदे चाल
डगमगी परे सिया प्यारी के फेर के फंदन ॥ दृग समुहे किन
करत न प्यारे प्रगटत हौ अपने चल चंदन ॥ जन भगवत श्री
सषी चतुर वर पावं दावि क्रत पवन सुमन्दन ॥ ५८ ॥'[2]

वास्तव में भगवतदास की रचनाओं में शृंगार तत्त्व प्रधान है। भोजन, वेशभूषा, आभूषणों आदि के वर्णन की दृष्टि से उन्होंने परंपरागत शैली का ही अनुसरण किया है।

१—'राम रहस्य', पृ० २५
२—'रामकंठाभरण', पृ० १८

राम के सम्बन्ध में ऐसी शृंगारपूर्ण भावनाएँ आलोच्य काल में सामान्यतः मिलती हैं। छोटे-बड़े लगभग सभी कवियों ने इस प्रकार की भावनाएँ अभिव्यक्त की हैं। कृष्ण-सम्बन्धी शृंगार-भावनाओं की भाँति राम-सम्बन्धी इस प्रकार की भावनाओं का भी आध्यात्मिक दृष्टि से प्रतिपादन किया जा सकता है, और कुछ कवियों ने उसे 'गुप्त चरित्र' कह कर पुकारा भी है, किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी राम के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावनाओं से उनके मर्यादाशील रूप को जबरदस्त आघात पहुँचता है। आलोच्यकालीन राम वृंदावन के कृष्ण प्रतीत होते हैं। कृष्ण-भक्ति से प्रभावित होने के साथ-साथ वे भारतीय-इस्लामी सभ्यता में पोषित कोई विलास-प्रिय एवं वैभवशाली सामंत की भाँति दिखाई देते हैं। रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह (शासन-काल १८३३-१८५४) कृत 'रामायण' (१८२१ के लगभग) में भी राम का यही रूप मिलता है। उनकी 'विनयमाल'[1], 'अयोध्याजी के भजन'[2], 'अयोध्या महात्म्य'[2] (१८३३), 'चित्रकूट महात्म्य'[2], 'हनुमानजी की स्तुति'[2], और 'गीतावली'[2] नामक रचनाओं में उन्होंने विनय और स्तुति संबंधी स्फुट रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और राम और कृष्ण दोनों में कोई भेद नहीं माना। किन्तु 'रामायण' में राम-कथा और राम से संबंधित पवित्र दार्शनिक और नैतिक सिद्धान्तों का उल्लेख कर उन्होंने राम को महल में बने 'बँगले' में रहने वाले, अनेक प्रकार की शृंगारपूर्ण क्रीड़ाओं में संलग्न होने वाले, अयोध्या की अशोक-वाटिका में सीता और उनकी सखियों के साथ गायन, वादन और नृत्य में प्रवृत्त होने वाले, सीता की सखियों के साथ हास-परिहास करने और फिर, एकदम अदृश्य हो जाने वाले नायक के रूप में चित्रित किया है। कृष्ण यदि रासलीला करते थे तो राम जल-विहार करते हैं। कृष्ण यदि रूठी हुई राधा को मनाते थे तो 'रामायण' में राम सीता के विभिन्न अंगों को स्पर्श कर उनका मान-भंग करना चाहते हैं। इसी प्रकार की अनेक क्रीड़ाओं और लीलाओं के पश्चात् सीता को हम खण्डिता नायिका के रूप में देखते हैं। किन्तु अंत में कवि कहता है—'यह विहार अति गोप भवानी'। तत्पश्चात् राम का चरित्र 'गोप' क्यों है, राम-लीला, राम-चरित्र आदि का क्या महत्त्व है, इन बातों के संबंध में वह अपने विचार प्रकट करता है। शिवजी पार्वती को कथा सुनाते समय राम के कृष्णावतार की ओर भी संकेत करते हैं। कवि ने राम-

१—लिपिकाल १८३२

२—लिपिकाल या तो १८३४ है या १८४२

नाम की महिमा भी गाई है और प्रसंगानुसार, स्थान-स्थान पर, आभूषणों, वस्त्रों, भोजन-सामग्री, अस्त्र-शस्त्रों आदि का उल्लेख किया है। किन्तु इस प्रकार के उल्लेखों में कोई नवीनता नहीं मिलती।

आलोच्य काल के अन्य राम-कवियों में से विद्यारण्य तीर्थ और रामनाथ प्रधान के नाम भी उल्लेखनीय हैं। विद्यारण्य तीर्थ ने 'संक्षेप रामायण' (१८४१) और 'रामरंग' (१८४१) में राम-जन्म के उपलक्ष्य में विविध आचार-विचारों और रीति-रस्मों का उल्लेख किया है। किन्तु उन्होंने अधिक तूल नहीं बाँधी। किसी कथात्मक अंश का वर्णन कर उसका दार्शनिक रीति से प्रतिपादन करना कवि की सामान्य प्रणाली है। विद्यारण्य तीर्थ ने सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्तियों पर लिखा है। निर्गुण भक्ति संतों की भक्ति के अनुरूप है :

'...वही चतुर वही पक्का है॥ जिसने रामचंद्र पद ही में खूब लगाया तक्का है॥ दोहिन ज्ञान पंथ पर चढि के यो ही मूरप वक्का है॥ राम भजन विन तौ अजगैवी लागत हुकुमी धक्का है॥ १॥ जगत नहीं यह अमृत ही का दही जमाया चक्का है॥ संतन मापन लिया जगत तौ छाछ वाद से जक्का है॥ २॥ अंदर का जब राम लपा तब क्या काशी क्या मक्का है॥ दीदारू वाहर का सौदा मसल कबूतर लक्का है॥ ३॥ राम भजन की वेलि लगाई सत जन माली सक्का है॥ राम देवाना रामरंग में हर दम छकि छकि छक्का है॥'[1]

और स्थान-स्थान पर अजपा-जाप, नाम, अलख आदि का उल्लेख मिलता है। रामनाथ प्रधान कृत 'धनुष यज्ञ रहस्य' (१८३४) में राम को श्रृंगारी रूप प्रदान नहीं किया गया और तुलसी कृत 'रामचरितमानस' उसका प्रधान आधार है :

'पायल ठमकनि विछिया झमकनि नूपुर की धुनि भारी
छाय रही चहु ओर वाग में झनक मनक झनकारी १७४
सुनि रघुनाथ चकित अति बोले चितै लखन की वोरा
कितते तात होत इत अनुपम तिय भूपन के तोरा १७५

१—पृ० १८-१९

राम-भक्ति के इतिहास में आलोच्यकालीन राम-सम्बन्धी भावना उसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। देश, काल और परिस्थितियों का उस पर पूर्ण प्रभाव है। उसमें यद्यपि साहित्यिक और कलात्मक सौंदर्य का बहुत-कुछ अभाव है, कुछ अपवाद छोड़ कर, तो भी उसमें तत्कालीन सामान्य जीवन प्रतिबिंबित है। इस दृष्टि से भी उसका अध्ययन ज्ञान-वर्द्धक और उपयोगी है। राम-भक्ति-सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थों में सन्निहित राम-भक्ति के जिस स्वरूप की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी गई है उससे इस कथन की यथेष्ट पुष्टि होती है।

आ. कृष्ण-काव्य :

राम-काव्य के अध्ययन के पश्चात् कृष्ण और राधा की उपासना और भक्ति से संबंधित साहित्य का अध्ययन करना है। राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण और राधा की भक्ति का कहीं अधिक प्रचार हुआ। आलोच्य काल में राम-काव्य से कहीं अधिक प्रचुर मात्रा में कृष्ण-काव्य की रचना हुई।

कृष्ण-भक्ति के प्रधान प्रवर्तक वल्लभाचार्य (ज० १४७९) थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से वे विष्णु स्वामी के अनुयायी थे, तो भी उन्होंने निम्बार्क-मत का अवलंबन ग्रहण किया। उन्होंने कृष्ण को परब्रह्म, राधा को उनकी स्त्री और वैकुण्ठ को उनका क्रीड़ा-स्थल मान कर दार्शनिक दृष्टि से शुद्धाद्वैत की स्थापना की और माया का खंडन किया। उन्होंने अपने विधान में भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ स्थिर कर तीन रूपात्मक (सत्, चित्, आनंद) ब्रह्म को अपने गुणों के आविर्भाव-तिरोभाव द्वारा संसार में प्रकट हुआ बताया है। ब्रह्म से प्रकृति और जीव उसी प्रकार उत्पन्न हुए जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी। यह ब्रह्म माया का उपयोग न कर शक्ति एवं गुणों का उपयोग करता है। जिस भक्ति से कृष्ण या ब्रह्म की अनुभूति होती है वह स्वयं कृष्ण के अनुग्रह-स्वरूप है। इस अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य ने पुष्टि रखा। वल्लभाचार्य ने शुद्ध पुष्टि को ही अपने संप्रदाय का चरम उद्देश्य माना है। राधाकृष्ण के गोलोक में निवास करना ही जीव की सार्थकता है। वल्लभाचार्य की भक्ति-परम्परा में पोषित पुष्टि-भक्त चार प्रकार की मुक्तियों में से एक भी प्रकार की मुक्ति नहीं चाहता। वह तो पांचरात्र के अनुसार हरि की सेवा में निरन्तर दत्तचित्त रहने की प्रबल इच्छा रखता है। उसकी भक्ति का अन्तिम उद्देश्य कृष्ण की अनन्त लीलाओं का आनन्द उठाना और गउओं, पशु-पक्षियों, वृक्षों, नदियों आदि के रूप में उनकी लीलाओं में भाग लेना है। वह पुरुषोत्तम के संग का अपार

आनन्द-लाभ करता है। ये अनन्त लीलाएँ वे ही हैं जो कृष्ण ने ब्रज में अवतार लेने पर की थीं। कुछ भक्त दिव्य वृंदावन में गोप और गोपियों के रूप में अवतरित होते हैं।

संक्षेप में वल्लभाचार्य के ये ही दार्शनिक सिद्धान्त हैं। वल्लभ संप्रदाय की धार्मिक पद्धति में यमुना, वंशी, गोप-गोपियों, गुरु और संप्रदायगत मन्दिरों में प्रातः से संध्या तक होने वाली विभिन्न रीति-रस्मों और कर्मकाण्ड का प्रमुख स्थान है। बाल कृष्ण और राधा की लीलाओं के प्रति भक्तों को अगाध श्रद्धा रहती है।

वल्लभाचार्य के सबसे अधिक प्रसिद्ध शिष्य सूरदास हुए। आचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्य लेकर अष्टछाप की स्थापना की। अष्टछाप के कवियों ने राधाकृष्ण के संबंध में अनेक सुन्दर छन्दों की रचना की। किन्तु आगे चल कर कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में वाह्य धार्मिक आडंबर की प्रधानता रहने लगी। वे मन्दिरों के कर्मकाण्ड के अंतर्गत कुछ निश्चित बातों का बार-बार वर्णन करने लगे।

यद्यपि निंबार्क और वल्लभाचार्य की वैष्णव प्रणालियाँ गोपाल-कृष्ण पर आधारित थीं, किन्तु आगे चल कर उनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हुए। पहले तो कृष्ण ही गोपियों के साथ क्रीड़ाएँ करते थे। कालान्तर में लीलार्थ दो हो रहे राधा और कृष्ण में से राधा और उनकी सखियों को प्रधानता मिलने लगी। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में राधा को कृष्ण के आदि शरीर के वामांग से जन्मा माना गया है और वे इस संसार तथा गोलोक में सदैव उनके साथ विहार करतीं और लीलाओं में भाग लेती हैं। राधा को प्रधानता मिल जाने का परिणाम यह हुआ कि भक्त लोग राधा की सखियाँ या दासियाँ बनने की इच्छा रखने लगे। उन्होंने तब सखी-भाव ग्रहण किया।

राधा को प्रधान स्थान मिल जाने से कई संप्रदायों का जन्म हुआ। उनमें राधावल्लभी संप्रदाय का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। इस संप्रदाय के अनुयायी कृष्ण की भक्ति कृष्ण के रूप में नहीं, वरन् 'राधावल्लभ' के रूप में करते थे। उनके विचारानुसार अपने ऐहिक जीवन-काल की अवधि तक राधा और कृष्ण का एक दूसरे से गोलोक में विरह हो जाता है। ऐहिक जीवन के बाद वे दिव्य गोलोक में कृष्ण से मिल जाती हैं। वल्लभ संप्रदाय के भक्त कवि सृष्टि की रचना राधा से ही हुई मानते हैं। यहाँ तक कि आदि प्रकृति की

उत्पत्ति भी उन्हीं से मानी जाती है। परमात्मा हरि से तो गुरु का स्थान उच्च है ही, किन्तु राधा का स्थान गुरु से भी अधिक उच्च है। इस संप्रदाय वाले संप्रदाय के संस्थापक, हित हरिवंश (ज० १५०२ , के अनुयायी हैं। उन्होंने 'राधा सुधानिधि' की रचना संस्कृत में और 'हित चौरासी' की हिन्दी में की। आलोच्यकालीन कवि हित हरिवंश, उनके प्रारंभिक अनुयायियों और उनकी रचनाओं से ही प्रोत्साहन ग्रहण करते रहे। संस्थापक द्वारा निर्धारित मार्ग से वे ज़रा भी विचलित नहीं होते।

वैष्णव आंदोलन के अन्तर्गत कृष्ण-भक्ति-संप्रदाय-संबंधी वल्लभी और राधावल्लभी संप्रदायों के अतिरिक्त टट्टी संप्रदाय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसकी स्थापना निंबार्क के सिद्धांतों के अनुसार हुई थी। इस संप्रदाय की स्थापना स्वामी हरिदास (१५४३ से १५६० आविर्भाव काल) ने की थी। निंबार्क के अनुयायी दो प्रकार के थे—विरक्त और गृहस्थ। यह भेद उनके केशव भट्ट और हरि व्यास नामक शिष्यों के कारण हुआ। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आलोच्यकालीन हिन्दी-प्रदेश में उसे अधिक लोकप्रिय रूप न मिल सका, यद्यपि बंगाल में वह अनेक बड़े-बड़े वैष्णव संप्रदायों में से था। संस्थापक के नाम के प्रति श्रद्धा, तिलक-छापे आदि को छोड़ कर टट्टी संप्रदाय में कोई विशेष दार्शनिक या धार्मिक प्रणाली का निर्वाह नहीं होता। संप्रदाय का प्रधान आधार भागवत है और उसके अनुयायी कृष्ण और राधा की साथ-साथ अथवा बिहारी जी या निकुंज-बिहारी जी के रूप में आराधना करते हैं।

वल्लभ संप्रदाय के अनेक कवियों में से ब्रजवासीदास और गिरिधरदास (१८३३-१८६०) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ब्रजवासीदास कृत 'ब्रज विलास' (१७७०) कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण रचना है। वह एक प्रबंध काव्य है और उसमें दोहा-चौपाइयों में राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन है। कवि ने कृष्ण जन्मोत्सव से प्रारंभ कर छठी, कुरता-टोपी, कागासुर, पूतना, शकट आदि लीलाओं का वर्णन करते हुए भक्ति और प्रेम तत्व पर अधिक ज़ोर दिया है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में गोपियों के प्रेम और विरह के अत्यन्त भावुकता और प्रभावपूर्ण वर्णन मिलते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं शृंगार रस के अतिपूर्ण वर्णन भी मिल जाते हैं, तो भी राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं के पीछे छिपे हुए आध्यात्मिक तत्व की ओर

कवि का ध्यान बराबर रहा है। 'व्रज विलास' में वर्णित लीलाओं के सम्बन्ध में व्रजवासीदास का कथन है :

...'श्री शुकदेव कही हरि लीला। सुनी परीक्षित सब गुणशीला ॥
सूरदास सोइ हरि रससागर। गायो बहुविधि परम उजागर ॥
फैल रह्यो सो त्रिभुवन माहीं। गावत सुनत सुयश हरपाहीं ॥
विविध प्रकार चरित हरि केरे। तामहिं वरणे सूर घनेरे ॥
सो वह प्रीति रीति सुखदाई। मेरे मन अतिशय करि भाई ॥
सो तो कथा अमित विस्तारा। मोपै पायो जात न पारा ॥
तामें व्रजविलास सुखदाई। सो कछु कहिहौं कर चौपाई ॥...'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने 'व्रजविलास' की रचना सूरदास कृत 'सूरसागर' के आधार पर की। किन्तु एक ही लीला का विविध प्रकार से वर्णन कर कवि ने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। उदाहरण के लिए, रास-लीला का भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में और भिन्न-भिन्न पीठिकाओं के साथ वर्णन किया गया है। ग्रंथ की समाप्ति उद्धव जी की मथुरागमन-लीला से होती है। कवि ने सरल किन्तु मधुर और प्रवाहयुक्त शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग किया है। गिरिधरदास कृत 'श्री कृष्ण बलदेव जी की बारहखड़ी'[1], 'मलारावली'[2] और 'प्रेम तरंगिणी'[3] में वर्णनात्मकता की अपेक्षा भक्ति-पक्ष की प्रबलता है। उन्होंने अधिकांश में सच्चे भक्त की भाँति अपनी दीनता प्रकट की है और भगवान् के अनुग्रह की याचना की है। उनके कुछ छन्दों में भावनाओं की अत्यधिक तीव्रता और व्यक्तित्व की छाप मिलती है जिससे वे गीति-काव्य के समीप आ गए हैं। कवि की एक और रचना 'गर्ग संहिता भाषा'[4] में कृष्ण की जीवन-गाथा नौ खण्डों में गाई गई है और वह संस्कृत 'गर्ग संहिता' का एक प्रकार से रूपान्तर मात्र है। ग्रन्थ में वर्णनात्मकता का प्राधान्य है और काव्य-सौन्दर्य लगभग शून्य है। उनकी रचना 'जरासंध वध महाकाव्य'[5] अपूर्ण

१—बनारस से १८६० में प्रकाशित

२— ,, ,, १८८९ ,, ,,

३— ,, ,, १८८९ ,, ,, (तृतीय संस्करण)

४—लखनऊ ,, १८८० ,, ,,

५—बनारस से १९२६ में प्रकाशित और बा० व्रजरत्नदास द्वारा संपादित

है, किन्तु उपलब्ध अंश से ही उनकी काव्य-प्रतिभा का परिचय प्राप्त हो जाता है।

आलोच्यकालीन कृष्ण-भक्ति-शाखा में अधिकतर कवि ऐसे हुए जिनका किसी संप्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं था और जिन्होंने केवल सामान्य वैष्णव मत के अंतर्गत राधा-कृष्ण के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया। इस प्रकार के कवियों के ग्रंथों से उनके किसी संप्रदाय विशेष में दीक्षित होने का परिचय प्राप्त नहीं होता। उन्होंने कृष्ण-भक्ति का सामान्य रूप ग्रहण कर धार्मिक रीति-रस्मों या कर्मकांड (जैसे, 'ईश्वर सेवा सिद्धान्त' में), लीलाओं, अष्टयाम आदि का वर्णन किया। वास्तव में आलोच्य काल में इसी प्रकार के कृष्ण-साहित्य की प्रचुरता है। निस्सन्देह पहले भी ऐसी रचनाओं का निर्माण हुआ था, किन्तु आलोच्य काल में साहित्यिक पक्ष तो गौण हो जाता है और केवल वर्णनात्मकता प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती है। उदाहरण स्वरूप इस प्रकार के कुछ प्रमुख कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख नीचे किया जाता है।

आलोच्य काल के प्रारंभ में मान कवि कृत 'कृष्ण कल्लोल' (१७६१) नामक रचना मिलती है। ग्रंथ के आदि में कवि अपने को केवल कृष्ण-भक्त कहता है और फिर गो-चारण, चीर-हरण, दान-लीला, गेंद-लीला, काली-लीला, जल-लीला आदि विविध प्रकार की लीलाओं का वर्णन करता है। इन सब लीलाओं में शृंगार की प्रधानता है। कुंज कवि ने अपने 'ऊषा चरित' (१७७४) में अनिरुद्ध-जन्म, कृष्ण-बाणासुर-युद्ध आदि कथाएँ दी हैं। अंत में ऊषा-अनिरुद्ध का विवाह-वर्णन है। कवि ने संपूर्ण कथा का वर्णन ककहरा शैली में किया है।

'छ छ छत्रपती रथ सोरथ वारे॥ हय सो हय गत गज मतवारे॥
पाइक सो पाइक रन मंडे॥ कर पद सीस अंग भुज पंडे॥
श्रोनित नदी वही अति भारी॥ मक्ष्य कक्ष्य गज सूडि प्रचारी॥
भूत प्रेत जोगिनि इतरावै॥ भरिभरि रुधिर ईस गुन गावै॥
मुंड मिले कर ताल वजावै॥ जोगिनि भरि भरि खपर धावै॥
जंवुक गीध वीध गन तावै॥ भरि भरि उदर परम सुप पावै॥
रन वाजे वाजे चहुँ ओरा॥ गरजे सूर चिघारे घोरा॥

डगमग डग धरनी धर कंपै ॥ सेस सहसमुप हरि हरि जंपै ॥'[1]

युद्ध-वर्णनों में परम्परानुसार वीभत्स रस की निष्पत्ति पाई जाती है। स्थान-स्थान पर तेल-फुलेल, हवेली, उबटना, नौलखाहार, मुख-चीतण, सीसफूल, तिलरी, कण्ठश्री, मोहनमाला, गजरे, बाजूबन्द आदि आभूषणों और नाना प्रकार की वेशभूषाओं के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार मञ्चित कवि (जो१७७९ में वर्तमान थे) ने 'सुरभिदान लीला' और 'कृष्णायन' में सर्वविदित कथाओं का वर्णन किया है। किन्तु साहित्यिक सौन्दर्य उनकी कथाओं में पर्याप्त पाया जाता है। आनन्द कवि कृत 'रासपंचाध्यायी' (१७७८) में भागवत की कथा का भद्दा अनुकरण किया गया है। द्विज गुमान कृत 'श्री कृष्ण चन्द्रिका' (१७८१) आलोच्य काल की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। परम्परानुसार मंगलाचरण से प्रारंभ कर कवि ने सत्ताईस सर्गों में कथा का वर्णन अनेक प्रकार के छन्दों और सुन्दर कवित्वपूर्ण शैली में किया है। उसने गोकुल-गमन, पूतना-वध, यमलार्जुन-उद्धारण, काली-दमन, रहस-केलि, गोपिका-विरह, आदि लीलाओं के आधार पर ग्रंथ की रचना की है :

'मिलि मिलि पिय प्यारी गोप कुमारी रूप उज्यारी रस बरसैं ॥
बरसैं रस सुंदर अति गुन मंदिर पिय छवि अंदर धर सरसै ॥
सरसै अवगाहे वाहन वाहे पिय बस चाहे छवि विमला ॥
विमला उर भरि भरि भरि कुलवत धरि हरि मिलि हरि वरिनव नवला ॥ २५ ॥

नवला नव अंगन उर जड तंगन अतन तंरगन तन भूली ॥
भूली रस रंगनि हस कर संगन लाज उलंगन कै फूली ॥
फूली तह नित्तैं अति गति वत्तैं गुन अनुहत्तैं गुन साला ॥
साला गुन गावै पियहि रिझावै करन बजावै कर ताला ॥ २६ ॥
तालन पर ताला भेद रसाला विजत विसाला कर कंकन ।
कंकन की पनकन नूपुर झनकन पिय संग वन वन मिलि अंकन ॥
अंकन लिपट्याती फिर झहराती थिरक थिराती छिति उछलैं ।
उछलै छिति तल तलतै कलन कलन तैं चल दल दल तैं चल सुचलैं ॥ २७ ॥'[2]

१—पृ० १३
२—पृ० १७४-१७५

लाल जी साहू या लाल सखी कृत 'ललित लीला' (१७६२ के लगभग) में भी होली, दिवाली, शृंगार आदि लीलाओं का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ में गोपियाँ नथ, झूमका आदि पहने और दाँतों में मिस्सी तथा चौंप और आँखों में काजल लगाए हुए घूँघट निकालती हैं। वीरभद्र कृत 'फाग लीला' (१८३० से पहले रचित) में भी कृष्ण की शृंगारपूर्ण लीलाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

दीनदयाल गिरि (१८०२-१८५८) ने अपने 'अनुराग वाग' (१८३१) शीर्षक ग्रंथ में कृष्ण के बाल्यकाल से मथुरा-गमन पर्यंत कथा का वर्णन किया है। राधा और कृष्ण की लीलाएँ स्वभावतः उसमें आ ही जाती हैं। कवि ने सर्वत्र गोपियों के प्रेम को प्रधानता देकर अन्य सब बातों को गौण स्थान दिया है। यहाँ तक कि कृष्ण का व्यक्तित्व भी अधिक नहीं उभर पाया। गोपियों के प्रेम और उनकी श्रद्धा-भक्ति का चित्रण एक ऐसी गोपी के माध्यम द्वारा किया गया है जो दिव्य प्रेम का आनन्द उठा चुकी है। 'अनुराग वाग' पाँच खंडों में विभक्त है। वाग के वर्णन में मालती, चम्पा, जूही, वेला, कुंद, तमाल, मौलश्री, हरसिंगार आदि पुष्पों और वृक्षों का षट्ऋतु-वर्णन के अंतर्गत उल्लेख हुआ है। राधा-कृष्ण-संबंधी रचनाओं में षट्ऋतु-वर्णन तो सामान्य बात है। वे अपने नायक-नायिका को प्रकृति के अंग के रूप में चित्रित करते हैं। दीनदयाल गिरि की इस रचना में भाषा और काव्य-सौन्दर्य के उदाहरण भरे पड़े हैं। घनश्यामदास (रचना-काल १८३८) कृत 'श्री गौरी रागे सांझी' एक छोटी किन्तु सुन्दर रचना है। इस ग्रंथ में भी गोपियाँ अतलस के लहँगे, मोटी दरियाई की बनी अँगिया तथा चूड़ा, मुँदरी, पहुँची, गजरा, बंदिनी, कण्ठश्री आदि पहने हुए चित्रित की गई हैं। इस ग्रंथ में 'चटसार' तक का उल्लेख है। 'युगल सुधा' (१८४१) में विद्यारण्य तीर्थ ने यद्यपि राधा और कृष्ण की लीलाओं का वर्णन अवश्य किया है, किन्तु उन्होंने राम और कृष्ण की अभिन्नता पर अधिक ज़ोर दिया है। इस रचना पर संत काव्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है और भाषा में भी खड़ीबोली और ब्रजभाषा का मिश्रण है।

राजपूत सामंत कवियों में से जयपुर के महाराज प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' (१७६४-१८०३)[1] और रीवाँ के महाराज़ रघुराजसिंह के नाम विशेष रूप से

१—दे०, नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'ब्रजनिधि ग्रन्थावली' शीर्षक उनकी रचनाओं का संग्रह।

लिए जा सकते हैं। 'व्रजनिधि' की रचनाएँ छोटी-छोटी और कथात्मक अंश की अपेक्षा भक्ति-तत्व से परिपूर्ण हैं। अत: उनकी रचनाओं में अन्य बातों के समावेश के लिए कोई गुंजायश ही नहीं। किन्तु महाराज रघुराजसिंह की रचनाओं से आलोच्यकालीन जीवन का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। उनके 'आनन्दाम्बुनिधि' (१८५३) की रचना भागवत के दशम स्कंध के आधार पर हुई है। इस ग्रंथ में आलोच्यकालीन जीवन से संबंध रखने वाली बातों का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु उनकी दूसरी रचना 'रुक्मिणी परिणय' (१८५०) में इस प्रकार की अनेक रोचक बातें मिलती हैं। यह ग्रन्थ काफ़ी बड़ा और भागवत पर आधारित है। कवि ने राधा-कृष्ण की शृंगारपूर्ण लीलाओं, विरह-पीड़ा, पट्ऋतु, नखशिख, होली, जल-विहार आदि का उल्लेख किया है। सूदन तथा अन्य सभी प्रकार के आलोच्यकालीन कवियों की भाँति 'रुक्मिणी परिणय' में भी कवि की विस्तार-प्रियता के दर्शन होते हैं, जैसे, कवि ने अरबी, खुरासानी, सरहद्दी आदि घोड़ों, खुरमा, जलेबी, लड्डू, गुलाबजामुन, पूड़ी, शिखरिणी, सिघाड़े, दही, कचरी, दाल, चटनी आदि भोजन के पदार्थों, आम, जामुन, खीरा, अखरोट, सेब, अंजीर आदि फलों, लहँगा, चोली, अँगरखा, हमामा, पायजामा (चूड़ीदार), रूमाल, ओढ़िनी, गोटा लगा दुपट्टा, पाग आदि वस्त्रों, कटुला, जंगाली चूड़ियों, छड़े, चमक चूड़ी, झब्बेदार करधनी, चन्द्रहार, जौमाला, गुलूबन्द आदि आभूषणों और अनेक हथियारों और फूलों की लंबी-लंबी सूचियाँ मिलती हैं। कालनेमि के दरबारी लोग मुसलमानों की भाँति और क़ुरान पढ़ते हुए चित्रित किए गए हैं। कृष्ण सलाम और जुहार स्वीकार करते हैं। बहुत-से लोग मुग़लों के अनुकरण पर दाढ़ी रखे हुए हैं। कृष्ण और रुक्मिणी के विलास का वर्णन करते समय जिस कमरे का उल्लेख किया है उसमें बढ़िया पर्दे लगे हुए हैं, एक कोने में जल रहे शमादान से निकली सुगंध चारों ओर फैल रही है, गलसुई तथा अन्य प्रकार के तकिए रखे हुए हैं, पलंग पर बिछी चादर इत्र से सुवासित है, पलंग पर मसहरी लगी हुई है, उसके पास ही पीकदान रखा हुआ है। कमरे से बाहर अनेक बाँदियाँ और चोबदार खड़े हुए हैं। कृष्ण 'जामा और पायजामा' धारण करते हैं। कृष्ण के महल से रुक्मिणी के महल तक क़ासिद दौड़ लगाते हैं। 'रुक्मिणी परिणय' से इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

यद्यपि विशुद्ध साहित्यिक और धार्मिक दृष्टिकोणों से इस प्रकार की बातें असंगत भले ही प्रतीत हों, किन्तु रघुराजसिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय' और

'राम स्वयंवर' (१८६६) से आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश के जीवन से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है। वेशभूषा, रुचि, रीति-रस्म, घरों की सजावट आदि की दृष्टि से रघुराजसिंह के पात्र उनके अपने जैसे सामंत प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार रघुनाथदास रामसनेही ने अपने 'विश्राम सागर (१८५४) के द्वितीय खंड में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की विस्तृत सूचियाँ ही नहीं दीं वरन् मुसलमानों के प्रति हिन्दुओं के विरोधी भाव का भी उल्लेख किया है। वास्तव में कृष्ण के प्रसंग में 'मुस्लिम' शब्द का प्रयोग अजीब-सा लगता है। किन्तु यह इस बात का द्योतक है कि आलोच्यकालीन कवि, जो चाहे जिस विचारधारा के रहे हों, अपनी समकालीन सामाजिक परिस्थितियों और रुचियों के प्रभाव से अपने को वंचित नहीं रख सके। शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो आलोच्य काल के सभी ग्रन्थ काल-दोष से भरे पड़े हैं, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से यह दोष उपेक्षणीय है। रघुराजसिंह, रामसनेही, कृष्णवल्लभ ('कृष्ण बोध' में) आदि कवियों ने सती, कन्या को जन्मते ही मार डालना (बघेलखंड में यह प्रथा बहुत प्रचलित थी), नर-बलि, बाल-विवाह, शिक्षा का अभाव आदि सामाजिक एवं धार्मिक क्रूर प्रथाओं का खंडन करना भी प्रारंभ कर दिया था। कृष्ण-भक्त कवियों की आलोच्यकालीन परम्परा के अंत में कुंदनलाल साह 'ललित किशोरी' और फुंदनलाल साह 'ललित माधुरी' (१८५६-१८७३ तक रचना-काल) का उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने 'अष्टयाम' (चार खंड) और 'रस कलिका दल' (चार खंड) में राधा और कृष्ण के दैनिक कार्य-क्रम और उनकी लीलाओं के अत्यन्त विस्तृत वर्णन किए हैं। किन्तु उनकी अधिकतर रचनाएँ उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के अंतर्गत आती हैं।

राधावल्लभी कवियों की लगभग सभी रचनाओं में सांप्रदायिक सिद्धान्तों का निरूपण ही विशेष रूप से हुआ है। उन्होंने या तो वृंदावन, हित हरिवंश, राधा-कृष्ण और उनकी लीलाओं पर अधिक लिखा है, अथवा 'सेवक बानी', 'हित चौरासी' आदि पर टीकाएँ की हैं, अथवा धार्मिक गुरुओं की बानियों और उपदेशों के पद्य-बद्ध संग्रह प्रस्तुत किए हैं। उनकी रचनाओं में राधा को प्रमुख स्थान मिला है और साहित्य की अष्टक शैली का सामान्यतः प्रयोग हुआ है। स्वतंत्र रूप से निर्मित कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं के अतिरिक्त आलोच्य काल में राधावल्लभी संप्रदाय से संबंधित कुछ स्फुट छन्दों की भी रचना हुई जिनका उल्लेख 'संग्रह' शीर्षक के अंतर्गत आगे किया जायगा। एच० एच० विल्सन के कथनानुसार १८२२ में हित हरिवंश द्वारा वृंदावन में

स्थापित राधावल्लभी 'मठ' में केवल चालीस और पचास के बीच में भक्तों की संख्या रह गई थी। इससे यह प्रतीत होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में राधावल्लभी संप्रदाय का प्रचार कुछ कम हो चला था।

राधावल्लभी संप्रदाय के अनेक कवियों में से जिन दो कवियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं उनमें से एक श्री हठी जी हैं। उनकी 'राधा सुधा शतक' (१७८०) शीर्षक रचना में विषय-प्रतिपादन, भाषा और शैली की दृष्टि से रीतिकालीन शृंगारी कवियों का अत्यधिक प्रभाव पाया जाता है। राधा आलोच्यकालीन उच्च कुल में उत्पन्न महिला के रूप में चित्रित की गई हैं। वे इत्र लगातीं और खसखाने तथा तहखाने में रहती हैं। राधा-कृष्ण की छद्मवेष लीलाओं का भी उसमें प्रमुख स्थान है। श्री हठी जी के इस ग्रन्थ से आलोच्यकालीन जीवन की अनेक बातों, जैसे, रहन-सहन का ढग, समाज की रुचि, वस्त्राभूषण आदि का पता चलता है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है :

'अतर पुतायो बने खासे खसखाने तामै छीटै चहूं ओरन उसीरन के आब के। कंजन बिछौना जामे गुँजै अलिछौना हठी श्रीनन के तौना सोहैं सुरन रबाब के॥ छूटत फुहारे कासमीर रंगवारे भारे बँधे हैं कतारे मघा मेघ झरदाव के। देखौ व्रजचन्द जगवन्द चन्द मन्द होत चन्दन चहल राधे महल गुलाब के ॥४२॥'

'केसर अगर खस चन्दन लगायो भौन अतर पुतायो भो सुगन्ध चहुंओरी है। कञ्चन फरस मखमल के बिछौना बिछे जरी के बितान आसमान जनु जोरी है॥ आसपास चन्द्रमुखी बिज्जन चँवर ढारैं लीनै पानदान कीनै रति दुति थोरी है। हठी सुखदान भरी रूप के गुमान आज स्यान करि बैठी वृषभान की किशोरी है॥६६॥'

इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण हठी जी के ग्रन्थ में मिलते हैं। साहित्यिक दृष्टि से उनकी रचना में कल्पना की सुकुमारता और भाषा की सजावट दृष्टिगोचर होती है।

आलोच्य काल के दूसरे प्रसिद्ध राधावल्लभी कवि हित वृंदावनदास (१७०८-१७८७ के लगभग) हैं। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। कहा जाता है उन्होंने बयालीस ग्रन्थों की रचना की जिनमें से केवल सत्रह उपलब्ध हैं। अधिकतर रचनाओं में सांप्रदायिक सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ

है। कुछ रचनाओं से कवि के सामयिक समाज की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। समाज के दोषों के लिए उन्होंने कलियुग के प्रभाव और राधावल्लभी संप्रदाय के आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करना, ये दो प्रधान कारण माने हैं। हित वृंदावनदास हित रूप के शिष्य थे। उनकी 'समय प्रबंध' (१७५३) नामक रचना में परम्पराविहित शैली में अष्टयाम का वर्णन है और उस पर मंदिरों के कर्मकाण्ड की पूरी छाप है। वे उन राधावल्लभी कवियों में से हैं जिनकी रचनाओं में आलोच्यकालीन साहित्य की एक प्रमुख विशेषता, वर्णन-विस्तार-प्रियता, पाई जाती है। वे जब वर्णन करने लगते हैं तो हमेल, इजार-बन्द, बंदनी, पाग, पेंच आदि, मेवा, मिश्री, दहीबड़ा, बड़ी, मीठी रोटी, फुलौरी, धुँगारी पकौड़ी, आम का पना, अदरक, ईख की खीर, चन्द्रकला, गुझिया, घेवर, मृदुफेनी, इमरती, खुरमा, मठरी आदि अनेक वस्त्राभूषणों और खान-पान की वस्तुओं की गणना कर जाते हैं। उनके ग्रन्थों में चौकी पर बैठ कर सिर धोने, खाना खाते समय उँगली में से अँगूठी निकाल लेने आदि रीति-रस्मों का उल्लेख भी मिलता है। उनकी 'नीति कुंडलिया' (१७५३) से जनता का भूत-प्रेतों और जादू-टोनों में विश्वास होने का परिचय प्राप्त होता है। आलोच्यकालीन जीवन के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनकी 'कलि चरित वेलि' (१७५५)[१] एक महत्त्वपूर्ण रचना है। कवि ने उसमें सर्वप्रथम कलियुग की बातों का उल्लेख किया है, जैसे, धनलिप्सा, वेश्या वृत्ति, धर्म के नाम पर लोगों को ठगने और धनोपार्जन करने के लिए वैराग्य धारण करना, साधुओं और वैरागियों का अज्ञान, वर्ण और आश्रम धर्म का पतन, निम्न श्रेणी के लोगों का अनुकरण करना, विधवाओं की शृंगार में रुचि, तपसियों का बाज़ार में तथा दर-दर भीख माँगते फिरना, सास-बहू की लड़ाई, सती, स्त्री-शिक्षा का अभाव, जन-संख्या की वृद्धि और तज्जनित निर्धनता, शासक में न्याय-प्रियता का अभाव और स्वार्थपूर्ति के लिए लोगों पर अत्याचार करना, जन्मते ही कन्या को मार डालना आदि। 'श्री वृषभान-नंदिनी नंद-नंदन विवाह मंगल वेलि' में कवि ने लगन, लाड़ी गाना, घोरी, पीरी चिट्ठी, तेल, भात, हल्दी, गीत लाना आदि विविध वैवाहिक रीति-रस्मों का उल्लेख किया है। 'जन्म बधाई' में हित हरिवंश के जन्मोत्सव का गान करते हुए हित वृन्दावनदास ने दाई, भाँड़, ढाढ़िनि, छठी, अन्नप्राशन

१—इसी रचना की 'कलि प्रताप वेलि' के शीर्षक से एक और प्रति मिलती है। दोनों प्रतियों में पाठ-भेद है। 'कलि प्रताप वेलि' में १८६४ विक्रम संवत् (१८०७ ई०) तिथि दी गई है। संभवतः यह लिपिकाल है।

आदि का उल्लेख किया है। भाँड़ों की भाषा में खड़ीबोली का मिश्रण है। 'छद्म षोडषी' और 'श्री छद्म अष्टपदी' में अनेक लीलाओं के गान के अतिरिक्त घूँघट, कसीदा, बिछिया, नटनी, बटुआ, पर्दा, एक स्त्री का दूसरी स्त्री के पैर छू कर आदर-भाव प्रकट करना आदि बातें भी मिल जाती हैं। इस दृष्टि से हित वृंदावनदास की कुछ रचनाएँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह की पूर्वोल्लिखित 'रुक्मिणी परिणय' और 'राम स्वयंवर' नामक दो रचनाएँ। हित वृंदावनदास कृत 'मन चितावनी बारहमासी' (१७६३) से एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :

'भादौं भर्‌यौ गंभीर सरवर जगत गरुवे नेह सौं ॥
सुत मित्र बंधु सरोज भये गति मधुप आप अछेह सौं।
ग्रेह ग्रहिनी संग भ्रमि रमि सुधि न दिन छिन जांम की ॥
बंधे संपुट प्रीति विषय सवाद रुचि कल कांम की ॥
कल कांम रुचि तन मन जु भाये काल कुंजर पाइयौ ॥
आसक्त असंगति भई समझौ सुमति मन न लगाइयौ ॥
वृंदावन हित कृष्ण भजि तजि झूठी रति या देह सौं ॥
भादौं भर्‌यौ गंभीर सरवर जगत गरुवो नेह सौं ॥७॥'[1]

एक प्रेमदास नामक कवि ने भी अपनी 'पंचरत्न गेंद लीला' (१७७८)[2] में नीबू, आम, अंजीर, कटहल, सीताफल, करौंदा, खिरनी, कैत, फ़ालसे, शहतूत, गुललाला, गुलाबाँस, गुलदाऊदी, सेवती, सूरजफूल आदि फलों और फूलों के नामों की गणना करने में विशेषता प्रकट की है।

टट्टी सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं में सामान्यतः बिहारीजी के विहार और उनकी संगिनी के सौंदर्य, कलि की बुराइयों और उन्हें दूर करने के उपायों, धार्मिक गुरुओं की वाणियों आदि का उल्लेख हुआ है। विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में पारस्परिक वैमनस्य का अभाव था, इस बात का प्रमाण भगवत रसिक अनन्य कृत 'हित चरित' रचना से मिलता है। कवि का आविर्भाव-काल १७७३ और १७६३ के बीच और उन्हें कई ग्रन्थों का रचयिता माना जाता है। यद्यपि वे टट्टी संप्रदाय के अनुयायी थे,[3]

१—पृ० ३०

२—इस रचना की एक और हस्तलिखित प्रति मिलती है जिसमें तिथि १७८८ दी गई है।

३—'प्रणऊँ श्री चैतन्य मति नित्यानंद स्वरूप। श्री हरिदास प्रताप बल बरनौं कथा अनूप ॥'

तो भी उन्होंने राधावल्लभी संप्रदाय के संस्थापक हित हरिवंश की जीवन-गाथा गाई है। टट्टी संप्रदाय के एक और महत्त्वपूर्ण कवि महन्त सीतलदास हुए। ये महन्त ठाकुरदास के शिष्य थे और १८०२ से १८११ तक वृन्दावन में गद्दी पर विराजमान थे। उनकी 'गुलज़ार चमन', 'आनन्द चमन' और 'विहार चमन'[1] नामक तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें बिहारीजी के सौंदर्य का अत्यन्त सरस वर्णन है। परम्परा से चले आ रहे इस विषय का वर्णन करते समय कवि ने विरह-वर्णन करने और रूपक-योजना में फ़ारसी प्रभाव प्रदर्शित किया है। किन्तु महन्त सीतलदास का सबसे बड़ा महत्त्व इस दृष्टि से है कि अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर उन्हीं की ये रचनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनका सृजन आद्योपान्त खड़ीबोली में हुआ, यद्यपि कवि ने फ़ारसी शब्दों का भी काफ़ी प्रयोग किया है। उनकी रचनाओं में प्रेम का अत्यन्त सुन्दर निरूपण और साहित्यिक सौन्दर्य मिलता है :

'छवि शरद-कञ्ज पर पुण्य-पुंज मकरन्द मधुव्रत पिए-हुए,
मखतूल नील मणि केकी की गरदन पर दावा दिए-हुए;
लहराती चोवा चारु चुनी जालिम-कपोल को छिए-हुए,
मुख शरद-सुधाकर में बैठी अहि-बाल-कुण्डली किए हुए ॥५५॥'[2]
'दिलवर अब क्यों पछिताता है ? तुझ जुल्फ़ जाल से सैद गया,
अब किसको दरद दिखाता है ? वह दरद बूझता बैद गया,
जानी इस परदे अदम बीच बाक़ैद गया बेक़ैद गया,
खूबी इस जाम जहानी की ले गया जहां जमशैद गया ॥१७॥'[3]
'जो शब्द-ब्रह्म के सिन्धु-सोत नित-ही-प्रति बाजें रनक मनक,
कुछ षड्ज ऋषभ से मिले हुए सातों सुर भीतर गनक मनक;
रम्भा अरु सची लटक तड़फन पावै न आन भर छनक मनक,
प्यारे इसरार इलाही है जानी नूपुर की झनक मनक ॥१६॥'[4]

इन विभिन्न धार्मिक संप्रदायों से संबंधित रचनाओं में एक सामान्य बात

---

१ वृंदावन से १९९५ विक्रम संवत् (तृतीय संस्करण) में प्रकाशित। कवि ब्राह्मण था, केवल इस तथ्य के अतिरिक्त उसके जीवन के संबंध में और कुछ नहीं मालूम।

२—'गुलज़ार चमन', पृ० १०

३—'आनंद चमन', पृ० २२

४—'विहार चमन', पृ० ३८

यह पाई जाती है कि लगभग उन सभी का निर्माण भागवत के आधार पर हुआ है। उनमें गोप और गोपियों के व्रज-प्रदेश, गउओं, यमुना, कृष्ण और राधा तथा उनकी सखियों की लीलाओं, वंशी आदि के वर्णन समान रूप से मिलते हैं। किन्तु इन कवियों ने लीलाओं का वर्णन करने में अपनी एक विशेषता भी प्रदर्शित की है। उन्होंने भागवत और सूर-सागर में तथा अष्टछाप के अन्य कवियों द्वारा वर्णित प्रधान कथाओं को ही अपनी रचनाओं में स्थान नहीं दिया, और जिनका आध्यात्मिक दृष्टि से प्रतिपादन करना भी सरल है, लेकिन वैष्णव मत में राधा तथा उनकी सखियां और उनकी विविध लीलाओं के बढ़ते हुए महत्त्व से प्रोत्साहन ग्रहण कर उन्होंने अनेक काल्पनिक एवं विचित्र क्रीड़ाओं और लीलाओं को अपनी 'भक्ति' प्रकट करने का साधन बनाया, जैसे मानलीला, चितेरिन लीला, सुनारिन लीला, चुड़हारिन लीला, मालिनि लीला, बिसातिन लीला, पटविन लीला, रँगरेजिन लीला, तमोलिन लीला, नाइन लीला, फगुवा लीला, गंधी लीला, फूल लीला, योगिन लीला, झूला लीला, वैदिकी लीला, कौतुक लीला, दान लीला आदि। हित वृंदावनदास कृत 'छद्म षोडषी' और 'छद्म अष्टपदी' और प्रेमदास कृत 'पंचरत्न गेंद लीला' (१७७८) आदि में भी ऐसी अनेक लीलाओं का उल्लेख है। ये सब लीलाएँ एक शीर्षक 'छद्मवेषी लीलाएँ' के अंतर्गत परिगणित की जा सकती हैं और कवियों द्वारा वास्तव में की भी गई हैं। उन सब में समान रूप से एक बात यह पाई जाती है कि राधा के प्रेम में विरह-कातर कृष्ण उनका सामीप्य ग्रहण करना चाहते हैं। संसार उनके मार्ग में बाधक है। इसलिए सखियों की सहायता से छद्मवेषधारी कृष्ण राधा के बिल्कुल समीप पहुँच जाते हैं। किन्तु शृंगार रस के अंतर्गत प्रस्वेद, रोमांच आदि के माध्यम द्वारा राधा उन्हें पहिचान जाती हैं। उदाहरण के लिए, सखियाँ कृष्ण को मनिहारिन के छद्म वेष में लाती हैं। राधा उससे उसका नाम, गाँव, माता-पिता आदि के बारे में पूछती हैं। मनिहारिन के वेश में कृष्ण उनके सब प्रश्नों के उत्तर देने के बाद उनके हाथों में चूड़ियाँ चढ़ाने लगते हैं। किन्तु राधा के प्रस्वेद से 'मनिहारिन' का रहस्य खुल जाता है और वे कृष्ण को व्यंग तथा तीक्ष्ण वचन सुनाती हैं। अन्त में दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। अंतिम अवस्था में राधा का स्थान ही उच्च रहता है। इसी प्रकार नाइन और पटविन लीलाओं में भी ऐसा ही क्रम मिलता है। राधा एक शक्ति के रूप में चित्रित की गई हैं जो दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। किन्तु ऐसी लीलाओं का वर्णन चाहे कितना ही सुंदर क्यों न हो उनमें आध्यात्मिकता और उदात्त भावनाओं का निश्चित रूप से अभाव

मिलता है। अनेक रचनाओं में तो काव्य भी निकृष्ट कोटि का है। इस प्रकार की काल्पनिक लीलाओं का उल्लेख भागवत में भी नहीं मिलता। हाँ, एक दृष्टि से इन लीलाओं का महत्त्व अवश्य माना जा सकता है, और वह यह है कि हमें उनसे आलोच्यकालीन सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न व्यावसायिक वर्गों का परिचय प्राप्त होता है।

इन रचनाओं की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन पर वैष्णव मन्दिरों के कर्मकाण्ड का प्रभाव समान रूप से पाया जाता है। प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय की अपनी-अपनी विधियाँ थीं। मन्दिरों के कर्मकाण्ड का प्रभाव आलोच्य काल से पहले की रचनाओं पर भी पाया जाता है। किंतु आलोच्य काल में यह प्रभाव अति के रूप में परिणत हो जाता है। विभिन्न विधियों और रीति-रस्मों, वस्तुओं की विस्तृत सूचियों आदि से साहित्यिक सौन्दर्य को आघात पहुँचता है। मन्दिरों में मूर्तियाँ अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित की जाती थीं और अब भी की जाती हैं। भोग के समय नाना प्रकार के पकवानों से भोग लगाया जाता था। मूर्तियों के जीवन में एक निर्धारित दैनिक कार्यक्रम था। प्रातः जागरण से लेकर शयन-काल तक पुजारी मानवी जीवन की प्रतिच्छाया मूर्तियों के जीवन में स्थापित किया करते थे। कवियों ने कल्पना का आश्रय ग्रहण कर इन विधियों और रीति-रस्मों से भरपूर लाभ उठाया। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे निर्मित ही हुए जिनका उद्देश्य सेवा-विधि का वर्णन करना था। ऐसे ग्रन्थों में भक्त अनुयायियों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए अनेक छोटी-छोटी बातों तक का उल्लेख किया गया है। 'ईश्वर सेवा सिद्धांत' और 'नित्य कृत्य' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं जिनमें उत्सव या सेवा के समय व्यवहार में आने वाले वस्त्राभूषणों, भोजन के विविध पदार्थों, फल, फूल, मीठा आदि का सविस्तार वर्णन मिल जाता है। वैष्णव मत के विभिन्न संप्रदायों के कवियों की रचनाओं में भी यही प्रवृत्ति, कुछ कम या अधिक मात्रा में, दृष्टिगोचर होती है।

राधा-कृष्ण और उनकी लीलाओं के अतिरिक्त आलोच्यकालीन कृष्ण-कवियों ने उनके प्रति स्तुतियों, भजनों आदि की रचना भी की और भागवत धर्म, भक्ति, सत्संग, विरह, समागम, गुरु-महिमा, सत्य आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट किए। उनके मतानुसार कलियुग के अनेक दोष तो राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव के अभाव के कारण हैं।

सम्प्रदाय के सिद्धांतों का मूल उद्‌गम वेदान्त है, यद्यपि ये लोग परब्रह्म को कृष्ण-रूप में मानने से अन्य वैष्णव (सगुण) सम्प्रदायों के निकट आ जाते हैं। गुरु-महिमा, वर्ण-बंधनों का अभाव, स्त्रियों को धार्मिक अधिकार आदि उनके सैद्धान्तिक पक्ष के अंग हैं। प्रारम्भ में वे किसी भी देवी-देवता की पूजा न करते थे, यद्यपि आगे चल कर उन्होंने रामानन्द के शिष्यों से भी घनिष्ठ संबंध स्थापित किया। उन्होंने नैतिक जीवन और सत्य तथा उसके अच्छे फलों पर अधिक ज़ोर दिया है। वे हरि को आदि कारण मान कर उनकी उपासना करते हैं। हरि ही माया के माध्यम द्वारा सृष्टि का सृजन करते हैं और वे ही कभी-कभी मनुष्य शरीर धारण करते हैं, जैसे कृष्ण ने वृंदावन में। संप्रदाय में श्री भागवत और गीता आदरणीय ग्रन्थ माने जाते थे। चरणदास सुखदेव या शुकदेव के शिष्य थे। उनका प्रधान केन्द्र दिल्ली में था। चरणदासियों और कबीर-पंथियों में अनेक बातें समान हैं। सहजोबाई (१७४३ के बाद रचना-काल), दयाबाई (१६६३ और १७१८), फ़रुखा-बाद के कर्तानन्द, जुगतानन्द और साधु रामसाध शरण चरणदास के कुछ ज्ञात शिष्यों में से हैं। शिष्यों की भी अनेक रचनाएँ मिलती हैं।

> 'प्रथम ही कुंभ कहूं नाम जो सूर्य्य भेद दूजेउ जाइ सुनौ साधै क्षूटे पेद २१ सीतकार और सीतली : पंचमी मिश्रका जांन छटी जो भूमरी नाम है नीके समझि पिछान २२ नाम मूर्छा सातमी अठमी कंवल वहोइ रनजीता सब मै बडी आव वढावै सोइ २३ अत्र सूर्य्य भेदनी कुंभक वरनन यमपूर पूरक ही कीजै पाछे वंद जलंदर दीजै कुंभक रेचक के मध जानौ तांहां वंद थान पिछानौ २४ पमन जोर ही सै गहि लीजै अकाध रंद्र संकोच न कीजै सुषम कीजियै पच्छिम तानै ब्रह्मनडी के माहि समानै २५ नाडी पमन पैचियै ऐसै भरियै सब संधन मै जैसै अपांन वाइ कौ ऊपर लावै पान वाय नीचे लै जावै २६ सौ जो पेर धन वन आवै जोगी वृद्धा होन न पावै तरण अवस्था दीपै भैसी नित ही रहै जानियं जैसी २७...'[1]

रामसनेही पंथ के अनुयायी अधिकतर राजपूताना—शाहपुर, खेड़ापा और रैण—में मिलते हैं। इस पंथ की स्थापना स्वामी कृपाराम के शिष्य स्वामी

---

[1]—चरणदास : 'अष्टांग योग', पृ० २३

रामचरण (१७१६-१७६८) ने की थी। उन्होंने १७५१ में अपने गुरु से दीक्षा ग्रहण की। उनकी मृत्यु शाहपुर में हुई। उनके बाद उनके शिष्य रामजन गद्दी पर बैठे। इन्हीं रामजन ने गुरु के जीवन-काल में ही उनकी रचनाओं का संपादन किया था।

रामसनेही पंथ ने भी वैष्णव धर्म से निकल कर कबीर-पंथ की भाँति एक भिन्न मार्ग का अनुसरण किया। उसमें वेदांत के सिद्धान्तों का अनुगमन, निर्गुण ब्रह्म की उपासना और मूर्तिपूजा का खंडन प्रधानतः पाया जाता है। आचारों, वेशभूषा और रीति-रस्मों की दृष्टि से इस तथा अन्य संप्रदायों में भेद है। आलोच्य काल में इस संप्रदाय के संस्थापक की रचनाएँ अधिक मिलती हैं। स्वामी रामचरण के एक शिष्य नवलराम ने 'वाणी' (१७७६) नामक ग्रन्थ की रचना की जो 'ग्रन्थ भ्रम तोड़' के नाम से भी प्रसिद्ध है। मारवाड़ के दरिया साहब (१६७५ और १७८७ के बीच में जीवित) भी रामसनेही संप्रदाय के थे और उन्होंने साखियों और शब्दों की रचना की।[1] संप्रदाय के संस्थापक तथा कुछ अन्य अनुयायियों के अतिरिक्त रामसनेही पंथ से संबंधित और अधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ नहीं मिलतीं। इस संबंध में रामजन का नाम अवश्य उल्लेखनीय है, किन्तु उन्होंने अपने गुरु की रचनाओं का संपादन ही विशेष रूप से किया। कहा जाता है स्वामी रामचरण के हरिराम दास (मृ० १७७८), रामदास (१७२६-१७६८) और दयाल दास (१७५६-१८२८) नामक शिष्यों ने भी कुछ ग्रन्थों और स्फुट छन्दों की रचना की।

'तीरथ कूं हींदू चले पीरूं मुसलमांन ॥
जैंन रिषव गिरनारि कूं कहै तिर्थंकर थान ॥
कहै तिर्थंकर थांन साच परतीति जु नांहीं ॥
फिरि पोजै कहूं ओर ठोर उतरती मांहीं ॥
देषा दिठ विसवास मैं नांहीं जल पाषांन ॥
तीरथ कूं हींदू चले पीरूं मुसलमांन ॥'[2]

'लषण वतीस अर राग छतीस सुर छंद प्रवीण गुनवंत ग्याता ॥
वेद पुरांन कुरांन कवि चातुरी सूर सावंत धनवंत दाता ॥
तीरथां गवन फुनि व्रत येकादसी आदि सब साधि मन महरि

१—दे०, 'संतबानी संग्रह' सीरीज़
२— [illegible]

य के सिद्धांतों का मूल उद्गम वेदान्त है, यद्यपि ये लोग परब्रह्म
ण-रूप में मानने से अन्य वैष्णव (सगुण) सम्प्रदायों के निकट आ
हैं। गुरु-महिमा, वर्ण-बंधनों का अभाव, स्त्रियों को धार्मिक अधिकार
उनके सैद्धान्तिक पक्ष के अंग हैं। प्रारम्भ में वे किसी भी देवी-देवता
ज़ा न करते थे, यद्यपि आगे चल कर उन्होंने रामानन्द के शिष्यों से भी
ठ संबंध स्थापित किया। उन्होंने नैतिक जीवन और सत्य तथा उसके
; फलों पर अधिक ज़ोर दिया है। वे हरि को आदि कारण मान कर
ी उपासना करते हैं। हरि ही माया के माध्यम द्वारा सृष्टि का सृजन
हैं और वे ही कभी-कभी मनुष्य शरीर धारण करते हैं, जैसे कृष्ण ने
न में। संप्रदाय में श्री भागवत और गीता आदरणीय ग्रन्थ माने जाते
चरणदास सुखदेव या शुकदेव के शिष्य थे। उनका प्रधान केन्द्र दिल्ली
ा। चरणदासियों और कबीर-पंथियों में अनेक बातें समान हैं। सहजोबाई
७४३ के बाद रचना-काल), दयाबाई (१६६३ और १७१८), फ़रुख़ा-
के कर्तानन्द, जुगतानन्द और साधु रामसाध शरण चरणदास के कुछ
शिष्यों में से हैं। शिष्यों की भी अनेक रचनाएँ मिलती हैं।

'प्रथम ही कुंभ कहूं नाम जो सूर्य्य भेद दूजेउ जाइ सुनौ साधै
क्षूटै पेद २१ सीतकार और सीतली : पंचमी मिश्रका जांन
छटी जो भूमरी नाम है नीके समझि पिछान २२ नाम मूर्छा
सातमी अठमी कंवल वहोइ रनजीता सब मै वडी आव
वढावै सोइ २३ अब सूर्य्य भेदनी कुंभक वरनन यमपूर
पूरक ही कीजै पाछे वंद जलंदर दीजै कुंभक रेचक के मध
जानौ तांहां वंद ध्यान पिछानौ २४ पमन जोर ही सै गहि
लीजै अकाध रंद्र संकोच न कीजै सुघम कीजियै पछिम
तानै ब्रह्मनडी के माहि समानै २५ नाडी पमन पैचियै ऐसैं
भरियैं मव संधन मैं जैसे अपांन वाइ कौ ऊपर लावै पान
वाय नीचे लै जावै २६ सौं जो पैर धन वन आवै जोगी
वृद्धा होन न पावै तरण अवस्था दीपै भैसी नित ही रहै
जानियैं जैसी २७...'[1]

रामसनेही पंथ के अनुयायी अधिकतर राजपूताना—शाहपुर, खेड़ापा और
[illegible]—में मिलते हैं। इस पंथ की स्थापना स्वामी कृपाराम के शिष्य स्वामी

[1]—चरणदास : 'अष्टांग योग', पृ० २३

रामचरण (१७१६-१७६८) ने की थी। उन्होंने १७५१ में अपने गुरु से दीक्षा ग्रहण की। उनकी मृत्यु शाहपुर में हुई। उनके बाद उनके शिष्य रामजन गद्दी पर बैठे। इन्हीं रामजन ने गुरु के जीवन-काल में ही उनकी रचनाओं का संपादन किया था।

रामसनेही पंथ ने भी वैष्णव धर्म से निकल कर कबीर-पंथ की भाँति एक भिन्न मार्ग का अनुसरण किया। उसमें वेदांत के सिद्धान्तों का अनुगमन, निर्गुण ब्रह्म की उपासना और मूर्तिपूजा का खंडन प्रधानतः पाया जाता है। आचारों, वेशभूषा और रीति-रस्मों की दृष्टि से इस तथा अन्य संप्रदायों में भेद है। आलोच्य काल में इस संप्रदाय के संस्थापक की रचनाएँ अधिक मिलती हैं। स्वामी रामचरण के एक शिष्य नवलराम ने 'वाणी' (१७७६) नामक ग्रन्थ की रचना की जो 'ग्रन्थ भ्रम तोड़' के नाम से भी प्रसिद्ध है। मारवाड़ के दरिया साहब (१६७५ और १७८७ के बीच में जीवित) भी रामसनेही संप्रदाय के थे और उन्होंने साखियों और शब्दों की रचना की।[1] संप्रदाय के संस्थापक तथा कुछ अन्य अनुयायियों के अतिरिक्त रामसनेही पंथ से संबंधित और अधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ नहीं मिलतीं। इस संबंध में रामजन का नाम अवश्य उल्लेखनीय है, किन्तु उन्होंने अपने गुरु की रचनाओं का संपादन ही विशेष रूप से किया। कहा जाता है स्वामी रामचरण के हरिराम दास (मृ० १७७८), रामदास (१७२६-१७६८) और दयाल दास (१७५६-१८२८) नामक शिष्यों ने भी कुछ ग्रन्थों और स्फुट छन्दों की रचना की।

'तीरथ कूं हींदू चले पीरू' मुसलमांन ॥
जैंन रिषव गिरनारि कूं कहै तिथंकर थान ॥
कहै तिथंकर थांन साच परतीति जु नांहीं ॥
फिरि षोजै कहूं और ठोर उतरती मांहीं ॥
देवा दिठ विसवास मैं नांहीं जल पाषांन ॥
तीरथ कूं हींदू चले पीरू' मुसलमांन ॥'[2]

'लषण बतीस अर राग छतीस सुर छंद प्रवीण गुनवंत ग्याता ॥
वेद पुरांन कुरांन कवि चातुरी सूर सावंत धनवंत दाता ॥
तीरथां गवन फुनि व्रत येकादसी आदि सब साधि मन महरि

१—दे०, 'संतबानी संग्रह' सीरीज़

२—रामचरण : 'कुण्डलिया', पृ० ?

पालै। जैन मत जांणता बांचि बषांणता भ्रम की धारणां क्रम टालै॥ ऊंच से ऊंच कुलवंत करणीं लियां जोग जिग जाप तत त्याग ताजा॥ रांम हीं चरण इक रांम के भजन विनि थोथरे क्रित ये कूंण काजा॥ १२॥'[1]

'सांस उसांसां ध्याइ समझि तूं वीर रे॥ आव घटै दिन रैंणि ज्यूं साइर तीर रे॥ तब सूकैगा नीरहंस उड़ि जाइगा॥ परिहां रांम चरण भजि रांम क निज घर पाइगा॥ ६॥
दुष दुरिया वह जाइ सकल संसार रे॥ रांम भजन प्रताप संत भये पार रे॥ तिस्नां दुष कौ मूल वंधाया जगत कूं॥ परिहां रांमचरण गह तोष मोष पद भगत कूं॥'[2]

हाथरस के तुलसी साहब (१७६३-१८४३) ने भी अपना पंथ स्थापित किया था, किन्तु तात्विक दृष्टि से वह अन्य संत सम्प्रदायों से बहुत भिन्न नहीं था। उन्होंने 'घट रामायण', 'रत्न सागर', 'शब्दावली' और 'पद्म सागर' की रचना की। किन्तु ये सभी ग्रंथ अपूर्ण हैं। उनके शिष्य जगन्नाथ ने १८४७ में 'गुरु महिमा' शीर्षक ग्रन्थ की रचना की।

आलोच्य काल में शिवनारायणी नामक एक और संत संप्रदाय था। इस संप्रदाय की स्थापना अठारहवीं शताब्दी के मध्य में शिवनारायण ने की थी जो गाज़ीपुर के पास चन्दावन के रहने वाले एक राजपूत थे। उनका रचना-काल मुहम्मदशाह के राजत्व काल में पड़ता है। इसलिए हमारा उनसे कोई विशेष संबंध नहीं है। वैसे भी आलोच्य काल में उनके अनुयायियों की कोई रचना उपलब्ध नहीं हो सकी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का जहाँ अन्य अनेक दृष्टियों से महत्त्व है वहाँ सन्त सम्प्रदायों के पतन की दृष्टि से भी यह शताब्दी महत्त्वपूर्ण है। हाथरस के तुलसी साहब के बाद न तो कोई प्रसिद्ध और उल्लेखनीय संत कवि या धार्मिक गुरु हुआ और न किसी नए और महत्त्व-पूर्ण संत सम्प्रदाय की ही स्थापना हुई। इस पतन का एक प्रधान कारण यह था कि यह आंदोलन एक तो पहले से ही अधिकतर अशिक्षित लोगों के हाथ में रहा, उस पर भी आलोच्य काल में वह और भी समाज के निम्न वर्गों

१—रामचरण : '[illegible]' (१७८१), पृ० ८
२—रामचरण : 'चंद्रायण' (१७८१), पृ० ५

तक ही सीमित हो गया। ये वर्ग शास्त्रीय और दार्शनिक सिद्धांतों से नितान्त अपरिचित थे और 'गुरुओं' के शब्द ही उनके ज्ञान के साधन मात्र थे। सांप्रदायिक विद्वेष ने भी उनमें घर कर लिया था। इसके अतिरिक्त संत संप्रदायों में दीक्षित होने वाले निम्न वर्ग अपनी जाति और वर्गगत रीति-रस्मों और आचार-विचारों को अपने साथ लेते आए। फलतः इन संप्रदायों में भी जाति-भेद तथा ऊँच-नीच और छूआछूत की भावना का प्रचार हुआ। साथ ही वे वैष्णवों के सगुण संप्रदायों के प्रभाव से भी न बच सके। वास्तव में वैष्णव धर्म का स्वरूप इतना व्यापक और विविधरूपात्मक रहा कि उसने या तो अन्य धार्मिक मतों को अपनी भुजाओं में समेट लिया अथवा उन पर अपनी गहरी छाप छोड़े बिना न रह सका। संत संप्रदाय हिन्दू समाज में प्रचलित मूर्ति-पूजा, पौराणिक कथाओं, तीर्थ-यात्रा, विविध कर्मकांड आदि जिन बातों की संहारात्मक आलोचना करते थे उन्हीं बातों का उनमें प्रचार हुए बिना न रह सका। कालांतर में उनमें से अनेक तो स्वयं वैष्णव समाज में घुल-मिल कर एक हो गए। कुछ संत संप्रदायों का अस्तित्व तो अब भी पाया जाता है, किन्तु हिन्दी प्रदेश के सामान्य जीवन और साहित्य में उनका कोई महत्त्व नहीं रह गया। और फिर अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के साथ-साथ यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के फलस्वरूप जीवन की परिस्थितियाँ ही संत संप्रदायों की स्थापना के अनुकूल न रह गई। जीवन की भिन्न परिस्थितियों के कारण ब्रह्म समाज, आर्य समाज, राधास्वामी सत्संग आदि की स्थापना हुई जिनका दृष्टिकोण ही पिछले सुधारवादी आंदोलनों (संत संप्रदायों) से बिल्कुल भिन्न था। अँगरेज़ी राज्य में नवीन सुधारवादी आंदोलनों ने ही जनता का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट किया। अब पुराने सुधारवादी संप्रदायों का कोई विशेष महत्त्व न रह गया था। पुनरुत्थान-भावना से परिव्याप्त धार्मिक आंदोलन ही हिन्दू समाज में अधिक आकर्षक सिद्ध हुए।

इन विभिन्न संत संप्रदायों के अंतर्गत निर्मित अनेकानेक काव्य-ग्रंथों में निहित धार्मिक और दार्शनिक विचारों का विस्तृत विश्लेषण करने की तो कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि, एक तो, उनमें प्राचीनों के विचारों का पिष्टपेषण मात्र मिलता है, और दूसरे, आलोच्यकालीन संत कवियों द्वारा अभिव्यक्त विचारों का अध्ययन कबीर तथा हिन्दी काव्य के पिछले संत कवियों की रचनाओं का अध्ययन करते समय काफ़ी हो चुका है। तब भी संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एकेश्वरवाद, निर्गुण ब्रह्म की उपासना, विवेक, अनाहद, काल, माया, ब्रह्म, सत्संग, नाम, शब्द, गुरु, योग, भक्ति, साधु,

सत, असत्, त्याग, वैराग्य, सांसारिक इच्छाओं और आकांक्षाओं के प्रति उदासीनता, मन की शुद्धि, कबीर, दादू, मीरां आदि प्राचीन कवियों की ओर संकेत, तत्कालीन सामाजिक संगठन और धार्मिक आवरणों की कटु आलोचना, ज्ञान, हिन्दुओं और मुसलमानों में प्रचलित बाह्याडंबरों की निंदा, परब्रह्म से पृथक् होने पर विरह-कातरता, काव्यात्मक रूप और शैली आदि बातें इन रचनाओं में अभिव्यक्त विचारों की पीठिका में प्रमुख एवं प्रधान अंग बनी हुई हैं। साहित्यिक दृष्टि से ये रचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। भाषा-विज्ञानियों द्वारा भाषा के अध्ययन की दृष्टि से ये रचनाएँ भले ही रोचक हों, किन्तु यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन ग्रन्थों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित है।

किन्तु कुछ रचनाओं का, विशेषतः स्वामी रामचरण की रचानाओं का, सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा। संत कवियों ने भारतीय और इस्लामी धार्मिक संघर्ष को मिटाकर समन्वयात्मक बुद्धि से कार्य किया, यह तथ्य इतना स्पष्ट और सर्वविदित है कि उस पर यहाँ विचार करना पिष्टपेषण मात्र होगा।[1] भारत के सांस्कृतिक इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। स्वामी रामचरण की रचनाओं से हमें अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के धार्मिक जीवन के संबंध में अनेक रोचक बातें ज्ञात होती हैं। उन्होंने अपने 'अणभै विलास' (१७८८)[2] में जनसाधारण का मसानी, पीर, मियाँ आदि में विश्वास, फ़क़ीरों की धूर्तता, उनके अज्ञान और उनकी धन-लिप्सा का उल्लेख किया है। 'झूलणां' में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि जोगी, बैरागी और 'साधु' अपनी भक्ति प्रकट करने के लिए अपना अंग-भंग कर आत्म-पीड़ा द्वारा श्रद्धालु जनता की भावनाएँ उत्तेजित करते थे। उन्होंने यह भी बताया है कि अनेक 'साधु' तम्बाकू चबाते या पीते और राँड़ों या भाँड़ों की संगत में अथवा देवलों में पड़े रहते थे और आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। 'सवैया' में उन्होंने अन्य अनेक क्रूर धार्मिक प्रथाओं का उल्लेख किया है। स्वामी रामचरण के इन कथनों से यूरोपीय यात्रियों के विवरणों का समर्थन होता है। 'साधु' जन ज्ञान प्राप्त करने और सच्चे भक्तों की भाँति जीवन व्यतीत करने के स्थान पर तस्ता(? तस्ला), मँजीरा, तमूरा, चंग, मृदंग, मुँहचंग आदि बजाते हुए उत्साह प्रकट करते रहते थे। वे हरि के स्थान पर सांसारिक प्राणियों को प्रसन्न

१—डॉ० ताराचन्द : 'इन्फ्लुएन्स ऑव इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर', इलाहाबाद
२—तिथियाँ संपादन-काल की हैं

करना चाहते थे। कुछ 'साधु' तो काशी करवट लेने में ही अपनी आध्यात्मिकता की इतिश्री समझ बैठे थे, कुछ 'साधु' हिमालय के बर्फ़ में गल कर अपने प्राण दे देते थे, कुछ लोग केदारनाथ के पत्थर चुनने में अपनी शक्ति का ह्रास करते थे, कुछ नदियों में जीवित प्रवाह ले लेते थे और कुछ अपने को जीवित ही ज़मीन में गाड़ लेते थे। ऐसे साधुओं के गुरु भी न होते थे। गुरु के न होने से उन्हें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो ही कैसे सकता था। स्वामी रामचरण ने कुछ और भी धार्मिक प्रथाओं का उल्लेख किया है, जैसे, बिना खाना खाए पानी पिए आबू या गिरिनार पर्वत पर चढ़ना, जैनों और शैवों का आपस में झगड़ना, पंचाग्नि में तपना, अपने को ज़िंदा जला देना, दम घोंट कर मर जाना, वर्षों तक एक ही पैर पर खड़े रहना, कपालियों की रीति ग्रहण करना, पैरों में बँधी भारी लोहे की ज़ंजीर घसीटना, लम्बे-लम्बे बाल रखना या सिर बिल्कुल घुटवा देना, शरीर पर भारी-भारी ज़ंजीरों का बना कवच धारण करना, आदि। वे रंगबिरंगे कपड़े पहनते और काँच के मोतियों से अपना शृंगार करते थे। धनोपार्जन के लिए वे नाचते-गाते भी थे। विभिन्न योगासन धारण कर वे संसार को धोखा देना चाहते थे। कान का निचला हिस्सा फाड़ कर वे उनमें भारी-भारी मुरकियाँ लटका लेते थे। इसी तरह अन्य अनेक प्रकार की क्रूर प्रथाएँ साधु-समाज में प्रचलित थीं। वेदों, गीता और क़ुरान का वास्तविक महत्त्व न समझते हुए भी लोग उनकी दुहाई देते थे। वे अनेक प्रकार के व्रत रखते और ब्राह्मणों को भोजन कराते थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त माँग-माँग कर जीवन व्यतीत करने वाले और बहुत से दूसरे लोग थे। हिन्दुओं के लिए तीर्थ-यात्रा, यज्ञोपवीत, तिलक, खानपान-संबंधी नियंत्रण, छूआछूत, ऐसी ही अनेक अप्रधान बातें समाज के धार्मिक जीवन का अंग बन गई थीं। 'रेख़ता' में कवि ने विधवाओं के रहन-सहन के ढंगों की घोर निंदा की है और सांप्रदायिक मतमतान्तरों का संकुचित और सीमित दृष्टिकोण ही लोगों में अधिकतर पाया है।

इसी प्रकार के विवरण कवि की 'अणभौ बानी' में पाए जाते हैं। उसमें उसने रामानन्दियों, नेमावतों, माध्वाचारियों; दादूपंथियों आदि की प्रवञ्चनाओं का भा उल्लेख किया है। वे आपस में लड़ते-झगड़ते और मन्दिरों के बाह्य-आडंबरों में विश्वास रखते थे। एक मियाँ को संबोधित करते हुए कवि कहता है कि जो अपवित्र जीवन व्यतीत करे वही क़ाफ़िर है। अपने को फ़क़ीर और साधु कहने वालों में से कुछ तो डाका तक डालते थे। उनका दैनिक जीवन गाने-बजाने, नाचने, चिमटा बजाने, हुक्का और गाँजा पीने, अफ़ीम खाने

और चिमटा, कुल्हाड़ी तथा छुरा लिए हुए नगरों में भीख माँगने आने, वेश्या-गमन करने और अपने स्थूल शरीरों को लिए घंटों सोते रहने में व्यतीत होता था। इसी रचना में स्वामी रामचरण ने नागों, कनफटों, वैरागियों, कापालिकों, शाक्तों, अवधूतों, आकाश-मुखियों, जंगमों, शैवों, सरावगियों, दिगंबरों, खोजों, मियाँओं आदि के अनेक धार्मिक वर्गों और संप्रदायों के नाम दिए हैं। इन संप्रदायों में दीक्षित भक्तों की काम-लोलुपता का उल्लेख करते हुए उन्होंने उन्हें पतित कहा है। कवि का विचार है कि रामानंद, निंबार्क, मध्वाचार्य और विष्णु स्वामी के संप्रदायों के नाम यद्यपि भिन्न-भिन्न थे, तो भी मूलतः वे सब एक ही हैं। स्वामी रामचरण ने 'कुण्डलिया', 'झूलना', 'कवित' आदि में भी ऐसी बातों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है जिनसे तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उनकी रचनाओं में यत्र तत्र घूँघट, सती, टोप, पगड़ी, दुपट्टा, बागा, जुल्फ़, कण्ठी आदि का उल्लेख भी मिल जाता है। स्वामी रामचरण के शिष्य नवलराम ने भी दूधाधारियों, जमखंडियों, अघोरियों और तांत्रिकों आदि के धार्मिक वर्गों या संप्रदायों और उनकी क्रूर प्रथाओं का उल्लेख किया है। अन्य आलोच्यकालीन संत कवियों की रचनाओं में भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं, किन्तु कम और न वे स्वामी रामचरण द्वारा दिए गए संकेतों की भाँति स्पष्ट और विस्तृत ही हैं। इस दृष्टि से स्वामी रामचरण की रचनाओं का हिंदी प्रदेश के सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्त्व है।

उ) जैन-काव्य :

जैन धर्म का भी हिन्दू समाज में एक प्रमुख स्थान रहा है। जैनों से संबंध रखने वालों ग्रंथों की संख्या भी बहुत है। उन्होंने आदि, उत्तर, वर्द्धमान आदि पुराणों की रचना अपने ढंग से की थी और वे हिन्दू पौराणिक साहित्य से भिन्न पौराणिक रचनाएँ हैं, यद्यपि जैन पुराणों ने अनेक कथाएँ हिन्दू पुराणों से ही ग्रहण कीं। जैन पुराणों का प्रधान उद्देश्य तीर्थंकरों की जीवन-गाथा गाना रहा है। पुराणों के अतिरिक्त जैनों ने साहित्यिक, दार्शनिक, व्याकरण-संबंधी, धार्मिक आदि अन्य अनेक विषयों से संबंधित ग्रन्थों की रचना की। धार्मिक और दार्शनिक रचनाओं में अनेक तो स्वयं श्री महावीर स्वामी के शब्दों से निर्मित हुई हैं। जैनों ने वेदों को अपौरुषेय और अमोघ नहीं माना। वे कुछ ऐसे महान् व्यक्तियों को पूज्य मानते हैं जिन्होंने अपने अपूर्व त्याग करने और यातनाएँ सहन करने पर पशुओं से ही नहीं, देवताओं से भी अधिक

उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। वे अहिंसा को इतना अधिक महत्त्व देते थे कि उन्हें अनजाने में भी छोटे-छोटे कीटाणुओं की हत्या हो जाने से पाप का भागी होना पड़ता था।

हिन्दी में जैन धर्म-संबंधी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु अधिकतर उपलब्ध ग्रन्थ सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के रचे मिलते हैं। आलोच्य काल से सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथों में नवलसाहि कृत 'वर्धमान पुराण' (१७६८), रायचंद नागर कृत 'कल्पभाष्य' या 'भाषा कल्पसूत्र' (१७८१), और वृंदावन जी कृत 'चौबीस पाठ' (१८१८), 'तीस चौबीस पाठ' (१८१६), 'छन्द शतक' (१८४१), 'प्रवचन सार' और 'अरहतपासा-केवली' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु, जैसा कि कवियों ने स्वयं स्वीकार किया है, वे इन्हीं नामों की मूल रचनाओं पर आधारित हैं। इन रचनाओं में छोटी-छोटी कथा-कहानियों द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, अथवा वे जैन तीर्थंकरों और अन्य भक्तों के संबंध में रचित भक्ति रस के स्फुट छन्दों के संग्रह मात्र हैं। उनमें सांप्रदायिकता अधिक पाई जाती है। आलोच्यकालीन जीवन का अध्ययन करने की दृष्टि से वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, यद्यपि साहित्यिक और कलात्मक सौंदर्य का उनमें नितान्त अभाव भी नहीं है :

···'सैल सीस मारग कांनन गुफा विवर वसै सदा तह ॥
आंन उपजहि कष्ट कौनहु कर्म जे गनिते तहां ॥
मनुप सुर पसु अर अचेतन विपति आंन सतावही ॥
ठौर तजि नहिं भजहिं···पद निपध विजय कहावही ॥७॥१०॥

···हेम महिलनि चित्रसारी सेज कोमल सोवते ॥
विकट वन मै येकले द्वैकठिन भुवतह जोवते ॥
गडत पांहन पंड अति ही तास कौ कायर नही ॥
ऐसी परी सहसयण जीतन मोतिनि के पदतही ॥८॥११॥

···जगति जिय मुंनि देपि कोई कहिति दुष्ट दुर वजनिजे ॥
पापंड ठग यह धार कोई मारू मारू जु कहि तजै ॥
वचन ऐसे सुनत जिनि कै छिमा डाल सु ओडई ॥
सो आक्रोस परीस विजई तिनहिं पद करि जो डई ॥१२॥'[1]

१—नवलसाहि : 'वर्धमान पुराण' (१७६८), पृ० ७१-७२

'मान कौ न मान अपमान अपमान को न राग हूं सौं राग न विराग है विराग सौं। सूरज से सूर पूर सोम जैसे सोम रूरे धूरे हू अधूरे हैं सहन जाकी जाग सौं ॥ धराधर जैसे धीर वीर बलवीर जू से छीर नीरनिधि से गंभीर चीर त्याग सौं। ऐसैं विहरत वीतराग महावीर स्वामी जाको यों महातम है आतम की लाग सौं ॥'[1]

...'धीरज दै नृप सौं कह्यौ नैक न करि संकोच।
पुरी उजैनी राज तुहिं देंहु लेइ तजि सोच ॥
यह कहि जोरि अनीक गुरु पढ़े नृपहिं लै संग ॥
मारग मैं ग्रीषम बदलि बरखा कीनो रंग ॥
धर परसौहैं घन भये भर वरसौहैं मेह।
घर दर सौहैं पथिक दृग करि सरसौहैं नेह ॥
घिरे घुमड़ि घन घोर घर रैन धौस कौ ग्यान।
कुमुद कमल तैं पाइयत कै चकवी चकवान ॥
झपकि झपकि झमकै झरी लपकि लपकि लपि बीज।
टपक टपक ओली करै छपक छपक मग भीज ॥
दंपति अंक निसंक भरि लूटत धन ज्यौं रंक।
माननि तज्यौ अतंक अरु मारग छायो पंक ॥
मारग रित अवरोध तैं नृपति रहे तहं छाय।
भई छावनी कटक की रितु सुहावनी पाय ॥
चतुर मास बीत्यौ जबै सरद आगमन आय।
अमल अम्भ आकाश ह्वै मारग दियो बताय ॥...'[2]

अस्तु, आलोच्यकालीन भक्ति-काव्य के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह परम्परा और रूढ़ि के बन्धनों में बँधा हुआ था—वह अतीत से सम्बन्ध रखता था। भाव-विचार और साहित्यिक शैली की दृष्टि से वह पुरातन था। केवल कुछ रचनाएँ ही आलोच्यकालीन सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालती हैं। नवीन भावों और विचारों का अभाव और रूढ़ि तथा परम्परा स्वयं ये बातें भारतीय-इस्लामी सभ्यता के पतन की प्रतीक थीं।

१—रायचन्द नागर : 'कल्पभाष्य' (१७८१), १८८७ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण से, पृ० ४९

२—वही, पृ० १०४—१०५

३. रीति और शृंगार काव्य:

जिस युग में तुलसी और सूर की रचनाएँ हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्ण युग उपस्थित कर रही थीं, उसी समय काव्य के सब अंगों का शास्त्रीय निरूपण प्रारंभ हुआ। रस पर कृपाराम (१५४१) और चरखारी के मोहनलाल मिश्र (१५४१ के लगभग, 'शृंगार सागर') और अलंकार-शास्त्र पर करनेस कवि ('करणाभरण', 'श्रुति भूषण,' 'भूप भूषण') की प्रारंभिक रचनाओं के बाद काव्य-रीति का सम्यक् और वैज्ञानिक विवेचन सर्वप्रथम आचार्य केशवदास (१५५५-१६१७ के लगभग) कृत 'रसिक प्रिया' (१५६१) और 'कवि प्रिया' (१६०१) की रचना द्वारा हुआ और काव्य-शास्त्र की निश्चित रूप-रेखा प्रस्तुत हुई। किन्तु रीति-ग्रंथों की अखण्ड परम्परा, कुछ काल पश्चात्, चिंतामणि त्रिपाठी (जन्म १६०६ के लगभग, अन्य रचनाओं के अतिरिक्त 'कविकुल कल्पतरु' की रचना १६५० में) से मानी जाती है। उस समय आचार्य केशवदास द्वारा स्थापित परंपरा का उत्तरोत्तर विकास हुआ जिसका चरमोत्कर्ष अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (दे०, 'पूर्व-परिचय') दृष्टिगोचर होता है। तत्पश्चात् उसका उत्तरोत्तर ह्रास ही होता गया।

आलोच्य काल में अनेक कवि ऐसे हुए जिन्होंने साहित्य की इस परंपरा-विहित धारा को सुरक्षित बनाए रखने में सचेष्टता प्रदर्शित की। कुछ कवियों ने तो केवल काव्य-शास्त्र पर रचनाएँ प्रस्तुत कर काव्य-दोष, काव्य-गुण, गुण, ध्वनि, व्यंजना, रस, अलंकार, पिंगल आदि, अथवा उनमें से किसी एक या एक से कुछ अधिक पक्षों पर प्रकाश डाला। अनेक रचनाएँ केवल रस-विवेचना की दृष्टि से ही निर्मित हुईं जिनमें नव रसों की परिभाषाएँ, नायक-नायिका-भेद, नख-शिख, अष्टयाम, षट्ऋतु आदि का समावेश हुआ है। किन्तु वास्तव में अधिकतर रचनाओं में कवियों ने अपना ध्यान केवल शृंगार रस और शृंगार रस के अंतर्गत नायक-नायिका-भेद, नख-शिख, और षट्ऋतु पर ही प्रमुखतः केन्द्रित किया है। अन्य रसों के संबंध में संक्षेपतः कुछ कह भर दिया गया है। इस दृष्टि से ये रचनाएँ सांगोपांग नहीं कही जा सकतीं। कुछ कवियों ने केवल अलंकारों पर और कुछ ने केवल पिंगल पर विचार किया। इसके अतिरिक्त बोधा (जन्म १७४७, रचना-काल १७७३-१८०३), असनी के ठाकुर द्वितीय (रचना-काल १८०४ के लगभग), बुन्देलखण्ड के ठाकुर तृतीय (१७६६-१८२३ के लगभग), रामसहायदास (रचना-काल १८०३-१८२३), मानसिंह 'द्विजदेव' (१८२०-१८७०), पजनेश (रचनाकाल १८४३), सेवक (१८१५-१८-

छन्द उद्धृत किए गए हैं। उद्धृत छन्द या तो पूर्ववर्ती या संग्रहकर्त्ताओं के समकालीन कवियों की रचनाओं से लिए गए हैं। कभी-कभी संग्रहकर्त्ता भी स्वरचित छन्द उद्धृत करता चलता है। कुछ कवियों ने रीति पर स्वतंत्र ग्रंथों का निर्माण किया, जैसे रुद्रगिरि द्वारा रचित 'रसमोदक', किन्तु संग्रहों वाली पद्धति ग्रहण की, यद्यपि सामान्यतः ऐसा बहुत अधिक नहीं पाया जाता। आलोच्य काल में इस प्रकार के नवीन कृत 'सुधासर' (१८३८)[1] और सरदार कवि द्वारा 'शृंगार-संग्रह' (१८४८)[2] शीर्षक दो प्रसिद्ध संग्रह-ग्रंथों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें रसों का, विशेष रूप से शृंगार रस और उसके अंतर्गत नायक-नायिका-भेद, नख-शिख, संचारी, हाव, विरह-दशा आदि का निरूपण हुआ है। काव्य-रीति के रस-पक्ष के अध्ययन की दृष्टि से ये संग्रह ग्रंथ अत्यंत उपयोगी हैं।

आलोच्य-कालीन रीति-साहित्य के विविध अंगों का अध्ययन करने पर यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि इस काल में यद्यपि हरिचरण दास, ऋषिनाथ, थान, पद्माकर, प्रतापसाहि, मुरलीधर मिश्र, भगवतदास, रामराज, ग्वाल, पजनेश, गोकुलनाथ, चन्द्रशेखर वाजपेयी, किशन जी आढ़ा नरवलगढ़ के महाराज रामसिंह आदि जैसे अनेक प्रतिभा-संपन्न प्रसिद्ध कवि हुए, तो भी रीति साहित्य में उन्होंने कोई नवीन दृष्टिकोण उपस्थित न किया। वे केवल अपने पूर्ववर्ती आचार्य-कवियों के मार्ग का अनुसरण और परम्परागत काव्यादर्श और शैली का पिष्टपेषण मात्र करते रहे। आलोच्यकालीन कवियों ने भी दोहा या कवित्त में लक्षण देकर, दोहा या कवित्त में ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैसे,

'सेवक लों आधीन है जाकें नित ही नाह ॥
स्वाधीनपतिका नाइका कही देपि रस राह ॥
वन विहार अरु पाइवो मन ही को अभिलाप ॥
मद अरु मदन महोतसव लागत याकों दाप ॥

मुग्धा स्वाधीनपतिका ॥ कछु वैन न बोलि न जानति हौं
अरु नैनन में न विलास ठए ॥ फिरि हाँसहु में कछु भास
नहीं परिहास नहीं कहि आवत ए ॥ नहि जानहि मो पर क्यों

१—सं० १९४४ वि० में बनारस मे प्रकाशित

२—१८८८ में लखनऊ से प्रकाशित

हरिवंस धौ होत हैं नेह नए ई नए ।। निसि द्यौस रहैं दृग पीतम के मुप चंद की ओर चकोर भए ।।'[1]

'भावानुभाव विभाव जुत स्थांई भाव प्रवुद्ध ।।
ज़ो पदार्थ उपजत सरस मन विश्राम विशुद्ध ।।

यथा ।। पुलकै स्वरोम जोम खुल कै न गोइ सकै नैन वस होइ न सजोइ सकै पनको । लाइ गर्भ गुन को न धुनि को अलापि सकै हर्प सकै आय न हलाइ सकै तन को ।। लोकन भनत लाख लाख अभिलाख करै राखि सकै हियरे न भापि सकै जन को ।। ओज कों सिंगार के मनोज को न गारि सकै मौज न सभारि सकै मन को ।।'[2]

'अथ दुतीय व्याघात ल० ।। वचन विरुधी हेत सो कारज साधन जत्र ।। भेद दूसरो कहत है व्याघातक को तत्र ।। २६१।।उदा०।। जो हमको सुकुमार सी कहि छोडत रघुबीर ।। तौ रहियै सहियै सुक्यौं बिरह अनल की पीर ।।२६२।।'[3]

...'अथ हेतु ल० ।। हेतु मातु अरु हेत को वरनत साथ प्रवीन ।। अलंकार तह हेतु है सुकवि मते कहि दीन ।।४५८।। उदा०।। पूरे पुरुब पुन्य ते पथिक कासिका आइ ।। सुरपुर पहुचन को धरे सुरसरिता मे पांइ ।।४५६।।'[4]

'अन्योन्य लक्षण ।। जहँ उपकार परस्परहि वरनत करि निरधार । ताको कवि जन कहत हैं अन्योन्यालंकार ।।२०३।। उदाहरण ।। नृप तें सेना सोहती सैंना ते नर गात ।।
दूलह लसै बरात सों दूलह सों बरियात ।।२०४।।'[5]

'ताकों कहत प्रमानिका लघु गुर क्रम वरनाठ ।। वसु अछर लघु गुर जहा ।। छंद मल्लीका पाठ ।।३४।। अथ प्रमाणिका छंद ।। न प्रेम ज्ञान जानियें ।। न कर्म जोग ठानिये ।। भरोस राम राय को ।। न आनहूँ उपाय को ।।३५।। अथ मल्लिका

१—हरिवंश : 'रसिक विनोद' (१७६६), पृ० १२
२—लोकमणि मिश्र : 'नव रसरंग' (१७८९), पृ० १-२
३—ऋषिनाथ : 'अलंकार मणिमंजरी' (१७७३), पृ० २०
४—वही, पृ० ३३
५—गिरिधरदास : 'भारती भूषण', प्रथम संस्करण, लखनऊ, १८८०, पृ० १९

छंद ॥ साध संग राग ध्याय ॥ आस पोह बिन भाय ॥ भे पुनीत पाप रूप ॥ क्यों परो तू मोह कूप ॥३६॥ दो० ॥ तीनि रग- नव बरन पद॥ विरचु लछिमी छंद ॥ सगन येक द्वै जगन कों तोमर आनंदकंद ॥३७॥ अथ लक्ष्मी छंद ॥ पाइ कै भोग तू फूलिगो ॥ नाम श्री राम को भूलिगो ॥ काल लै दंड कों गाजिहै ॥ वाट कौनी तवै भाजिहै ॥३८॥ अथ तोमर छन्द ॥ अव चेतु रे मति मंद ॥ सब त्यागि दे छल छंद ॥ हिय हेत कौसिल चंद ॥ श्रुति साधु मत्त वसंद ॥३९॥...'[1]

'रगन सगन पुन जगन है, भगन-रगन सुख दान।
यति अवसान सुछन्द गनि, चच्चरीक रसखान॥

चच्चरीक

देखरी बलभद्र मोहन ग्वाल बालक संग में।
ख्याल भांतिन के करें किलकैं महा रस रंग में॥
काछनी कटि में कसैं पट नील पीत विशाल है।
चंद्रमा घन युक्त मानहु अंक तड़िता जाल है॥'[2]

कुछ ने तो, जैसे मुरलीधर मिश्र ने 'सार शृंगार' या जगन्नाथ समनेस ने अपने 'पिंगल काव्य विभूषण' में, उदाहरण तक नहीं दिए :

'दंपति रस संजोग मे उपजत अनगन हाव॥
तिनहूँ कों वर्णन करौं जुत लछन चित चाव॥४०॥
केलि समै आपुस मे मोहिवो सुहेला लीला भेष कों पलटिवो ललित सोभा कहिवो॥ समै पै सरम तें न वोलिवो विहित किलकिंचित सु एकै वार रस रोस रहिवो॥ गरवतें मद विलसै विलास विभ्रम सो भूषन कहूँ के कहूँ पी के दोष गहिवो॥ मोटाइत भूषन अनादर विच्छित कीवौ केलि मे कलह सोई कुट्टमित कहिवो॥४१॥'[3]

इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में प्रतापसाहि ने अपने ग्रंथ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी', रामराज ने अपने 'काव्य प्रभाकर', सरदार ने अपने 'मानस रहस्य', पजनेश ने अपने 'स्वेच्छार्थ षोडशी', तथा कुछ और कवियों ने अपने ग्रंथों

१—स्वामी भगवतदास : 'रामरसायन पिंगल' (१८१०), पृ० १७
२—गदाधर तैलंग : 'वृत्त चन्द्रिका' (१८४०)
३—मुरलीधर मिश्र : 'सार शृङ्गार' (१८००), पृ० ७

में रीति-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विचार और उनकी व्याख्या ब्रजभाषा गद्य में करनी प्रारम्भ कर दी थी :

'होत प्रभात अन्हायवे काज सखीन के साथ तहाँ पग धारे। मज्जन कै पहिरे पट सुन्दर भूषन अङ्गन अङ्ग संवारे ॥ तीर है नीर भरी गगरी सु विलोकि नए तहँ कौतुक भारे। आजु सरोवर में सजनी जल भीतर पंकज फूल निहारे ॥२१॥

टीका। नायिका की उक्ति सखी सों कि आजु सरोवर मे जल भीतर कमल फूल निहारे तांमे व्यंग्य। अपने नेत्रन को प्रतिबिम्ब देखि कमल के फूलि मानत भई तातें अज्ञात। इहां नेत्रन को आरोप कमल फूल विषै करो सो अकेल फूल ही पाये तातें साध्यवसाना; अरु जल भीतर फूल यह आश्चर्य यातें रसवदालङ्कार। शृङ्गार को अङ्ग अद्भुत तातें अपराङ्ग व्यंग्य है तातें प्रेयस्वत अलंकार ॥ ल० जहाँ भाव मे होय अङ्ग और को और तहँ। प्रेयस्वत कहि सोय गुनीभूत की व्यंग्य जहँ ॥ २१ ॥'[1]

'मथन सों उच्छलत सागर के बारि पूरे कंदर भ्रमित अति मंदर के ध्वान सो। लागत गजा के गरजत प्रलै काल घन घटन परस्पर संघट समान सो। द्रोपदी के क्रोध को विराजै अग्रदूत कुरु कुल उतपात को करन पवमान सो। मेरे सिंघनाद के समान रव जाको यह दुंदुभी वजायो कौने गरव अमानसो।

यामैं वाच्यार्थ जो प्रश्न है सो रौद्र रस को व्यंजक नहीं है तें प्रश्न सों क्रोध नहीं व्यंजित होत औ नाटक रूप जो प्रबंध है सोऊ रौद्र रस को व्यंजक नहीं है काहे तैं नाटक तो अभिनय है अभिनय मों दीर्घ समास सों अर्थ ज्ञान विलंब करि कै होत है तासो यद्यपि प्रश्न औ नाटक कों उद्धत रचना प्रतिकूल है परन्तु क्रोध स्वरूप जे भीमसेन हैं ते यामें वक्ता हैं तिनको औद्धत्य व्यंजित करि अनुकूल है कहूं वक्ता औ प्रबंध की अपेक्षा विन वाच्यार्थ की योग्यता सों रचनादि को है वो यथा...'[2]

१—प्रतापसाहि : 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' (१८२५), पृ० ८-९ (१९०० में प्रकाशित संस्करण)

२—रामराज : 'काव्य प्रभाकर' (१८४७), पृ० १६४

इससे अन्य कवियों की अपेक्षा इन कवियों की आलोचनात्मक शक्ति का अधिक पता चलता है, क्योंकि जिन कवियों ने गद्य का आश्रय ग्रहण नहीं किया उन्हें पद्यात्मक रचना की सीमित परिधि के भीतर ही रहना पड़ा। किन्तु गद्य का माध्यम ग्रहण करने पर भी प्रतापसाहि तथा अन्य कवि न तो अपने-अपने विषयों का सम्यक् दृष्टि से निरूपण ही कर सके, न पहले के कवियों द्वारा उपस्थित दृष्टिकोण पर अपने विचार प्रकट कर सके, और न रीति-साहित्य को कोई नवीन गति-विधि ही प्रदान कर सके। केवल सरदार कवि ने अपने 'मानस रहस्य' में 'सभा प्रकाश', 'काव्य कलाधर', 'रस तरंगिणी', 'रस रहस्य' आदि संस्कृत ग्रन्थों की ओर निर्देश किया है। वास्तव में ये सभी लोग प्रधानतः कवि थे, न कि काव्य-शास्त्र के आचार्य। सच तो यह है कि उस समय रीति-सम्बन्धी रचना द्वारा अपनी काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित करने की एक परम्परा-सी चल पड़ी थी। उनके लक्षणों में न तो स्पष्टता और सुबोधता है, और उनमें संस्कृत के किसी एक विशेष रीति-सम्प्रदाय का अनुसरण ही पाया जाता है। उपर्युक्त ग्रंथों से यही विदित होता है कि रस—विशेषतः शृंगार रस—ही कवियों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट कर सका। हिन्दी काव्य-शास्त्र में दृश्य-काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरुपण न होना भी एक आश्चर्यजनक घटना है। आलोच्यकालीन रीति-साहित्य में मौलिकता और ताज़गी तो जैसे है ही नहीं। जिस प्रकार संस्कृत में भामह, दण्डी, मम्मट, वामन, रुद्रक आदि ने रीति-सम्बन्धी विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना की उस प्रकार के सम्प्रदायों की निश्चित स्थापना हिन्दी में न हुई।

उपर्युक्त कवियों में से कुछ ने अपनी रचनाओं के आधारों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, जैसे, मुरलीधर मिश्र कृत 'सार शृंगार' 'रसमंजरी' पर, सेवक कृत 'वाग्विलास' 'काव्य प्रभाकर' पर, प्रतापसाहि कृत 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' पर, चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत 'रसिक विनोद' भरत के 'नाट्य शास्त्र' पर, रामराज कृत 'काव्य प्रभाकर' आनंद के 'ध्वन्यालोक' पर, पजनेश कृत 'खेच्छार्थ पोडशी' मम्मट और कुलपति मिश्र की रचनाओं पर आधारित हैं। किन्तु जब हम मुरलीधर मिश्र कृत 'सार शृंगार' और 'रस मंजरी' की तुलना करते हैं तो स्पष्ट रूप से यह ज्ञात हो जाता है कि यद्यपि कवि ने संस्कृत ग्रन्थ की व्यापक रूपरेखा ग्रहण अवश्य की है, किन्तु विभिन्न विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने में उसने मौलिकता का परिचय दिया है। चन्द्रशेखर वाजपेयी ने भी भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से सहायता लेते हुए अपनी कृति को स्वतंत्र रूप दिया है। यही बात अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी

कही जा सकती है। इन कवियों की मौलिकता आधारभूत ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक विस्तार देने में है। किन्तु उपर्युक्त कुछ कवियों को छोड़ कर सामान्यतः अन्य सभी कवियों ने 'रस रीति', 'छन्द रीति', 'काव्य रीति' आदि का उल्लेख कर परम्परानुसार अपनी रचनाओं का निर्माण किया। उनकी 'रीति' से तात्पर्य 'चंद्रालोक' (जयदेव कृत), 'कुवलयानंद' (अप्पय दीक्षित कृत) और 'साहित्य दर्पण' (विश्वनाथ कृत) द्वारा स्थापित रीति-परम्परा से है। किन्तु तो भी उन्होंने इनमें से भी किसी एक ग्रन्थ का अनुसरण नहीं किया। इस विषय की विस्तार से परीक्षा करने के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ की आवश्यकता है।

अभी-अभी यह कहा जा चुका है कि आलोच्यकालीन कवियों ने रीति के रस पक्ष की ओर ही अधिक ध्यान दिया। शृंगार रस के अतिरिक्त उन्होंने अन्य रसों की विशद विवेचना नहीं की। शृंगार रस के अन्तर्गत भी नायक-नायिका-भेद, षट्ऋतु, नखशिख और अष्टयाम उनके प्रिय विषय रहे। अलंकार और पिंगल पर लिखने वाले कवियों ने यद्यपि धार्मिक विषय-सम्बन्धी उदाहरण दिए, तो भी अधिकतर रचनाओं का विषय शृंगार रहा। राधा-कृष्ण की शृंगारपूर्ण लीलाओं अथवा नायक-नायिकाओं की प्रेमपूर्ण क्रीड़ाओं और विलासमय जीवन के आधार पर कवियों ने हिन्दी काव्य-क्षेत्र में कुछ अत्यन्त सुन्दर और मधुर छन्दों की रचना की। किन्तु उनकी प्रवृत्ति अति की दशा को पहुँच गई और अनेक छोटी-छोटी महत्त्वहीन लीलाओं तथा उनके अनेक भेदों और उपभेदों का उल्लेख होने लगा। यह प्रवृत्ति बहुत श्लाघनीय नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार उनकी रचनाओं में प्रत्येक विषय और वस्तु के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। उदाहरण के लिए, नखशिख का वर्णन करते समय पजनेश, ग्वाल, चन्द्रशेखर आदि कवियों ने मुहासों, तिल, गोदना, चेचक के दाग़ों आदि तक का वर्णन किया है। नायक और नायिकाओं की संख्या कई सौ तक पहुँच गई।[1] षट्ऋतु-वर्णन की भी यही दशा है। जहाँ तक राधा-कृष्ण की लीलाओं के संकेतों से सम्बन्ध है उन पर पौराणिक साहित्य का और अष्टयाम-वर्णन पर वैष्णव मंदिरों के दैनिक कर्मकाण्ड का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। रीति कवियों द्वारा चित्रित प्रेम भौतिक प्रेम है और, यद्यपि उसमें कहीं-कहीं अश्लीलता का समावेश हो गया है, तो भी वह शिष्ट और

१—नायकों और नायिकाओं के अनेक भेदों के लिए दे०, नकछेदी तिवारी कृत 'मनोज मंजरी' (१८८६), चार भागों में। भूमिका में उन्होंने इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

मानव-प्रकृति-सापेक्ष है। बोधा, पद्माकर, पजनेश, रामसहायदास, चन्द्रशेखर, ठाकुर (दोनों) और मानसिंह 'द्विजदेव' ने शृंगार की ऐसी ही रचनाएँ प्रस्तुत कीं। रामसहायदास कृत 'राम या शृंगार सतसई' पर भावों और भाषा दोनों की दृष्टि से बिहारी का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है।

रीति और शृंगार-सम्बन्धी रचनाओं के अध्ययन के दो प्रमुख पक्ष हैं— साहित्यिक और सांस्कृतिक। उनके साहित्यिक पक्ष से तो हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी परिचित ही हैं—और इस दृष्टि से वे पूर्णतः परंपरा और रूढ़ि-ग्रस्त हैं। यहाँ तक कि अनेक शब्द, वाक्यांश, रूप-कल्पना आदि पूर्ववर्ती कवियों की भाँति हैं। काल्पनिक और भाषा-सम्बन्धी सौन्दर्य और सुकुमारता, उपयुक्त शब्दों के प्रयोग, अलंकारों, रसों, गुणों आदि को देखते हुए कवियों की काव्य-प्रतिभा की सराहना किए बिना नहीं रहा जा सकता। उनकी रचनाओं को ठीक-ठीक समझने के लिए कामशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, शरीर-विज्ञान आदि का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इन रचनाओं का अध्ययन करने की अत्यंत आवश्यकता है। नायिका-भेद से तत्कालीन हिन्दू समाज में स्त्रियों का क्या स्थान था, इस तथ्य का पता चलता है। स्त्री को मां, बहन, पुत्री, वीरांगना आदि के रूप में न देखकर उन्होंने उसे भोग-विलास की वस्तु माना है। उसका कोई स्वतंत्र और बौद्धिकता पर आधारित अस्तित्व नहीं मिलता। उसका जीवन और कार्य-क्षेत्र घर की चहार-दीवारी तक सीमित था। पुरुष की वासना-पूर्ति ही उसका प्रथम और प्रधान कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त स्वकीया के स्थान पर परकीया का प्रचुर वर्णन हुआ है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसका सीधा संबंध तत्कालीन पारिवारिक जीवन से है। रीति और शृंगार ग्रंथों से पता चलता है कि एक नवयुवक वैवाहिक जीवन-क्षेत्र से बाहर ही रोमांस या स्वच्छंद प्रेम का स्वाद ले सकता था। सम्मिलित कुटुंब में पर्दा-प्रथा के चलन के कारण स्त्रियों को पारिवारिक जीवन से बाहर प्रेम करने में तो और भी अधिक कठिनाई थी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी परकीया का चित्रण भावों में तीव्रता और रोमांच उत्पन्न करने में सहायक होता है। स्वकीया के वर्णन में तीव्रता नहीं रह सकती। तभी तो दो प्रेमियों के विवाह कर लेने पर उनका प्रेम पूर्ववत् नहीं रह जाता, उनके प्रेम का आवेग मन्द पड़ जाता है, उसकी धार कुंठित हो जाती है। धृष्ट और शठ नायकों से पुरुष की बहुविवाह प्रथा का पता चलता है। ए० ए० ब्रिल, बर्ट्रैंड रसेल, हेवलॉक एलिस आदि प्रसिद्ध आधुनिक

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्येक स्त्री में 'परकीयत्व' की भावना का उदय होना अनिवार्य है। अनेक स्त्रियों को यह भावना भले ही भयावह प्रतीत हो, किन्तु है यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति। संस्कार-जनित लज्जा एवं संकोच, सामाजिक भय, शिक्षा-दीक्षा आदि के कारण वह अपने 'परकीयत्व' को व्यावहारिक रूप न दे सके, यह दूसरी बात है। यही कारण है कि वैवाहिक जीवन से बाहर का प्रेम रस उत्पन्न कर उसे तीव्रता प्रदान करता है। 'दक्षिण नायक' और 'असूया' तत्कालीन समाज में प्रचलित बहुविवाह-प्रथा की ओर संकेत करते हैं। अज्ञात यौवना और मुग्धा से बाल-विवाह का पता चलता है। दूती के रहने का तात्पर्य है कि तत्कालीन समाज में दो प्रेमियों को मिलने की स्वतंत्रता नहीं थी। रीति और शृंगार-संबंधी ग्रन्थों में विवाहोपरान्त सोहाग रात मनाने की प्रथा का और उसमें ननद तथा घर की अन्य स्त्रियों के भाग का उल्लेख मिलता है। भड़ौआ जैसी रचनाओं से होली तथा ऐसे अन्य अवसरों पर गाए जाने वाले अश्लील और भद्दे गीतों के प्रचार का प्रमाण प्राप्त होता है। सरदार कवि ने अपने 'शृंगार संग्रह' में ऐसे कई भँड़ौए दिए हैं। विविध प्रकार के शकुनों से संबंध रखने वाले संकेतों से आलोच्यकालीन समाज के अंध-विश्वासों का पता चलता है। पर्दे का उल्लेख तो स्थान-स्थान पर हुआ है। स्वकीया और परकीया के अतिरिक्त समाज में स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग भी था जो धन के लोभ के कारण पर-पुरुषों से प्रेम करता था और जिसे कवियों ने गणिका या सामान्या नायिका के नाम से पुकारा है। सम्यक् रूप से समस्त रीति और शृंगार काव्य सामन्ती प्रेम और विलास का प्रतीक है। मुसलमानों के कारण विलासिता की और भी अधिक वृद्धि हुई थी। क्योंकि भारतवर्ष में जो मुसलमान आए थे वे सरल और कठोर जीवन व्यतीत करने वाले अरबी मुसलमान नहीं थे, वरन् वे ईरानी सभ्यता और संस्कृति के वैभव और विलास में डूबे हुए मुसलमान थे। ये ही हिन्दू और मुसलमान सामन्त थे जिन्होंने शृंगारी कवियों को आश्रय प्रदान किया। यह भी संभव है कि शृंगारी कवियों की नायिकाएँ उनके आश्रयदाता सामन्तों की रखेलियाँ रही हों। उनका षट्ऋतु-वर्णन भी प्रकृति के उन्मुक्त रूप का चित्रण न होकर राजमहलों के साफ़-सुथरे और सँवारे हुए बागीचों की प्रकृति और सौन्दर्य का चित्रण है।

कवियों का सामन्तों के साथ संपर्क होने से कुछ और बातों पर प्रकाश पड़ता है। नायिका का वर्णन हरम की बेगमों या रनिवासों की स्त्रियों की भाँति हुआ है। निस्सन्देह घाट पर जाकर पानी भरने वाली नायिकाओं का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु ऐसा केवल कृष्ण के नायक-रूप में आ जाने से ही

संभव हो सका था। कवियों ने प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में जीवन व्यतीत करने वाली नायिकाओं के सरल, अकृत्रिम और नैसर्गिक सौन्दर्य का भी चित्रण किया है, किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी सामान्यतः सामन्ती वातावरण में पालित-पोषित नायिकाएँ ही अधिक मिलती हैं। उनके कमरों में ऐश्वर्य और विलास की सभी सामग्री सुसज्जित है। कमरों में बहुमूल्य पर्दे लगे हुए हैं, मोटे-मोटे किन्तु मुलायम क़ालीन बिछे हुए हैं, तरह-तरह के छोटे-बड़े तकिए लगे हुए हैं, चादरें दूध या चन्द्रिका की भांति धवल-वर्ण हैं, शमादान में से सुगंध निकल रही है, वस्त्र इत्रों में सुवासित हैं, पास में इत्रदान, पानदान और फूलदान रखे हुए हैं, बत्तियों से मन्द-मन्द ज्योति प्रकट हो रही है, झाड़-फानूस लगे हुए हैं, पायन्दाज़ बिछे हुए हैं, बादलों, चंद्रमा और तारों से चित्रित चाँदनी लगी हुई है आदि, आदि। ऐसे सजे-सजाए और विलास की सामग्री से भरे हुए कमरे में नायिका बहुत ही बारीक और हल्के (संभवतः बढ़िया से बढ़िया मस्लिन के बने हुए) कपड़े पहिने बैठी हुई प्रियतम नायक की प्रतीक्षा कर रही है। चँवर डुलाती हुई तथा अन्य प्रकार की आज्ञाओं का पालन करती हुई परिचारिकाएँ सेवा में उपस्थित हैं। यद्यपि ग्वाल और पद्माकर की काव्य-रचनाओं में ऐसे विलासपूर्ण सामन्ती वातावरण का अभाव नहीं है, किन्तु पजनेश की रचनाओं में तो इस प्रकार के प्रचुर वर्णन मिलते हैं। सौभाग्यवश इस जीवन पर हिंसा, प्रतिशोध, आत्महत्या आदि की मलिन छाया नहीं मिलती। संभवतः यह जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण द्वारा और प्रेम को संपूर्ण जीवन न मानने के कारण संभव हो सका हो और जहाँ वध या आत्महत्या को स्थान न देकर जीवन को पवित्र और सब प्रकार से रक्षणीय माना गया है। शृंगार-सम्बन्धी काव्य-रचनाओं में सामाजिक शिष्टाचार का अभाव भी नहीं है।

नायिका के वस्त्रों में कमख़ाब, मलमल, साटन, अतलस आदि के बने तथा ज़री के काम से सुसज्जित या गोटा लगे हुए लहँगा, साड़ी, घाघरा आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चोली, अँगिया और तरह-तरह के दुपट्टों की बहार भी दिखाई दे जाती है। पुरुषों में पाग, पटुका अम्बर (एक प्रकार की चादर जो मनुष्य के धड़ को ढके रहती थी) और कभी-कभी जामा, पयजामा का अत्यधिक रिवाज था। पुरुष लंबे-लंबे बाल या कुल्ले भी रखते थे। स्त्रियाँ बाल सँवारते समय बीच में माँग निकालती थीं और उस पर मोतियों की लड़ लगाती थीं। उबटन, अतर-फुलेल, अंजन, काजल, मेंहदी, मिस्सी, पान, बिंदी, महावर आदि (संख्या में १६) उनके शृंगार के प्रधान उपकरण थे और सीस-

फूल, तरौना, झूमका, नथ, हमेल, कठुला, गुलूबन्द, तरह-तरह के हार (जैसे, दुलरी, तिलरी, चम्पाहार, चंदनहार, चंपाकली आदि), बाजूबन्द, पहुँची, कंगन, मुँदरी, आरसी, करधनी, पायल, बिछुवा आदि उनके प्रधान आभूषण थे। पुरुष भी भुजबन्द बाँधते और कानों में मुरकी या कुण्डल और उँगलियों में मुँदरियाँ पहनते थे। रीति और शृंगारी कवियों की रचनाओं में भोजन-सामग्री का उल्लेख एक प्रकार से मिलता ही नहीं। कवियों की नायिकाएँ गुलाब और अतर (इत्र), ख़ासदान, पानदान, इत्रदान, उगालदान आदि का व्यवहार करती हैं। पुष्पों में से कवियों ने गुललाला, गुलदाऊदी, गुलाबाँस, चम्पा, चमेली, कुंद, जूही, मौलश्री, हरसिंगार, बेला, दुपहरिया, आदि का उल्लेख विशेष रूप से किया है। उनकी रचनाओं से हम तत्कालीन घरों की बनावट का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। घर के दरवाजे में घुसते ही पौरी या द्वारी रहती थी, जिसके बाद सहन या आँगन होता था जो चारों ओर दालान से घिरा रहता था। मकानों में प्रायः दूसरी मंज़िल या अटारी भी हुआ करती थी।

रीति और शृंगारी रचनाओं में हिन्दी प्रदेश की संस्कृति के अन्य अनेक पक्षों का चित्रण मिलता है। इस दृष्टि से उनका अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि काव्य की अन्य धाराओं की भाँति रीति और शृंगार संबंधी काव्य-धारा भी एक परम्पराविहित और रूढ़ि-ग्रस्त साहित्य की कला या अंतिम पक्ष है।

४. नीति काव्य

उपर्युक्त रचाओं से भिन्न गिरिधर कविराज (जन्म १७१३, रचना-काल १७४३) कृत कुण्डलियाँ, जयपुर के महाराज प्रतापसिंह कृत 'भर्तृहरि शतक भाषा' (१७६५), सम्मन (रचना-काल १८०३-१८२३) कृत 'दोहासार', राजिया (रचना-काल १८०३) कृत 'सोरठा', रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह (राजत्व-काल १८३३-१८५४ , कृत 'राजनीति रा दूहा',[1] मोतीराम के पुत्र सीताराम[2] कृत 'वृद्ध चाणाक्य टीका', 'मध्य चाणक्य टीका', और 'लघु चाणक्य टीका' (१८३७), देवीदास कृत 'राजनीति',[3] दीनदयाल कृत 'हितोपदेश—मितृ-लाभ,

१—लिपिकाल १८३४

२—कहीं-कहीं पर सीतल नाम भी मिलता है।

३—अमृतसर से १८५१ में प्रकाशित

सुहृद्-बोध और संधि कथा'[1], दीनदयाल गिरि (१८०२-१८५८) कृत 'दृष्टान्त तरंगिणी' (१८२२), 'वैराग्य दिनेश' (१८४६, उसका दूसरा और तीसरे का कुछ भाग), 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' (१८५५) और 'अन्योक्तिमाला'[2] और बाँकीदास (१७७१-१८३३) तथा प्रतापसिंह उपनाम 'ब्रजनिधि' (१७६४-१८०३)[3] की रचनाएँ नैतिक, उपदेशात्मक और अंतिम उद्देश्य की दृष्टि से सुधारवादी हैं जिनमें वैराग्य की भावना भी सन्निहित है।[4] कवियों ने अपने गहन अनुभव द्वारा सदाचरण और नैतिकता की शिक्षा दी हैं। उस शिक्षा को व्यापक रूप देते हुए उन्होंने अच्छे और बुरे तथा पाप और पुण्य की पहिचान और संयम, कूटनीति और वस्तुओं के उपयुक्त चयन द्वारा जीवन को सुखी बनाने की विधि बताई है। भारतीय साहित्य में इस प्रकार की काव्य-धारा का सदैव प्रमुख स्थान रहा है और वह जीवन के प्रत्येक पक्ष—घरेलू, सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक आदि—पर प्रकाश डालती है।

ऊपर की कुछ रचनाएँ जैसे, 'भर्तृहरि शतक', 'चाणक्य', 'हितोपदेश' आदि अपने-अपने संस्कृत मूल पर आधारित हैं :

'जाकी मेरे चाह वहै मोसों विरक्त मन।
पुरुष और सों प्रीति पुरुष वह चाहत और धन॥
मेरे कृत पर रीझ रही कोई इक औरहि।
यह विचित्र गति देखि चित्त ज्यौ तजत न वौरहि॥
सब भांति राज पत्नी सुधिक जार पुरुष को परम धिक।
धिक काम याहि धिक मोहि धिक अब व्रजनिधि को सरन इक॥'[5]

'यहै शास्त्र जो पढ़त नर समुझै अर्थ बनाइ॥
कार्य अकार्य अशुभ शुभ सब ही जान्यो जाइ॥
ताहि शास्त्र को कहत हौं पढ़े बढै नर बुद्ध॥
ताते निश्चै पठन करु ज्ञान विषे मन शुद्ध॥

१—लिपिकाल १७९८

२—१९१९ में ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित

३—बाँकीदास और 'ब्रजनिधि' की रचनाएँ नागरी प्रचारिणी सभा ने क्रमशः तीन और एक जिल्द मे प्रकाशित की हैं।

४—कहा जाता है पद्माकर ने भी 'हितोपदेश' का अनुवाद किया।

५—प्रतापसिंह : 'भर्तृहरि शतक भाषा' (१७९५)—नीतिशतक, १। साथ में मूल भी है।

पुरुप भोग त्रिय द्वै गुणे चौगुण लज्या वाम ।।
पटगुण तो साहस धरे अष्ट गुणो है काम ।।'[१]
'भृत्य परीक्ष्या टहल मैं विपति मित्र अरु वीर ।।
त्रिया परीक्ष्या औ दसा सदा रहै धरि धीर ।।१३।।
उत्तिम कुल जो होइ ।। रूप विहूनी व्याहिये ।।
कुल नीची त्रिय सोइ ।। वहु श्वरूप तो त्यागियै ।।१४।।
विप मैं अमृत देखियै मध्यम ठौर सुवर्ण ।।
त्रिया नीच कुल पद्मिनी लेत न गणियै वर्ण ।।१५।।

× × ×

वमन करैं कफ नासई मर्दं न नाशै वात ।।
स्नान किये पित नाशई ज्वर लंघन तैजात ।।६।।
माता ससु गुरु त्रिया मित्र त्रिया पुनि सोय ।।
राजा पत्नी पंच ए माता समसर होय ।।११।।
छेदन ताडन तपन अरु कुंदन कसनी चारि ।
कर्म सील गुण चारि ये कुल को पुरुप प्रकारि ।। १२।।

× × ×

त्रिया द्रव्य तै वसि रहै खेती दारिद जाइ ।।
समा वश्य विद्या व्यसन दुग्ध धेनु सुख पाइ ।।५।।
वंस जाल अरु चंद्रमा वाँवीं नृप धन सोय ।।
भिच्छुक वैपारी दरचि लघु तै दीरघ होय ।।६।।
थोरे ते वहु होत है विद्या व्याज सुधर्म ।।
धीरें पर्वत शिखिर चढ़ि धीरे द्रव्य जु धर्म ।।७।।'[२]
'...तरुनाई धनुप कुरी तापर फिरि अविवेक ।।...
चारि होंहि तौ फिरि कहा अनरथ करत अनेक ।।१२।।

जो धन धन प्रभुता अविवेक ।। येकौ अनरथ करत अनेक ।। येक ठौर में होंहि जो चारि ।। कछुक दिनन मों डारैं मारि ।।३।। यह विचार राजा मो दीन ।। सुत मेरे विद्या के हीन ।। केहि विधि ये मेरे सुत पढैं ।। राजनीति सों दिन दिन वढैं ।।४।।

१—सीताराम : 'वृद्ध चाणक्य टीका' (१८३७), पृ० १-२ । साथ में मूल भी है।
२—सीताराम : 'लघु चाणक्य टीका' (१८३७), पृ० क्रमशः २,५,८

कौन काज ये सुत कीन्हें ॥ जे न पढ़ैं नहिं धर्महि चीन्हें ॥
कानी आंपि केवलहि पीरु ॥ नित उठि कीचरु आवै नीरु ॥"[1]

साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से गिरिधर कविराज और दीनदयाल गिरि के नाम ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भाषा पर अधिकार, शब्दों के उपयुक्त चयन, शैली का सौष्ठव आदि बातें उनके परिपक्व अनुभव और जीवन-संबंधी सूक्ष्म निरीक्षण के फलस्वरूप उत्पन्न विचारों के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती हैं। श्लेष तथा अन्य अलंकारों के प्रयोग की दृष्टि से दीनदयाल गिरि ने उच्चकोटि की प्रतिभा का परिचय दिया है। इन दोनों कवियों की रचनाओं में जो विशेष रूप से ध्यान देने की बात है वह यह है कि जीवन और संसार को अच्छी तरह देख लेने पर उन्होंने अपने विचार ऐसे कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त किए हैं कि वे हमारा हृदय स्पर्श किए बिना नहीं रहते। उन्होंने जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पक्षों की ओर ध्यान देकर उसके आधार पर स्वयं बहुत कुछ सीखा और दूसरों को सिखाया। उनकी अभिव्यंजना-शैली साधारण से साधारण व्यक्ति को प्रभावित करने वाली और उसके साथ रागात्मक संबंध स्थापित करने वाली है। गिरिधर कविराज तो विशुद्ध नीतिवादी कवि हैं, किन्तु दीनदयाल गिरि की रचनाओं में आध्यात्मिक और रहस्योन्मुख भावना भी मिलती है। गिरिजी ने ईश्वर का सर्वव्यापकत्व अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में स्पष्ट किया है। वेदान्त के सूक्ष्म और दुरूह सिद्धांतों का प्रतिपादन उन्होंने इतनी सुगम और प्रांजल रीति से किया है कि साधारण ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति ही नहीं घोर अशिक्षित व्यक्ति भी उन्हें बिना किसी कठिनाई के हृदयंगम कर सकता है। गिरि जी की रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है :

"वारि बिलोवै डारि दधि अरी आँधरी ग्वारि ॥
ह्वैहै श्रम तेरो वृथा नहिं पैहै घृत हारि ॥
नहिं पैहै घृत हारि हँसेंगी सखी सयानी ।
तू अपने मन मान रही घर की ठकुरानी ॥
बरनै दीन दयाल कहा दिन यों ही खोवै ।
पछतैहै री अंत कंत ढिग वारि बिलोवै ॥ १५ ॥"[2]

अन्य नीति-कवियों की रचनाओं में भी आध्यात्मिक संदेश मिलते हैं, किंतु साहित्यिकता और कलात्मकता के अभाव में उनका अध्यात्मवाद

१—(दीन) दयाल : 'हितोपदेश', पृ० २

२—दीनदयाल गिरि : 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' (१८५५), सभा संस्करण, १९१९

नीरस और शुष्क रह गया है; वह सरलतापूर्वक दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता। हितोपदेश के रूपान्तरों को छोड़ कर नीति काव्य मुक्तक रूप में मिलता है।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है कि नीति कवियों की रचनाएँ अधिकतर संस्कृत मूल पर आधारित हैं, और जिनका यह आधार भी नहीं हैं उनमें विचारों का प्रकटीकरण परम्परानुसार ही हुआ है। इसलिए नीति-सम्बन्धी रचनाओं में आलोच्यकालीन जीवन की झलक नहीं मिलती। इस दृष्टि से दीनदयाल गिरि कृत 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' अपवाद स्वरूप है। अनेक प्रकार के पुष्पों, वृक्षों, जीव-जन्तुओं आदि के उल्लेख के अतिरिक्त कवि ने उसमें समाज के विभिन्न वर्गों का उल्लेख किया है जिनसे आलोच्यकालीन आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है, जैसे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, माली, कुलाल, दर्ज़ी, रजक, नट, कठपुतली वाले, ग्वाले, पनिहारिन, तम्बोलिन, किसान, जौहरी, सौदागर, चित्रकार, पाहरू, बजंत्री आदि। पनिहारिन, तम्बोलिन, मनिहारिन, चितेरिन, भटियारिन आदि के उल्लेख से पता चलता है कि समाज के निम्न-वर्गों की स्त्रियाँ पर्दे की प्रथा का पालन नहीं करती थीं और हिन्दी प्रदेश के आर्थिक जीवन में पुरुष-वर्ग के साथ भाग लेती थीं। कवि की रचनाओं में सगुन, जनता की निर्धनता, सती-प्रथा, वाद्य-यंत्रों आदि के सम्बन्ध में भी अनेक उल्लेख मिलते हैं।

५. विविध :

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार और उन्नीसवीं शताब्दी के कम-से-कम प्रथम बीस-पचीस वर्षों तक साहित्य-क्षेत्र में विचारों के प्रकटीकरण के लिए गद्य के माध्यम का प्रमुख स्थान न होने के कारण विशुद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य उपयोगी और व्यावहारिक विषयों पर भी आलोच्य काल में पद्य-बद्ध रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। विषयों की दृष्टि से ऐसी रचनाओं का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। ज्योतिष, संगीत, कोष, संदर्भ-ग्रन्थ, धनुर्विद्या, [illegible], गणित, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ और संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद[1] हुए तथा अनेक प्रेम-कहानियाँ लिखी गईं :

'पीयौ जु विष कै काहू वैरी पियायौ ॥ कै काहू सर्प
डाढ़्यौ दंत लायौ ॥ मरै बचै कै जीयै बूझै जु कोई ॥

१—[illegible] 'काव्यकलानिधि' (१८६७-६८) के [illegible] अनुवाद। [illegible] पर [illegible]कालीन प्रभाव स्पष्टतः पाया जाता है :

सुवाकों देत उत्तर जानि सोई॥ जो पूछनहार पूरी नाडी आवै॥ जीयै निहचै यह ताकों बतावै॥ जो नाडी सुनि मैउ न आइ बूझै॥ मरो निश्चे सु याको काल सूझै॥....'[1]

'मानुप मांज जे सपन में भछन करै जु शोइ॥
गिरिजा ते तर धन्य हैं ता कह वहु फल होइ॥

पक्व अक्व दुवों एक रिती॥ तेकर गिरजा सुनु प्रीति। सत गुन लाभ पाउ जो पाइ॥ हाथ जु पात सहस गुन पाइ॥ ३६। शत सहस्र राज पद होइ॥ भछन शीशा करै जो कोइ॥ कहत शंभु यह सपन भवानी॥ जानेहु शुभइ अशुभ सब हानी॥ ४०॥ सुत्र लपेट नगर गृह देपा॥ नगर पंथ गृह मंगल पेपा॥ पादत्रान वृष्टि औ पावा॥ तकह वुद्धि परागति भावा॥ ४१॥ दहिने सर्प काटु जो देपा। अर्थ लाभ दशये दिन पेपो॥ शहर शहंण कडा कुल आइ॥ महा लाभ प्रिय वनिता पाइ॥४२॥ देप तडित चंद्र जा कोइ॥ महा लाभ वनिता प्रिय पाइ॥ रोगी जु देपि व्याधि मिटि जाइ॥ देपि अऐगी वहु फल पाइ॥४३॥ पांइ दुध घृत मध्य तडागा॥ कमल पत्र पर अधि कचि भागा॥ औशा सपन देपि जो कोइ॥ निहचै राजपति होइ॥ ४४॥'[2]

विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से आलोच्यकालीन काव्य-संग्रहों का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। इतिहास के अध्ययन तथा कवियों का काल निर्धारित करने में इन काव्य-संग्रहों से यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। आलोच्य काल के प्रारम्भ में ही 'संग्रह' (?) शीर्षक एक काव्य-संग्रह मिलता है जिसमें व्यास, हित जी, ध्रुवदास, नागरीदास आदि राधावल्लभी संप्रदाय के कवियों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। 'कृष्ण-लीला पद संग्रह' (?) कृष्णदास, बिहारीदास,

---

'रदन की द्युति निदरत द्युति तारन की, वदन की कांति रुचि चंद की किरांकरी।
केसन सों कुहू के अंध्यारे निरध्यारे ध्यारे, सीस फूल परभा प्रभाकर की लै धरी॥
अमिरत गिरत अलीक स्रम सीकर है, अलकनि गूंदी मुक्तान की महा लरी।
दोऊ ओर चलत चमर अवदान मानों, आस पान नाचै हँस वनिता उजागरी॥'
पृ० १६५ (सम्मेलन संस्करण, १९९९ वि०)

१—रसिकेश: 'स्वरोदय' (१७५८ के लगभग), पृ० २०-२१

२—इच्छागिरि: 'स्वप्नाध्याय' (१७८४), पृ० ८-९

व्यास, सुखदास, चतुर्भुज, हरिदास और सहचरी नामक राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवियों के पदों का संग्रह है। हित वृन्दावन, मोहनचंद, दामोदरचंद, इन्द्रमणि, रूपलाल, चतुर्भुजदास, कुञ्जलाल, रसिकलाल, गुलाल लाल, रसिक मुकुन्द, हित स्वरूप, कृष्णदास, हितदास, परमानन्ददास, तुलसी आदि राधावल्लभी कवियों की रचनाओं का संग्रह 'सेवक-बानी-संग्रह' में भी मिलता है। १७६१ में 'ललित सार संग्रह' का सम्पादन हुआ। वह भी राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं का संग्रह है और उसमें मकरन्द हित, दामोदर हित, लाल स्वामी और नागरीदास नामक कवि सम्मिलित हैं। तत्पश्चात् हरिनाथ गुजराती ने 'संग्रह कवित्त' (?) का सम्पादन किया। यह संग्रहकर्ता शुजाउद्दौला के दरबार में रहता था। संग्रह में भक्त और रीति कवियों की स्फुट और कुछ छोटी-छोटी रचनाएँ संग्रहीत हैं। १७६५ में रामदास दादूपंथी ने 'संग्रह' नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया जिसमें कबीर, दादू, नामदेव, हरदास रजब, नानक, रैदास, जन गोपाल आदि की स्फुट रचनाओं का संग्रह है। १७८२ में सुखनन्दन त्रिवेदी ने तुलसी, सूर, हुलासी, मिश्र, केशव, रसखान, गुणदेव, गिरिधरदास, अमानसिंह बुन्देला, शिवा, मुकुन्द लाल, मलूक सहाय आदि की स्फुट रचनाओं का 'संग्रह' नाम से संकलन किया। 'बानी संग्रह' (?) में संतदास, रामचरण, जन गोपाल, हरिचन्द सत्, जन जगन्नाथ, दास अनंत आदि की बानियाँ सम्मिलित हैं। 'संग्रह' (लिपिकाल १८५३) नामक एक और संकलन मिलता है जिसमें माखनदास, सुन्दरदास, दादू, नानक, तुलसी और सोना दासी की स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। १८१४ से टॉमस ड्युएर ब्राउटन (Thomas Duer Broughton) ने लंदन से 'सिलेक्शन्स फ्रॉम दि पॉप्युलर पोयट्री ऑव दि हिन्दूज़' नामक संग्रह प्रकाशित किया। इस संग्रह में केशव, दनसिंहजू, देव, मदन, आनन्द, हीरामन, रामप्रसाद, सूर, गिरिधर कविराय आदि के कवित्त, सवैये, छप्पय, दोहे या दोहरे आदि अँगरेज़ी में अनुवाद सहित रोमन लिपि में संकलित हैं। लल्लूलाल (१७६३-१८२५ के लगभग) कृत 'सभा विलास'[1] (१८१५ प्रकाशन-तिथि) नामक संग्रह-ग्रन्थ में रहीम, तुलसी, बिहारी, वृन्द आदि हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों के दोहे तथा अलंकार, पिंगल, राग-रागनियों के लक्षण आदि और

१—फोर्ट विलियम कालेज के संरक्षण में निर्मित रचना।

रस ऋषि वसु चंद्र गनि गनौ संवत् कौ परमान।
माघ शुक्ल नवमी रवौ कियौ ग्रंथ निर्मान ॥ ३ ॥ —पृ० ३६

जनवरी, १८१५ में यह रचना छप कर तैयार हुई।

पखाने, मुकरियाँ, पहेलियाँ आदि हैं। श्रीधर या ठाकुर सुब्बासिंह ने 'विद्वन्मोद-तरंगिणी' (१८२७)[1] का सम्पादन किया। एक 'स्फुट कवित्त' (?) नामक संग्रह में पद्माकर, पजनेश, किशोर, मोहन, हरदास आदि, किन्तु अधिकतर पद्माकर, के स्फुट छन्द मिलते हैं। इसी प्रकार 'संग्रह कवित्त फुटकर' (?) में देव, ठाकुर, गोविन्द और ग्वाल के छन्द हैं। नवीन कृत 'सुधासर' (१८३८)[2] आलोच्य काल के एक सुन्दर संग्रह-ग्रन्थों में से है। इस ग्रन्थ में देव, मतिराम, ईशाजी, नवीन, श्रीपति, वीर, सोम, ठाकुर, केशवदास, पद्माकर, मुबारक, लाल, ब्रह्म, कवीन्द्र, भरमी, वेनी प्रवीन, आलम, दिनेश, रघुनाथ, दत्त, नीलकंठ, नृपशंभु, कालिदास, काशीराम, घनानन्द, गुरदत्त, सनेही, मुसाहब, राम, मण्डन, प्राणसुख, भूषण, मीरन, प्राणनाथ, सुजान, आदि अनेक ज्ञात तथा अज्ञात कवियों की स्फुट रचनाएँ हैं। शृंगार रस के अध्ययन की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। १८४३ में कृष्णानन्द व्यास ने 'राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम' नामक वृहत् संग्रह प्रस्तुत किया जिसमें चंद, रामानन्द, कबीर, विद्यापति, मीरां, नानक, चरणदास, सूरदास, तथा अष्टछाप के अन्य कवियों, हित हरिवंश, ध्रुवदास, 'ब्रजनिधि', मतिराम, बिहारी, घनानन्द, पद्माकर, सोना दासी आदि की स्फुट रचनाएँ संकलित हैं। यह ग्रन्थ भी आलोच्य काल के एक उत्तम संग्रह-ग्रन्थों में से है। आलोच्यकालीन अंतिम प्रसिद्ध संग्रह-ग्रन्थ सरदार कवि कृत 'शृंगार-संग्रह' (१८४८)[3] है। नवीन कृत संग्रह-ग्रंथ की भाँति यह ग्रन्थ भी शृंगार रस-सम्बन्धी अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और उसमें कालिदास, केशव, कुलपति, कृष्णलाल, गिरिधर दास, घनानन्द, नेवाज, नृप शंभु, ठाकुर, तोष, दूलह, आलम, पजनेश, पद्माकर, बलभद्र, बोधा, मतिराम, भूषण, उदैनाथ, रहीम, रसखान, ऋषिनाथ, सेनापति, सरदार, श्रीधर, श्रीपति, शिवराज आदि प्रसिद्ध कवियों के छन्द संग्रहीत हैं। नवीन और सरदार कवि के संग्रह-ग्रन्थों में अनेक कवि समान रूप से पाए जाते हैं।

१—ग्रियर्सन ने इस ग्रन्थ (नं० ५९०) की तिथि १८१७ दी है। उपर्युक्त तिथि 'विनोद' (सं० २, पृ० ९२३) से ली गई है। जिन ४३ कवियों की रचनाएँ 'तरंगिणी' में सम्मिलित हैं उनकी सूची भी 'विनोद' में दी गई है। प्रस्तुत लेखक को इस ग्रंथ के कुछ पृष्ठ ही उपलब्ध हो सके।

२—सं० १९४४ वि० में बनारस से प्रकाशित

३—१८९८ में लखनऊ से प्रकाशित

६. भाषा, छन्द, रस आदि :

आलोच्य काल में ब्रजभाषा प्रधान साहित्यिक भाषा थी। किन्तु वह हिन्दी प्रदेश की अन्य बोलियों के प्रभाव से मुक्त न रह सकी, क्योंकि ब्रज प्रदेश में न रहने के कारण कवि उसके बोलचाल वाले वास्तविक स्वरूप से परिचित न होकर केवल साहित्यिक रूप से परिचित थे। ऐसी परिस्थिति में स्थानीय प्रयोगों का प्रवेश हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। आलोच्य काल में विशुद्ध ब्रजभाषा में लिखे गए ग्रन्थों का एक प्रकार से अभाव ही मिलता है। वीर काव्य के कवियों ने खड़ीबोली और कुछ हद तक पंजाबी शब्दों का भी प्रयोग किया। सूदन की भाषा इसका स्पष्ट प्रमाण है। सूदन की पुष्ट साहित्यिक ब्रजभाषा में अन्य भाषाओं का पुट बराबर मिलता है। खड़ीबोली और पंजाबी के अतिरिक्त उसमें मारवाड़ी, बैसवाड़ी और पूर्वी के प्रयोग भी काफ़ी आ गए हैं। पद्माकर तक सर्वत्र ब्रजभाषा के परिष्कृत रूप का निर्वाह नहीं कर सके। जिस कवि ने स्वच्छ और परिष्कृत ब्रजभाषा के प्रयोग का प्रयत्न किया है उसे वीर रस के परिपाक में अधिक सफलता नहीं मिल सकी। उदाहरण के लिए चंद्रशेखर वाजपेयी की भाषा वीररसानुकूल नहीं हो पाई। इसके अतिरिक्त आलोच्य काल के अधिकतर कवियों ने द्वित्व वर्ण और अपभ्रंश वाली परम्परा का पालन भी किया है, यद्यपि केवल शृंगार रस से संबंधित अंशों में इस परम्परा का अभाव और ब्रजभाषा की कोमल पदावली का प्रयोग मिलता है। साथ ही अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी वीर काव्यों की भाषा की एक विशेषता है। वास्तव में भुजंगप्रयात, भुजंगी आदि छन्दों में ब्रजभाषा के विशुद्ध रूप का निर्वाह करना कवियों के लिए दुस्तर कार्य था। वीर कृत्यों का उल्लेख करते समय अस्त्र-शस्त्रों के खटकने, तोपों की आवाज़, रथों की गड़गड़ाहट, घोड़ों की टापों, लूट-मार, घरों का जलाया जाना, आहतों की कराह, जनता की खलबली और चिल्ल-पुकार, रोना-पीटना आदि का वर्णन और उनके अनुरूप ध्वनि प्रकट करते समय भी ब्रजभाषा का विशुद्ध रूप सुरक्षित रखना कोई सरल कार्य न था। प्रसिद्ध ज्ञात कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त मोनाराम कृत 'गढ़ राजवंश', किशन जी आढ़ा कृत 'भीम विलास' (१८२२), भिखारी बाबू कृत 'गढ़ मण्डला के राजवंश का वर्णन' (१८३०) आदि में भी 'खगरी', 'डामरी', 'धमर करना', 'वैरी', 'कुदाँचा' आदि बुंदेलखंडी तथा पहाड़ी और राजस्थानी के शब्द मिल जाते हैं। अस्तु, यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से छोटे-बड़े सभी तरह के कवियों में दृष्टिगोचर होती है। राम-काव्य की भाषा चौपाई छन्द के कारण पूर्वी, और कहीं-कहीं खड़ीबोली, रूपों से

मिश्रित है। विश्वनाथ सिंह, रघुराज सिंह, स्वामी भगवतदास, रघुनाथदास, रामसनेही आदि ने दोहा और चौपाई छन्दों में पूर्वी का प्रयोग किया है, किन्तु उनकी पूर्वी भी ब्रजभाषा और खड़ीबोली के रूपों से मुक्त नहीं है। रघुप्रताप सिंह कृत 'मुनिजोतानन्द' की भाषा प्रौढ़ है, किन्तु उसमें 'उर्वी-भृत', 'पैशाच्यादिक', 'सर्वांगसुन्दर', 'तन्त्रावल', 'लक्षणान्वित', 'गैलोन्नत', 'अरसाभूषन', 'दुन्दुरवन', 'अनंदर्दत' आदि संधि-युक्त एवं क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग काव्य की दृष्टि से सराहनीय नहीं कहा जा सकता। कृष्ण-काव्य की ब्रजभाषा भी पूर्वी और खड़ीबोली के रूपों से मिश्रित मिलती है। संत-काव्य की भाषा का परिष्कृत न होना तो उनकी अपनी परम्परा के अनुसार ही था। स्थानीय बोलियों के अतिरिक्त खड़ीबोली के रूपों का प्रचुर परिमाण में प्रयोग होना उनकी सामान्य विशेषता है। राजस्थान से संबंधित होने के कारण स्वामी रामचरण ने केवल स्फुट रूप में राजस्थानी शब्दों और रूपों का ही प्रयोग नहीं किया, वरन् उन्होंने अनेक वाक्य और वाक्यांश भी राजस्थानी में लिखे हैं। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि स्वामी रामचरण की भाषा ब्रजभाषा न होकर राजस्थानी है। 'त्रीजुं', 'छ' आदि गुजराती शब्द भी उनकी भाषा में पाए जाते हैं। रीति और शृंगारी कवियों की भाषा यद्यपि औरों की अपेक्षा अधिक कलात्मक, अलंकृत और प्रौढ़ है, तो भी उनकी भाषा में भी ब्रजभाषा से भिन्न अन्य प्रकार के रूप बराबर पाए जाते हैं। राजिया कृत 'सोरठा', और बांकीदास की रचनाएँ तथा 'ब्रजनिधि' की कुछ रचनाएँ राजस्थानी में हैं। वीर-काव्य के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की काव्य-रचनाओं में अरबी-फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, विशेषतः सन्त और रीति तथा शृंगार काव्य में। साथ ही 'चट्टा', 'चनकटा', 'ओगरी', 'मलूक', 'दरबरे' आदि देशज शब्द भी पाए जाते हैं। आलोच्य काल में महन्त सीतलदास ही एक ऐसे कवि मिलते हैं जिन्होंने अपनी 'गुलजार चमन', 'आनंद चमन', और 'बिहार चमन' नामक रचनाओं में आद्योपान्त खड़ीबोली[1] का प्रयोग किया है,

---

१—लल्लूलाल ने अपने 'जनरल प्रिंसीपिल्स ऑव इन्फ्लेक्शन्स ऐंड कौन्जुगेशन इन दि ब्रज भाखा' (१८११) में खड़ीबोली पद्य की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

'खड़ीबोली—निकल न चौखट से घर की बाहर जो पट की ओझल से तक रहा है x सिमट के घट में तेरे दरस को नयन में आ जी अटक रहा है x अगन ने तेरे बिरह की जब से झुलस दिया है मेरा कलेजा x हिये की धड़कन में क्या बताऊँ यह कोयला सा चटक रहा है xx क्या कुढब पड़ गया है उलझेड़ा—हरि भजन बिन नहीं है सुलझेड़ा x नाम बल्ली से पार हूं पल में—कृष्ण बिन मंझधार है बेड़ा......'

यद्यपि उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य है। किन्तु आलोच्यकालीन काव्य-भाषा में कहावतों और मुहावरों का यथेष्ट प्रयोग हुआ है जिससे उसके सौन्दर्य और उसकी अभिव्यंजना शक्ति की वृद्धि हुई है। भाषा में 'आँगन कौं टेढ़ौ कहत नाच न जानत तीय', 'भयौ नगारौ कूच कौ घोरनि बांधे जीन', 'ऊँट चढ़त मार्‌यौ बीजुरी कहो अचंभो कौन', 'राह चलत जो गिरि पर्‌यौ कापै जाइ फिरादि', 'बाबा बछरा घेरते तो रहते घर मांहि' आदि जैसे अनेक प्रयोग मिलते हैं। इस दृष्टि से रुद्रप्रताप सिंह, हित वृंदावनदास, गिरिधर कविराज, दीनदयाल गिरि, पद्माकर, पजनेश, ग्वाल, भगवतदास, रामसहाय दास और संत कवियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कवियों ने भावों और प्रसंगों के अनुसार भाषा रखी है, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा।

समस्त आलोच्यकालीन काव्य-साहित्य प्रबंध, खण्ड और मुक्तक तीनों रूपों में मिलता है। वीर काव्य प्रधानतः प्रबंधात्मक है। राम-काव्य का विभाजन प्रबंध और मुक्तक के रूप में किया जा सकता है। 'रामायण', 'राम स्वयंवर', 'सुसिद्धांतोत्तम' आदि प्रबंध काव्य हैं। मुक्तक के अंतर्गत सीताराम की केलि-क्रीड़ाएँ, जो प्रबंध काव्य की व्यापक काव्य-योजना का अंग होते हुए भी मुक्तक रूप में हैं, अथवा विनय और स्तुति-संबंधी पद आते हैं। कृष्ण-काव्य प्रधानतः मुक्तक है। केवल 'ऊषा चरित'. 'सुदामा चरित' आदि जैसी रचनाएँ खण्ड काव्य कही जा सकती हैं। आलोच्य काल में रघुराजसिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय' कृष्ण-काव्य-संबंधी एक प्रसिद्ध प्रबंध रचना है। संत, रीति और नीति-काव्य—हितोपदेश के अनुवादों को छोड़ कर—पूर्ण रूप से मुक्तक हैं।

आलोच्यकालीन काव्य साहित्य में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। कवियों का छन्द-चयन मनोनीत विषय के अनुरूप हुआ है—जैसे, वीर रस के लिए पद्धरी, घनाक्षरी, कवित्त, हरिगीतिका, भुजंग, त्रिभंगी आदि का, प्रबंध-काव्यों में दोहा और चौपाई छंदों का, कृष्ण-संबंधी मुक्तक काव्य के लिए कवित्तों और सवैयों का, और नीति काव्य के लिए दोहों और कुण्डलियों का प्रयोग हुआ है। छंदों की विविधता की दृष्टि से वीर कवियों ने दोहा, छप्पय, पद्धरी, निसानी, सोरठा, कलहंस, महालछमी, मधुभार. प्लवंग, मालती, ललित. त्रिभंगी, रोला, अरिल्ल, अमृतध्वनि, हाकल, डिल्ल, सवैया, मोतीदाम, झूलना आदि छंदों का अधिक प्रयोग किया है। भक्ति-काव्य में दोहा, चौपाई,

सोरठा, तोटक, भुजंग, त्रिभंगी, घनाक्षरी, वसंततिलका, चंचल, भोमरव, मत्तगयंद, द्रुतविलम्बित, पृथिवी, चामर, छप्पय, तोमर, कुंडलिया, श्रवणसुखद, लावनी, दुपई, लक्ष्मीधर, रेखता, सवैया, कवित्त, चंपक, अष्टपदी, इन्द्रवज्रा, दण्डक, रसावला, नरेंद्र, नाराच, लीलावती, हलमुखी, चुलियाला शंखनारी, करखा आदि छन्द मिलते हैं। रीति और शृंगारी कवियों के कवित्त और सवैया, और नीति कवियों के दोहा, कुंडलिया और छप्पय प्रिय छन्द रहे। वीर कवियों ने तो परंपरा के अनुसार अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया ही, किन्तु उनके अतिरिक्त रुद्रप्रतापसिंह, विश्वनाथसिंह, रघुराजसिंह और गुमान मिश्र उन अन्य प्रसिद्ध कवियों में से हैं जिन्होंने अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया।

जहाँ तक रस-निरूपण से संबंध है वीर, भक्ति तथा नीति, और रीति ग्रंथों में क्रमशः वीर, शांत और शृंगार रस प्रधान हैं। वीर ग्रंथों में शृंगार, रौद्र, भयानक, अद्भुत और वीभत्स रस, और भक्ति तथा नीति ग्रंथों में शृंगार, वीर, करुण और हास्य गौण रूप से मिलते हैं। कृष्ण और रीति तथा शृंगार-संबंधी रचनाओं में व्यभिचारियों का सुंदर निदर्शन हुआ है। रीति तथा शृंगार-संबंधी रचनाओं में वैसे तो सामान्यतः शृंगार रस की प्रधानता मिलती है, किंतु जहाँ-जहाँ कवियों ने धार्मिक प्रवृत्ति के उदाहरण दिए हैं वहाँ शांत रस की निष्पत्ति मिलती है, जैसे, भगवतदास कृत 'राम रसायन', सीताराम कृत 'उक्ति विलास', पजनेश कृत 'खेच्छार्थ षोडशी', रामचन्द नागर कृत 'भजन छंदावली', किशन जी आढ़ा कृत 'रघुवर जस प्रकाश' में, अथवा रामनाथ कृत 'अलंकार मणि मंजरी' में। नवरस-निरूपण करते समय शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस भी आ जाते हैं, अथवा अलंकार और पिंगल-संबंधी रचनाओं में ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं जो वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स आदि से संबंध रखते हैं।

रीति और शृंगार काव्य को छोड़ कर अन्य प्रकार के काव्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, दृष्टान्त, यमक, विरोधाभास, अत्युक्ति, मीलित, उन्मीलित, सन्देह, रूपक, सिंहावलोकन, सामान्य, वक्रोक्ति, और उदाहरण अलंकारों का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। रीति-कवियों ने तो परंपरानुसार अनेक प्रकार के अलंकारों की छटा प्रदर्शित की है, यहाँ तक कि उनकी कविता अलंकारों के भार से दबी हुई और कृत्रिम प्रतीत होने लगती है। अलंकार-प्रियता के सामने सच्ची काव्यानुभूति मन्द पड़ जाती है। साथ ही

एक ही प्रकार की उपमाओं, रूपकों, उत्प्रेक्षाओं, दृष्टान्तों आदि की पुनरावृत्ति एक ही कवि की रचना में भिन्न-भिन्न स्थानों पर अथवा भिन्न-भिन्न कवियों की भिन्न-भिन्न रचनाओं में मिलती है। यमक, अनुप्रास और श्लेष के अत्यधिक प्रयोग से रचनाओं में चमत्कार अवश्य मिलता है, उनसे कवियों के भाषा पर अधिकार का पता चलता है, पर काव्यगत सरसता और माधुर्य का अभाव हो जाता है। किन्तु इन दोषों के होते हुए भी आलोच्यकालीन रीति और शृंगार काव्य में उत्कृष्टता का नितांत अभाव नहीं है।

वीर काव्य में सामान्यतः ओज गुण की प्रधानता है, किन्तु उसमें जहाँ शृंगार रस गौण रूप में आता है वहाँ माधुर्य गुण आ जाता है। वीर के अतिरिक्त अन्य प्रकार के काव्यों में सामान्यतः प्रसाद और माधुर्य गुण पाए जाते हैं।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्यकालीन हिन्दी काव्य में भावों, विचारों, विषय-प्रतिपादन, साहित्यिक रूपों, भाषा, शैली आदि की दृष्टि से नवीनता का अभाव और परम्परा का पालन मात्र मिलता है। जिस समाज और सामाजिक वातावरण में उसका निर्माण हुआ था उसमें इससे अधिक और कुछ संभव भी नहीं था, विशेष रूप से उस समय जब कि काव्य की परम्परा काफ़ी प्राचीन और प्रतिष्ठित परम्परा थी।

६

गद्य

आधुनिक समय में प्रेस का प्रचार हो जाने से हम मुद्रित ग्रन्थों की सहायता से ज्ञान प्राप्त कर जीवन सुखपूर्ण बनाते हैं या बनाने की चेष्टा करते हैं। जिस मुद्रण-कला की सहायता से हम किसी ग्रन्थ का अवलोकन करने में सफल होते हैं उसके जन्म और विकास की लम्बी कहानी है। इस कला का जन्म और विकास किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुआ, वरन् समस्त मानव जाति ने उसमें अपना योग दिया है। मुद्रण-कला के युग में रहने के कारण हम साहित्य को भी एक छपी हुई चीज़ समझने लगे हैं। आज हम जितना प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य देखते हैं वह सभी मुद्रित रूप में है। मानव जाति के इतिहास में बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारों तथा प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों का उतना महत्त्व नहीं है जितना मुद्रण-कला और काग़ज़ का है। लिपि के विकास के साथ-साथ इन दोनों आविष्कारों ने मानव जाति के विचार और भाव सुरक्षित रखने में सबसे अधिक सहायता की है। जिस दिन मनुष्य ने लिखना और लिखी हुई चीज़ को सुरक्षित रखना सीखा होगा वह दिन वास्तव में मानव-इतिहास में महान् दिवस रहा होगा।

मनुष्य की भाव-निधि की परम्परा के संबंध में एक विद्वान् लेखक ने अत्यन्त सुन्दर कल्पना की है। यदि दुनिया की सब पुस्तकें इकट्ठा कर दुनिया की सबसे बड़ी मीनार बनाई जाय तो उस मीनार की सबसे ऊँची पुस्तक, जो बहुत छोटी दिखाई देगी, हमारे आज कल के मुद्रित साहित्य का प्रतीक होगी। उससे नीचे की तीन-चार पुस्तकें मुद्रण-कला के जन्म से पहले के हस्तलिखित साहित्य का प्रतिनिधित्व करेंगी। उनसे नीचे की लगभग आधी दर्जन पुस्तकें शिलाओं, स्तंभों आदि पर लिखे गए साहित्य का अनुमान करा सकेंगी। उनसे नीचे की कुछ पुस्तकें उस समय के साहित्य की परिचायक होंगी जिसे कोई नहीं पढ़ सकता। उनसे नीचे के बचे हुए बहुत बड़े भाग के लिए कोई कुछ

नहीं कह सकता। उस बड़े भाग से संबंधित काल में पुस्तकें तो थीं ही नहीं। किसी रूप में साहित्य उस समय रहा भी होगा तो उसके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं। किन्तु उस समय भी मनुष्य अपने मनोभाव तो अवश्य प्रकट करता रहा होगा, लिखने से पूर्व बोलता रहा होगा, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, लिखित साहित्य से पहले भी किसी प्रकार का साहित्य रहा होगा।

साहित्य की कहानी के इस अभिनव रूपक से एक और अत्यन्त रोचक परिणाम निकलता है। और वह यह है कि प्रत्येक साहित्य काव्य के रूप में जन्म लेता है। मौखिक रूप में किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य या मानसिक भावावेग का वर्णन करने वाला पहला व्यक्ति कवि रहा होगा। वैसे भी मनुष्य के जीवन में बुद्धि तत्त्व से पहले हृदय तत्त्व का स्थान है। युद्ध-क्षेत्र में प्राणों की आहुति दिलाने वाले या धर्म के लिए जीवन उत्सर्ग कराने वाले गायक रहे होंगे। उनकी यह इच्छा रही होगी कि जो कुछ वे कहें दूसरे लोग उसे याद रखें। और यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि गद्य की अपेक्षा पद्य का स्मरण रखना अधिक सरल है। गद्य लिखना सीखने से पहले मानव जाति ने गीतों का सृजन किया। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अपने साधारण दैनिक जीवन में भी मनुष्य पद्य का ही प्रयोग करता रहा होगा। मौलियर ने अपने नाटक 'Le Bourgeois Gentilhomme' (ल बूर्ज़्वा ज़ाँतीलोम) में Jourdain (ज़ूर्दँ) नामक मध्यमवर्गीय सीधा-सादे नागरिक का वर्णन करते हुए लिखा है कि शिक्षा प्राप्त करते समय एक दिन जब उसने अपने गुरु से गद्य और पद्य का अन्तर समझा तो उसे यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह जीवन भर गद्य का प्रयोग करते रहने पर भी उसे न जान सका। मानव-जाति के प्रारंभिक काल के संबंध में भी बहुत कुछ इसी प्रकार की बात कही जा सकती है—हम उसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ न जानते हों, यह दूसरी बात है। इस तथ्य को हम उस समय और भी भली प्रकार समझ सकते हैं जब हम अपने को संपूर्ण मानव जाति के रूप में देखें, न कि व्यक्ति के रूप में। इसके अतिरिक्त भारतीय विचारधारा में शब्द की महिमा गाई गई है। बाइबिल में सेंट जॉन द्वारा रचित सुसमाचार में भी कहा गया है 'In the beginning was the Word', जिसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य पढ़ने से पहले सुनता है, लिखने से पहले बोलता है। प्रकारान्तर से यही बात गद्य के संबंध में भी लागू हो सकती है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों अपनी आदिकालीन सीमित परिधि से बाहर निकल कर सभ्यता के पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होता गया, उसके जीवन में पार्थिवता

या भौतिकता का जन्म होता गया; आवश्यकताओं के बढ़ते जाने से मनुष्य का जीवन जटिल और दुरूह होता गया। उसके प्राकृतिक जीवन की सरलता में विपर्यय उत्पन्न हुआ। जीवन की कठिनाइयाँ बढ़ जाने से मनुष्य के जीवन में व्यावहारिकता का अंश बढ़ता है, और व्यावहारिकता के बढ़ने से मनुष्य में बुद्धि तत्व की प्रधानता होती है। संसार के आधुनिक जीवन में ज्यों-ज्यों जटिलताएँ और दुरुहताएँ बढ़ी हैं, त्यों-त्यों उसमें बौद्धिकता और व्यावहारिकता का अंश भी बढ़ा है। इस अंश के बढ़ जाने से गद्य-साहित्य की अपेक्षा पद्यात्मक रचनाओं का अभाव होता जा रहा है। नहीं तो एक समय वह था जब कि साहित्य में पद्य का एकाधिपत्य था और अश्व-पालन जैसे विषय पर भी पद्यात्मक रचनाएँ होती थीं। प्रेस का इस संबंध में कम उत्तर-दायित्व नहीं रहा। न तो पद्य आधुनिक जटिल जीवन का भार वहन करने की क्षमता रखता है और न प्रेस द्वारा प्रदत्त कम-से-कम समय में अधिकाधिक प्रचार-संबन्धी सुविधाओं के सामने पद्य द्वारा स्मरण रखने की आवश्यकता ही पड़ती है।

विश्व-साहित्य के इस विकास-क्रम में भारतीय साहित्य अपवाद-स्वरूप नहीं रहा। संस्कृत में काव्य ही लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला माना गया है। ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी में अपभ्रंश परम्परा टूट जाने के बाद लगभग सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यों ने संस्कृत के आदर्शों का पालन किया। हिन्दी साहित्य के वीर और भक्ति कालों के लिए तो गद्य और भी उपयुक्त नहीं था। अरबी-फ़ारसी साहित्यों के साथ संपर्क स्थापित हो जाने पर भी गद्य-रचना को कोई प्रोत्साहन न मिल सका। वास्तव में अन्य भारतीय भाषाओं के साथ-साथ हिन्दी में भी गद्य का निर्माण इतने विलम्ब से क्यों हुआ, इसका कोई एक प्रधान कारण नहीं दिया जा सकता। हिंदी गद्य के लिए ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उससे पहले भी गद्य मिलता है, किन्तु कम और स्फुट रूप में। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व वह साहित्य का प्रधान अंग न बन पाया था। ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई। उस समय भारतवासियों का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ संपर्क स्थापित हुआ। यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रांति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी। उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रवृत्तियों से हिन्दी साहित्य अछूता न रह सका। शासन-संबंधी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण गद्य

जैसे नवीन साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता हुई और वास्तव में गद्य के द्वारा ही हिन्दी में आधुनिकता का बीजारोपण हुआ—उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में—न कि काव्य द्वारा। इन सब दृष्टियों से हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अस्तु, एक नवीन युग में एक नवीन शिक्षा-पद्धति में पालित-पोषित शिक्षित समुदाय के आविर्भाव के कारण हिन्दी में गद्य परम्परा के क्रम-बद्ध इतिहास का सूत्रपात पहले-पहल उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी में गद्य का पूर्ण अभाव नहीं था। पश्चिम में गद्य के विकास के लिए एक से अधिक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण गद्य का विकास अधिक तीव्र गति से हो गया था। हिन्दी साहित्य के खोज-विद्यार्थियों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के हिन्दी गद्य के स्फुट उदाहरण उपलब्ध हो चुके हैं, यद्यपि अभी बहुत-कुछ कार्य शेष है। जो सामग्री अभी तक उपलब्ध हुई है वह दान-पत्रों, पट्टों-परवानों, सनदों, वार्ताओं, टीकाओं आदि के रूप में है। और क्योंकि उस समय हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक चेतना के प्रधान केन्द्र ब्रज और राजस्थान में थे, इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के गद्य के स्फुट उदाहरण भी ब्रजभाषा और राजस्थानी में मिलते हैं। साथ ही मुसलमानी शासन-काल में खड़ीबोली का प्रचार भी समस्त उत्तर भारत में हो गया था और उसने मुस्लिम राज-दरबारों में अपना स्थान बना लिया था। उसका प्रभाव हिन्दी कवियों पर पड़े बिना न रह सका। किन्तु परम्परा के अनुसार ब्रजभाषा और राजस्थानी काव्य-भाषाएँ बनी रहीं, और जब किसी ने कभी भूले-भटके गद्य-रचना प्रस्तुत की तो इन्हीं दो भाषाओं का प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ज्यों-ज्यों परिस्थिति बदलती गई, साहित्य तथा व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र में खड़ीबोली प्रधानता ग्रहण करती गई और उसमें एक नवीन युग की नवीन प्रेरणा से गद्य का जन्म हुआ।

पहले यह कहा जा चुका है कि आलोच्यकालीन हिन्दी साहित्य, अपनी कुछ नवीनताओं को छोड़ कर, परम्परा और रूढ़ि का अनुसरण करता रहा। गद्य के क्षेत्र में हमें परम्परानुसार ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य के उदाहरण मिलते हैं। खड़ीबोली गद्य के रूप में हमें आलोच्यकालीन साहित्य का नवीन विकास मिलता है—नवीन इस अर्थ में कि इसी समय वह साहित्य का एक प्रमुख और स्थायी अंग बना। इसलिए हमें हिन्दी गद्य-परम्परा की इन

तीनों शाखाओं का अध्ययन करना है। यद्यपि आलोच्यकालीन खड़ीबोली गद्य रचनाएँ अधिक उच्च कोटि की और संख्या में अधिक नहीं कही जा सकतीं, तो भी एक तो हमें उनकी निश्चित परम्परा मिलती है—पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य इतिहास-लेखकों ने लल्लूलाल, सदल मिश्र और इंशा के बाद खड़ीबोली गद्य-परम्परा का भारतेन्दु के आविर्भाव-काल तक अभाव बताया है जो ठीक नहीं है—दूसरे, उनसे हमें खड़ीबोली की शक्ति और उसके उज्ज्वल भविष्य का पता चलता है। खड़ीबोली ने अपने—जन्म-काल में नहीं—बाल्य-काल में ही संसार के जिन विविध विषयों का भार वहन किया उसे देख कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का बीजारोपण इन्हीं खड़ीबोली की गद्य-रचनाओं से माना जाना चाहिए। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन, फ़ोर्ट विलियम कॉलेज, ईसाई पादरियों, सरकारी शिक्षा-आयोजनाओं तथा विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं, और उनसे किसी न किसी रूप में संबंधित अथवा प्रारम्भ में ही पाश्चात्य साहित्य के संपर्क में आने वाले व्यक्तियों के माध्यम द्वारा विकास को प्राप्त खड़ीबोली गद्य का अलग-अलग अध्यायों में अध्ययन किया गया है। खड़ीबोली गद्य के विकास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण समाचारपत्र-कला के इतिहास पर भी दृष्टि-पात कर लिया गया है। खड़ीबोली गद्य साहित्य के सम्बन्ध में यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि आलोच्य काल में अधिकतर उपयोगी और व्यावहारिक विषयों से संबंधित रचनाएँ ही निर्मित हुईं; इस समय खड़ीबोली में नाटक, उपन्यास, निबंध, आलोचना आदि के रूप में ललित साहित्य की रचना न हो सकी, क्योंकि जिन-जिन साधनों द्वारा खड़ीबोली गद्य का विकास हुआ लगभग उन सभी में नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण ही सन्निहित था। उसमें ललित साहित्य का सृजन तो उस समय हुआ जब वह साहित्यिकों द्वारा सँवारा जाने लगा। यह कार्य भारतेन्दु-युग में संपन्न हुआ। इसके अतिरिक्त आलोच्यकालीन खड़ीबोली गद्य के विकास का प्रधान सम्बन्ध नवीन भारत की चेतना के केन्द्र कलकत्ते से था। विविध प्रकार की पुस्तकों का निर्माण और प्रकाशन ही नहीं, वरन् हिन्दी की पत्रकला का तो जन्म ही वहाँ हुआ।

अस्तु, अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी की गद्य-परम्परा तीन शाखाओं में विभक्त की जा सकती है :

१. ब्रजभाषा

२. राजस्थानी, और

३. खड़ीबोली

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इस समय यदि एक ओर ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य-परम्पराओं का अंत हुआ तो दूसरी ओर खड़ीबोली गद्य-परम्परा के क्रम-बद्ध इतिहास का सूत्रपात हुआ।

१. ब्रजभाषा गद्य :

ईसा की सोलहवीं शताब्दी से ब्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग होने लगा था और सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही वह समस्त हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान ली गई। बहुत दिनों तक साहित्यिक भाषा रहने के कारण गद्य की प्राचीन रचनाएँ भी उसमें मिलती हैं। इस संबंध में कुछ गोरखपंथी रचनाओं के नाम लिए जाते हैं जिनमें राजस्थानी और खड़ीबोली मिश्रित ब्रजभाषा गद्य के उदाहरण मिलते हैं। किन्तु इन रचनाओं के संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आगे चलकर विट्ठलनाथ कृत 'शृंगार रस मण्डन', गोकुलनाथ कृत कही जाने वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' आदि की गणना की जाती है। ये सभी रचनाएँ उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व की हैं। आलोच्य काल में ब्रजभाषा गद्य परम्परानुसार मिलता है। कुछ समय पहले से ब्रजभाषा गद्य तीन रूपों में चला आ रहा था—पहला, स्वतन्त्र रूप से लिखे गए मौलिक या अनूदित ग्रंथों के रूप में; दूसरा, प्रसिद्ध कवियों की काव्य-रचनाओं की टीकाओं के रूप में; और तीसरा, अपनी ही काव्य-रचनाओं या काव्य-संग्रहों में निरंतर या स्फुट टीकाओं के रूप में। इन्हीं तीनों रूपों का निर्वाह हमें आलोच्य काल में मिलता है। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी ब्रजभाषा गद्य में बाइबिल का अनुवाद किया, किन्तु इसका उल्लेख आगे के अध्याय में किया जायगा। स्वतन्त्र रूप से लिखे गए मौलिक या अनूदित ग्रन्थों में, अन्य अनेक के अतिरिक्त[1], हित रूप किशोरी लाल के शिष्य और दनकौर-निवासी प्रियादास (रचना-काल १७३२) कृत 'सेवक चरित्र'[2], किसी अज्ञात लेखक कृत 'श्री नवनीत प्रिया जी की सेवा विधि' (१७६५), हीरालाल कृत 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका' (१७९५), लल्लूलाल (१७६१-१८२४ के लगभग) कृत

१—यहाँ तथा आगे भी अनेक ऐसे लेखकों और उनकी रचनाओं का उल्लेख नहीं किया गया जिनकी तिथियों के संबंध में कोई अंतिम निश्चय न हो सका।

२—[illegible] [illegible] ई० (पौष सुदी १०, सं० १०६०)

'राजनीति' (१८०२, प्रकाशित १८०६)[1] और 'माधो-विलास' (१८१७), और माँडला के माणिकलाल ओझा कृत 'सोम वंशन की वंशावली' (१८२८) के नाम लिए जा सकते हैं। पहली दो रचनाओं का सम्बन्ध वैष्णवों के राधावल्लभी संप्रदाय से है। ये दो और अंतिम रचनाएँ मौलिक हैं। शेष प्राचीन ग्रन्थों पर आधारित हैं। भाषा की दृष्टि से प्रियादास और लल्लूलाल की कृतियाँ आदरणीय ठहरतीं हैं और 'राजनीति' तथा 'माधव विलास' ब्रजभाषा गद्य-परम्परा की अंतिम महत्त्वपूर्ण उपलब्धि

१—यह ग्रंथ संस्कृत 'हितोपदेश' का भावानुवाद है। यह अनुवाद मूलतः गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में १८०२ में हुआ था। यह कथन कलकत्ते से १८०९ में प्रकाशित 'राज-नीति' की भूमिका में स्वयं लेखक ने किया है: 'काहू समें श्री नारायण पंडित ने नीति शास्त्रनि तें कथानि का संग्रह करि संस्कृत में एक ग्रंथ बनाय वाकी नाम हितोपदेश धर्‌यो। सो अब श्रीयुत महाराजाधिराज परमसुजान सब गुनखान भागवान् कृपानिधान मारक्विस वलिस्ली गवर्नर् जनरल् महाबली के राज्य में और श्री महाराज गुनवान अति जान जान् गिलक्रस्त् प्रतापी की आज्ञा सों सम्वत १८५९ में श्री लल्लू जी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वारे ने वाकौ आशय लै ब्रजभाषा करि नाम राजनीति राख्यौ॥ ××× अरु संवत १८६५ मांहि श्रीमहाराजानि के राजा सकल गुन निधान ज्ञानवान जगत उजागर दयासागर प्रजापालक गिलबर्ट लार्ड मिंटो तेजस्वी के राज मध्य अरु श्री निपट गुनज्ञाता महादाता उपकारी हितकारी कप्तान् जान् विलियम् टेलर नक्षत्री की आज्ञा सों और श्रीवान धीवान दयायुत डाक्तर् विलियम् हंटर् सहायक की सहायता तें अरु श्री बुद्धिवान सुखदान लिप्टेन एब्राहम् लाकट् रतीवंत के कहे सों वाही कवि नें राजनीति ग्रंथ छपवायो पाठशाला के विद्यार्थी साहिबान के पढ़वे कों॥' फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की प्रोसी-डिंग्स (जि० १, पृ० ४६, ५६, १६९; जि० २, पृ० ३८१-३८९) में 'अख़्लाक़-इ हिन्दी' अथवा हिन्दुस्तानी में हितोपदेश, और दूसरा रूपांतर 'शुद्ध हिन्दी' (Pure Hindee) में, दोनों को 'in the press' कहा गया है। कॉलेज कौंसिल ने इन रचनाओं को किस वर्ष और किस दिन स्वीकृत किया था, यह ज्ञात नहीं। किंतु इतना ज्ञात है कि कॉलेज कौंसिल के ४ अप्रैल, १८०३ के अधिवेशन में पुस्तकों की पूरी सूची पेश की गई थी। हिन्दुस्तानी भाषा के ज्ञान के प्रचार के लिए लिखी गई या लिखी जाने वाली चौवालीस पुस्तकों की १९ अगस्त १८०३ को गिलक्राइस्ट द्वारा भेजी गई सूची में 'अख़्लाक़-इ हिन्दी' को फिर 'in the press' कहा गया है, किन्तु 'राजनीति' का छप गई पुस्तकों में उल्लेख हुआ है। उसके संबंध में तीन सौ बड़े चौपेजी पृष्ठों का अनुमान किया गया था और गिल-क्राइस्ट ने उसके लिए लेखक को तीन सौ रुपये पुरस्कार स्वरूप देने की सिफ़ारिश की थी। प्रोसीडिंग्स (जि० १, पृ० २७६) के विवरण में 'राजनीति' को शुद्ध ब्रजभाषा में लिखा बताया गया है। किन्तु वह पूरी छप गई थी या अधूरी छपी थी, इसका उल्लेख उस विवरण में नहीं मिलता। संभवतः उसका कुछ भाग ही छपा होगा, क्योंकि आगे के विवरणों (वही, २७८ तथा बाद के पृष्ठ) से यह सिद्ध हो जाता है कि कॉलेज कौंसिल ने गिलक्राइस्ट

कृतियाँ कही जा सकती हैं। लल्लूलाल की रचनाओं में से 'राजनीति' (हितोपदेश) का विषय सर्वविदित है। 'माधव विलास' का उल्लेख तो हिन्दी साहित्य के कई इतिहास-ग्रंथों में मिलता है, किन्तु ग्रंथ के विषय से कोई लेखक परिचित प्रतीत नहीं होता। जिन एक-दो लेखकों ने उसका परिचय देने की चेष्टा की भी है उन्होंने पाठकों को और भी भ्रम में डाल दिया है। इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी, लंदन में स्वयं लल्लूलाल द्वारा प्रकाशित 'माधवविलास' (माधो बिलास) की एक प्रति सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त कलकत्ते से भुवनचंद वसक द्वारा १८६८ में प्रकाशित एक और प्रति का सरकारी विवरणों से पता चलता है।[1]

लल्लूलाल के अधिकतर ग्रन्थों की रचना फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के आश्रय में हुई थी। किंतु संभवतः 'माधव विलास' की रचना और उसका प्रकाशन उन्होंने स्वतंत्र रूप से किया था। इसीलिए फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हस्त-लिखित सरकारी विवरणों में इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। इतिहास-लेखकों में सबसे पहले तासी ने इस ग्रन्थ का इस प्रकार उल्लेख किया है :-

'Madho bilas "les plaisirs de Madho (Krischna)", poeme Hindi traduit du Sanscrit; Agra, 1843, in—8° (..."Bibliotheca Orientalis", t. ii, p. 305. cet ouvrage est aussi cite dans le Rag Kalpadruma[2]); et aussi

---

की सभी सिफ़ारिशें स्वीकार नहीं की थीं और केवल कुछ हिन्दुस्तानी रचनाओं का प्रकाशन अधिकृत किया। कौंसिल द्वारा अधिकृत रचनाओं की सूची में 'राजनीति' का नाम नहीं है। इसलिए अन्य अनेक रचनाओं के अतिरिक्त 'राजनीति' का प्रकाशन भी रुक ही गया होगा। कॉलेज लाइब्रेरी द्वारा 'राजनीति' की छपी प्रतियों की प्राप्ति-स्वीकार का उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता। अंत में वह १८०९ में प्रोफ़ेसर जे० डब्ल्यू० टेलर की अध्यक्षता में प्रकाशित हुई (प्रोसीडिंग्स, जि० ३, पृ० १-३)। तासी ने भी कहा है—'Cet ouvrage a eu plusieurs editions. La premiere est celle de 1809' (Litterature......, जि० २, पृ० २३१-२३२)। अतः ग्रियर्सन ('दि मॉडर्न लिटरेरी हिस्ट्री ऑव हिन्दुस्तान, १८८९, पृ० १३३, और 'लाल चंद्रिका' १८९६ की भूमिका), पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', सं० १९९९ वि०, पृ० ४५९) और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'प्रेमसागर' की भूमिका में दी गई १८१२ तिथि अशुद्ध है।

१—तासी के कथनानुसार १८४३ और १८४६ में यह ग्रन्थ आगरे से भी प्रकाशित हुआ।

२—दे० 'रागकल्पद्रुम', जि० १, पृ० ९०, १३४ और २५७

Agra, 1846, in—8°, avec le titre anglais de "A Tale of Madho and Sulochna done into hindi"[1].

तासी का 'माधव' से कृष्ण का अर्थ लेना भ्रम में डाल सकता है और न यह ग्रन्थ काव्य-ग्रन्थ है। हाँ, अँगरेज़ी का शीर्षक ठीक है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'दि मॉडर्न वर्नाक्यूलयर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' (पृ० १३३) में 'माधव-विलास' का केवल उल्लेख भर किया है और साथ ही इसके तथा अहमदाबाद के गुजराती लेखक रघुराम कृत 'माधव-विलास' शीर्षक नाटक के बीच शंका प्रकट की है। उन्होंने अपना अंतिम निश्चित मत भी नहीं दिया। 'शिवसिंह सरोज' और 'विनोद' में इस ग्रन्थ के केवल नाम का उल्लेख है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'माधव-विलास' को व्रजभाषा पद्य का, 'सभा-विलास' की भाँति, संग्रह-ग्रंथ बताकर बड़ी भारी ग़लती की है। शुक्लजी के बाद डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा अन्य इतिहास-लेखकों ने तो लल्लूलाल के 'माधव-विलास' का उल्लेख तक नहीं किया।

वास्तव में 'माधव-विलास' गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है। वैसे तो 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' में भी पद्यांश मिलते हैं, किन्तु 'माधव-विलास' में पद्यों की संख्या कुछ अधिक है। गोसाईंजी का सदुपदेश, रानी का सौंदर्य-वर्णन आदि कुछ बातें पद्य में और प्रधान कथा व्रजभाषा गद्य में है। 'माधव-विलास' के सम्बन्ध में स्वयं लल्लूलाल ने लिखा है :

> '...श्रीगुरदेव के चरणकमलकौध्यानधर क्रिया-योगसारग्रन्थ[2] तें माधव सुलोचना की कथा निकारि श्री लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरेवारे ने उक्ति युक्ति करि गद्यपद्य व्रजभाषा में ग्रंथ बनाय माधव सुलोचना की कथा यामें है यासों याकौ नाम माधवविलास राख्यौ अरु निज छापेघर में छपवायो संवत् १८७४ आश्वन मास में इति ॥'

लालध्वज नामक नगर के राजा विक्रम द्वारा अपनी राजसभा में आए एक गुसांई से संसार में क्या सार है और वह कैसे जाना जा सकता

१—तासी : 'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी', जि० २, पृ० २३२-२३३ (द्वि० सं०)

२—पद्म पुराण में

है, नामक प्रश्न से कथा का प्रारंभ होता है। गोसाईं ने कहा, 'राजन्, संसार में पशु, पंछी, बनस्पति, मनुष्य आदि इन सब की जाति और उनके लक्षण पहिचान कर मन की चंचलता मिटानी चाहिए।' तत्पश्चात् गोसांई ने उसे राजा, प्रधान, कचहरी के कूकरा, मुन्शी, मित्र, ठग, कोतवाल, नारी, नास्तिक, गुंडा, चिकनियाँ, चाकर, हिमायती, लज्जावंत, निर्लज्ज आदि के लक्षण बताए। राजा और गुसाईं का यह वार्तालाप प्रधानतः पद्यात्मक है। उसके बाद प्रधान कथा प्रारम्भ होती है। बहुत दिन बाद उस राजा के माधव नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार मृगया खेलते समय वह बहुवीर की पत्नी चंद्रकला पर मोहित हुआ। चंद्रकला ने उसे उसकी दुर्नीति समझा कर लक्ष द्वीप की दिव्यवंती नगरी में गुणाकर राजा की सुशीला पत्नी की कन्या सुलोचना के रूप, गुण, शील, विद्या आदि का उल्लेख किया और दोनों को एक दूसरे के योग्य बताकर उसे सुलोचना को प्राप्त करने की चेष्टा के लिए प्रोत्साहित किया। माधव ने चन्द्रकला द्वारा बताई गई विधि से कार्य किया। माधव और सुलोचना का मिलन हुआ। किन्तु नीच सेवक के कारण उसे विरह-कष्ट सहन करना पड़ा। निराश हो वह प्राण-त्याग करने की इच्छा से गंगासागर गया। संयोग से दोनों वहाँ मिल जाते हैं और गांधर्व विवाह कर लेते हैं। वहाँ के राजा सुसैन को सब हाल मालूम होने पर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने अपनी कन्या जयंती भी माधव को दे दी और साथ में अपना आधा राज्य दहेज़ में दिया। वहीं सुखपूर्वक रहते हुए माधव धर्म-नीति के अनुसार राज्य करने लगा और विश्वासघाती सेवक को दीवार में चुनवा दिया। अंत में लिखा है कि जो माधव-सुलोचना की कथा पढ़ेगा वह संसार में कभी ठगा नहीं जायगा और गृहस्थाश्रम में अत्यन्त सुख पायेगा।

गद्य के बीच-बीच में नाराच, हनूफा, दोहा, छप्पय, अरल, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। पुस्तक में कुल ६७ पृष्ठ हैं। पृष्ठ ३ से ४२ तक का अंश लगातार पद्यात्मक है। बाद में छन्दों का प्रयोग स्फुट रूप से हुआ है। ३ से ४२ तक पृष्ठों में नीति, विवेक और वैराग्य का उल्लेख है। पद्यात्मक अंश का रचयिता कौन है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संभवतः लल्लूलाल ही उसके रचयिता हों। वैसे अन्य कवियों के छंद भी हैं, जैसे, प्रारम्भ में विक्रम की स्त्री का सौंदर्य-वर्णन करते समय मतिराम के छन्दों का प्रयोग किया गया है। पद्यात्मक अंश में काव्य का कोई चमत्कार दृष्टिगोचर नहीं होता। विक्रम और गुसाईं के प्रसंग में शांत रस

और शेष कथा में संयोग और वियोग शृंगार पाया जाता है । उदाहरण के लिए नीचे दो हनूफा छन्द उद्धृत किये जाते हैं :

'देखत हि मगन द्वार ।
मनौ परयौ बज्र पहार ॥
सुधि बुद्धि सबही जाय ।
गुण आपनौं न सुहाय ।।' पृ० १३

'बहु बकतु गाल बजाय ।
भय भाँति-भाँति बताय ॥
जोइ डरतु वाहि डराय ।
इहिं भाँति सर्वस खाय ॥' पृ० १५

लल्लूलाल कृत 'माधव विलास' का भाषा की दृष्टि से ही महत्व नहीं वरन् उससे उन्नीसवीं शताब्दी जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक रोचक बातें मालूम होती हैं । उदाहरण के लिए लेखक ने चार वर्गों के अतिरिक्त हिन्दू समाज की अन्य छत्तीस जातियों के नाम इस प्रकार दिए हैं—राजपूत, जाट, गूजर, गौरए, अहीर, तेली, तम्बोली, धोबी, नाई, कोली, चमार, चूहरे, खटीक, कुंजडे, लुहार, ठठेरे, कसेरे, चुरहेरे, लखेरे, सुनार, छीपी, सूजी, धीमर, खाती, कुनबी, बढ़ई, कहार, धुनिये, धानक, काछी, कुम्हार, भठियारे, बरियारे, बारी, माली और मल्लाह । इसी प्रकार दण्डी, संन्यासी, योगी, जंगम, रामावत, नीमावत, वल्लभी, राधवल्लभी, गौडिये, वैष्णव, विरक्त, नानकपंथी, कबीरपंथी, दादूपंथी, चरणदासी, गूदड़, औघड़, सेवड़े और जती साधुओं का उल्लेख मिलता है जो कोट की खाई के किनारे ज्ञान की चर्चा और 'रहंट, पैर और ढेंकली लगाय लगाय चलाय चलाय' गीत गाते और उपवन सींचते हुए बताए गए हैं । खाई के किनारे के अतिरिक्त मठ, मंडप, अखाड़े, मंदिर, संगत, देहरे चौसाल आदि भी उनके निवास-स्थान थे । विवाह के समय ब्राह्मण, बजंत्री, नाई, भाट आदि की उपस्थिति बताई गई है । 'माधव विलास' से नगर की बनावट, हाट, देवालय, शिवालय, धर्मशाला, पनघट, बर्तन, पुष्प, व्यापारी आदि विषयों से सबंधित अन्य अनेक उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं ।

आखेट से लौटने पर माधव और चन्द्रकला का मिलन और बातचीत, माधव का दिव्यवंती पुरी जाना और वहाँ सुलोचना का मालिन के हाथ यह लिख भेजना कि मैं मंदिर में आकर हाथ ऊँचा करूँगी, तब मुझे खींच लेना, यहाँ तक का प्रसंग आगरा स्कूल बुक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित 'स्त्री शिक्षा विषय' (१८४७) में भी सम्मिलित है । 'स्त्री शिक्षा विषय' की कथा

खड़ीबोली में है। वह न तो लल्लूलाल के ग्रन्थ से ली गई है और न उसमें राजा विक्रम और गुसाईं वाला प्रसंग ही है। 'स्त्री शिक्षा विषय' में यह दिखाया है कि शिक्षित और चतुर स्त्रियाँ किस प्रकार संकट-काल में अपनी रक्षा करती हैं। अंत में पद्म पुराण से 'ततः सा राजतनया लिखनं साङ्गुलीयकं...' आदि उन्नीस पंक्तियाँ उद्धृत हैं।

लल्लूलाल के प्रसंग में इस बात का उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि उन्होंने उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग के प्रोफ़ेसर डॉ० जॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट के निरीक्षण में 'दि ऑरिएंटल फ़ैब्यूलिस्ट' (१८०३) में संग्रहीत ईसप तथा अँगरेज़ी भाषा की अन्य पुरानी कहानियों का ब्रजभाषा ('भाखा') में अनुवाद किया। संग्रह में ब्रजभाषा अनुवाद के अतिरिक्त अन्य लेखकों द्वारा किए हुए हिन्दुस्तानी, बँगला, संस्कृत, फ़ारसी और अरबी अनुवाद भी हैं।

ब्रजभाषा गद्य का दूसरा रूप प्रसिद्ध कवियों की काव्य-रचनाओं की टीकाओं के रूप में मिलता है। इस सम्बन्ध में हरिचरणदास कृत 'बिहारी सतसई का टीका' (१७७७) और 'कवि-प्रिया की टीका' (१७७८)[1], दनकौर के प्रियादास (रचना-काल १७७६) कृत 'स्फुट पद टीका'[2], रामसनेही पंथ के संस्थापक स्वामी रामचरण के शिष्य रामजन कृत 'दृष्टान्त सागर सटीक' अथवा 'टीका सज्जुगति वचनका' (१७८२), अयोध्या के महन्त रामचरण (रचना-काल १७८४-१७८७) कृत 'रामायण सटीक', रत्नदास (रचना-काल १७६६) कृत 'अष्टक टीका'[3], असनी के ठाकुर द्वितीय कृत 'देवकीनन्दन टीका' के नाम से प्रसिद्ध 'बिहारी सतसई की टीका' (१८०४), जानकीप्रसाद कृत 'रामचन्द्रिका की टीका' (१८१५), लछिमन राउ कृत 'लछिमन चन्द्रिका' (१८१६)[4], लल्लूलाल कृत 'लाल चन्द्रिका' (१८१८)[5] कृष्णलाल (रचना-काल १८१५) कृत 'बिहारी सतसई की टीका', पुराणदास कृत 'त्रिज्या टीका' (१८२७), रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'बीजक' पर टीका, देवतीर्थ स्वामी अथवा काष्ठजिह्वा स्वामी कृत 'मानस परिचर्या'

१—कहा जाता है उन्होंने 'रसिक-प्रिया' और 'भाषा-भूषण' पर भी टीकाएँ लिखीं—'विनोद', पृ० ७१९।

२—हित हरिवंश कृत 'चौरासी पद' के कुछ पदों पर टीका।

३—(महाराज) नागरीदास कृत 'अष्टक' पर टीका। नागरीदास का रचना-काल अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में माना जाता है।

४—केशव कृत 'कवि-प्रिया' पर टीका।

५—बिहारी कृत 'सतसई' पर टीका।

और (१८३८)[1] द्विजराज काशीराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह कृत 'मानस-परिचर्या-परिशिष्ट' (१८५५)[1], प्रतापसाहि कृत 'रसराज की टीका' (१८३६) और 'रत्न चन्द्रिका' (१८३६)[2], सरदार कवि कृत 'रसिक-प्रिया की टीका' (१८४६), 'सूरदास के दृष्टिकूट' (१८४७) और 'कवि-प्रिया की टीका' (१८५४), जानकीप्रसाद कृत 'युक्ति रामायण' पर १८५१ में प्रकाशित धनीराम की टीका के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

व्रजभाषा गद्य का तीसरा रूप कवियों द्वारा अपनी ही काव्य-रचनाओं अथवा संकलनकर्ताओं द्वारा काव्य-संग्रहों में टीका, व्याख्या और वाद-विवादों के रूप में मिलता है। हरिनाथ गुजराती[3] (रचना-काल १७६४) ने 'संग्रह कवित्त' में, रामसनेही पंथ के संस्थापक स्वामी रामचरणदास ने 'अणभै विलास' (संपादन १७८८), 'कवित' (संपादन १७८९), 'जिज्ञासु बोध' (संपादन १७९०), 'विसवास बोध' (संपादन १७९२), 'विश्राम बोध' (संपादन १७९४) और 'राम रसाइणि' (संपादन १७९८)[4] में, रसिक गोविंद ने रीति-ग्रन्थ 'रसिक-गोविंदानन्दघन' (१८०१) में, प्रतापसाहि ने रीति-ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' (१८२५)[5] में, रामराज ने रीति-ग्रन्थ 'काव्य-प्रभाकर' (१८४७) में, जगन्नाथ समनेस ने 'पिंगल काव्य विभूषण'[6] में, पजनेश ने रीति-ग्रन्थ 'स्वेच्छार्थ षोडशी विन्दु विनोद' (१८४७) में और सरदार कवि ने 'मानस रहस्य' (१८४७) में व्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया है।[7]

१—देवतीर्थ स्वामी ने 'मानस' पर 'मानस परिचर्या' शीर्षक टीका लिखी। काशी-राज ने उसे 'मानस-परिचर्या-परिशिष्ट' नाम से, और तत्पश्चात् हरिहरप्रसाद ने उन दोनों को 'मानस-परिचर्या-परिशिष्ट-प्रकाश' (१८७१) के नाम से परिवर्द्धित रूप दिया। सम्पूर्ण रचना प्रथम १८७८ में और उसके बाद कई खण्डों में प्रकाशित हुई। फिर १८९६-९८ में महाराज प्रभुनारायण सिंह की आज्ञा से संपूर्ण रचना प्रकाशित हुई।

२—बिहारी कृत 'सतसई' पर टीका। कहा जाता है प्रतापसाहि ने बलभद्र कृत 'नखशिख' पर भी टीका लिखी।

३—ये शुजाउद्दौला के दरबार में थे।

४—स्वामी रामचरण के शिष्य रामजन ने इन रचनाओं का सम्पादन किया।

५—१९०० में बनारस से प्रकाशित।

६—ये कवि महाराज विश्वनाथ सिंह (१८३३-१८५४) के दरबार में थे।

७—सेवक कवि ने भी अपने 'वाग्विलास' में व्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया है। उसकी रचना-तिथि अज्ञात है। किन्तु कवि का रचना-काल उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध और 'वाग्विलास' का निर्माण सन् ५७ के विद्रोह के बाद माना जायगा, क्योंकि उसमें कवि के आश्रयदाता का हाकिमों की सहायता करने का उल्लेख मिलता है।

किन्तु हिन्दी साहित्य में व्रजभाषा गद्य की कोई निश्चित और पुष्ट परम्परा न होने के कारण आलोच्यकालीन व्रजभाषा गद्य की भाषा-शैली परिष्कृत और सुगठित नहीं है। भाषा लड़खड़ाती हुई चलती है। उसमें भावों और विचारों का भार वहन करने की क्षमता दिखाई नहीं पड़ती। स्वतंत्र रूप से रचे गए ग्रंथों का गद्य, उनमें भी प्रियादास कृत 'सेवक चरित्र' और विशेषतः लल्लूलाल कृत 'राजनीति' और 'माधव विलास' का, अन्य प्रकार के गद्य की तुलना में कुछ अच्छा है। सामान्यतः भाषा में शिथिलता और खड़ीबोली तथा संस्कृत के तत्सम रूपों—यहाँ तक कि अशुद्ध रूपों तक का—मिश्रण है। एक ही प्रकार के वाक्यों और वाक्यांशों की बार-बार आवृत्ति से जी ऊबने लगता है। साथ ही धार्मिक विषयों और काव्य-टीकाओं तक सीमित रहने के कारण व्रजभाषा गद्य का विषय-विस्तार और शब्द-भण्डार बहुत विस्तृत न हो सका। आलोच्यकालीन व्रजभाषा गद्य के कुछ उदाहरणों से ये सब बातें स्पष्ट हो जायँगी :

> '''प्रथमहि तो बाल अवस्थाई में जै श्री रसिक नृपति जू ने मोकू अंगीकार कियो० उपरांत ता पाछे श्री सेवक बानी जू को दर्सन भयो बांचत ही श्री सेवक जू विषे मेरी अति आशक्ति भई० के देषो सारा सार विवेक के कौन कौन भांति श्री रसिक नृपति जू कौं कैसौ लड़ायो गयो दुलरायो है० सो या भांति की सेवक जू की मत्तता की जो दसा है ता ऐसी दसा कौ मोकू भी लाहो सदा रहै० के मैहू ऐसी भांति श्री हित जू कौ कब लड़ाउगो० सो या ही आसक्तिता ने बढते बढते सिर मे धूरि गिरवाई० सो गोस्वामि जै श्री हित रूप किसोरी लाल जू के मंदिर विषे चौवारे में भजन भावना ते मत्त भयो ०...'[1]

> 'कह्यौ है प्रीतम सो जो आपदा निवारे। कर्म वह जातें अपजस न होय। स्त्री अरु सेवक सो जो आज्ञाकारी रहै। बुद्धिवान वह जो गर्व न करै। ज्ञानी सो जो तृष्णा न राखै। पुरुष वह जो जितेन्द्री होय। अरु महाराज मंत्री वह जो हितकारी होय। संजीवक तिहारो

१—प्रियादास : 'सेवक चरित्र' (१७७०, के लगभग), पृ० ६-७

सुखदेवा नाहिं यह दुख कौ मूल है। या कौ सीघ्र ही नास करौ। कह्यौ है जो राजा धनांध कामांध होय आपनौ भलौ बुरौ न जानै सो इच्छामातौ रहै। अरु जब अहंकार तें दुख पावै तब मन्त्री कौं दोष लगावै॥...''[1]

'...कितेक वर्ष पाछैं एक समय माधव नरपति बहुतेक लोग साथलै आखेट कौं गयौ। वन में जाय बाघ चीता अरना वराह हरिन चीतल साबर आदि जीव अनेक अहेर किये अरु जिन जिनने जो जो चाहे सो सो लिये। जब अहेर करि स्रांते वगद्यौ तब नगर के निकट आय कहा देखतु है कि एक स्त्री पंद्रह सोलह वरष की। स्याम घटासे केस। पाटी मानौ मरकत मणिकी टाटी। चोटी लांबी कारी सटकारी जैसें पन्नग की नारी। मांग मोतियन तें संवारी। भाल चंदकौ सौ भाग। तिलक लाल जानौ पीतम कौ सुहाग। भौंहें वांकी मन मोहैं। श्रवण दोऊ सीप से सोहैं। दृगन के आगे कंवल मीन मृग खंजन कहा। नासिका कौं देखि तिल फूल औ कीर लज्जित महा। वाके मुख चंद कौं पेखि पूर्णमा कौ चंद्र कलंकी भयौ। दांत की पांत लखि दाडिम कौ हियौ दरक गयौ। ग्रीवा की सुंदरता निरख कपोत कुलमलाय। कुचन की कठोरता हेरि सरोज कली सरोवर में गिरी जाय। कटि की कृपता देखि केहरी ने वन बासलियौ। जांघ की चिकनाई लखि कदली ने कपूर खालियौ। जाके कर पदकी कोमल ताके आगे पद्म की पदवी कछु नहै। ऐसी चंपावरनी पिक बैनी गज गौनी घुघट किये कंचन की कलसी लिये एकली जल भरन जाति है। या छबिसौं वाहि देखि माधव काम के बस होय शास्त्र कौ भय भूलि लोक लाज बिसारि...लोगनि कौं बिदा करि आप अकेलौ वहीं ठाढौ रह्यौ। अरु मनहीं मन कहनि लाग्यौ कि इंद्र की अपछरा होयगी तौहू मोते यह अछूती आज जान न पै है। याकौ आशक्त भयौ जानि वह सुंदरि अति घब-राय सरोवर पै जाय स्नान करन लागी।...''[2]

१—लल्लूलाल : 'राजनीति', १८०९ के संस्करण से

२—लल्लूलाल : 'माधव विलास' (१८१७), पृ० ४४-४५

'चौवनवीं कहानी रींछ औ मधु माखी की

दैवी एक मधु माखी नें काहू रींछ कौं काट्यो; वाकी पीर असी अधिकानी, कि पलटों लैं की वौरापन तें बारी में दोर्‌यो गयो, अरु तिनके घर उलट दए. यह अनीत विन के क्रोध कौं बढ़ाए, सिगरे झुंड के कोप कौं वा पै ल्याई. वे बल तैं वाहि ऐसी आए चिपटी, कि वुह मरन दशा कौं पहुँच्यो; मूंड तैं पूंछ लों घाइल ह्वै, अति कठिनता सों आपुन कौं विन के हाथ सों बचायो. या निरास अवस्था में, निज प्रारब्ध की निन्दा करति, औ अपने घाए चाटति, अबस ह्वै यह सोच करनि लाग्यो, कि अकारत क्रोध करि सहस्रनि के छेड़िवे तैं यह कहा उत्तम बिचार होतौ, जो मैं सन्तोप करि एक ही दुख सहि रहितौ .

फल, पलटौ लैन के लए समस्त जूथ के क्रोध उठावे तैं एक जीव कौ कोप सहि रहनो निपट आगम बांधनो है'[1]

(रोमन लिपि से)

'विधु वंधु अर्थ चन्द्रमा के समान कै हास्य रस को चुरावन हारो यह अर्थी उपमा है अर्थ तें उपमा जानी जाति है कुंदन सों वर्ण वाद करन हार मोती की भित्ता इहां किधौं उत्प्रेक्षा वा संदेहवाचक है मीत उपमा वाची है यातें शंकर अरू एक उपमेय श्रीराम के गीत की अनेक उपमान है यातें संकीर्ण कलहंस को कल्पवृक्ष है समर्थ क्षीरनिधि की छविनो प्रक्षक वूझनहार तू भी मेरे सदृश है हिमगिर की प्रभा को नाथ हैं...'[2]

'एक मर्द ने एक चिरि.या पकरी वा चिरिया ने पूँछयो जो तूँ मोँ कोँ पकरि ल्यायो अब मोँ कोँ तूँ कहा करैगो तब .वाने कही जो मैँ तोँ कोँ मारि के खाँऊगो; तब वा चिरिया बोली जौ अरे .यार तूँ मोँ कोँ मारैगो

१—'दि ओरिएंटल फ़ैब्यूलिस्ट' (१८०३), कलकत्ता, पृ० ३०९

२—सरदार कवि : 'कवि-प्रिया की टीका' (१८५४), लखनऊ, १८६५, प्रथम संस्करण, पृ० २५०

तामे कछु तेरो पेट तौ ना भरैगो कहा दाइ पैसा भर मेरो माँस सो कौन मात्र० फिरि० मारे तौ सुखे० परि तूँ मों कौं जीवति छोरे तौ मैं तो कौं एक तीनि घात साख ऐसी कहूँ जातें तूँ निहाल होइ०...'[1]

'जाके सरीर में वाइ तत वसेष होइ ॥ जाको मन पटाई चाहे ॥ सो ज्यां मिनषा को मन विषि.यां आसकति होइ ॥ सो विषि.यानि मति नांनां प्रकार की उदिम करै ॥ पाषंड करै ॥ ज्यूं त्यूं करि विषिया उपा.वै ॥ भोग कर्‌या चाहै ॥ सो विषि.या पंच परकार कहि.ये ॥ सबद सपरस रूप रस गंध ॥ सबद तो श्र.वण को राग कहिये ॥ सपरस तुचा को विषै असतरी को संग कहिये ॥ रूप नेतरां की विषै सो रंग सरूप देषि आसकति होइ ॥ रसनां को विषै ॥ नांनां प्रकार का स्वाद रस षाटा मीठा चरपरा चाहै ॥ गंध नासिका को विषै सो नाना प्रकार की वास .वाली सुगंध चाहै ॥ ऐसैं पंच विषै आसकति होइ मोद उपजावे ॥ भोग लेवै ॥...'[2]

'इहां लोक व्यौहार की वातन कौं साहित्य नाम, गुरु लघु फेरि सब्द अर्थ भेद, फेरि व्यंग ध्वनि भेद, फेरि रस भेद इत्यादि अलंकार भेद, सो इन्हैं जे कोऊ साहित्य नाहीं जानत हैं ते सब लोक-व्यौहार ही मानत हैं, अरु जे साहित्य जानत हैं ते कोऊ लोक व्यौहार की वातन कौं साहित्य ही मानत हैं, अरु करनहार लोक-व्यौहार की वातन सौं सम्पूरन साहित्य करत हैं, तातैं लोक-व्योहार की वातैं ही साहित्य जानिऔ ॥ इति साहित्य लक्षण ।'[3]

ऊपर के अवतरणों में अनेक संस्कृत शब्दों का ज्यों-का-त्यों, बिना व्रजभाषा के अनुकूल उपयुक्त परिवर्तन के, प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं 'उपरांत ता

१—हरिनाथ गुजराती : 'संग्रह कवित्त (१७६४ के लगभग), पृ० ३५

२—स्वामी रामचरण : 'राग रसाइणि' (१७९८ में रामजन द्वारा संपादित), पृ० ११

३—पजनेश : 'खेच्छार्थ षोडशी विन्दु विनोद' (१८४७), पृ० ५

पाछे' जैसे दुहरे प्रयोग भी मिल जाते हैं। 'का', 'कहता', 'लिया', 'सुना', 'जानता' जैसे खड़ीबोली के अनेक रूपों का मिश्रण सामान्य बात है। वास्तव में खड़ीबोली इस समय पूर्ण रूप से बोलचाल की भाषा हो गई थी। साहित्यिक ब्रजभाषा का उसके प्रभाव से बचना कठिन था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार खड़ीबोली साहित्यिक ब्रजभाषा के प्रभाव से न बच पाई थी। 'बगयौ' और 'मलूक' जैसे बोलचाल की ब्रजभाषा के शब्दों का भी अभाव नहीं है—विशेष रूप से 'दि ऑरिएंटल फैब्यूलिस्ट' में संग्रहीत लल्लूलाल द्वारा अनूदित ब्रजभाषा कहानियों में। लल्लूलाल ने 'माधव विलास' में तुकान्तयुक्त वाक्यों का प्रयोग भी किया है। इस प्रकार के वाक्य उनकी खड़ीबोली रचना और इंशा कृत 'रानी केतकी की कहानी' में भी मिलते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि 'मावध विलास' में ऐसे वाक्यों का प्रयोग कम हुआ है। साथ ही अन्य प्रकार के ग्रन्थों की अपेक्षा उसमें 'शमशेर', 'सरंजाम', वेमुरव्वत', 'मुतफ़न्नी', 'ग्रानत', 'मस्करा', 'मुजरा', 'दगाबाज़' आदि अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। अन्य ग्रंथों में एकाध अरबी-फ़ारसी का शब्द, व● भी तत्सम रूप में नहीं, मिल गया तो मिल गया, नहीं तो ब्रजभाषा काव्य की अपेक्षा ब्रजभाषा गद्य ऐसे शब्दों के प्रयोगों से एक प्रकार से मुक्त ही रहा। 'माधव विलास' में 'खेवे', 'जैवे', "ऐवे' आदि कुछ पूर्वी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। स्वामी रामचरण की रचनाओं में जो गद्यांश मिलते हैं उनमें राजस्थानी शब्दों और रूपों का प्रयोग हुए बिना न रह सका, क्योंकि वे और उनके शिष्य रामजन दोनों ही का सम्बन्ध राजस्थान (शाहपुर) से था। लल्लूलाल और पजनेश द्वारा आधुनिक विराम-चिह्नों का प्रयोग नवीन प्रभाव का द्योतक है। सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर ब्रजभाषा गद्य शक्तिहीन, शिथिल और गतिहीन है। उसमें और ब्रजभाषा काव्य की भाषा में आकाश-पाताल का अन्तर है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिन विषयों का निरूपण काव्य में होता रहा उनका गद्य में भली भाँति प्रकटीकरण हो सका, क्योंकि ऐसे विषयों के लिए ब्रजभाषा के पास उपयुक्त शब्दावली थी। उदाहरण के लिए लल्लूलाल कृत 'माधव-विलास' से उद्धृत अंश में वर्णित चन्द्रकला का नखशिख-वर्णन लिया जा सकता है।

आलोच्य काल में अँगरेज़ी राज्य के अंतर्गत नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाने पर भी काव्य की भाँति गद्य के क्षेत्र में परम्परा का स्थान बना रहा। ब्रजभाषा गद्य का आदि रूप गोकुलनाथ और उनसे पूर्व के कहे जाने वाले

लेखकों की रचनाओं में मिलता है। राजा शिवप्रसाद को ब्रजभाषा के प्रभावान्तर्गत लिखा गया खड़ीबोली गद्य बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था और वे उसका 'गँवारपन' निकालने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। वे उसे एक पुरानी और गई-बीती चीज़ समझते थे। इतने पर भी परम्परा के रूप में वह आलोच्य काल में, और कुछ-कुछ भारतेंदु-युग में भी, बराबर बना रहा। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका अन्त उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ही मान लेना चाहिए। इसके कई कारण थे। ब्रजभाषा-गद्य साहित्य का प्रधान अंग न होने से अधिक विकसित न हो सका। प्रधानतः धार्मिक रचनाओं और काव्य टीकाओं के अतिरिक्त उसमें अन्य विषयों का प्रतिपादन न हो सका। फलतः उसकी शब्दावली भी कुछ चुने हुए विषय प्रकट करने की क्षमता रख सकी, और वह भी अधकचरे रूप में। अँगरेज़ों ने भी उसे आश्रय प्रदान न किया—जिस प्रकार काव्य तथा अन्य ललित कलाओं को उन्होंने कोई आश्रय प्रदान न किया था। अँगरेज़ हिन्दी प्रदेश की जिस बोली के संपर्क में आए वह खड़ीबोली थी, क्योंकि उत्तरी भारत के राज-दरबारों में उसका यथेष्ट प्रचार हो चुका था। इसलिए उन्होंने राजकीय कार्यों में शुरू से ही खड़ीबोली का प्रयोग प्रारंभ कर दिया था। जब जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण एक गद्य-माध्यम की आवश्यकता हुई तो एक ओर तो क्षेत्र सीमित और संकुचित होने के कारण ब्रजभाषा गद्य अनुपयुक्त सिद्ध हुआ और दूसरी ओर उत्तर भारत में प्रचार और शुरू से ही नवीन शासकों का आश्रय प्राप्त हो जाने के कारण खड़ीबोली को आगे बढ़ने में सफलता प्राप्त हुई। साथ ही खड़ीबोली गद्य का इतनी तीव्रता के साथ प्रचार इसलिए भी संभव हो सका कि शुरू से ही उसे प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधन का आश्रय प्राप्त हुआ। उसकी बढ़ती हुई शक्ति के सामने ब्रजभाषा गद्य का ह्रास होता गया। वैसे भी ब्रज प्रदेश में वैष्णव आन्दोलन जैसा कोई शक्तिशाली आन्दोलन न होने के कारण ब्रजभाषा काव्य और गद्य दोनों ही गतिहीन हो गए थे। काव्य की परम्परा पुष्ट होने के कारण कुछ अधिक दिनों तक बनी रह सकी। गद्य की स्फुट और क्षीण परम्परा जीवन-शक्ति का अधिक परिचय न दे पाई। अन्ततोगत्वा विलीन दोनों परम्पराएँ हो गईं—पहले गद्य की, फिर काव्य की। आलोच्य काल में नवीन सांस्कृतिक चेतना के केन्द्र कलकत्ते से ब्रज प्रदेश दूर भी पड़ता था।

२. राजस्थानी गद्य :

ब्रजभाषा गद्य-परम्परा की भाँति राजस्थानी गद्य-परम्परा भी काफ़ी प्राचीन है। राजस्थानी गद्य-परम्परा का सूत्रपात दसवीं शताब्दी के लगभग से माना जाता है। राजस्थानी गद्य-साहित्य राजस्थान की अराजकतापूर्ण परिस्थितियों तथा संरक्षकों की असावधानी के कारण बहुत-कुछ नष्ट हो चुका है, किन्तु तब भी जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा की अपेक्षा राजस्थानी गद्य-परम्परा अधिक समृद्ध और विविध-विषय-संपन्न रही। उसमें दानपत्रों, पट्टों-परवानों, जैन-ग्रंथों, वार्ता, तथा राजनीति, इतिहास, काव्य-शास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि भिन्न-भिन्न विषय-सम्बन्धी ग्रंथों की रचना हुई। टीका-टिप्पणियों और अनुवादों का भी उसमें अभाव नहीं रहा। प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य पर संस्कृत की समास शैली और अपभ्रंश का प्रभाव मिलता है। बाद को वह खड़ीबोली के निकट होने के कारण उसके रूप ग्रहण करता गया। साथ ही साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा के प्रभाव से भी वह अलग न रह सका। किन्तु आलोच्यकालीन राजस्थानी गद्य के संबंध में एक भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कुछ हस्तलिखित पोथियाँ तो इतनी जीर्णशीर्ण मिली हैं कि उनसे न तो लेखक के सम्बन्ध में और न किसी प्रकार की तिथि के बारे में जाना जा सकता है। कुछ हस्तलिखित पोथियाँ अच्छी दशा में मिलती हैं तो उनमें लेखक के नाम, तिथि अथवा अन्य किसी संकेत का पता नहीं चलता। ऐसी अनिश्चित परिस्थिति में उनका यहाँ उल्लेख न करना ही उचित समझा गया है। आलोच्य काल से अनुमानतः सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा की भाँति ही राजस्थानी गद्य का निर्माण भी तीन रूपों में हुआ। किन्तु एक ग्रन्थ ऐसा मिला है जो निश्चित रूप से आलोच्यकालीन है और जो राजस्थानी गद्य का उत्तम उदाहरण माना जा सकता है। यह ग्रंथ फ़तहराम वैरागी कृत संस्कृत 'पंचतंत्र' का अनुवाद 'पंचाख्यान' (१८८७) है। लेखक मेवाड़ के आर्ज्या गाँव का रहने वाला और बालकृष्ण का पुत्र तथा गोवर्द्धनदास का पौत्र था। वह राजस्थानी का एक अच्छा कवि और गद्य-लेखक था। 'पंचाख्यान' से राजस्थानी गद्य का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है :

'वारता ॥ एक गांव में रास मंडवा लागो। जाजम बिछाई। झालर बजाई। तर मढ़ंग्या ने तस लागी तर गांव

का छोरा नै पूछे। अरे डावड़ा पाणी री जुगत बताओ। तब छोरा कीयो। ऊ कूड़ो आंबा का रुंख हेटे छै। तब मरदंग्यो कूड़े गीयो। आगे देखे तो ऐक अस्त्री पांणी के कनारे रुठी वैठी छै। तब मरदंगे कैही हे वाई तू कूणे छै। तब कन्या कही हूँ महाजन का वेटा की वहु छूं।"

किन्तु व्रजभाषा की भाँति राजस्थानी गद्य की भी अपनी सीमाएँ थीं। इसलिए वह भी नई आवश्यकताओं के अनुसार नवीन विषयों के लिए उपयोगी और उपयुक्त माध्यम सिद्ध न हो सका। व्रजभाषा गद्य-परम्परा के अंत होने में जिन कारणों का पीछे उल्लेख किया जा चुका है, लगभग उन्हीं कारणों से राजस्थानी गद्य-परम्परा का भी आलोच्य काल में अंत हो गया—स्फुट रूप से वह बाद को भी अवश्य लिखा जाता रहा। राजस्थान का राजनीतिक महत्त्व नगण्य हो जाने से राजस्थानी गद्य का ह्रास हो जाना अवश्यंभावी कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। जहाँ तक कलकत्ते के नवीन प्रभावों के अंतर्गत आने का सम्बन्ध है राजस्थान व्रज प्रदेश की अपेक्षा उससे और भी दूर पड़ता था। वैसे भी, ऐतिहासिक दृष्टि से, आलोच्य काल राजस्थान के लिए अंधकार का युग है। जो लोग राजस्थानी में लिखते भी थे, वे अब, उसके स्थान पर, खड़ीबोली का माध्यम ग्रहण करने लगे।

यह पहले कहा जा चुका है कि आलोच्य काल में व्रजभाषा और राजस्थानी गद्य-परम्पराओं का अंत हो जाने के बाद हिन्दी प्रदेश के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जीवन में खड़ीबोली गद्य का उन्नयन हुआ और साथ ही वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिकता और पश्चिमी प्रभाव के बीजारोपण का प्रतीक बना। इन दोनों दृष्टियों से (खड़ीबोली) गद्य का, न कि काव्य का, महत्त्व है। अस्तु, प्राचीन गद्य-परम्पराओं के बाद हिन्दी साहित्य के इस नवीन विकास और उसके विविध पहलुओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

३. खड़ीबोली गद्य :

खड़ीबोली गद्य का अध्ययन हिन्दी साहित्य के एक महत्वपूर्ण और आलोच्यकालीन एकमात्र आधुनिक विकास का अध्ययन है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के सम्बन्ध में सर जॉर्ज ग्रियर्सन का यह कहना कि :

> 'The first half of the 19th century, commencing with the downfall of the Maratha power and ending with the Mutiny, forms another well-marked epoch. It was the period of renascence after the literary dearth of the previous century. The printing-press now for the first time found its practical introduction into Northern India, and, led by the spirit of TulsiDas, literature of a healthy kind rapidly spread over the land'.[1]

बहुत-कुछ अंशों में ठीक ही माना जा सकता है। बहुत-कुछ अंशों में इसलिए कहा गया क्योंकि उनका यह कथन काव्य के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता। काव्य की दृष्टि से यह काल 'another well-marked epoch' अथवा 'period of renascence', अथवा काव्य 'literature of a healthy kind' नहीं कहा जा सकता। गद्य पर विचार करते समय ग्रियर्सन के इस कथन की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। किन्तु इसी के आगे उनका यह कहना कि :

> 'It was the period of the birth of the Hindi language, invented by the English, and first used as a vehicle of literary prose composition in 1803, under Gilchrist's tuition, by Lallu ji Lal, the author of the Prem Sagar'.[1]

नितांत आपत्तिजनक है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध निस्संदेह 'a period of transition from the old to the new' कही जा सकती है—गद्य की दृष्टि से, किन्तु इस काल में अँगरेज़ों द्वारा हिन्दी भाषा (आधुनिक साहित्यिक खड़ीबोली) का आविष्कार और सर्वप्रथम गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में 'प्रेमसागर' के लेखक लल्लूलाल द्वारा साहित्यिक गद्य-माध्यम के रूप

१—ग्रियर्सन : 'दि मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान' की भूमिका, कलकत्ता, १८८९, पृ० xxii और १०७

में व्यवहृत होना मानना युक्ति-संगत नहीं है। इसी प्रकार आर० डब्ल्यू० .फ्रेज़र का भी यह कहना कि :

> 'the modern Hindi language (Khariboli or High Hindi) may be regarded in a manner as the creation of the two Pandits (Lallu Ji Lal and Sadal Misra)'[1]

अथवा नलिनीमोहन सान्याल[2] तथा हिन्दी साहित्य के अन्य इतिहास-लेखकों के इसी आशय के कथन वास्तविकता का समर्थन नहीं करते। जहाँ तक गद्य-रचनाओं से सम्बन्ध है हिन्दी साहित्य में ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य की स्फुट परम्पराएँ मिलती हैं। यह अँगरेज़ों के भारतवर्ष आने और लल्लूजी लाल तथा सदल मिश्र के कार्य-स्थान फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से बहुत पहले की बात है। जहाँ तक खड़ीबोली के प्रयोग से संबंध है हिन्दी साहित्य इस बात का साक्षी है कि अमीर .खुसरो, संत कवियों, दक्खिनी हिन्दी के कवियों तथा अन्य साहित्यिक धाराओं के कवियों ने काव्य में खड़ीबोली का, स्फुट रूप में, बराबर प्रयोग किया।[3] फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के आसपास ही महंत सीतलदास ने अपनी रचनाएँ आद्योपांत खड़ीबोली में प्रस्तुत कीं। वास्तव में खड़ीबोली का उसी प्रकार अस्तित्व था जिस प्रकार, साहित्य-क्षेत्र से बाहर, ब्रजभाषा अथवा हिन्दी प्रदेश की अन्य किसी बोली का। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में राजनीतिक तथा अन्य कारणों से उसके प्रमुख स्थान (गद्य क्षेत्र में) ग्रहण कर लेने का यह तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता कि उससे पूर्व उसका अस्तित्व ही न था अथवा साहित्य में उसका प्रयोग ही न होता था। साथ ही गद्य की जिस भाषा का सूत्रपात लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की रचनाओं से माना जाता है उसी भाषा में लिखे गए कई ग्रंथ फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना या 'प्रेमसागर' की रचना से पहले ही मिलते हैं। सम्भव है खोज करने पर ऐसे और भी ग्रंथों का पता चले।

यह तो निस्संदेह माना जा सकता है कि अँगरेज़ी शासन-काल में और अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा उद्भूत नवीन शक्तियों के कारण खड़ीबोली

१—'ए लिट्रेरी हिस्ट्री ऑव इंडिया', लंदन, १९१५, पृ० २६५ और ३९२

२—'डेवेलपमेंट ऑव हिन्दी लिट्रेचर, १८५०-१९००'—'कलकत्ता रिव्यू', जनवरी-मार्च, १९२४

३—दे० प्रस्तुत लेखक कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१८५०-१९००) और श्री ब्रजरत्नदास : 'खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास', बनारस, सं० १९९८ प्रथम संस्करण

गद्य को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला, किन्तु फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से पहले और बाद को स्वतंत्र रूप से लिखे गए गद्य-ग्रंथों का अभाव नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में, खड़ीबोली गद्य का जन्म या आविष्कार तो अँगरेज़ों द्वारा नहीं हुआ, वरन् उसके विकास का सम्बन्ध अवश्य उनके साथ स्थापित किया जा सकता है। आगे चल कर उन साधनों तथा व्यक्तियों और पाश्चात्य प्रभाव के अंतर्गत स्थापित संस्थाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जायगा जिनके द्वारा खड़ीबोली गद्य विकास की अवस्था को प्राप्त हो सका था। यहाँ पर तो अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में रचित केवल कुछ खड़ीबोली गद्य-ग्रंथों का उल्लेख किया जायगा जिनसे अँगरेज़ों से स्वतंत्र खड़ीबोली गद्य-परम्परा का पता चलता है, यद्यपि उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह परम्परा बहुत प्राचीन नहीं कही जा सकती। "पूर्व परिचय' शीर्षक अध्याय में पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी कृत 'भाषा योग वासिष्ठ' (१७४१) का उल्लेख हो चुका है। उनके बाद दौलतराम ने 'जैन पद्म पुराण' (१७६१) की रचना की। वे उस प्रदेश के निवासी थे जो आजकल मध्य प्रदेश कहा जाता है और अपनी रचना का निर्माण बिना किसी पाश्चात्य प्रभाव या अँगरेज़ों की अध्यक्षता के किया। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के महत्त्व का उल्लेख करते हुए ग्रियर्सन ने एक अन्य स्थल पर लिखा है:

'...It was, moreover, the period of the birth of that wonderful hybrid language known to Europeans as Hindi, and invented by them. On 1803, under Gilchrist's tuition, Lallu Ji Lal wrote the Prem Sagar in the mixed Urdu language of Akbar's camp-followers and of the market where men of all nations congre-gated, with this peculiarity, that he used only nouns and particles of Indian, instead of those of Arabic or Persian, origin. The result was practically a newly invented speech; for though the grammar was the same as that of the prototype, the vocabulary was almost entirely changed.'[1]

१—'दि मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑव हिन्दुस्तान', कलकत्ता, १८८९, पृ० १०७

इसके पश्चात् हिन्दी को हिन्दुओं की 'lingua franca' तथा खड़ीबोली की काव्य के लिए अनुपयुक्तता बताने के बाद उन्होंने कहा है :

> '......and its prose in one uniform artificial dialect, the mother tongue of no native-born Indian, forced into acceptance by prestige of its inventors, by the fact that the first book written in it were of a highly popular character, and because it found a sphere in which it was eminently useful.'[1]

इस कथन की बराबर भ्रमात्मक कथन साहित्य के क्षेत्र में शायद ही मिलेगा। ग्रियर्सन ने अपने इस कथन से अनेक बड़े-बड़े विद्वानों तक में बुद्धि-भ्रम उत्पन्न कर दिया और आधुनिक समय में राष्ट्रीय भाषा की समस्या को उलझा दिया। इस पर तथा खड़ीबोली का प्रधान संबंध उर्दू के साथ स्थापित करने अथवा खड़ीबोली से खड़ीबोली उर्दू का अर्थ निकालने वाली उनकी बात पर विस्तारपूर्वक विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। लल्लूलाल ने 'यामिनी भाषा छोड़' शब्दों का क्यों प्रयोग किया, उनका क्या महत्त्व है, इसका आगे चल कर यथास्थान विवेचन किया जायगा। ग्रियर्सन ने खड़ी बोली को 'artificial dialect' और 'the mother-tongue of no native-born Indian' कहा है। यह ठीक है कि खड़ीबोली, जिस रूप में उसका साहित्य में प्रयोग होता है, कहीं बोली नहीं जाती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि साहित्य में प्रयुक्त संस्कृत किसी प्रदेश की बोली जाने वाली भाषा नहीं थी, और खड़ीबोली का यह रूप भारतीय राष्ट्र-भाषा-परम्परा के अनुसार ही है। खड़ीबोली प्रदेश के एक जाट की बोली बड़े-बड़े गद्य-लेखक तक एकाएकी नहीं समझ सकते। किन्तु आजकल हिन्दी प्रदेश में एक ऐसा शिक्षित समुदाय भी जन्म ले चुका है, यद्यपि अभी उसकी संख्या कम है, जो साहित्य में प्रयुक्त होने वाली (साहित्यिक नहीं) खड़ीबोली को छोड़ अन्य किसी बोली का प्रयोग ही नहीं करता। मूलतः इस समुदाय के लोगों की मातृभाषा हिन्दी प्रदेश की कोई एक न एक बोली थी। किन्तु आधुनिक काल में सम्मिलित कुटुंब-प्रथा का विच्छेद होने तथा आर्थिक कारणों से अपने मातृभाषा-भाषी बंधुओं से अलग रहने तथा अन्य कोई बोली ग्रहण न कर सकने के कारण उसने खड़ीबोली का साहित्य में सामान्यतः प्रचलित रूप—

ठेठ खड़ीबोली प्रदेश में प्रचलित रूप नहीं—अपनी बोलचाल के लिए ग्रहण कर लिया है। इस समुदाय के बच्चे भी शुरू से ही खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं। आशा है इस समुदाय के लोगों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि होने से खड़ीबोली के परिष्कृत और परिमार्जित होने में सहायता प्राप्त होगी। तो, साहित्य में प्रयुक्त खड़ीबोली किसी प्रदेश में बोली नहीं जाती, यह ठीक है। किन्तु ग्रियर्सन ने जिस अर्थ में 'artificial dialect' का प्रयोग किया है वह ऐतिहासिक प्रमाणों के विरुद्ध है। ग्रियर्सन का तात्पर्य है कि लल्लूलाल ने खड़ीबोली में से अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहिष्कार कर और उनके स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर एक कृत्रिम भाषा खड़ीबोली हिन्दी को जन्म दिया और जो आज लगभग डेढ़ सौ वर्ष पुरानी है। किन्तु रामप्रसाद निरंजनी और दौलतराम की भाषा ग्रियर्सन के इस मत का पूर्णतः खण्डन करने के साथ-साथ लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' को आधुनिक साहित्यिक खड़ीबोली का सर्वप्रथम ग्रंथ (the first book written in it) भी सिद्ध नहीं होने देती। उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना शुद्ध संस्कृत शब्दों से समन्वित खड़ीबोली में की। उन्होंने किसी गिलक्राइस्ट के कहने से अरबी-फ़ारसी शब्दों को निकाल कर उनके स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं किया था। जिस समय उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना की उस समय उनके प्रदेश तक अँगरेज़ों के राज्य की सीमा का विस्तार भी न हो पाया था। अस्तु, खड़ीबोली गद्य के संस्कृतमय रूप का स्वतंत्र रूप से विकास हो रहा था। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में दाराशिकोह ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद फ़ारसी में कराए थे। फ़ारसी में अनूदित ऐसे कुछ ग्रन्थ फिर हिन्दी में अनूदित हुए। १७१९ के लगभग जन प्रह्लाद ने 'नृसिंह तापनी उपनिषद्' का इसी तरह हिंदवी (खड़ीबोली) में अनुवाद किया था। इसी प्रकार अन्य कई स्फुट उदाहरण मिलते हैं जिनसे आलोच्य काल के पूर्व के खड़ीबोली गद्य का आभास प्राप्त होता है। इस खड़ीबोली गद्य पर प्रादेशिक बोलियों और फ़ारसी के वाक्य-विन्यास का प्रभाव मिलता है। इन तथा आगे चल कर रामप्रसाद निरंजनी (१७४१) और दौलतराम (१७६१) की रचनाओं से अभी तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर, खड़ीबोली गद्य के आधुनिक रूप का स्वतंत्र सूत्रपात मान सकते हैं। इसी परम्परा में १८०० में मथुरानाथ शुक्ल ने 'पंचांग दर्शन' नामक ज्योतिष-संबंधी ग्रन्थ की रचना की। ग्रंथ का प्रारंभ उन्होंने पद्यों से किया है और भाषा ब्रज-रूपों से मिश्रित है। अठारहवीं शताब्दी के लगभग अंत में ही मुंशी सदासुखलाल ने विष्णु

पुराण के आधार पर एक गद्य-रचना ('सुखसागर') का निर्माण किया जिसका केवल थोड़ा-सा अंश मात्र ही उपलब्ध है। वे १७६४ और १८२४ के बीच जीवित रहे और कुछ समय तक (१७९३) ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरी भी की। उन्होंने किसी अँगरेज़ कर्मचारी की प्रेरणा से अपने ग्रंथ की रचना नहीं की थी। सदासुखलाल के बाद फिर इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र का स्थान आता है। पिछले दो के सम्बन्ध में 'कॉलेज के पण्डित' शीर्षक अध्याय में विचार किया गया है।

खड़ीबोली गद्य के इतिहास में इंशा का विशिष्ट स्थान है। इंशा ने 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' १८०० और १८०८ के बीच में लिखी होगी। उन्होंने अपने ग्रन्थ में रचना-काल नहीं दिया। वे लल्लूलाल और सदल मिश्र के समकालीन अवश्य थे, परन्तु अपने ग्रन्थ की रचना वे संभवतः उन दोनों से पहले कर चुके थे।

इंशा के पूर्वज समरकंद के रहने वाले थे। धन और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ये लोग पहले कश्मीर में और फिर दिल्ली में आकर बस गए थे। दिल्ली के शाही दरबार में उन्हें अच्छा सम्मान प्राप्त हुआ। उनके पिता का नाम माशाउल्लाह ख़ाँ था जो एक अच्छे हकीम और शायर थे। माशाउल्लाह ख़ाँ भी राज-दरबार में हकीम नियुक्त हुए। परन्तु उस समय मुग़ल-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। अतएव माशाउल्लाह ख़ाँ दिल्ली से मुर्शिदाबाद चले आए। वहाँ भी उनकी वैसी ही प्रतिष्ठा हुई और वहीं इंशा का जन्म हुआ। इंशा स्वभाव से चंचल और तीव्र-बुद्धि थे। बाल्यकाल से ही उन्हें कविता करने का शौक़ था।

परन्तु मुर्शिदाबाद में नवाबों की शक्ति क्षीण हो जाने के कारण इंशा को दिल्ली में शाहआलम के दरबार में आना पड़ा। यद्यपि शाहआलम अपना आलम गँवाकर झूठे शाह बने बैठे थे, तो भी काव्य-प्रेम उनमें अभी शेष था। इसलिए उन्होंने इंशा को अपने दरबार में रख लिया। इंशा बड़े ही विनोद-प्रिय थे। फुदकती हुई कविताएँ सुनाने के अतिरिक्त वे बड़ी चटपटी तथा मनोरंजक कहानियाँ उस 'आलम के शाह' को सुनाया करते थे। परन्तु शाह के धनहीन होने के कारण उन्हें आर्थिक सहायता बहुत कम मिलती थी जिससे उन्हें अपने दिन बड़े कष्ट के साथ व्यतीत करने पड़ते थे।

उसी समय अवध का नवाब आसफ़ुद्दौला मौला से भी दो हाथ ऊँचे सिंहासन पर आरूढ़ था। उसकी उदारता की प्रशंसा चारों ओर फैल रही

थी। इंशा साहब को भी उनके सामने नाक रगड़ने की सूझी। वे दिल्ली से लखनऊ आए और नवाब साहब की ख़िदमत में हाज़िर हुए। इंशा रँगीली, रसीली और मस्ती से भरी तबियत वाले और 'चंचलता में पारे के समान' थे, बस मान प्राप्त करने में अधिक विलंब न हुआ। कुछ काल व्यतीत होने पर एक दिन हँसी-हँसी में नवाब में और उनमें मनमुटाव हो गया। आत्माभिमानी तो थे ही, दरबार छोड़कर एकांतवास करने लगे। सात वर्ष के एकांत वास के पश्चात् १८१६ में वे स्वर्ग सिधारे।

जिस समय सैयद साहब लखनऊ में थे, उस समय उन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। कहानी के 'जोबन का उभार' संक्षेप में इस प्रकार है :

सूरजभान एक राजा था और लक्ष्मीवास उसकी रानी। उसके एक बेटा था जिसे सब लोग कुँवर उदयभान पुकारते थे। 'उसके जोबन की जोत में सूरज की एक सोत आ मिली थी।' उसकी 'मसें भीनती' चली जा रही थीं कि एक दिन 'अल्हड़पन' के साथ 'देखता भालता चला जाता था।' इतने में उसे एक हिरनी दिखाई दी और उसने 'सब छोड़छाड़' उसके पीछे घोड़ा फेंका। दौड़ते-दौड़ते वह एक अमराई में जा पहुँचा जहाँ 'चालीस-पचास रंडियाँ एक से एक जोबन में अगली झूला डाले पड़ी झूल रही हैं और सावन गाती हैं'। सब के साथ रानी केतकी के हृदय में उसने घर कर लिया। उदयभान ने जब बिछौना किया, तब रात को केतकी ने अपनी सहेली मदनबान से अपने 'जोड़े' से मिलाने के लिए प्रार्थना की। मदनबान केतकी के लिए वहाँ पहुँची जहाँ उदयभान सो रहा था। वहाँ दोनों में बातचीत हुई और यह पता चला कि केतकी राजा जगत प्रकाश की बेटी है और उसकी माँ रानी कामलता कहलाती है। उसी समय दोनों में 'गँठ जोड़' हुआ। फिर 'अपनी अँगूठियाँ हेर फेर' कीं और 'लिखौती' लिख दी। उदयभान ने 'एक धीमी सी चुटकी भी ले ली'। पिछले पहर रानी अपनी सहेलियों के साथ जिधर से आई थी चली गई और उदयभान अपने घोड़े पर सवार हो अपने घर पहुँचा।

परन्तु कुँवर उदयभान बहुत खिन्न रहने लगा। उसे खाना, पीना, सोना आदि कुछ भी अच्छा न लगता था। होते-होते यह बात महाराज और महारानी तक भी पहुँची। उदयभान से जब उस विषय में पूछा गया तो उसने लिखकर अपने माता-पिता को सब हाल बता दिया। महाराज ने भी कुँवर को

विश्वास दिलाया कि उदास मत हो। यदि रानी केतकी के माँ-बाप राजी से मान गए तो अच्छा है नहीं तो ढाल तलवार के ज़ोर से हम तुम्हारी दुल्हिन तुम्हें दिला देंगे। राजा ने संदेश भेजा। परन्तु उधर से प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ। बस, उदयभान के पिता ने जगत प्रकाश पर चढ़ाई कर दी। जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी तो 'रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी'। कुँवर ने चुपके से कहला भेजा कि इन दोनों को लड़ने दो, हम तुम मिलकर किसी और देश को निकल चलें। 'रानी ने चिट्ठी को अपनी आँखों लगाया' और उस चिट्ठी का उत्तर 'मुँह की पीक' से लिखकर भेज दिया।

उधर जगतप्रकाश ने अपने को अत्यंत संकट में देखकर अपने गुरु को, जो कैलाश पर्वत पर रहता था, स्मरण किया और कहा कि हमारी कुछ सहायता कीजिए। गुरु जी ने उदयभान, सूरजभान और रानी लछमीबास को हिरन हिरनी बनाकर बन में छोड़ दिया। राजा की विनती पर जोगी बहुत प्रसन्न हुआ। उसने आशीर्वाद दिया कि 'दन दनाओ, सुख चैन से रहो'! उसने राजा को एक बाघंबर और भभूत दिया और कहा कि जब 'गाढ़' पड़े तो इसमें से एक बाल फूँक देना और बात की बात में हम आ पहुँचेंगे। रहा भभूत, सो यह ऐसा है कि यदि नेत्रों में इसका अंजन करो तो अदृश्य हो जाओ।

उदयभान को न पाकर रानी केतकी अत्यंत व्याकुल हुई। वह अपनी सखी मदनबान के सामने रोने लगी। परंतु मदनबान ने उसकी सहायता न की। एक रात रानी केतकी ने आँख मिचौनी के बहाने अपनी माँ से भभूत ले ली और उसे लगा कर अदृश्य हो कुँवर उदयभान की खोज में चल पड़ी। राजा जगत् प्रकाश अपनी कन्या को न देखकर व्याकुल हुआ। उसने जोगी महेंद्रगिरि को बुलाया और सब को ढूँढ़ लाने के लिए प्रार्थना की। गुरु ने तीनों को फिर मनुष्य बना दिया और विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। समस्त भूमंडल और स्वर्ग आदि सजाए गए। अंत में दोनों का विवाह हो गया। बस—

'जी लगा कर केवड़े में केतकी का जी खिला।
सच है दोनों के जियों को अब किसी की क्या पड़ी॥'

कहानी के पढ़ने से यह ज्ञात हो जाता है कि वह लौकिक शृंगार से ओत-प्रोत है। रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल, मथुरानाथ शुक्ल, लल्लूलाल और सदल मिश्र के विषय धार्मिक और परंपरागत तथा दूसरे ग्रन्थों पर आधारित थे। विषय की दृष्टि से उनकी रचनाओं में नवीनता नहीं मिलती।

परंतु इंशा ने सर्वप्रथम खड़ीबोली गद्य-साहित्य में लौकिक शृंगारमय प्रेमाख्यान की सृष्टि की। उनसे पहले सूफ़ी प्रेमाख्यानों का पद्यबद्ध निर्माण हो चुका था। किन्तु इंशा ने गद्य का प्रयोग करने के साथ-साथ किसी धार्मिक भावना का प्रचार न किया।

इंशा की इस कहानी में अलौकिक घटनाओं का समावेश है। इसी परंपरा में उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग अन्त में तिलिस्म और ऐयारी के दर्शन हुए। यदि वे अलौकिक घटनाओं का समावेश न करते तो उदयभान और उसके माता-पिता पास ही चरते फिरते, स्वर्ग और दोनों राज्यों की सीमाएँ वीरान पड़ी रह जातीं और अंत में, स्वयं इंशा 'नाक रगड़ते' रह जाते। तब कहानी का जो सुखांत रूप हमारे सामने है, न होता। अस्तु, कथानक यद्यपि स्वाभाविक नहीं है, तो भी मनोरंजन की दृष्टि से वह बुरा नहीं लगता।

पात्र सब हिन्दू हैं। कहानी में रानी केतकी, उदयभान, मदनबान, दोनों राजा और रानी, जोगी महेन्द्रगिरि, इन्द्र और केतकी की अन्य सखियाँ पात्र-पात्रियाँ है। सब क्रियाशील हैं।

रानी केतकी राजा जगतप्रकाश की लाड़ली पुत्री है। सर्वप्रथम जब हमारा उससे परिचय प्राप्त होता है तब हम उसे नाज और अंदाज़ और नुकीली निगाह वाली असाधारण सुंदरी परन्तु साधारण स्थिति की स्त्री पाते हैं। वह 'रंडियों' के समूह में से निकल कर आती है और हम उस समय तक यह नहीं जानते कि वह एक राजा की राजकुमारी है। उसका कुंवर उदयभान से बातें करने का ढंग इस बात का द्योतक नहीं है कि वह एक राजकुमारी है। वह आरंभ से ही प्रेमिका के रूप में हमारे सम्मुख आती है। धीरे-धीरे उसका प्रेम आदर्श प्रेम में परिणत होता है और एक तीव्र रूप धारण कर लेता है। वह उदयभान के लिए चाहे जो कुछ कर सकती है। मदनबान यदि उदयभान-हरिण की खोज में सहायता करना नहीं चाहती तो न करे, केतकी स्वयं अपने 'भ्रमर' को खोजेगी। परन्तु प्रेम के इस गंभीर और तीव्र रूप में लेखक फिर एकाध ऐसी बात ले आता है कि जिससे वह प्रेम एक खिलवाड़ सा प्रतीत होने लगता है। जब दोनो राजा लड़ रहे थे, तब उदयभान ने केतकी के पास कहीं भाग चलने के लिये पत्र लिख भेजा। केतकी ने उसका उत्तर पान की पीक से लिख कर भेजा। केतकी युद्धस्थल में तो थी नहीं। वह अवश्य राजमहल में रही होगी और प्रेम-पीड़ित कुँवर के लिये थूक से चिट्ठी लिखकर भेजना कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है। संभव है लेखक की हास्य-प्रवृति

इसके मूल में हो। परन्तु प्रकृति का यह बड़ा निष्ठुर प्रयोग है। विवाह के बाद वह हमें दुल्हिन के ही रूप में दृष्टिगोचर होती है। तीन हास्यास्पद और अनुपयुक्त स्थलों को छोड़ केतकी हमारे सामने आदर्श प्रेमिका के रूप में आती है।

कुँवर उदयभान एक राजकुँवर है। वह शिकार खेलने जाता है। भिन्न-भिन्न वीरोचित कार्य करता है। शौर्य के साथ-साथ प्रेम करने में भी वह दक्ष है। अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने के लिए वह सब कुछ सहने के लिए प्रस्तुत है। परन्तु जब तक वह हरिण बना रहता है वह हमारे सामने से अदृश्य हो जाता है और अन्त में प्रेमी के रूप में अपनी प्रेमिका का अवगुंठन खोलता हुआ, उसके चांद से मुखड़े, मिस्सी लगे दांतों आदि की दाद देता हुआ और सखियों से हास-परिहास में संलग्न दृष्टिगोचर होता है।

राजा और रानी सामर्थ्यवान पिता और माता की भाँति हैं जो अपनी संतान के लिये जो चाहें कर सकते हैं। जिस उदयभान के साथ राजा जगत् प्रकाश अपनी पुत्री का विवाह न करना चाहते थे अंत में अपनी पुत्री की दशा पर विचार कर उसी के साथ विवाह कर देते हैं। सूरजभान वीर पुरुष है। वह अपनी स्थिति से नम्र नहीं होता। जगत प्रकाश तो विपत्ति पड़ने पर जोगी की शरण में चला जाता है।

मदनबान एक चतुर और बुद्धिमान सखी है। यदि वह केतकी और उदयभान के प्रेम में सहायक हो सकती है और केतकी को उदयभान से मिला सकती है, तो केतकी को इतनी मूर्खता भी नहीं करने दे सकती कि वह हरिण के पीछे-पीछे मारी-मारी फिरे। प्रेमी की दृष्टि में मदनबान का यह कार्य अवश्य खटकेगा, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसने अत्यंत बुद्धिमानी का कार्य किया। केतकी आत्म-शक्ति द्वारा उदयभान को पहचान सकती तो अवश्य पहचान लेती, नेत्रों द्वारा प्रेम के मूक आह्वान द्वारा वह उस हरिण को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती तो अवश्य कर लेती, परन्तु कितना असंभव-सा लगता है। इस समय उसके प्रेम का कसौटी पर कसे जाने का अवसर लेखक ने खो दिया।

जोगी और इन्द्र केवल कुतूहल और आश्चर्य मात्र उत्पन्न करने के लिए आए हैं। उनके समावेश का कोई धार्मिक कारण नहीं है। दूसरे कहानी को सुखांत बनाने के लिए इन दो कहानियों की सृष्टि की गई है। इन्द्र तो प्राचीन नाम है, परन्तु वह यहाँ एक ऐंद्रजालिक का सहायक चित्रित किया गया है।

वार्तालाप के लिए कहानी में कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह वर्णनात्मक है। परन्तु जहाँ पर वार्तालाप हैं, वे बड़े मनोरंजक और स्वाभाविक हैं। रानी केतकी और मदनबान का वार्तालाप स्वाभाविक और चित्ताकर्षक है।

अस्तु, कहानी के तीनों आवश्यक तत्त्वों की दृष्टि से हम इस कहानी को मध्यम श्रेणी का स्थान दें तो कोई अन्याय न होगा। नगरों के वर्णन अत्युक्तिपूर्ण हैं। वास्तव में कहानी के चरित्र-चित्रण, उसके वातावरण और उसके वर्णनों के निर्माण में लेखक की प्रवृत्ति तथा व्यक्तित्व का उत्तर-दायित्व अधिक है। अपनी फुदक और चंचलता को लेखक छोड़ नहीं सका, इससे कहीं-कहीं अनभिलषित बातों का समावेश हो गया है। कहानी में गंभीर तथ्यों की खोज बंध्यापुत्रान्वेषणवत् है।

कहानी की भाषा पर विचार करते समय यह न भूल जाना चाहिए कि इंशा ने एक प्रतिज्ञा कर उसकी रचना की थी। भाषा के जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने यह कहानी लिखी थी उसका आरंभ इस प्रकार है : 'एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उनके बीच में न हो।···हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे···।' इसमें 'भाखा' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'भाखा' से उनका आशय ब्रजभाषा या और किसी बोली से नहीं है। मुसलमान संस्कृत मिश्रित हिन्दी—साहित्यिक हिन्दी—को 'भाखा' के नाम से पुकारते थे। इंशा का आशय भी संस्कृत शब्दों के बहिष्कार करने का है। अस्तु, इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है—बाहर की बोली अर्थात् अरबी, फ़ारसी, तुरकी; गँवारी अर्थात् ब्रजभाषा, अवधी आदि; भाखापन अर्थात् संस्कृत शब्दों का मेल। इंशा ने पहली प्रतिज्ञा में शब्दों के विषय में सफलता प्राप्त की है। उन्होंने अरबी, फ़ारसी आदि के शब्दों का प्रयोग नहीं किया। परन्तु फिर भी वाक्य-विन्यास में विदेशीपन आ ही गया है, जैसे, 'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया', 'इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को,' 'रानी केतकी का चाहत से बेकल होना और मदनबान का साथ देने से नाहीं करना और लेना उसी भभूत का, जो गुरुजी

दे गए थे, और कुँवर उदैभान के वहाँ अपनी माँ रानी कामलता से' आदि। 'गँवारी' और 'भाखापन' दूर करने में लेखक को सफलता प्राप्त हुई है। वास्तव में उनकी रचना खड़ीबोली के ठेठ रूप का सफल उदाहरण प्रस्तुत करती है।

इंशा की भाषा में एक विशेषता भी है। आधुनिक हिन्दी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, परन्तु उनमें वचन नहीं होता। पुरानी उर्दू में यह बात थी। उनमें कृदंतों और विशेषणों में वचन-सूचक चिह्न लगते थे। इंशा के गद्य में ऐसे प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलते हैं। उदाहरण, 'आतियां जातियां जो साँसें हैं, उसके ध्यान बिन यह सब फाँसें हैं,' 'निवाड़ी, फूलनी, बजरी, लचकी, मोरपंखी, स्याम सुंदर, राम सुंदर और जितनी ढब की नावें थीं, सुनहरी, रुपहरी, किसी-किसी में सौ-सौ लचकें खातियां, आतियां, जातियां, ठहरातियां, फिरतियां थीं। उन सभी पर खचाखच कुंजनियां, रामजनियां, डोमिनियां भरी हुई अपने-अपने करतबों में नाचती, गाती, बजाती, कूदती, फाँदती धूमें मचातियां, अंगड़ातियां, जम्हातियां, उँगलियां नचातियां और ढुली पड़तियां थीं,' 'घरवालियां जो किसी मेल से बहलातियां हैं' आदि।

शैली के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है: 'अपनी कहानी का आरम्भ ही उन्होंने इस ढँग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।' वास्तव में इंशा की लेखनी बड़ी चुलबुली है। उसमें गांभीर्य नहीं, कूद-फाँद है। अक्षर-अक्षर, शब्द-शब्द में एक प्रकार की फुदक है जो हिन्दी गद्य के बाल्यकाल में एक आश्चर्यजनक बात थी।

इंशा जिस बात को कहना चाहते हैं उसे सीधे-साधे ढंग से न कहकर घुमा फिरा कर कहते हैं। अपनी भाषा में बिना उपमा और रूपकों का प्रयोग किए, बिना नमक मिर्च लगाये, वे किसी बात को कहना ही नहीं जानते। जैसे, 'मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुँझला कर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़बोला नहीं जो राई को परबत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोल कर उँगलियां नचाऊँ और बे-सिर बे-ठिकाने की उलझी सुलझी बातें पचाऊँ। जो मुझ से न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता' या 'दहना हाथ मुँह पर फेर कर आप को जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान

का घोड़ा जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।'

अपने भावों और विचारों को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने मुहावरों का प्रयोग किया है। इससे इंशा के गद्य में सजीवता ही नहीं आई वरन् एक प्रकार का रँगीलापन भी आ गया है। 'जैसा मुह वैसा थप्पड़', 'छाती के किवाड़ खुलना', 'हिचर मिचर न रहे', 'आठ-आठ आँसू रोना', 'कुछ दाल में काला है', 'भरभर झोली सिर निहुराना', 'सिर मुड़ाते ही ओले पड़े' आदि मुहावरों के अत्यंत सुंदर प्रयोग हैं।

इंशा ने जिस विषय को उठाया है उसका वर्णन जी भर कर किया है। यदि किसी प्रसंग या वस्तु या दृश्य का वर्णन थोड़े से शब्दों में हो सकता है तो इंशा उससे और भी अधिक शब्दों का प्रयोग कर उसका वर्णन करते हैं। इसमें वे पाठक के मनोरंजन के सदुद्देश्य से प्रेरित होते हैं। वे नहीं चाहते कि हम जो कुछ लिखें वह दूसरों को नीरस प्रतीत हो। उदाहरणार्थ, 'हमें ऐसी क्या पड़ी जो इस घड़ी ऐसी झेल कर रेल पेल ऐसी उठें और तेल फुलेल भरी हुई उनके झाँकने को जा खड़ी हों' या 'केतकी का भला लगना लिखने पढ़ने से बाहर है। वह दोनों नैनों की सजावट और पुतलियों में लाज की सजावट और नुकीली पलकों की रूँधावट हँसी की लगावट और दन्तरियों में मिस्सी की ऊदाहट और इतनी सी बात पर रुकावट है।' इन बातों को लेखक साधारण रूप से भी कह सकता था। परन्तु फिर उसके वैचित्र्य और सरसतापूर्ण स्वभाव का विकास कैसे होता?

लेखक की इस प्रवृत्ति का और भी उत्तम विकास उसके शब्द-चित्रों में मिलता है। अपने शब्द-भांडार की शक्ति से, अपनी भाषा को विषयानुकूल ढाँचे में ढालने की शक्ति से, लेखक ने दृश्यों के सजीव चित्र खींच दिये हैं। एक प्रारंभिक गद्य-लेखक की भाषा में इतनी अभिव्यंजनात्मक शक्ति का होना असाधारण बात है। इंशा की प्रतिभा और मेधा शक्ति ही इस कार्य में सफल हो सकती थी। इन शब्द-चित्रों में शब्दों का चयन ही विशेष महत्त्वपूर्ण विषय है। उन शब्दों को वहाँ से निकाल दीजिए तो लेखक की भाषा का सौंदर्य जाता रहेगा। साथ ही शब्दों की सरसता पर ध्यान देना भी आवश्यक है। जैसे "चप्पाचप्पा कहीं ऐसा न रहे जहाँ भीड़ भड़क्का धूम धड़क्का न हो जाय, 'डोमनियों के रूप में सारंगियाँ छेड़-छेड़ सोहैली गाओ। दोनों हाथ हिला के उँगलियाँ नचाओ। जो किसी ने न सुनी हो, वह ताव-भाव, वह चाव दिखाओ;

उन पद्यों में काव्य का विशेष चमत्कार नहीं है। वस्तु का सीधा वर्णन छंदोबद्ध रूप में मिलता है। जैसे,

'रानी को बहुत सी बेकली थी।
कब सूझती कुछ बुरी भली थी॥
चुपके चुपके कराहती थी।
जीना अपना न चाहती थी॥'

इन पद्यों में लेखक ने मुहावरों का प्रयोग भी किया है। कहीं-कहीं गद्य में कही गई एक बात वह फिर पद्य में कह डालता है। जैसे, गद्य में वह कहता है—'गले लग के ऐसी रोइयाँ जो पहाड़ों में कूक सी पड़ गई।' फिर पद्य में :

'छा गई ठंडी साँस झाड़ों में।
पड़ गई कूक सी पहाड़ों में॥'

कहानी का आरंभ और अन्त भी पद्य में है। आरंभ में लेखक ने कहानी की भाषा के विषय में लिखा है और अन्त में रानी केतकी और उदयभान के प्रेम के विषय में। आरंभ में कहानी की भाषा की प्रकृति के विषय में इंशा कहते हैं :

'यह वह कहानी है कि जिसमें हिन्दी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥'

इन पद्यों के विषय में यह ध्यान रखने योग्य है कि वे सब उर्दू के वातावरण से संवेष्टित हैं। इंशा उर्दू के कवि थे, इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इंशा के गद्य को पढ़कर हम लेखक की ओर आकृष्ट होते हैं। उनके गद्य में घनिष्ठता है; वह कुतूहल-वर्द्धक है। 'शैली ही मनुष्य है', इंशा के गद्य के संबध में यह उक्ति पूर्णतः चरितार्थ होती है।

'रानी केतकी की कहानी' को पढ़ते समय लेखक के भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञान के संबंध में परिचय प्राप्त होता है। कहानी का रचयिता यह जानता है कि किस प्रकार वेश्याएँ अपने हाव-भाव प्रकट करती हैं, कितने प्रकार की नावें होती हैं, राग-रागनियाँ कितने प्रकार की होती हैं। फूलों और स्त्रिय के शृंगार की वस्तुओं के नाम से वह परिचित है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इंशा मुसलमान होकर भी हिंदुओं की पौराणिक कथाओं का ज्ञान

रखते थे। उन्होंने 'मच्छ, कच्छ, वाराह', 'परशुराम', 'हरनाकुस', 'राम लछमन सीता', 'कन्हैया' और उनका अष्टमी को जन्म लेना, 'गोकुल', 'राधा', 'मुरली', 'गोपी', 'कुंज', 'बंसीवट', 'बृंदावन', 'वासुदेव', 'द्वारका', 'ऊधो' आदि पौराणिक नामों का उल्लेख किया है। राजा 'इन्दर' और जोगी ऐंद्रजालिक के रूप में आए हैं। 'ऐरावत हाथी' भी झूलता हुआ चला आता है। 'भरथरी का स्वाँग हुआ मछंदर नाथ भागे'। हिंदुओं की विवाह-रीतियों का भी उन्हें ज्ञान था। सच बात तो यह है कि इंशा की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। सुबोध, सजीव और रोचक भाषा में कहानी लिखकर, इंशा ने एक सुन्दर गद्य-प्रणाली की नींव डाली। उन्होंने गद्य का वह रूप सामने रक्खा जो उन्हें उनके समकालीनों, लल्लूलाल और सदल मिश्र, से अधिक उच्च आसन दिलाता है। उनकी कृति 'हिंदी गद्य की विकास-लड़ी की एक सुन्दर और चमकती हुई कड़ी है।' खड़ीबोली गद्य-परम्परा में इंशा का वही स्थान है जो हिन्दी काव्य के आदि काल में अमीर खुसरो का।

उपर्युक्त लेखकों द्वारा रचित खड़ीबोली गद्य के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं :

> 'जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है॰ जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं॰ इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करैं हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं॥ जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं॥'[1]

> "...प्रथम विवाह मो कन्या को बृहस्पति का बल विचार लेना तिसका विचार पूर्व बालक के यज्ञोपवीत मो कहा है। इसी रीत सो कन्या को विचारना ॥ और पुत्र को सूर्य का बल विचार लेना। सो सूर्य लड़की के जन्म राश ते तृतीय षष्ट दशम एकादश उत्तम है॥ और द्वितीय पंचम सप्तम नवम मध्यम है सो पूजा करके शुभ है॥ और चतुर अष्टम द्वादश निषिद्ध है॥ और लड़की लड़के को चंद्रमा शुद्ध विचार लेना।...'[2]

१—दौलतराम: 'जैन पद्म पुराण' (१७६१), पृ० १

२—मथुरानाथ शुक्ल : 'पंचांग दर्शन' (१८००), पृ० २५

'प्रसिद्ध योनि हैं ॥ सुर देवता असुर दैत्य संज्ञा है ॥ जो कहिये असुर दैत्य हैं इस बात में दूषण है ॥ कंस दैत्य न था मनुष्य था ॥ श्रीकृष्ण का मामा उग्रसेन का बेटा था ॥ तो इससे समझिये कि स्वभाव असुर हैं मनुष्य होय कि अथवा देवता दैत्य होय ॥ जिसमें तमोगुण विशेष वही असुर है ॥ कोई क्यों न होय ॥ प्रह्लाद दैत्य था ॥ परन्तु स्वभाव उसका सतोगुणी था ॥ उसे सुर जानना चाहिये ॥ दुर्वासा ब्रह्मऋषि हैं ॥ स्वभाव तमोगुणी है ॥ उसे असुर जानना चाहिये ॥...'[1]

'एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए। सिर हिलाकर मुँह थुथा कर, नाक भौंहें चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने— यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।...'[2]

इंशा की भाषा पर विस्तार से विचार किया जा चुका है। अन्य गद्य-लेखकों की भाषा की परीक्षा करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह ब्रज-भाषा शब्दों और रूपों से बच नहीं पाई। प्रारंभ में गद्य की भाषा काव्य की भाषा से प्रभावित रहती ही है, विशेष रूप से उस समय जब कि ब्रजभाषा-काव्य की परम्परा कई शताब्दियों से चली आ रही थी। साथ ही वह व्यवस्थित और सुगठित रूप में भी नहीं मिलता। धार्मिक विषयों से सम्बन्धित होने के कारण उसमें पंडिताऊपन आए बिना न रह सका। इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी खड़ीबोली गद्य ब्रजभाषा तथा राजस्थानी गद्य की अपेक्षा अधिक सशक्त था। खड़ीबोली गद्य की यह शक्ति उस समय और भी चमक उठती है जब उसकी गद्य-परम्परा ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य-परम्पराओं की भाँति अति प्राचीन काल से

१—सदासुखलाल : 'सुरासुर निर्णय' (?), लिपिकाल १९०७

२—इंशा : 'रानी केतकी की कहानी' (ना० प्र० सभा संस्करण), पृ० २-३

चली आ रही नहीं मिलती। इन सब में भाषा, भाव और विषय की दृष्टि से इंशा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेकिन तब भी इंशा सहित अन्य सभी लेखकों की भाषा की सीमाएँ थीं। यदि इंशा की भाषा हल्के और मनोरंजक विषयों के लिए उपयुक्त थी, तो अन्य लेखकों की भाषा धार्मिक विषयों के लिए। राजनीतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक, उपयोगी तथा अन्य अनेक प्रकार के विषयों के लिए उपयुक्त माध्यम के रूप में खड़ीबोली का विकास अभी होने को था।

इ. खड़ीबोली गद्य का विकास

७

ईस्ट इंडिया कंपनी की भाषा-नीति

शासन-सूत्र हाथ में आ जाने के बाद राज्य के हित के लिए, उसके सुचारु-रूप से संचालन के लिए, शासकों और शासितों में सम्पर्क बढ़ना बहुत ज़रूरी था। यह मानी हुई बात है कि इस संपर्क को बढ़ाने और शासितों की देख-भाल और उनके साथ न्याय बरतने की गुंजायश देशी भाषाओं और रीति-रस्मों का ज्ञान प्राप्त करने पर ही हो सकती थी। रीति-रस्मों का ज्ञान भाषा के माध्यम द्वारा ही विशेषकर हो सकता है। इस दृष्टि से भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान ठहरता है। भाषा का प्रश्न उठने पर अधिकारियों के सामने उसे हल करने के दो मार्ग थे। एक तो जनता अँगरेज़ी भाषा सीखती और उसके और सरकार के बीच तमाम लिखा-पढ़ी इस भाषा के माध्यम द्वारा होती। दूसरे अँगरेज़, जो संख्या में बहुत थोड़े थे, जनता को अपनी (अँगरेज़ों की) भाषा सीखने पर बाध्य करने के बजाय स्वयं जनता की भाषा सीखते। इसमें अधिकारियों के धन की बचत ही नहीं थी, वरन् स्वयं जनता को, जो निर्धन और पीड़ित थी, एक विदेशी भाषा सीखने के लिए अवसर और समय भी नहीं था। इस संबंध में जो भाषाएँ और लिपियाँ उनके सामने आईं वे निम्नलिखित हैं :

(१) अँगरेज़ी भाषा;

(२) संस्कृत, अरबी और फ़ारसी भाषाएँ;

(३) लोकभाषाएँ;

(४) रोमन लिपि;

(५) फ़ारसी लिपि; और

(६) देवनागरी लिपि।

ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाषा-नीति समझने के लिए एक-एक करके इन सब पर विचार कर लेना समीचीन होगा।

यह तो निर्विवाद है कि कम्पनी-सरकार अँगरेज़ी को राजभाषा बनाना चाहती थी जो बिल्कुल स्वाभाविक था और धीरे-धीरे वह इस ओर बढ़ भी रही थी। लेकिन शुरू में बहुत दिनों तक कम्पनी ने अँगरेज़ी या देशी शिक्षा की ओर ध्यान न दिया। प्राचीन काल से भारत में उच्च से उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। मुसलमानी काल में भी हिंदुओं और मुसलमानों की शिक्षा क्रमशः पंडितों और मौलवियों के हाथ में थी। अँगरेज़ी शासन-काल के आरम्भ में यह शिक्षा-संगठन टूट चुका था। तब भी शिक्षा का आदर बना हुआ था।[1] लेकिन अब वह समयानुकूल न रह गई थी। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। ज्ञान-विज्ञान की दिन-प्रति-दिन उन्नति हो रही थी। ऐसी दशा में केवल धार्मिक और प्राचीन ढंग की शिक्षा से काम न चल सकता था। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान तथा अन्य अनेक विषयों का—जिनका ज्ञान सामाजिक और जातीय प्रगति के लिए अनिवार्य था—अँगरेज़ी भाषा में भांडार भरा हुआ था। इस दृष्टि से संस्कृत, अरबी और फ़ारसी से अँगरेज़ी की ही उपयोगिता अधिक थी। लेकिन ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप वारेन हेस्टिंग्ज़ (१७७४-१७८५) और बंबई के गवर्नर जॉनेथन डंकन (१७९५-१८११) ने हिन्दू और मुसलमानों को क्रमशः संस्कृत और फ़ारसी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का प्रबंध किया। पहले-पहल १८१३ में पार्लामेंट ने ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिए एक लाख रुपये की मंज़ूरी दी थी। परन्तु इससे उनको कुछ लाभ पहुँचा प्रतीत नहीं हुआ। १८१६ में डेविड हेअर ने राजा राममोहन राय की सहायता से कलकत्ते में अँगरेज़ी शिक्षा देने के लिए एक स्कूल की स्थापना की। १८२४ में स्टुअर्ट

१—We know so little about the people, that the majority are, perhaps, unacquainted with the facts that for one school or college, in any way supported by the English, there are at least a hundred, including village schools, supported by the people without any connexion with us, to say nothing of the immense number of children who are taught privately in their parents' house.'—ऑनरेबुल फ्रेडेरिक जॉन शोर : 'नोट्स ऑन इंडिया अफ़ेयर्स', जि० २, पृ० ५

तथा उपयोगी विषयों की शिक्षा पर ख़र्च करने के बजाय रुपया संस्कृत और फ़ारसी के पिछड़े हुए ज्ञान पर हुआ है जिससे जनता को कोई लाभ पहुँचने की संभावना नहीं है। वह अँगरेज़ी भाषा और शिक्षा द्वारा भारतवासियों की विचार-धारा बिल्कुल अँगरेज़ों की सी बना कर उन्हें सभ्यता के मार्ग पर आगे ले जाना चाहता था। इस उद्देश्य को लेकर १८३४ में कम्पनी की शिक्षा-नीति फिर बदली। सरकार ने अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया। १८३५ में गवर्नमेंट का प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। १८४४ में हार्डिंज का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ कि नौकरियाँ अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को दी जाएँ। इस के बाद १८५३ के नए चार्टर तक अँगरेज़ी का काफ़ी प्रचार हुआ।

लेकिन अंत में बात केवल अँगरेज़ी के पक्ष-समर्थकों के मन के मुताबिक़ न हुई। भारतीय जनता पिछड़ी हुई ज़रूर थी, किन्तु उसके पास अपनी भाषा और अपना साहित्य मौजूद था। ऐसी हालत में देश के अपार जनसमूह पर एक विदेशी भाषा लादने का इरादा करना अव्यावहारिक ही नहीं वरन् अन्यायपूर्ण भी था। ऑनरेबुल फ़्रेडेरिक जॉन शोर, ड्रमंड आदि जैसे समझदार अँगरेज़ों ने ऐसी अव्यावहारिक आयोजनाओं का हमेशा विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि धनीमानी व्यक्तियों ने जिनके पास समय और साधन दोनों ही थे, अँगरेज़ी द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की। ऐसे व्यक्ति उँगलियों पर गिने जा सकते थे। वैसे भी इन चार्टरों से पहले ही वे लोग इस ओर तत्पर थे। लेकिन जन-साधारण के लिए उसकी भाषाओं में ही अँगरेज़ी ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित कराने का उपक्रम किया गया। सार्वजनिक शिक्षा-समिति के अंतर्गत कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (१८१७) और मिशनरियों द्वारा स्थापित आगरा स्कूल बुक सोसायटी (१८३३ के लगभग) ने इस ओर सराहनीय कार्य किया।

शिक्षा के साथ-साथ अँगरेज़ी के पक्ष-समर्थकों ने यह कोशिश भी की कि अदालत की भाषा अँगरेज़ी हो जाय। इसके कई कारण थे। उनके अनुसार फ़ारसी लोगों की समझ में न आती थी। उनका यह कहना बिल्कुल ठीक था। इसलिए वे अदालतों में अँगरेज़ी का प्रचार देखना चाहते थे। साथ ही अँगरेज़ कर्मचारी, सौदागर, आदि, जो संख्या में बहुत थोड़े थे, यह चाहते थे कि उनके देशी भाषाओं के सीखने के स्थान पर देश उनकी भाषा सीखे, ताकि वे एक व्यर्थ की मेहनत से बच जायँ। कुछ लोगों का कहना

था कि फ़ारसी अँगरेज़ अफ़सरों की समझ में अच्छी तरह न आने के कारण हर एक सरकारी विभाग में बहुत सी बुराइयाँ पैदा हो गई हैं और उन्हें दूर करने के लिए अदालतों की भाषा अँगरेज़ी कर देनी चाहिए जिससे अफ़सर लोग कार्यवाही पूरी तौर से समझ सकें। यहाँ पर यह बता देना अनुचित न होगा कि यद्यपि फ़ारसी अदालत की भाषा थी और अमले इसी का प्रयोग करते थे, लेकिन अँगरेज़ हाकिम और जज अँगरेज़ी भाषा का प्रयोग करते थे।

ऑनरेबुल फ़्रेडेरिक जॉन शोर ने उपर्युक्त आपत्तियों का बड़ी सचाई और दिलेरी के साथ निराकरण किया है। उनका कहना है कि 'यदि फ़ारसी जन-साधारण की समझ में नहीं आती तो अँगरेज़ी ही उनकी समझ में कब आती है। उनके लिए दोनों ही विदेशी भाषाएँ हैं और दोनों ही को वे नहीं समझ पाते। जो अँगरेज़ अपनी सहूलियत के ख़याल से अँगरेज़ी प्रचलित करना चाहते हैं उनसे मेरा कहना है कि यह बात न केवल उल्टी है वरन् बिल्कुल अन्यायपूर्ण है। दरिद्र और पीड़ित जनता को एक विदेशी भाषा सीखने के लिए बाध्य करना समझ का फेर है। उसमें सफलता प्राप्त होने की कोई आशा नहीं है। रही सरकारी विभागों में से बुराइयाँ दूर करने की बात सो उससे न तो शासकों और शासितों के बीच की खाई पट पाएगी, न बुराइयाँ दूर हो सकेंगी, और न न्याय ही बरता जा सकेगा। इस समय कम्पनी के बहुत कम भारतीय नौकर अँगरेज़ी जानते हैं। कलकत्ते से बाहर भी लोगों का अँगरेज़ी का ज्ञान बहुत कम है। और फिर हिंदुस्तानी से अनभिज्ञ सिविलियन अँगरेज़ उन्हीं भारतीयों को नौकर रखना पसंद करेंगे जो अँगरेज़ी जानते हैं। साहबों की सहूलियत की वजह से उनका वहाँ एकाधिपत्य हो जाने की आशंका है। फिर दुभाषियों को रखने की जिस प्रथा को हम मिटाना चाहते हैं वह ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ी न जानने वाले तमाम नौकर हमें निकाल देने पड़ेंगे। उनकी जगह कौन लोग रक्खे जाएँगे? कलकत्ते के या मामूली अँगरेज़ क्लर्क सब काम नहीं कर सकते। वे ऑफ़िस के सब कामों से अच्छी तरह परिचित नहीं है। अच्छी तरह अँगरेज़ी जानने वाले जो लोग हैं वे मालदार हैं और नौकरी करना कभी पसंद न करेंगे। कलकत्ता छोड़ कर भी वे ही क्लर्क बाहर जाएँगे जो बहुत ग़रीब हैं। उत्तर-पश्चिम प्रदेश में आया हुआ ऐसा क्लर्क न तो ठीक तरह अँगरेज़ी ही लिख-पढ़ सकेगा, और न हिंदुस्तानी ही। पेंशन पाने वाले सिपाहियों और जहाज़ियों को भी रखने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वे केवल

नक़लें कर सकते हैं, समझ की उनमें कमी है। लेकिन अँगरेज़ी के अदालती भाषा हो जाने से सब से बुरा असर हाकिमों और जनसाधारण के बीच के संबंध पर पड़ेगा। उन दोनों के बीच एक ज़बरदस्त खाई बन जायगी। और अँगरेज़ तिजारतियों की दिक़्क़त वैसी ही है जैसी उनको रूस, जर्मनी, या फ्रांस जाने पर होगी। उन्हें यहाँ किसी ने बुलाया तो नहीं था। वे स्वयं धनोपार्जन के लोभ से यहाँ आए हैं। उस पर भी वे यह चाहते हैं कि उनकी आसानी के लिए करोड़ों आदमियों पर एक व्यर्थ का बोझ लाद दिया जाय। ये सब बातें कभी न्याय-संगत नहीं मानी जा सकतीं। वास्तव में हम भारतवासियों को जंगली और जाहिल समझते हैं। परन्तु ऐसा समझना या उन पर एक विदेशी भाषा लाद देना हम जैसे सभ्य जाति के लोगों को शोभा नहीं देता।"[1]

नौकरी करने वालों की बात छोड़ दीजिए। जीविका-निर्वाह के लिए वे चाहे जिस भाषा को सीख सकते थे और सीखते हैं। सरकार चाहती तो अपनी राज्य-शक्ति के बल पर वह हर एक भारतीय बच्चे को अँगरेज़ी सीखने और लिखने-पढ़ने के लिए बाध्य कर सकती थी। लेकिन यह बिल्कुल असंभव था। यह उस समय संभव हो सकता था जब कि भारतवासियों के पास अपना कुछ न होता और वे जंगली होते। इसलिए अँगरेज़ी का राग अलापने वाले लोगों का मनचाहा न हो सका। संस्कृत, अरबी और फ़ारसी पर तो ज़रूर अँगरेज़ी को तरजीह दी गई और साथ ही वह राज-भाषा और उच्च शिक्षा का माध्यम भी बनी रही। लेकिन सरकार ने लोकभाषाओं का स्थान अँगरेज़ी को देने का प्रयत्न कभी न किया। १८३७ के रेग्यूलेशन के अनुसार अदालतों से फ़ारसी हट जाने पर लोकभाषाओं को उसका स्थान दिया गया।

एक ओर यदि अँगरेज़ी भाषा का प्रचार करना अन्यायपूर्ण था, और उससे भारतीय जन-समाज के हित की कोई संभावना नहीं थी, तो दूसरी ओर संस्कृत, फ़ारसी और अरबी भी मृत भाषाएँ हो चुकी थीं। संस्कृत यद्यपि इसी देश की भाषा थी, परन्तु शताब्दियों पहले से वह जनता की भाषा न रह गई थी। हाँ, जनता का उससे सांस्कृतिक संबंध अवश्य था, उसके आध्यात्मिक जीवन के लिए संस्कृत कामधेनु के समान थी। जनता को छोड़ कर संस्कृत भाषा विद्वान् पंडितों के पठन-पाठन का विषय बराबर बनी हुई थी। अरबी

१—देखिए, [illegible] : 'नोट्स ऑन् इंडिया अफ़ेयर्स', भाग १, [illegible]।

और फ़ारसी विदेशी भाषाएँ थीं। विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ इन दोनों भाषाओं का आगमन भी इस देश में हुआ और सरकारी काम-काज फ़ारसी में होने लगा।[1] जीविका-निर्वाह के लिए अनेक भारत-वासियों ने भी अरबी-फ़ारसी का अध्ययन किया। परन्तु मुग़ल-साम्राज्य के पतन के बाद उनका प्रचार भी बहुत कम हो गया था और वे केवल उच्च श्रेणी के मुसलमान वंशों में अध्ययन की चीज़ रह गई थीं। उन्नीसवीं शताब्दी में तो उनका अध्ययन और कम होता जा रहा था। अस्तु, शिक्षा की दृष्टि से संस्कृत, अरबी और फ़ारसी भाषाएँ अव्यावहारिक ठहरीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन तीनों भाषाओं के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का प्रयत्न निष्फल हुआ। १८१३ के चार्टर के अनुसार भारतवासियों के ज्ञान की वृद्धि के लिए जो शिक्षा-योजना तैयार की गई उससे कोई लाभ न हुआ। काव्यादि की दृष्टि से तो ये भाषाएँ संसार की किसी भाषा से टक्कर ले सकती थीं, लेकिन विज्ञान, भूगोल, इतिहास, राजनीति आदि के ज्ञान की वृद्धि के लिए वे अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सकीं। अँगरेज़ जिस पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को लेकर यहाँ आए उसकी अभिव्यक्ति के लिए उनमें वैज्ञानिक शब्दावली का भी यथेष्ट अभाव था। इन सब बातों को सोचते हुए न केवल अँगरेज़ी के पक्ष समर्थकों ने वरन् हिंदुस्तानी के प्रेमियों ने भी उसका विरोध किया। हिंदुस्तानी-प्रेमियों का कहना था कि यह तो ठीक है कि अँगरेज़ी भाषा में ज्ञान-विज्ञान का भांडार प्रचुर मात्रा में है और भारतवासियों की नैतिक और मानसिक प्रगति के लिए उसका ज्ञान परमावश्यक है, परन्तु यदि अँगरेज़ी भारतीय जनता के लिए विदेशी भाषा है, तो संस्कृत, फ़ारसी और अरबी भी उनके लिए वैसी ही कठिन, दुरूह और अप्रचलित हैं, जिस प्रकार अँगरेज़ी-भाषा-भाषियों के लिए ग्रीक और लेटिन। इसलिए जिन लोगों के पास अवकाश और धन है वे अँगरेज़ी के माध्यम द्वारा ही अपने ज्ञान की वृद्धि करें, परन्तु, जनसाधारण के लिए अँगरेज़ी ग्रंथों के हिंदुस्तानी-रूपांतर प्रकाशित करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। जो प्राच्यविद्या-विशारद संस्कृत और अरबी-फ़ारसी की शिक्षा पर ही ज़ोर दे रहे थे, उनके विरुद्ध यह आवाज़ उठाई गई कि अपनी संस्थाओं को वे अपने धन से चलावें। सरकार उनके

१—जनसाधारण की भाषा हिन्दी की उपेक्षा तो मुसलमान शासक भी न कर सके थे—दे० नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'राधाकृष्ण ग्रंथावली' में 'मुसलमानी दफ़्तरों में हिन्दी' शीर्षक लेख।

लिए कोई आर्थिक सहायता न दे।[1] १८३४ के चार्टर के बाद संस्कृत, अरबी, और फ़ारसी शिक्षा का द्वार हमेशा के लिए बन्द हो गया।

जिस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी ने देश के भूमि-भागों पर अधिकार जमाना शुरू किया उस समय अदालतों और दफ़्तरों की भाषा फ़ारसी थी। दिल्ली दरबार में इसी भाषा का प्रयोग होता था। इस नाते कम्पनी-सरकार ने भी उसे बनाए रक्खा। परन्तु अब वह देश की भाषा नहीं थी। दिल्ली दरबार की अवनति के साथ-साथ फ़ारसी-भाषा का प्रचार कम हो चला था। उसका अध्ययन केवल थोड़े से उच्चवंशीय मुसलमानों और उन हिंदुओं में होता था जिन का संबंध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकर थे। उच्च श्रेणी के लोगों के सामने सरकारी नौकरी का कोई सवाल नहीं था। इसलिए जिनका संबंध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकरी करते थे, या करना चाहते थे, वे ही फ़ारसी का विशेष रूप से अध्ययन करते थे। देश में ऐसे लोगों की संख्या काफ़ी थी। परन्तु देश की अपार जन-संख्या के सामने यह संख्या बहुत कम थी। और फिर नौकरी करने वाले तो कचहरियों और दफ़्तरों में कोई भी भाषा हो जाने पर उसे सीख लेते हैं। ऐसी हालत में नौकरी करने वाले जिस भाषा को लिखें-पढ़ें उसको पराधीन देश की भाषा घोषित कर देना ठीक न होता। गिलक्राइस्ट ने भारतवर्ष आने पर भाषा-सम्बन्धी गड़बड़ी की ओर सरकार का ध्यान दिलाया। लेकिन हिंदुस्तानी की महत्ता स्वीकार कर लेने पर भी कम्पनी ने फ़ारसी को अदालतों और दफ्तरों में बनाए रक्खा। वह इसलिए कि उसके शासन का सूत्रपात होने पर फ़ारसी का ही रिवाज़ था और केवल रूढ़ि के रूप में वह उसे बनाए रखना चाहती थी, फिर चाहे वह

१—'It is to be hoped that Government will shut its ears to the attempts now made by a few individuals learned in oriental lore, to appropriate any part of the small sums destined for the education of the people, to the purpose of teaching Persian, Arabic, or Sanscrit. There is not in all three languages, any knowledge that will be useful to the people at large. If that learned body are so fully satisfied of the importance of these studies to native education, let them exert themselves, and stimulate those natives who are of the same opinion, to support institutions for the purpose, at their own cost.'—ऑनरेबुल फ़्रेडरिक जॉन शोर: 'नोट्स ऑन इंडियन अफ़ेयर्स', भाग २, १८३७, पृ० ३४०

संक्षेप में, कम्पनी-सरकार की भाषा-नीति का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है कि वह अँगरेज़ी को राजभाषा बनाना चाहती थी। और धीरे-धीरे वह इस ओर बढ़ भी रही थी। परन्तु दिल्ली-दरबार के नाते उसे फ़ारसी को भी स्थान देना पड़ा। देश में फ़ारसी भाषा और साहित्य का ज्ञान थोड़ा-

बहुत प्रचलित था। इसलिए अपनी भाषा-नीति में कम्पनी को फ़ारसी की व्यवस्था करने में कोई अड़चन पैदा न हुई। मार्क्विस वेलेज़ली हिन्दुस्तानी के कट्टर पक्षपाती थे। लेकिन दफ़्तरों की भाषा उन्होंने भी फ़ारसी रहने दी, यद्यपि फ़ारसी पूरी तौर से न समझी जा सकने के कारण हिन्दुस्तानी का प्रयोग भी होता था। फ़ारसी भाषा का विरोध बढ़ जाने पर अंत में १८३७ में निश्चित रूप से उसका स्थान लोकभाषाओं को दिया गया।[1]

शिक्षा-क्षेत्र के संबंध में तो इतना कह देना ही काफ़ी होगा कि लोक-भाषाओं में अँगरेज़ी पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित कराने और उनके माध्यम द्वारा देश के विभिन्न भागों में शिक्षा का प्रचार-कार्य श्रीरामपुर मिशनरियों, कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी (१८१७) और आगरा स्कूल बुक सोसायटी (१८३३ के लगभग) द्वारा हुआ। जहाँ तक हमारा उनसे संबंध है उन्होंने हिन्दी[2] में अनेकानेक उपयोगी साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें प्रकाशित कीं, और हिन्दी को ही प्रधानता दी। अल्प-संख्यक समुदाय की भाषा होने के कारण उन्होंने हिन्दुस्तानी में भी पुस्तकें प्रकाशित कीं।

यहाँ पर विचारणीय यह है कि साहबों को सिखाने और अदालतों और दफ़्तरों के काम के लिए कम्पनी ने जिस देशी भाषा को चुना वह हिन्दुस्तानी थी या हिन्दी।

कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों को छोड़ कर भारतवर्ष में आने के बहुत दिनों बाद तक अँगरेज़ों ने देशी भाषाओं और रीति-रस्मों आदि का ज्ञान प्राप्त करने की कोई चेष्टा न की। कम्पनी के राज्य का शासन-प्रबंध उन कर्मचारियों के हाथ में था जो सोलह वर्ष की अवस्था में ही भारतवर्ष चले आते थे। उनकी भाषा तथा रीति-रस्म-विषयक अनभिज्ञता के कारण मालगुज़ारी और फ़ौजी विभागों का काम अच्छी तरह न हो पाता था। ऐसी हालत में साम्राज्य के बहुत जल्दी हाथ से निकल जाने की आशंका थी। ब्रिटिश राज्य की नींव डालने वाले रॉबर्ट क्लाइव (१७४३-१७६७) का ध्यान देश से धन बटोरने में लगा रहा। उसने राज्य-संबंधी विधान और शासन-सुधारों की ओर अधिक ध्यान न दिया। वह कम्पनी के कर्मचारियों की दशा सुधारने और उनके देश-

---

१—[illegible] [illegible], ४ [illegible], १८३७—१८३७ का ऐक्ट २९

२—यहाँ हिंदी का आधुनिक अर्थ में प्रयोग किया गया है, न कि गिलक्राइस्टी अर्थ में।

१—The Civil Servants of the English East India Company, therefore, can no longer be considered as the agents of a commercial concern...and with the political and commercial interests of Great Britain in Asia......आदि। देखिए, वेलेज़्ली कृत फोर्ट विलियम कालेज के विषय में 'मिनिट इन कौंसिल', १८ अगस्त, १८००।

२—'ए० टी० १८०० रेग्यूलेशन ९। १० जुलाई, १८०० का छपा हुआ ओरिजिनल कंसल्टेशन (ओ० सी०) नं० २०, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट। (अब नेशनल आर्काइव्ज़)

ईस्ट इंडिया कम्पनी की हिन्दुस्तानी के रूप और अर्थ पर विचार करने से पहले हिन्दुस्तानी भाषा के दो अर्थ समझ लेना ठीक होगा। कम्पनी के राजत्व-काल में हिन्दुस्तानी भाषा का एक शास्त्रीय अर्थ मिलता है, और दूसरा व्यावहारिक अर्थ। शास्त्रीय अर्थ में हिन्दुस्तानी से सदा हिन्द की मूल जनता की उस भाषा से तात्पर्य था जिस में ठेठ (हिन्दी) शब्दों का अत्यधिक प्रयोग होता था और जो न तो शुद्ध संस्कृत की शब्दावली से आक्रांत रहती थी और न अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लदी हुई। इस अर्थ के अनुसार प्रायः 'हिन्दवी' या 'हिन्दुई' भी हिन्दुस्तानी के अंतर्गत रख दी जाती थी। हिन्दी और उर्दू इसी मूल हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप थे और हैं। यही मूल हिन्दुस्तानी सब से अधिक समझी और बोली जाती थी और अब भी समझी और बोली जाती है। अंतर केवल इतना ही है कि हिन्दी अन्य भारतीय भाषाओं की तरह सब प्रकार से देश की भाषा है, किन्तु उर्दू का धड़ तो भारतवर्ष में है, और दिल-दिमाग़ अरब और फ़ारस में। व्यावहारिक अर्थ में हिन्दुस्तानी उस भाषा का नाम था जिस का मूलाधार तो मूल हिन्दुस्तानी या ठेठ हिन्दी थी, लेकिन जिस में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का अत्यधिक प्रयोग होता था, और साधारण-तया फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी। १७५७ से १८३७ तक हिन्दुस्तानी शब्द का उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। ईस्ट इंडिया कम्पनी की हिन्दुस्तानी का रूप देख कर यही कहना पड़ता है कि उसने उसे दूसरे अर्थ में ग्रहण किया। उसने नागरी लिपि का प्रयोग अवश्य किया है, इसका कारण आगे बताया जायगा। आगे भाषा के अर्थ में हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग साधारणतया दूसरे अर्थ में किया गया है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा दूसरे अर्थ वाली हिन्दुस्तानी के ग्रहण किए जाने का कारण था। भारतवर्ष में आने पर अँगरेज़ समाज के केवल कुछ शिक्षित और उच्च श्रेणी के लोगों के, जो अरबी-फ़ारसी-दाँ थे और बातचीत में हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते थे, संपर्क में आए। उन्होंने जनता को समझने-समझाने का प्रयत्न नहीं किया, यह प्रायः समस्त तत्कालीन लेखकों ने माना है। अदालतों और दफ़्तरों के संबंध में भी 'नेटिव्ज़' शब्द का प्रयोग अपने-अपने विभागों के कुछ देशी पदाधिकारियों के लिए हुआ है।[1] हिन्दुस्तानी

१—'नेटिव्ज़' की व्याख्या करते हुए ऑनरेबुल फ़्रेडेरिक जॉन शोर का कहना है :

...we must first understand what is meant by the term 'The natives'. In this case, it represents some one, two or

बोलते समय ये लोग स्वभावतः अरबी-फ़ारसी के शब्द घसीट लाते थे। समाज के इस छोटे से समुदाय की जिसमें, हिंदू और मुसलमान दोनों ही शामिल थे, भाषा वास्तव में उर्दू थी। सूबा हिंद या हिन्दुस्तान की भाषा होने के कारण अँगरेज़ों के समय में उसका हिन्दुस्तानी नाम ही अधिक प्रचलित हुआ। अकबर के ज़माने से उर्दू (या हिन्दुस्तानी) का प्रचार शिक्षित जन-समुदाय में हो गया था, ठीक वैसे ही जैसे आज के शिक्षित जन-समुदाय में अँगरेज़ी का प्रचार हो गया है, और उसी से 'इँगलिस्तानी' (अँगरेज़ी शिक्षित समुदाय की बोलचाल की हिन्दी-अँगरेज़ी मिश्रित भाषा) एक नई भाषा निकल पड़ी है, यद्यपि साहित्य में उसका प्रयोग नहीं होता। गिलक्राइस्ट का, और फलतः ईस्ट इंडिया कम्पनी का, हिन्दुस्तानी से, जिसे वे 'उर्दवी', 'रेख़ता' या 'हिन्दी' भी कहते थे, उस भाषा से तात्पर्य था जिसके व्याकरण के सिद्धांत, क्रिया-रूप 'हिन्दवी' या 'बृजभाषा' के आधार पर स्थित थे, लेकिन जिस में अरबी-फ़ारसी के शब्दों (संज्ञा-शब्दों) का बाहुल्य रहता था—बाद को व्याकरण के सिद्धांत भी अरबी-फ़ारसी से लिए जाने लगे। इस भाषा को वे ही लोग बोलते थे जिनका संबंध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकर थे। और वे भी जहाँ तक राजकीय कामों से मतलब था वहीं तक इस भाषा का प्रयोग करते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इसी हिन्दुस्तानी को, जो धीरे-धीरे फ़ारसी का स्थान ग्रहण करती जा रही थी, अपनाया, न कि मूल हिन्दुस्तानी को या मूल हिन्दुस्तानी के उस रूप को जो सूबा हिंद की बहुसंख्यक साधारण जनता में प्रचलित था।

कुछ सज्जनों का मत है कि एक तरफ़ अगर ईस्ट इंडिया कम्पनी 'हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों को लोकभाषा तथा लोकलिपि के रूप में अपना रही थी, तो उधर गिलक्राइस्ट महोदय तथा उर्दू की हिमायत में लगे मुंशी यह चाहते थे कि कम्पनी के साहब जल्दी से जल्दी फ़ारसी सीख लें। वे उर्दू को लोक-व्यापक बनाने की चेष्टा में लगे थे।' यह तो ठीक है कि कॉलेज के तत्वावधान में हिन्दुस्तानी या उर्दू को प्रधानता दी गई। परन्तु यह कहना कि कम्पनी लोकभाषा को अपना रही थी, ठीक नहीं। लिपि के संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है। १८३७ के बाद लिपि-संबंधी व्यवस्था भी न रही।

---

three native officers in each court, who have the ear of civil functionary, and whose opinion being asked and received, stands for "the result of inquiries among the people."—नोट्स ऑन इंडिया अफ़ेयर्स, भाग १, १८३७, पृ० ३५

वास्तव में ईस्ट इंडिया कम्पनी और कॉलेज की दो अलग-अलग भाषा-नीतियाँ मानना ठीक न होगा। कम्पनी की भाषा-नीति का श्रोत कॉलेज ही था। कॉलेज की स्थापना से पहले मुंशी लोग भाषा को रंग देने वाले थे। ये मुंशी कम्पनी के अफ़सरों को प्राइवेट तरीके से फ़ारसी और हिन्दुस्तानी पढ़ाया करते थे। कॉलेज में विद्यार्थी-जीवन समाप्त कर सिविलियन अफ़सर कॉलेज और गिलक्राइस्ट की भाषा-नीति लेकर बाहर निकलते थे। जब कभी दुभाषिए या अनुवादक की ज़रूरत पड़ती थी तो उसकी पूर्ति कॉलेज से ही की जाती थी। इसलिए कम्पनी और कॉलेज की दो अलग-अलग भाषा-नीतियाँ मानना संगत नहीं है। दफ्तर तथा अन्य कामों के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी ने लोक भाषा को कभी न अपनाया था। लोकभाषा तो वह थी जिस का उल्लेख श्रीरामपुर मिशनरियों ने अपने संस्मरणों में किया है। कॉलेज की भाषा का प्रचार और प्रयोग कम्पनी के समस्त सरकारी कामों में होता था। इसीलिए उसकी स्थापना भी की गई थी। कॉलेज और शासन-प्रबंध का, भाषा की दृष्टि से, अभिन्न संबंध था, इस में कोई संदेह नहीं।'[१]

१८३७ के ऐक्ट के अनुसार हिन्दी प्रदेश में हिन्दी को अदालतों में स्थान मिलना चाहिए था। किन्तु स्थान मिला उर्दू को। इसका उत्तरदायित्व कचहरी के हिन्दू वकीलों और मुंशियों पर है। वे अरबी-फ़ारसी-शिक्षित होते थे। उन्होंने हिन्दी सीखने का कष्ट न उठाया। उन्होंने हिन्दुस्तानी या उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। किन्तु इसके अतिरिक्त एक और बड़ा कारण था और जो प्रधानतः राजनीतिक था।

१—सातवें वार्षिकोत्सव (२७ फ़रवरी, १८०८) पर भाषण देते हुए कॉलेज के विज़िटर लॉर्ड मिंटो ने विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा था :

'You are about to be employed in the administration of a great and extensive country, in which, it would not be much beyond the truth to say, that the English language is not known. You will have to deal with multitudes who can communicate with you, can receive your commands, or render an account of your performance of them, whose testimonies can be delivered, whose engagements can be contracted, whose affairs, in a word, can be transacted, discussed and recorded only in some one or other, of the languages wich are taught at the College of Fort William.

अँगरेज़ों के शासन में मुसलमानों को आर्थिक, राजनीति, सामाजिक, सैनिक आदि की दृष्टि से भारी क्षति उठानी पड़ी थी।[1] १८२० में सैयद अहमद ने वाहबी आन्दोलन भी शुरू कर दिया था। यद्यपि धार्मिक आन्दोलन होने के कारण वह हिन्दू-विरोधी भी था, किन्तु अँगरेज़ी राज्य के उन्मूलन के लिए वह पहला भारतीय आन्दोलन था। १८६० में यह आन्दोलन पूर्णतः दबा दिया गया था। ऐसी परिस्थिति में जब १८३७ का ऐक्ट २९ जारी हुआ और वकीलों और अमलों ने भी उदासीनता प्रदर्शित की, तो अँगरेज़ चुप रहे और जो हो रहा था उसे वैसा ही चलने दिया; उन्होंने कोई हस्तक्षेप न किया। परिणाम यह हुआ कि अदालतों में हिन्दी के स्थान पर अरबी-फ़ारसी शब्दों, वाक्यांशों और मुहावरों से लदी भाषा तथा फ़ारसी लिपि का प्रचार हो गया और जो १८३७ के ऐक्ट २९ के आशय के विरुद्ध था।

वास्तव में 'हिन्दी', उर्दू और हिन्दुस्तानी के 'कम्पनी-प्रयोग' का ठीक-ठीक अर्थ न समझ सकने के कारण कम्पनी की भाषा-नीति के विषय में अनेक भ्रमात्मक धारणाएँ फैल गई हैं। कम्पनी की भाषा-नीति को ठीक-ठीक समझने के लिए इन शब्दों के तत्कालीन अर्थों को समझ लेना ठीक होगा। परन्तु उससे पहले हमें हिन्दुस्तानी[2] की उत्पत्ति और उसके विकास पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

१—दे०, विलियम हंटर कृत 'आवर इंडियन मुसलमान्स', कलकत्ता।

२—कुछ विद्वानों का मत है कि पाश्चात्य विद्वानों में सबसे पहले गिलक्राइस्ट ने हिंदुस्तानी भाषा का अध्ययन शुरू किया। परंतु बात ऐसी नहीं है। उनसे पहले भी पाश्चात्य विद्वानों ने हिंदुस्तानी का अध्ययन किया था। उन्होंने जिस हिंदुस्तानी का अध्ययन किया उसका रूप क्या था, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

शुरू में अँगरेज़ों ने हिंदुस्तानी भाषा के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान न दिया। इस का कारण था। जब दक्षिण के पश्चिमी तट पर पोर्चुगीज़ आकर बस गए तो उन्होंने वहाँ की बोली सीखने का प्रयत्न किया। परन्तु गोआ की पोर्चुगीज़ सरकार की नीति भिन्न थी। वह अपने धर्म और पोर्चुगीज़ भाषा का ही प्रचार करना चाहती थी। इसके लिए उसने पादरियों को बाध्य भी किया। इसके परिणाम-स्वरूप भारतीय पोर्चुगीज़ धर्मावलंबियों में पोर्चुगीज़ भाषा का प्रचार हुआ। ये भारतीय पोर्चुगीज़ भाषा को शुद्ध रूप में न बोल कर विकृत रूप में बोलते थे। १८ वीं शताब्दी में जब ये लोग देश के भीतरी भागों और बंदरगाहों में जाकर बसने लगे तो उस भाषा को भी अपने साथ लेते गए। इन स्थानों के योरप-निवासियों ने इसी विकृत पोर्चुगीज़ भाषा को अपनाना शुरू

हिंदुस्तानी शब्द का अर्थ सूत्रा हिंद या हिंदुस्तान से संबंध रखने वाले का है। इस प्रदेश के निवासी और भाषा हिंदुस्तानी कहलाते हैं। 'हिंदुओथान' शब्द का प्रयोग तो चंद ने किया है, परन्तु 'हिंदुस्तानी' शब्द का भाषा के सम्बन्ध में पहले-पहल कब प्रयोग हुआ, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तो भी अठारहवीं शताब्दी या उससे कुछ पहले भाषा के अर्थ में हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग मिलता है। अभी हाल ही में २०० वर्ष पुराना एक ग्रंथ मिला है जिस में हिंदुस्तानी का भाषा के अर्थ में प्रयोग हुआ

कर दिया। वे हिंदू और मुसलमान सौदागरों के साथ व्यापार भी इन्हीं नवागंतुकों के द्वारा करने लग गए। उन्होंने उनसे दुभाषिए और क्लर्की आदि का काम भी लिया।

अस्तु, बंगाल पर विजय प्राप्त करने से पहले अँगरेज़, डच और फ्रांसीसियों का न तो हिंदुस्तानी भाषा की ओर ध्यान ही गया और न उन्हें सीखने की आवश्यकता ही हुई। शुरू में ईसाई मिशनरियों ने हिंदुस्तानी की ओर ध्यान न दिया। १७४३ में मिलियस नामक एक व्यक्ति ने हिंदुस्तानी का अध्ययन कर लीडन से एक पुस्तक प्रकाशित की। परन्तु उसे अपने परिश्रम में अधिक सफलता न मिली। दो साल बाद यानी १७४५ में शुल्ज़ियस नामक एक और व्यक्ति ने हल से 'ग्रैमैटिका हिंदुस्तानिका' प्रकाशित कराई थी। परन्तु उसका कार्य भी संतोषजनक न रहा और न उससे कोई मतलब ही सिद्ध हो सका।

बंगाल में अँगरेज़ी राज्य के पूर्णरूप से स्थापित हो जाने पर अँगरेज़ों को विजितों की भाषा न जानने के कारण बड़ी असुविधाएँ हुईं। उन की फ़ौज में बहुत से देशी सिपाही थे जो अपनी बोली के अतिरिक्त और दूसरी बोली समझ ही न पाते थे। आगरा प्रांत का सिपाही ब्रजभाषा ही बोलता और समझता था। फ़ौज में मुसलमान सिपाही भी थे और देश के अन्य विजित भागों के सिपाही भी। इसलिए फ़ौजी अफ़सरों को अपने सिपाहियों से संपर्क बढ़ाने के लिए उनकी बोलियों का जानना अनिवार्य था। तत्कालीन सिविलियनों को शासन के सुसंचालन के लिए उन प्रांतों की बोलियाँ जानना आवश्यक था जिनमें वे नियुक्त किए जाते थे। इसके लिए कंपनी के कर्मचारियों में से बुद्धिमान लोगों ने हिन्दुस्तानी का अध्ययन आरंभ कर दिया। वैन्सीटार्ट के समय में गल्सटन नामक व्यक्ति ने जो फ़ारसी भाषा का दुभाषिया था, हिंदुस्तानी पर एक लेख लिखा। यह लेख उसकी मृत्यु के बाद छपा था। बाद को यह लेख गिलक्राइस्ट के हाथ पड़ गया था। गल्सटन की मृत्यु से कंपनी के कर्मचारियों में हिंदुस्तानी के प्रचार-कार्य को धक्का पहुँचा। गल्सटन के बाद डॉ० हैरिस का नाम उल्लेखनीय है। वे मद्रास में थे। उन्होंने एक 'हिंदुस्तानी-अँगरेज़ी कोष' प्रकाशित किया। इसके बाद विलियम कर्कपैट्रिक ने 'हिंदुस्तानी व्याकरण और कोष' प्रकाशित कर व्याकरण की कमी पूरी की। १७८५ में उन्होंने हिंदुस्तानी भाषा के संबंध में एक वृहत् ग्रंथ प्रकाशित करने की आयोजना निकाली परन्तु उसे वे पूरा न कर सके। इन के अतिरिक्त हलहेड, ग्लैडविन् आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

है।[1] उससे उर्दू भाषा का बोध नहीं होता। उल्लिखित स्थान पर 'हिंदुस्थानी' का अर्थ मूल हिंदुस्तानी या हिंदी है और वह ईस्ट इंडिया कंपनी की हिंदुस्तानी से अनेक अंशों में भिन्न है। यह पहले बताया जा चुका है कि अँगरेज़ों ने जिस हिंदुस्तानी को अपनाया वह उन लोगों की हिंदुस्तानी थी जो अरबी-फ़ारसी-दाँ थे, उच्च श्रेणी के थे और जिनका संबंध राज-दरबारों से था या जो सरकारी नौकर थे। जनसाधारण में प्रचलित भाषा के संपर्क में वे न आए थे। २०० वर्ष पुरानी हिंदुस्तानी में केवल सर्व-साधारण में प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है जो वास्तव में बिल्कुल ठीक ही था। इस २०० वर्ष पुरानी हिंदुस्तानी का एक नमूना देखिए :

> 'स्वस्ति श्री सर्वोपमा योग्य फलाने के राम राम। आगे हम को कागद लिखी थी सो हम पाया। सभ हकीकति पाइ। तुम लिखा यो हमारे मुलक यो फलाना जबर्दस्ती सो सभ मुलक का खुचारी करता हे तिस का इलाज कुछ किये चही। एते हेन् भी इस बात को बहुत छहाते ते हे यो उस का इलाज करीएगा तिस वास्ते तुम उस के मुलुक उपर आपनी फौज भेज देव को भी लिखते तं हम भी फौज भेजंगे फेथोंड़े दिन सो ई का इलाज हो वे जगा। किस बात की फिकीर मति करो। परमेश्वर सब का भला करेगा। बहुत क्या लिखना।'

जैसा कि इस अवतरण से प्रकट होता है इसमें केवल जनसाधारण में प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है। कंपनी ने जिस हिंदुस्तानी को अपनाया उसमें शुद्ध, तत्सम और अप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है और शैली भी अवतरण की शैली से भिन्न है। साथ ही अवतरण वाली भाषा को खड़ीबोली और हिंदवी या हिंदुई भी कहा गया है। ब्रजभाषा को भी हिंदुई कहा गया। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि तत्कालीन हिंदुई और आधुनिक हिन्दी का एक ही अर्थ है और कुछ लोगों का खड़ीबोली को हिन्दी से अलग कर केवल उर्दू के साथ जोड़ना बिल्कुल ग़लत है।

१—हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : '२०० वर्ष पुरानी खड़ीबोली के नमूने'—'विशाल भारत', भाग २५, अंक ४, पूर्णांक १४८, चैत्र, १९९६ सं० : अप्रैल १९४० ई०, पृ० ३६६-३७०

कम्पनी ने जिस हिन्दुस्तानी को अपनाया उसकी उत्पत्ति पर विचार करते समय प्रायः सभी लेखक—अँगरेज़ और भारतीय दोनों—हिंदवी या हिंदुई को उसका आधार मानते हैं। यह हिंदवी मुसलमानों के आक्रमण से पहले समस्त भारतवर्ष में प्रचलित थी, और समस्त काम-काज उसी में होते थे। इस की नींव पर जो प्रासाद खड़ा किया गया उसका वर्णन इस प्रकार है :

'अरब के सौदागरों की आमद ओ रफ़्त से और मुसलमानों की अकसर यूरिश और हुकूमति क़ेआमी के वाइस अलफ़ाज़ि अरवी और फ़ारसी उसी पुरानी वोली में वहुत मिल गए और ऐक ज़वान नई वन गई जैसे कि वुनियादि क़दीम पर तामीरि नौ होवे

ग़रज़ रफ़्तः रफ़्तः इस ज़वानि जदीद ने यिह सूरत और रौनक़ पकड़ी और दिहली के अहलि दरवार ने चाहा कि यिही वोली हमारे उन कामों में जो ज़वान से तअल्लुक़ रखते हैं वसीलः हो तव यिह वतदरीज हर तरफ़ फैली चुनांचि नतीजः इस का यिह हुआ कि हर एक मुसलमानी दरवार छोटे और वड़े में भी ऐक मुद्दत में यिह नई ज़वान जारी हूई

'आख़िरुल अमर यिह वोली हिन्दूस्तान सवको अज़ीज़ ओर प्यारी हुई ओर अकसर मुतवत्तिनों ने इसी मुरक्कव ज़वान पर राग़िव हो कर इसको अख़ज़ कीआ कि अपने ऐसे मुआमलात जिनका इस्तिहकाम मौक़ूफ़ तहरीर पर न हो उनमें इसी से क़लाम करें

'जो इख़्तिलात मुसलमानों का हिन्दुओं के साथ कई सवव और वजह से कवही कसरत से हूआ और कवही क़िल्लत से—पस इसी वास्ते हिंदी ज़वान में अजनवी अलफ़ाज़ों की आमेज़िश कवही कसीर कवही क़लील हूई

'यिह इख़्तिलाफ़ ज़वान का तीन वजह से वाहर नहीं याने मुहावरऐ क़दीम या दिहाती अमुमी या शहरी —दरवारी या इल्मी—जो कोई चाहे इन तीनों का

इमतियाज़ बखूबी करे कि हर ऐेक का मक़ाम जुदा जुदा और फ़ाऐद: हिन्दूस्तान की हर ऐेक क़ौम ओ क़बाइल अलाहिद: अलाहिद:

'पैहले मुहावरे में अजनबी अलफ़ाज़ कम दख़ील हूऐ हैं इसी वास्ते वुह अपन जगह की देसी भाषा से अकसर ज़ीआद: निसबत रखता है और सदरे मे तख़मीनन् अजज़ाऐ मखलूती जुज़ि असली के मुतसावी है तीसरे में अरबी और फ़ारसी अलफ़ाज़ की ज़ीआदती कमाल है'

× × ×

'ओ यिह बात साहिबि फ़िक्र पर अयां है कि किसी मुल्कि बसी में अगरचि बहुत देसी भाषा बल्कि बाज़ी ज़बानें मुख़तलफ़ भी बोलने में आती हैं तौ भी दरबारी और दारुस्सलतनत की ज़बान ला कलाम फ़ाइदे में औरों पर तरजीह रखती है ओ इसी सबब से वहां सब कोई क्या मुतवत्तिन क्या अजनबी पैहले इसी को मुक़द्दम जानकर इसत्यामाल में लाते हैं'

× × ×

'हिन्दूस्तान की तमाम सरज़मीन में कम कोई मुसलमान नज़र आवेगा जो हिन्दुस्तानी ज़बान समझता या बोलता न होगा

'हिंदू भी जो क़दरे इमतियाज़ रखता हो या मुसलमानों से या अगरेज़ी क़ौम से जिसको कुछ ऐलाक़: है थोड़ी-बहुत हसबिहाल अपने नहीं हो सकता कि न जाने'

× × ×

'सेतबंध के क़रीब से काबुल तक ऐेक मुल्क कि जिसकी लंबाई हज़ार कोस कम ओ बेश और चौड़ाई सात सै कोस तख़मीनन् है—बड़ी गंगा के इस तरफ़ उस में जिन बस्तीओं ओ शहरों पर मुसलमानों का तसर्रुफ़ ओ आमेज़िश हुई उन्हों में ऐसे आदमी कम पाए जाऐंगे

जो हिन्दुस्तानी ज़बान बक़दर ज़रूरत के न जानते होंगे। क़िता नज़र इससे कि गंगा के उस पार भी अक्सर जगहों में मशहूर ओ मुरव्वज है'

× × ×

'अगरचि किसू ऐक जारी ज़बान में इल्मी किताबों की क़िल्लत हो तो हो लेकिन वही ज़बान उमूराति मुल्की तजारती लश्करी ओर अदालती के वसीले के वास्ते सब ज़बानों से उस दयान में मुफ़ीद ओ मुनासिब है।'[1]

ये उद्धरण विलियम बटरवर्थ बेली के १८०२ में लिखे गए हिन्दुस्तानी के दावे से लिए गए हैं। बेली गिलक्राइस्ट के शिष्य थे और उनके दावे में गिलक्राइस्ट के हिन्दुस्तानी-संबंधी विचारों की प्रतिच्छाया है। कहना न होगा कि ऊपर जिस भाषा का वर्णन है वह देहली दरबार की ईजाद की हुई भाषा थी। उसका जनता—हिन्दू या मुसलमान - से कोई संबंध नहीं था। वह शाहजहाँ के बसाए हुए शाहजहाँनाबाद से निकली थी। अन्य अनेक भाषाओं के शब्द निकाल कर उसमें अरबी-फ़ारसी के अजनबी शब्दों की भरमार कर एक नई भाषा बना दी गई थी।[2] इस नई भाषा का नाम उर्दू या बाद को हिन्दुस्तानी (दूसरे अर्थ में) रक्खा गया। पदटिप्पणी में जो अवतरण दिया गया है उसमें शाहजहाँ, शाहजहाँनाबाद और दिल्ली दरबार का ज़िक्र आया है। कहा गया है कि यहीं उर्दू भाषा का जन्म हुआ और यहीं वह पुष्पित-पल्लवित हुई।

१—'ऐसेज़ एंड थीसिस कंपोज़्ड' से

२—'कलकत्ता रिव्यू', १८४५ :

'...it was however reserved for a successor, whose splendour is still attested by the new city of Delhi, the Jama Masjid, and the never forgotten Taj Mahal, to establish in the fort of the metropolis on which he bestowed his own name, a perpetual fountain whence should flow the living waters of Urdu—pure, rapid and unceasing The native author (Meer Amman) quoted above mentions the reign of Shahjahan as that in which the language was finally consolidated.

* * * *

'कलकत्ता रिव्यू' से उद्धृत अवतरण के लेखक ने लिखा है :

'लेकिन हमारा विषय (हिंदी) बोली का पहला नहीं वरन् बाद का रूप है; और इसलिए हम उस समय पर पहुँचते हैं जब कि कवियों ने पहले-पहल विदेशी शब्दों को प्रचलित किया और फ़ारसी के कोमल स्वरों से हिंदी की शुष्कता दूर की। इन कवियों में सब से पहला वली है जो १७ वीं शताब्दी के अंत में हुआ। उसके बाद बहुत से ऐसे कवि हुए।'

इस में वली का ज़िक्र आया है। उसने और उसके पीछे के कवियों ने क्या किया उसका हाल इस प्रकार है :

'सन् १७०० के पीछे वली ने और दक्खिनी शायरों के समान कुछ दिनों तक हिंदीपन को रहने दिया।

'We have before this described the successive blow of each Mussulman soldier of fortune to which India was forced to bow. We then showed that Babel of tongues must have prevailed in the camp of the invader, and how repeated attacks, though marked by blood and not by civilizat on, must in all probability have filed (or filled), changed and enriched the old vernacular dialect. But we will ask our readers to go a step beyond this and visit that camp when pitched no longer for battle, but in accordance with the prevalent custom of Eastern monarchs, for the annual march throughout the subject territory...

'The King's camp, which after the fashion prevalent with us in India upto the present day, but on a far humbler scale, had been the place where the Urdu language set up its main standard; and Urdu of the purest kind is now the speaking language of the large population of Mussulmans and the few Hindus interspersed among them in and about the fort of Delhi. The real extent of the language as a speaking medium, though considerable, is far less than is generally supposed...'

उसकी उन रचनाओं में हिंदी काव्य-परंपरा के कुछ शब्द भारतीय कथा-प्रसंगों के कुछ संकेत, प्रेम-व्यापार में स्त्री-पुरुष का भेद आदि कुछ बातें बनी रहीं।...

'पीछे शाह सादुल्लाह गुलशन ने 'वली' को हिदायत की कि 'ये इतने फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े हैं, इन्हें काम में ला'। फिर तो वली ने अपना रुख़ ही पलट दिया।...

'पहले के दक्खिनी शायर तो देश की श्रुति-रुचि के अनुसार जगह को 'जाघा' और अलहद: को 'अलाधा' तक लिखते थे। फ़ारसी शब्दों के बहुवचन आदि हिन्दी व्याकरण के अनुसार रखते थे, पर वली ने 'आशिक़' का बहुवचन अरबी के क़ायदे पर 'उश्शाक़' रखा है और फ़ारसी समास के ढंग पर 'नशए-फ़राग़' और 'साहबे दिमाग़'। वली सन् १७०० ई० में दिल्ली आए। क़ायम ने सन् १७२० ई० में वली के दीवान का दिल्ली पहुँचना लिखा है।

'यहां से अब दिल्ली के शायरों की परपरा उर्दू-साहित्य में चली है। १७०० ई० में दिल्ली में हातिम नाम के एक शायर थे। इन्होंने फिर हिन्दी के शब्दों की छँटाई की, जिस का वर्णन उन्होंने आप ही इस प्रकार दिया है—

'लस्सान अरबी व ज़बान फ़ारसी के क़रीबुल-फ़हम व कसीरुल-इस्तआमाल बाशद व रोज़मर्रा देहली कि मिर्ज़ा याने हिंद व फ़सीहाने रिंद दर महावर: दारंद मंज़ूर दाश्त: । सिवाए आं ज़बान हिंदवी कि आँरा भाखा गोयंद मौक़ूफ़ करद: ।'

'तात्पर्य यह कि हातिम ने अरबी-फ़ारसी के शब्द ला-ला कर रखे और हिन्दी या भाषा के शब्दों को निकाल फेंका। अरबी-फ़ारसी के बीच हिन्दी के वे ही शब्द और मुहावरे रहने पाए जिन्हें शाहज़ादे और सरदार लोग

दरबार में बोलते थे। इस प्रकार उर्दू एक दरबारी भर रह गई।"[1]

उपर्युक्त अवतरण इसलिए दिए गए हैं ताकि उर्दू या हिन्दुस्तानी से पाठक भली भाँति परिचित हो जायँ। अँगरेज़ लेखकों ने ईस्ट कम्पनी की हिन्दुस्तानी का ज़िक्र करते हुए उसकी परिभाषा ऊपर अवतरणों के अनुसार ही दी है। हिन्दवी के मूलाधार पर, काट-छ जो एक कृत्रिम भाषा पैदा की गई उसका जन्म राज-दरबारों और संबंधित लोगों के बीच में हुआ। जनसाधारण के बीच उसका जन्म न था और न वह 'मुश्तरक:' ज़बान ही थी। शाही शिविर के साथ फ़ौ चलती थी, लड़ाई के लिए नहीं वरन् आमोद-प्रमोद या देश में दौरा ल के लिए। मीर अम्मन का वक्तव्य इस विषय में स्पष्ट नहीं है। परन्तु इंशा ने यह स्वीकार किया है। 'उर्दू का साधारण अर्थ में बाज़ार या लश से कोई संबंध नहीं'। वह 'दिल्ली की लाड़ली' और 'शाहों की गोदों की पा हुई' थी।

अस्तु, अँगरेज़ी और फ़ारसी के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जिस भाष को अपनाया वह हिन्दुस्तानी थी जिसकी उत्पत्ति आदि का वर्णन ऊपर दिय गया है। वह भाषा जनसाधारण में अप्रचलित थी। यह भाषा मूल हिन्दुस्तानी या इंशा की ठेठ हिन्दी ('रानी केतकी की कहानी') या २०० वर्ष पुरानी हिन्दुस्तानी से सर्वथा भिन्न है। ईसाई मिशनरियों ने जिस भाषा का प्रयोग किया वह जनता में बोधगम्य थी। उनकी और ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाषा में बहुत अंतर है। ईसाई मिशनरियों ने कम्पनी की भाषा-नीति का विरोध भी किया था।

यहाँ पर यह बतला देना भी अप्रासंगिक न होगा कि कुछ लोगों का यह कहना कि, १९वीं शताब्दी के शुरू में गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में लिखे गए 'प्रेमसागर' के अनुकरण पर हिन्दी-लेखकों ने चुन-चुन कर अरबी-फ़ारसी शब्दों को निकालना शुरू कर दिया, और एक नई बनावटी भाषा हिंदी पैदा कर दी जिसका पहले कभी अस्तित्व नहीं था, यह बात ठीक नहीं है। वस्तुतः बात इससे ठीक विपरीत है। जैसा कि स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल

१—स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल : 'हिंदुस्तानी का उद्गम', सं० १९९६ वि०, पृ० ६-७

ने 'हिन्दुस्तानी का उद्गम' में दिखाया है, कुछ थोड़े से मुसलमान शायरों और शहज़ादों ने हिन्दी में से हिन्दीपन और हिन्दी के शब्द निकाल-निकाल कर अरबी-फ़ारसी के तत्सम और अप्रचलित शब्दों की भरमार कर एक नई बनावटी ज़ुबान उर्दू बना ली। यह कार्य १७ वीं शताब्दी के अंत से शुरू हो गया था। और फिर जो लोग 'शुद्ध हिन्दी' (प्रेमसागरी हिन्दी) कह कर हिन्दी वालों पर आरोप करना चाहते हैं उन्होंने या तो हिन्दी साहित्य और भाषा का अध्ययन ही नहीं किया या वे लोग जान बूझ कर ऐसी बात कहते हैं जो सत्य नहीं। 'शुद्ध हिन्दी' जैसी चीज़ केवल 'प्रेमसागर' ही में मिल सकती है। विदेशी शब्दों को अपनाने में हिन्दी ने सदैव अपनी सजीवता का परिचय दिया है और इसी बल पर आज वह जीवित है। थोड़े-से पादरी लेखकों को छोड़ कर लल्लूलाल की भाषा को हिन्दी के किसी साहित्यिक ने न अपनाया। राजा लक्ष्मणसिंह की हिन्दी राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप थी। हिन्दी भाषा की प्रतिभा सदैव तुलसी और सूर, देव और बिहारी, ग्वाल और पद्माकर भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी और प्रेमचंद की अनुगामिनी रही है और रहेगी। साथ ही संस्कृत का प्रभाव हिमालय के समान अटल रहेगा।

अब देखा जाय कि कम्पनी ने जिस हिन्दुस्तानी को अपनाया क्या वह 'आमफ़हम' थी। विस्तार में न जाकर केवल यह कहना ही यथेष्ट है कि यह भाषा 'खास फ़हम' ज़रूर रही 'आम फ़हम' वह कभी न थी और न है। इसके प्रमाण दिए जा सकते हैं, किन्तु विस्तार-भय से ऐसा यहाँ सम्भव नहीं। पद-टिप्पणी में केवल कुछ ख़ास-ख़ास उद्धरण दिए जाते हैं[1] जिनसे यह सिद्ध हो

१—१८२४ में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज कौंसिल के मंत्री डी० डी० रडेल ने लिखा है :

'The Hindoostanee a s it is taught in the College distinguished by the titles of Oordoo, Delhi Juban etc., or the language of the Court of Delhi, is used for colloquial purposes, among the higher classes of the natives, and especially of Mahommedans, throughout India, but having been introduced by the Moghuls and being chiefly derived from Arabic, Persian and other Western or Northern sources, it may still to the Hindoos at large be considered as a foreign tongue' (Letter

जाता है कि जो भाषा सर्वसाधारण में बोधगम्य थी वह हिन्दी थी, न कि कम्पनी की हिन्दुस्तानी या उर्दू।[1] लोग यह तो कहते हैं कि अरबी-फ़ारसी शब्दों के मेल से एक नई भाषा बन गई। लेकिन ऐसा करते समय वे भूल जाते हैं कि

---

from D. D. Ruddell to C. Lushington, Secretary to the Government, General Department, dated College of Fort William, 24th Sept., 1824).

—फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की प्रोसीडिंग्ज़, जिल्द ९, पृ० ४९६, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट।

रडेल कॉलेज में हिन्दुस्तानी के परीक्षक भी रहे थे। हिंदुस्तानी को उन्होंने भी उर्दू, देहली ज़ुबान अथवा दिल्ली दरबार की ज़ुबान लिखा है। यही हिंदुस्तानी थी जिसे कम्पनी ने अपनाया।

१८२५ में राइट ऑनरेबुल विलियम पिट, लॉर्ड ऐमहर्स्ट ने कॉलेज के वार्षिकोत्सव पर भाषण देते हुए कहा था :

'In former times, when English gentlemen, comparatively few in number were required to communicate chiefly with the natives of rank or influence by whom the details of civil administration were conducted, knowledge of Persian, the language of official record, and Hindoostanee, the medium of personal communication among the higher orders, might enable the possessor adequately, to discharge the functions that ordinarily belonged to the civil servants of the Company.

'But that state of things has long since ceased to exist. You are now constantly called upon to administer justice to the humblest, to ascertain the rights and interests and institutions of the rudest classes...

'But if you cannot speak their language (Persian and Oordoo are nearly as foreign to them as English), the best laws of the Government will be a mockery....'

—टॉमस रोएबक द्वारा संपादित—'ऐनल्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', कलकत्ता, १८१९, नं० २५

१—'It is not easy accurately to define the limits within which Hindi is the vernacular. In a general way it may be said to be

यह भाषा मुट्ठी भर इस्लामी लोगों की भाषा थी। उनसे अलग अपार जन-समूह की अपनी भाषा थी जिसका दिन-रात प्रयोग होता था। इतिहास इस बात का साक्षी है।

जिस हिन्दुस्तानी भाषा का उल्लेख ऊपर किया गया है उसे 'हिन्दी', उर्दू या उर्दूई और रेख़ता नामों से भी पुकारा जाता था और वह हिन्दुई या हिन्दवी और 'बृजभाषा' से भिन्न थी। हिन्दुई या हिन्दवी और 'बृजभाषा' के विषय में तो नहीं, वरन् 'हिन्दी' हिन्दुस्तानी, उर्दू और रेख़्ता का एक साथ और एक अर्थ में प्रयोग होते देख कर अनेक विद्वान् भ्रम और उलझन में पड़ गए हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कह बैठे कि राष्ट्रभाषा निर्माण की नींव फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में गिलक्राइस्ट के शिष्य विलियम बटरवर्थ बेली ने डाली थी। कुछ लोग यदि यह कहने का दावा करने लगते हैं कि उर्दू और हिन्दी में पहले कोई भेद नहीं था, आज की हिन्दी कल की बनावटी और मनगढ़ंत भाषा है और पहले उसका कोई अस्तित्व नहीं था, तो दूसरी ओर कुछ लोगों को हिन्दुस्तानी को उर्दू के अर्थ में, जैसा कि कम्पनी के शासनांतर्गत प्रचलित था, परन्तु जिसका अर्थ ठेठ हिन्दुस्तानी कदापि नहीं था, ग्रहण करने में आपत्ति है, और कम्पनी के आईनों, इश्तहारों आदि में 'हीनदी' या

---

so in Behar, Oude, the Rajputana states, and all that is under the jurisdiction of the Lieutenant Governor of the North-West provinces. Travellers say that they can make their way all over India by means of Hindi. All educated Mussulmans speak Urdu, but the lower non-agricultural and agricultural Mahommedans verge towards, and generally speak like the Hindus. According to the rough statistical return, published by the Government of the North-West, the proportion of Hindu to Mahommedan is as nine to one, and if Behar and the Sagur and Nerbudda territories were included this proportion would probably rise

'...The mass of the population who live apart from educated Mahommedans or Europeans, and have had little to do with courts, will be found to speak in a manner which only a small number of their rulers could understand'...

—टॉमसन कृत हिंदी-कोष (१८४६) का एक समीक्षक।

'हिन्दी' शब्द और नागरी लिपि का उल्लेख होते देख कर वे उन्हें आधुनिक अर्थ में लेते हैं। इसी 'हिन्दी' के साथ हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग होते देख कर वे उसे जनसाधारण की भाषा का द्योतक समझते हैं। ये सब भ्रामक धारणाएँ हैं जिनका आधार तत्कालीन 'हिन्दी' और हिन्दुस्तानी के अर्थ एवं प्रयोग के सम्बन्ध में अनभिज्ञता है।

सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त भेद कम्पनी और उसकी भाषा-नीति तक ही सीमित था। जनसाधारण, ईसाई-पादरियों और स्वतंत्र रूप से अध्ययनशील अँगरेज़ों में यह भेद प्रचलित नहीं था, और न इन शब्दों का गिलक्राइस्ट के कहे अर्थ में प्रयोग होता था। साथ ही पुराने ग्रन्थों या पोथियों में हर जगह हिन्दी या हिन्दुस्तानी का उर्दू अर्थ करना सरासर भूल होगी। 'हिन्दी', हिन्दुस्तानी और उर्दू का एक ही अर्थ में प्रयोग १८२४ तक कम्पनी और कॉलेज ने किया। उसके बाद 'हिन्दी' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग होने लगा और हिन्दुस्तानी और उर्दू समानार्थवाची बने रहे, यद्यपि इस विषय में भी कहीं-कहीं ढील दिखाई दे जाती है। हिन्दी और हिन्दुस्तानी एक अर्थ में प्रयोग हुआ है, साथ ही हिन्दी और हिन्दुई या हिन्दवी का भी एक अर्थ में प्रयोग हुआ है। एक अँगरेज़ लेखक ने हिन्दी, उर्दू, रेख़्ता, हिन्दुस्तानी, ब्रजभाषा, दक्खिनी सब का एक ही अर्थ लिया है। परन्तु इन सब बातों से विद्वानों को भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए। आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार कम्पनी ने ब्रजभाषा, पूर्वी, बुंदेलखंडी आदि सभी भाषाओं का, और बहुत-से लेखकों ने हिन्दी, हिन्दुस्तानी आदि शब्दों का अनर्गल प्रयोग किया। लेकिन सैद्धांतिक रूप से इन शब्द का किस अर्थ में प्रयोग होता था, हमें यह देखकर अपना निर्णय स्वयं करना चाहिए।

'हिन्दी', हिन्दुस्तानी, उर्दू और रेख़्ता का एक अर्थ में प्रयोग होता था, इसके अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं, लेकिन थोड़े-से प्रमाण यहाँ दिए जाते हैं :

सर विलियम जोन्स ने ग़ाज़ीउद्दीन खाँ की स्त्री गन्ना बेगम[1] की निम्नलिखित ग़ज़ल को 'हिन्दी' की सर्वप्रथम ग़ज़ल कहा है :

१—Gunna Beigum.

'मुद्दई हम से सखुन साज़ व मालूमी है,
अब तमन्ना को यहां गुज़्दःए मायूसी है।
आह अब कसरते दागो-गमे खूबां से तमाम,
सफए सीना मेरा जलवए ताऊसी है।
है मेरी तरह जिगर खूनी तेरा मुद्दत से,
ऐ हिना किस की तुझे ख्वाहिशे पाबोसी है।
एवज़े-दर्द मज़े से वह भरे हैं सारे,
जिस लबे-ज़ख्म ने शमशीर तेरी चूसी है।
तोहमते-इश्क़ अबस करते हैं मुझ पर मिन्नत,
हां यह सच मिलने की खूबों से तु तक खूसी है।"[1]

वेली ने अपने दावे में कहा है : 'हिन्दूस्तान में कारवाई के लीए हिंदी ज़वान और ज़वानों से ज़ीआदः दरकार है।' 'हिन्दुस्तानी ज़वान कि जिसका ज़िक्र मेरे दावे में है उसको हिंदी उरदू और रेख़तः भी कहते हैं...।'

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी भाषा के मुन्शी नागरी लिपि और प्रेमसागरी भाषा से अनभिज्ञ थे। लल्लूलाल, सदल मिश्र, आदि हिंदुस्तानी मुन्शी न कहला कर भाखा-पंडित कहे जाते थे।

लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' को खड़ीबोली या हिन्दवी का ग्रंथ कहा गया है न कि हिन्दुस्तानी का। 'बैताल-पच्चीसी', 'सिंहासन-बत्तीसी', 'इख़वानुस्सफ़ा', 'बागो बाहर', 'अनवारसहेली', आदि हिन्दुस्तानी के ग्रंथ थे।

तारिणीचरण मित्र हिन्दुस्तानी के पंडित थे क्योंकि वे फ़ारसी के इल्म में कामिल थे।

१८०८ में हेलीबरी कॉलेज, लन्दन में मुंशी मीर अब्दुल अली भेजे गए थे, क्योंकि वे फ़ारसी भाषा के पंडित थे।

कैप्टेन टेलर ने फ़ारसी लिपि में लिखी गई हिन्दुस्तानी और रेख़्ता को एक मान कर उन्हें हिन्दवी से अलग माना है।

फ्रेडेरिक जॉन शोर ने हिन्दुस्तानी को उर्दू कहा है।

संस्कृत को हिन्दवी की कुंजी और फ़ारसी को 'हिन्दी', हिन्दुस्तानी या उर्दू की कुंजी माना गया है।

१—'एशियाटिक रिसर्चेज़', १८०६

पीछे फ़ुटनोट में दिए गए रडेल के पत्र में हिन्दुस्तानी और उर्दू को एक माना है।

लॉर्ड ऐमहर्स्ट ने भी हिन्दुस्तानी और उर्दू को एक अर्थ में लिया है।

१८२८ में कॉलेज कौंसिल के सदस्य स्टर्लिंग द्वारा लिखी गई मिनिट्स में 'उर्दू' या 'हिंदुस्तानी' लिखा है।

तासी ने भी 'हिन्दुस्तानी (ऐंदूस्तानी) का उर्दू के अर्थ में प्रयोग किया है और उसका हिन्दवी (ऐंदुई) से भेद किया है।[1]

गिलक्राइस्ट के विचारों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। एक और स्थान पर उन्होंने लिखा है कि हिन्दुस्तानी में अरबी-फ़ारसी के शब्द शुद्ध और तत्सम रूप में मिले हुए हैं, और उदाहरण के तौर पर 'अहकाम', 'महकूम', 'मक्का' आदि शब्द दिए हैं।[2]

१८२४ में कैप्टेन विलियम प्राइस हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष थे। इसी साल कॉलेज में हिन्दुस्तानी या उर्दू के स्थान पर हिन्दी को प्रमुखता दी गई और हिन्दी शब्द भी निश्चित रूप से हिन्दवी के स्थान पर प्रयुक्त हुआ। कैप्टेन प्राइस ने हिन्दुस्तानी को अरबी-फ़ारसीमय और हिन्दी में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य माना है।[3]

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर 'हिन्दी', हिन्दुस्तानी, उर्दू, रेख्ता, हिन्दवी आदि शब्दों के अर्थ और प्रयोग के विषय में कोई संदेह न रह जाता।

१—दे०, 'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी'; 'ले ओत्यूर ऐंदूस्तानी ऐ ल्यूर उवरज़'........,१८६८, पेरिस, द्वितीय संस्करण; 'ल लांग ऐ ल लितरेत्यूर ऐंदूस्तानी द १८५० अ १८६९; 'दिसकुर द उवरत्यूर दु कुर द ऐंदूस्तानी' १८७४, पेरिस, द्वितीय संस्करण; 'ल लॉग ऐ ल लितरेत्यूर ऐंदूस्तानी। रिव्यू अन्यूएल' सन् १८७०-१८७६ में। क्रमशः १८७१ और १८७२-१८७६ में पेरिस से प्रकाशित।

२—'जर्नल आव ऑरियंटल सेमिनरी', १८ मार्च, १७९९ का ओ० सी० नं० ३९, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट :

'...The Arabic and Persian being introduced into the Hindoostanee with little or no corruption...'

३—'प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', जिल्द ९, पृ० ५०५-५०६, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट :

'...The great difference between Hindee and Hindoostanee consists in the words—those of the former being almost all Sanskrit, and those of the latter being for the greater part

हिन्दी शब्द के प्रयोग की कहानी दिलचस्प है। हिन्दवी का प्रयोग उत्तर भारत के मध्य भाग की समस्त बोलियों और उनसे संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में होता था। आधुनिक हिन्दी शब्द के प्रयोग से यह बिल्कुल मिलता-जुलता है।

कम्पनी की हिन्दुस्तानी और उसका मतलब तय हो जाने पर अब लिपि-संबंधी समस्या पर विचार कर लेना चाहिए।

भाषा-संबंधी क्षेत्र में कम्पनी ने पहले अँगरेज़ी और फ़ारसी और फिर अँगरेज़ी और हिन्दुस्तानी को अपनाया, यद्यपि १८३७ तक हिन्दुस्तानी के साथ-साथ फ़ारसी भाषा का बराबर प्रयोग होता रहा। लिपि के संबंध में हिन्दुस्तानी के लिए गिलक्राइस्ट रोमन लिपि के कट्टर पक्षपाती थे।[1] फ़ारसी

Persian and Arabic. We may be content to take in proof a short specimen from those Dr. Gilchrist himself has given in his Polyglot Fabulist—

Hindoostanee—'Ek bar, kisee shuhur men, yoon shoohrut hooee, ki ooske nuzdeek ke Puhar ko junne ka durd ootha'.

Hindee—'Ek sumue, kisee nugur men, churcha chuelee, ki ooske puros ke puhar ko, prusoot ki peer hooee'.

हिंदी और हिंदुस्तानी का इस हद तक भेद आज भले ही नहीं माना जाता।

१—'...the Hindoostanee, in my hands, has been necessarily furnished with three, namely, the Persian, Nagree, and Roman, the last new modelled into a system of my own, which combines the advantages while it discards the defects of the other two, forming a third, sui generis that may be readily applied, with the happiest effects, to every language in the world, as a universal character, with or without a universal tongue. So far as my orthoepigraphical plan (as) regards the Hindoostanee, when first communicated to learners, I can now boast the experience of thirty years for its efficacy, in conveying an adequate proficiency in grammar and pronunciation, much sooner than the Oriental characters in general have done; they having on the contrary, deterred many from commencing the language at all, while menaced at the very outset with an accumulation of formidable

और नागरी लिपि को स्थान देते हुए भी वे दोनों को त्रुटिपूर्ण बताते थे। परन्तु रोमन लिपि के बाद वे फ़ारसी लिपि के समर्थक थे, क्योंकि हिन्दुस्तानी के पुराने कवियों ने इसी लिपि का प्रयोग किया था।[१]

जिस प्रकार अँगरेज़ी, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी को लेकर दलबन्दियाँ हुईं, उसी प्रकार आगे चल कर रोमन, फ़ारसी और नागरी लिपियों के विषय पर सरकारी कर्मचारियों तथा अन्य विद्वानों में बड़ा वाद-विवाद हुआ। रोमनलिपि के समर्थक कहते थे कि इससे नवागत अँगरेज़ों को एक नई लिपि सीखने की झंझट बच जायगी। साथ ही उसको 'यूनिवर्सल कैरेक्टर' (विश्वव्यापी लिपि) बताकर उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। फ़ारसी लिपि के समर्थक फ़ारसी लिपि इसलिए चाहते थे कि हिन्दुस्तानी (उर्दू) के लेखक और कवि इसी लिपि का प्रयोग करते आए थे और फ़ारसी के लिए इसका प्रयोग होता ही था। नागरी लिपि के समर्थकों ने इन दोनों का विरोध किया। उन्होंने कहा कि रोमन और फ़ारसी दोनों लिपियाँ विदेशी हैं और वे हिन्दुस्तानी भाषा की ध्वनियों को ठीक तरह से व्यक्त करने में असमर्थ हैं। थोड़े-से विदेशियों की आसानी के लिए समस्त देश पर विदेशी लिपि लादना अन्याय था। और फिर रोमन लिपि में नीचे ऊपर लगाए जाने वाले चिह्नों को याद रखना भी तो कठिन था। डॉ० गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी के लिए रोमन लिपि का अत्यधिक प्रचार किया। उन्होंने तथा डब्ल्यू० हंटर ने अपनी छोटी 'हिन्दुस्तानी-इँगलिश डिक्शनरी' में नागरी लिपि को हिन्दुस्तानी भाषा के अयोग्य बताया है। निस्संदेह रोमन-लिपि के कारण यूरोपियनों में हिन्दुस्तानी का तीव्रता के साथ प्रचार हुआ। यदि यह सुविधा न होती तो संभवतः बहुतेरे तो भाषा सीखने का कष्ट भी न करते। किन्तु गिलक्राइस्ट की आयोजना भी सर्वप्रिय न हो सकी।[२] फ़ारसी लिपि भी विदेशी थी और उसमें भी भारतीय ध्वनियाँ

---

obstructions, in a strange tongue, and a still more extraordinary character'

—गिलक्राइस्ट का ८ दिसम्बर, १८१८ में लंदन से लिखा हुआ एक पत्र

डब्ल्यू हंटर, एम० डी० के संक्षिप्त हिंदुस्तानी-अंगरेजी-कोष में नागरी लिपि हिंदुस्तानी सीखने वालों के किसी मतलब की चीज़ न होने के कारण अस्वीकृत ठहराई गई है।

१—दे० गिलक्राइस्ट के ग्रंथ

२—गिलक्राइस्ट की ओर संकेत करते हुए फ्रेडेरिक जॉन शोर ने लिखा है:

प्रकट करने की पूर्ण क्षमता नहीं थी। किन्तु उस समय जैसी परिस्थिति थी उसके अनुसार यदि फ़ारसी और नागरी लिपियों में से एक को चुनने का प्रश्न उठता तो निस्संदेह फारसी लिपि ही चुन ली जाती[१]। वास्तव में बिना सरकारी मदद के फ़ारसी लिपि कहीं ठहर ही न सकती थी। इस प्रकार रोमन

'It is astonishing how great a share vanity has had in producing these repeated schemes for expressing the Oriental languages in the Roman character: each successive speculator, as he toils in his study, surrounded by a halo of dots and dashes, which he mistakes for one of glory, indulges in the pleasing vision of being handed down to posterity as the inventor of an universal "Hindee-Roman-Orthoepigraphical-ultimatum"—one of Gilchrist's long words He rivalled Jeremy Bentham in this respect of whom it was said:

'And I' m writing a word three pages long,
The Quarterly dogs to rout.

It would not be difficult to invent half-a-dozen—but cui bono ?'

१—'Those who in India learn to read and write are divided into four classes.

1st. 'The remnant of the old Moosulman families of rank. These naturally prefer Persian and Arabic, in the same spirit that a mixture of prejudice, old feelings and recollections would, after our supposed subjection by the Africans, probably induce us to educate our sons in French Latin, or Greek, in preference to the language of Timbuctoo, even although the latter possessed more sources of knowledge than the others. The number of this class is very few

2nd. The Pundits, or learned Hindoos. These naturally affect the Sanscrit. Their numbers, also, are very small.

3rd. The shopkeepers, village accountants, and merchants, who write the Nagree, Bengalee or other local languages and character. These learn just enough to enable them to keep their accounts, and draw bills upon each other: more would be useless, as long as there are scarcely any books

नागरी लिपि के विरोधियों का कहना था कि उसे स्वयं लिखने वाला ही कठिनाई से पढ़ पाता है तथा एक ही वाक्य कई तरह से पढ़ा जा सकता है। ऐसा कहते समय विरोधियों के ध्यान में संभवतः महाजनी या मुड़िया लिपि रहती थी, क्योंकि नागरी लिपि में यह दोष तो बिल्कुल नहीं है। वास्तव में नागरी लिपि और मूल हिन्दुस्तानी का घनिष्ठ संबंध था। एक की कल्पना दूसरे के बिना नहीं की जा सकती थी। और यद्यपि १८३७ से पहले और बाद में फ़ारसी लिपि बराबर बनी रही, तो भी नागरी लिपि अपनाने के निम्न-लिखित मुख्य कारण थे :

(१) यह भारतीय लिपि थी।

(२) आसानी से सीखी जा सकती थी। शोर के अनुसार आधा घंटा नित्यप्रति व्यतीत करने पर छः महीने में उसे भली भाँति सीखा जा सकता था।

(३) कुमायूँ, गढ़वाल, नैपाल राज्यों और मरहटों द्वारा इसका बराबर प्रयोग होता था।

(४) भारतवर्ष की अन्य प्रांतीय लिपियों और कैथी, महाजनी आदि के समीप थी। इस प्रकार नागरी लिपि समस्त देश में पढ़ी जा सकती थी।

(५) तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश और बिहार की बहुसंख्यक जनता की लिपि थी।

(६) गिलक्राइस्ट के आने पर हिन्दुस्तानी भाषा का नाम 'मूर्ज़'[१] भी था (गिलक्राइस्ट के ग्रंथों में इस बात का निर्देश है)। यह

---

plans, there might, occasionally, be some little faults in the proceedings. The Persian idiom would make its way into many of the papers, from the circumstance of the natives employed having all their lives, been accustomed to write Persian, and never having written their mother tongue...'

१—Moors.

> 'मूर्स' नागरी लिपि में भी लिखी जाती थी, यद्यपि 'मूर्स' (हिन्दुस्तानी) के कवि फ़ारसी लिपि का प्रयोग करते थे।'

१८३७ में जब फ़ारसी का स्थान भारतीय देशी भाषाओं को दिया गया, तो स्पष्टतः बिहार में देशी लिपियों को भी स्थान मिला। भाषा तो वही हिन्दुस्तानी रही जिसे पहले से ही कम्पनी अपनाए हुए थी। परन्तु राजनीतिक कारणों से नागरी लिपि का निशान मिटा दिया गया। अब तक फ़ारसी लिपि का प्रयोग केवल फ़ारसी भाषा के लिए होता था। हिन्दुस्तानी के लिए नागरी लिपि का प्रयोग होता था। १८३७ के बाद हिन्दुस्तानी और फ़ारसी लिपि का चलन हो गया। यह वही बात हुई जिसे वली, ग़ालिब, सौदा तथा उनके बाद के कवि करते आ रहे थे।

नीचे ईस्ट इंडिया कम्पनी की 'हिन्दुस्तानी' के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:

> 'हुकुम ईसतहार ईश्रह के
> रोज सोमार तारीख २५ माह जुलाई सन १७९६ अंगरेजी
> के एक लकरी गैरह माल असवाब मीसतर आदमईसटन
> साहेब मोत.वफा बीच मौजे बकछा जीला सारन के नीलाम
> होगा कैफीअत माल .वो सरत नीलाम बीच कचहरी साहेब

१—जॉन लार्ड टेनमथ ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी में अरबी के प्रोफ़ेसर रेवरेंड फ़ोर्ड को कलकत्ते से १७ सितंबर, १७८३ में एक पत्र लिखते हुए कहते हैं:

'I shall now reply to your queries, in the order you have stated them. The language called 'Moors" has a written character, differing both from the Sanscrit or Bengalee character; it is called Nagree which means "Writing." The Sanscrit character is named *Dib* Nagree or, 'The Writing of Angels.' This character is little used in Bengal, but is more familiar in the province of Beyhar......One died a few years ago at Benares, of the name of Souda, who composed a Dewan in Moors using however, the Persian character for writing it and the style of Hafiz—he was admired.'

—'मेम्वायर ऑव दि लाइफ़ एंड कॉरिस्पॉंडेंस ऑव जॉन लॉर्ड टेनमथ', लेखक उन का पुत्र लॉर्ड टेनमथ, १८४३, जिल्द १, पृ० १०४-१०५

जज कसवा छपरा जीला मरकुम के मालुम होने मकेगा ता: ४ माह जुन सन १७६६ अंगरेजी मोताबीक १४ माह जेठ सन १२०३ साल ।"[1]

'ईशतहार नामा

साडे तीन लाख ऐक रुपैआ आरकाट चलन मछली बंदर का सन हाल माह अकतुवर के ३१ तारीख ईआ उसके आगे बंदर मजकुर के वडे साहेव .वो कौंसली साहेबों के पास दाखील करने का दरखासत सभ लीफाफे पर मोहर कीआ हुआ ईहां के सकरतरी साहेव दफतरखाने मे आज से सन हाल अगसत महीने के २६ तारीख सोमवार के अंगरेजी दस घड़ी तक लीआ जाएगा उसी रुपैऐ के वदले वडे साहेव .वो कौंसली साहेवान मजकुर नवा.व ग.वरनर जनरल वहादुर के नाम मे ईआ मुरसीदावाद के कीलकटर साहेव के नाम मे २१ ऐकीस दीन के वादे जीस हीसाव से कलकत्ते मे सीका रुपैआ देने के .वासते रफा होऐ उसी हीसाव के माफीक हुंडी देगे चाहीऐ जो उस रुपैऐ के वदले कलकत्ते मे सीका रुपैआ जीस हीसाव से लेना मंजुर होऐ उसका भाव सभी दरखासत मे लीखा रहै दरखासत सभ वही साडे तीन लाख रुपैऐ का ईआ उसका ऐक सातवां ईआ दो सात.वां ईआ तीन सात.वां ईआ चार सात.वां ईआ पांच सात.वां ईआ छह सात.वां ही मे का होऐ सभी लीआ जाऐगा लेकीन जेतने रुपैऐ दाखील करने के .वासते जो दरखासत लीआ जाऐ उसके मंजुर करने का सभ रुपैऐ के .वासते ईआ उसमे से जेतना मुनासीव जाने न.वाव ग.वरनर जनरल वहादुर को अखतीआर है तारीख १६ माहे जोलाई सन १७६६ अंगरेजी मुतावीक ११ मोहरम सन १२११ हीजरी'[2]

इन इश्तहारों के संबंध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इनके साथ-साथ फ़ारसी लिपि में जो इश्तहार प्रकाशित हुए वे फ़ारसी भाषा में थे।

१—'कलकत्ता गज़ट', बृहस्पतिवार, जून १६, १७९६, जि० २५, नं० ६४२.

२—वही, जुलाई २१, १७९६, जि० २५, नं० ६४७

उपर्युक्त इश्तहारों की भाषा सरल उर्दू या हिन्दुस्तानी है—इश्तहारों या विज्ञापनों की भाषा होने के कारण। केवल लिपि देवनागरी है। ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाषा-नीति के संबंध में जो कुछ ऊपर कहा गया है उसके ये दोनों विज्ञापन सुन्दर उदाहरण हैं। कुछ और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

'अंगरेजी सन १७९३ साल २५ आईन २६ दफा

अगर कोई खास तहसील ईया ईजारे महालके वट.वारे के .वास्ते हुकुम जारी होऐ ऐसे जमीनके वट.वारे के .वासते जो कुछ हुकुम ईस आईनमे लीखाजाता अमल मेला.वने होगा .वोई जारेदारान .वो सरकारी देसी तहसील दार कोचाहीऐ के अमीन केतलवकरने वमोजीव उस मीलकीअत के तअलुक के हीसा व का फरद सभ .वोदुसरा सभ कागज जोकुछ उसके हाथमेरहै उस को-मौजुद करहो .वोउस मीलकीअत के वट.वारे के पीछे सन १७९३ साल के १ आईन के ११ दफे का हुकुम उस जमीन के उपर चलैगा।'

'अंगरेजी सन १८०४ साल १ आईन

१७ तफसील जो १६ सरत है उपर का लिखा सरतो के सिवाऐ जो और हरी ऐक सरत . के ईन वलीद वो जमीदार ईआ और मालीक जमीन के वीच अमल में आवै दोनों के उपर चलैगा वो जो हूजत वो अखज का मोकदीमा के जमीदार ईआ और मालीक जमीन वो ईनवलीद ईआ उन सभों के वारीस ईआ काऐम मोकाम लोग के वीच ईनवलीद के जागीर के जमीन के सरत वो कैफीअत के वावत मे होऐ उसि जीला के अदालत दीवानी मे ईनफसाल पावैगा' (१८०४)

'अंगरेजी सन १८१० साल की ५ आईन १० दफा

२ तफसील कोई ऐक महाल जोतखसीस अलाहेदा साथ महदूदू हो.वे जव उसका कोई मालिक शिरकत की जमींदारीसे आईनों मो.वाफिक उस महालके निकालनेका हक रखता हो.वे और निकालने और सरकारी जमा मोकरंरर होने का

काम उस महाल पर शुरू होचुकाहो जिस जमींदारोंसे के .वह महाल मिला हो.वे अगर उसमें जमा मोकररर होनेकी तमामी और मनजूरीके पहले वाकी पडे और उसी सवव से दरो वसत जमींदारी खाह उससे किसी ऐक हिस्सेका वेचना जरूर हो.वे इस सूरतमें उस महाल के मालिकको इखतेयार है के उस महालकी पैदा.वार के लेहाजसे सैकडे पीछे २०) यानी १०) सैकडे पीछे मालिकाने और १०) सैकडे पीछे हककुततहसील के .वजा करने वाद दरोवसतजमींदारी की जमावमूजिव जिस कदरके उसके जिममे पर वाकी निकले केलकटर साहिवके हुजूरमें पहुँचा.वे इस सूरतमें अगर महाल उसके कवजेमें न हो.वे तो चाहिऐके तुरन्त दियाजा.वे.....'

'जनाव मुसतताव मो अला अलकाव असरफुल असराफ मारकोईस वलजली गवरनर जनरल वहादुर दामऐककवालहु का ईजलास कौंसल में जो हुकुम सादीर हुआ उसका तरजुमा

तहनामा सुलह औ दोसती का सरकार अंगरेज वहादुर के तरफ सें हनरवील मेजर जनरल वलजली वहादुर के औ रघु जी भौसले सेना साहेव सुवा वहादुर के तरफ से जसवंतराव राम चंदर के मारफत अंगरेजी सन्न १८०३ माहे दीसमवर के १७ मुतावीक हीजरी सन १२१८ सहर रमजान के २ तारीख मे सरकार दौलत-मदार कुम-पनी अंगरेज वहादुर और सरकार मजकुर के मुततहीद लोग और महाराज मौसुफ के दरमीआन करार पाआ और वह तहनामा ईजलास कौसल में नवाच ममदुह के हजुर और महाराजा मौसुफ के सरकार मे मनजुर होकर नवाच ममदुह और महाराजा मौसुफ के मोहर व दसखत से मुजैअन हुआ ईस लीऐ ऐह खुसी की खवर सरकार अंगरेज वहादुर के सव रीआआ और मुतवसीलों के ईतला के वासते ईस हुकुमनामे के रु सें ईसतीहार दी गई और नवाव ममदुह के हजुर पुरनुर सें ईह हुकुम सादीर हुआ की ईस हुकुमनामे के तारीख से महाराज मौसुफ के

साथ लड़ाई भीड़ाई मौकुफ होय ईस सुरत में अंगलीसतान के पादसाह जमजाह औ कुम्पनी अंगरेज बहादुर के सरकारी फीसन्सवर हींद के मुतअलक सब अहलकार और कारपरदाज और फौजों सरदारों को चीहीऐ की ताकीद जान कर ईस लीखने के मुताबीक अमल से लावे अंगरेजी सन् १८०४ माह जनवरी की १५ मुताबीक हीजरी सन १२१६ महरमवाल की १ तारीख मे लीख गया।'

(१८०४)

'इश्तिहार दिया जाता है कि मफ़स्सल के बाजार की सरबराह के वास्ते दफ़अ दफ़अ निलाम में सरकारी नमक् फ़रोख़त का जो दस्तूर था सो इस इश्तिहार का तारीख़ से और इसके बअद मौकुफ हुआ।

२ दफ़अ ॥ आइंदः १ जुलाई तारीख़ से और उसके बअद सरकारी नमक् १५० मन् के कम् न हो ऐसे मिक़दार ख़रा सौदा और मुक़र्ररी क़ीमत् मे फेरोख़ होगा और १५० मन् से जियादः लेना अगर किसू को मंजूर हो तब् उस मिक़दार के ऊपर ५० मन् या १०० मन् पूरा लेने होगा यअने ३०० मन् ३५० मन् ४०० मन् ५०० मन् वगैरह।

३ दफ़अ ॥ बिल् फ़िआल् जिस तौर पर जिस दलील पर नमक दिया जाता है उसी तौर पर इस इश्तिहार को शामिल फ़र्द का लिखा हुआ हर एक् घाट व गोला से नमक दिया जागा।

४ दफ़अ ॥ जिस घाट या जिस गोला से जो जो रक़म नमक् दिया जागा उसका भाव इस इश्तिहार के शामिल फर्द में शरहेवार लिखा गया।' (१८३६)

× × ×

'इश्तहार नई डाँग चौकी बैठाने का

खबर दी जाती है कि लोगों की बहतरा बहतरी के लिए सरकार ने दो डाँग चौकियाँ एक नंबर पाँच खिज़िरपुर में मोची खोले जाने रस्ते के पच्छिम और जो पुलिस थाने के

सामने है—और दूसरी चौकी नंबर छः बैठकखाने बाज़ार की दक्खिन ओर बाबू रस्ते के निकट बैठाला गया—जिनका काम काज आगामी महीने की पहली तारीख से चलेगा—

उन चौकियों में दिन दिन इग्यारह घंटे से दोपहर चार घंटे तक चिट्ठियाँ ली जायेंगी—और चिट्ठियाँ भेजने वालों को जैसे सदर डाँग घर में रसीदें मिलती हैं तैसे ही इन चौकियों से मिलेंगी—उन चौकियों के डाँग लेटरों के लिए आई ओ जावित :—सदर ओ डाँग घर से बमूजिब जरूरी भेजे जायेंगे—

उन चौकियों में मुकाम खिजिरपुर पाँच नंबर के डाँग मुंशी चन्दा सेकर बन्द दरजा और बैठक खाने में छः नंबर के मुंशी शिव चन्दर दत्त को मुकर्रर किया गया।'

(१८४०) (फ़ारसी लिपि से)

इन पंक्तियों के लेखक के पास आलोच्य काल के लगभग प्रत्येक वर्ष से संबंध रखने वाले और कम्पनी द्वारा प्रकाशित इश्तहार, नोटिस, आईन आदि के रूप में भाषा के उदाहरण सुरक्षित हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में उस भाषा की कुछ झलक पाठकों को अवश्य मिल जायगी। भाषा के संबंध में पहली बात तो ध्यान देने की यह है कि १८४० के लगभग से, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है, देवनागरी लिपि के स्थान पर फ़ारसी लिपि का प्रयोग होने लगा और फ़ारसी भाषा का प्रयोग बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त हमें उसमें अनेक देशज, ब्रज, भोजपुरी, बिहारी और बँगला के प्रयोग मिलते हैं। कलकत्ते के निकटवर्ती प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है। भाषा-विज्ञानियों के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाषा में काफ़ी रोचक सामग्री मिलेगी। भोजपुरी और बिहारी प्रयोगों के साथ अँगरेज़ी के अनेक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है—'इकजामिनर', 'टरनी', (ऐटौर्नी), या वरटरनी', 'कलेकटर', 'बुरड रवन्यू', 'केलार्क', 'कम्पानि', 'डिगरी', 'जसटीस', 'स्टामप', या 'सीटामप', 'मीसतर', 'कोंसल', 'गवरनर', 'गवरनर जनरल', 'मेजर', 'कपतान', 'ऐंजठ', 'जनरल', 'मजिसटरट', "कलीकटरी', 'कोट अपील', 'रजीसटर', 'जज', आदि। अँगरेज़ी शब्दों के ग्रहण करने में खड़ीबोली ने प्रारंभ ही से तत्परता दिखाई, यह उसके भविष्य

के लिए अच्छा ही हुआ। जहाँ तक अरबी-फ़ारसी शब्दों से संबंध है उनके तत्सम और अर्द्धतत्सम दोनों ही रूप मिलते हैं। किन्तु यह इश्तहारों और नोटिसों की भाषा है। इसका निर्माण बंगाल में हुआ था। 'परजा', 'आगामी' 'इति', 'तुरंत', 'सामर्थ', 'मकन', 'सीतला', 'मिति', 'पूरनमासी', 'परजा', 'आगामी', 'जातरियों', 'बुझकै', 'छेतर', 'रोग', 'पढ़ना', 'संतान' आदि हिन्दी-शब्द आने पर भी उपर्युक्त अवतरणों की भाषा सरल उर्दू है। वाक्य-रचना विदेशी है, अनेक अप्रचलित अरबी-फ़ारसी (तत्सम और अर्द्धतत्सम) शब्दों का उसमें जमघट है, और शैली मुंशियाना है। १८३७ के बाद हिन्दुस्तानी भाषा ने जो रूप ग्रहण किया उसका अस्तित्व पहले ही से था। फारसीदाँ अमले हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते समय फ़ारसी-शैली, शब्दावली और मुहावरे लाए बिना न रहते थे। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज से निकले हुए कर्मचारी भी ऐसी ही भाषा में दीक्षित थे। फ़ारसी के हट जाने से, उस पर प्रतिबंध लग जाने से उसकी विदेशी शानशौकत से हिन्दुस्तानी भाषा को स्वतंत्र रूप से सजाया जाने लगा। यही वजह है कि १८३७ के बाद की हिन्दुस्तानी या उर्दू का रूप १८३७ से पहले के उसके रूप की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट है। मुसलमानी दरबारों में हिन्दी प्रचलित थी। परन्तु पीछे से उसका स्थान जिस भाषा ने ग्रहण किया उसका कारण राजनीतिक और अँगरेज़ी सरकार की लापरवाही और भाषा-विषयक अनभिज्ञता रहा है। ईस्ट इंडिया कम्पनी की यह भाषा फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में विलियम प्राइस की अध्यक्षता में प्रयुक्त भाषा या रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल, इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र की भाषा से बिल्कुल साम्य नहीं रखती; दोनों के स्वरूप अलग-अलग हैं। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश अर्थात् हिन्दी प्रदेश के केन्द्रीय भाग की सरकार ने स्वयं काफ़ी दिनों तक उर्दू के साथ-साथ पिछले पृष्ठों में दिए गए अवतरणों की भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग किया। यह वह भाषा है जो १८३७ के ऐक्ट के अनुसार राजकीय क्षेत्रों में प्रचलित होनी चाहिए थी, किन्तु जो हिन्दी प्रदेश की सरकार द्वारा भी स्थायी रूप से ग्रहण न की जा सकी। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश की सरकार द्वारा प्रयुक्त भाषा के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

'यह इश्तिहार सब लोगों को प्रसिद्ध हूजियो नकशे जिलों के जिनके नाम किनारे पै लिखे जाते हैं सितंबर

महीने में नागरी और फ़ारसी अक्षरों में कागज श्रीराम-पुर पै छपकर हरएक जिले में मदरसों के जिले वजीटर के पास बिकने को भेजे जायेंगे ये नकशे रंगीन होंगे और इनमें जिले के शहर और कसबे और गांव की आबादी की राहें नदियां थाने चौकियां सब लिखी जायगी अभी कुछ मोल निश्चय नहीं हुआ पर एक नकशे का मोल ।≈) आने से ज्यादह और रुपये से तीन नक़शे का मोल कमती न होगा जो कोई मोल लिया चाहे वुह जिले वजीटर के पास से मोल लेवे कई नकशे बिकने के वास्ते साहब मुहतमिम् कुतुब सरकारी के पास रक्खे जायेंगे ॥' (१८५०)

'इशतिहार

इन दिनों में खेत कर्म की पुस्तक जिसमें धरती के भेद और खेती के औज़ार और सिंचाई की रीत और उसकी तसवीरें वा गांव की चाल और चलन का वर्णन लिखा है हिन्दी बोली में सुन्दर और दिव्यनागरी अक्षरों में पत्थर के छापे से छपकर पुस्तकालय सरकार गवरमंट स्थांन आगरे में बिकने के अर्थ रक्खी है मोल आने छः ।≈) पुस्तक पीछे ठहरा है जो कोई इसके मोल लेने की अभिलाशा रखता होय पुस्तकालय के मोहतमिम् अर्थात् अधिकारी के पास पुस्तक का दाम भेज कर मंगवा लेंगे ॥' (१८५०)

उपर्युक्त अवतरणों की भाषा यद्यपि परिष्कृत और नपी-तुली नहीं है, उसमें ब्रजभाषा के रूपों और अशुद्ध प्रयोगों का मिश्रण है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं उर्दू वाक्य-विन्यास भी है, तो भी यह भाषा बहुत-कुछ हिन्दी के अनुरूप है। गिलक्राइस्ट द्वारा प्रचलित भाषा अथवा ईस्ट कम्पनी के इश्तहारों और आईनों की भाषा और उपर्युक्त अवतरणों की भाषा में बहुत अन्तर है। इस अन्तर का प्रधान कारण यह है कि कम्पनी के अनुवादक या तो अँगरेज़ होते थे या बंगाली। दोनों ही गिलक्राइस्टी हिन्दुस्तानी या फ़ारसी भाषा से अभिज्ञ और कलकत्ते में रहने के कारण हिन्दी प्रदेश की भाषा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहते थे।

वास्तव में जब १८३७ के बाद फ़ारसी के स्थान पर देशी भाषाओं का

प्रयोग होना शुरू हुआ, उस समय सरकारी कामों में फ़ारसी भाषा का प्रयोग एक प्रकार से बिल्कुल बन्द हो गया। १८३८-४०[1] से हिन्दुस्तानी भाषा जो अब तक देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, फ़ारसी लिपि में लिखी जाने लगी। धीरे-धीरे फ़ारसी लिपि में लिखित हिन्दुस्तानी का अधिक और देव-नागरी लिपि में लिखित हिन्दुस्तानी का कम प्रयोग होने लगा। अंत में केवल फ़ारसी में लिखित हिन्दुस्तानी रह गई। ऐसा १८५० के लगभग हुआ। उसके बाद तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश के गज़ट में उपर्युक्त अवतरणों जैसी भाषा नहीं मिलती। कारण यही है कि जो भारतीय और अँगरेज़ फ़ारसी से परिचित थे, और ऐसे लोगों की संख्या काफ़ी थी, उन्होंने फ़ारसी के हट जाने पर भी उसके शब्द, मुहावरे, वाक्य-विन्यास आदि बनाए रखे। जब तक फ़ारसी अदालती भाषा बनी रही तब तक हिन्दुस्तानी उससे बहुत अधिक प्रभावित न हुई। इसीलिए हिन्दुस्तानी में अनेक देशज तथा अन्य बोलियों के शब्द भी मिल जाते हैं। परन्तु १८३७ के बाद परिस्थिति बिल्कुल बदल गई। फ़ारसी शिक्षित कर्मचारी अब हिन्दुस्तानी लिखते समय अपने फ़ारसी-ज्ञान का पूर्ण प्रदर्शन करने लगे। यही कारण है कि १८३७ के बाद की हिन्दुस्तानी उससे पहले की हिन्दुस्तानी से कठिन है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी की हिन्दुस्तानी भाषा के स्वाभाविक विकास का असली रूप क्या हो सकता था, यह बात नीचे के कुछ अवतरणों से स्पष्ट हो जायगी। नीचे हिन्दुस्तानी में लिखी गई वैद्यक पर एक पुस्तक की भूमिका से अवतरण दिया जाता है। मुखपृष्ठ के फटे होने के कारण उसके लेखक तथा रचना-तिथि आदि का पता नहीं लग सका :

> 'इस किताब के पढ़ने वालों पर पोशीदः न रहे कि मुवल्लिफ़ ने इसकी तालीफ़ में दो मतलब रखे हैं ऐक यह है कि इस मुल्क के बाशिंदों को हक़ीक़त उन नबातात की और क़ैफीयत उन चीजों की जो विलायति मग़रिब के तबीब अपनी दवाओं में मिलाते हैं दरयाफ़्त होवे * दूसरा, यह कि इस मुल्क की कई दवाऐं जो अकसर मरज़ों में निहायत मुफ़ीद हैं जियादःतर मशहूर हो जावें * और छोटे बड़े ख़ास ओ आम पर जाहिर हो कि किताबों की तसनीफ़ का मनशा यह है कि जो कुछ ऐक जगह नया ईजाद

होता है हर ऐक मुल्क के रहने वालों पर जल्द खुल जाता है अलल खुसूस चरचा जलूम का और तज़किरः क़ानून का उन मुलकों में वहतात से फैल जाता है जहाँ सरिश्तः छापे का जारी है...'(दीबाचः, पृ० १-२)

'इतख़ावे-इख़्वानुस्सफ़ा' (फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिंदुस्तानी मुंशी मौलवी इकराम अली द्वारा १८११ के लगभग अरबी से अनूदित) :

'फ़स्ल पहली क़ासिद के अहवाल में

पहले क़ासिद ने जिस घड़ी दरिन्दों के पादशाह अबुलहारस याने शेर के पास जाकर कहा कि आदमियों और हैवानों में जिनों के पादशाह के सामने मनाज़र: हो रहा है हैवानों ने क़ासिदों को सब हैवानात की तरफ़ रवानः किया है कि आकर उनकी मदद करें मुझको भी आपकी ख़िदमत में भेजा है एक सरदार अपनी फ़ौज से मेरे साथ कर दीजिये कि वहाँ चलकर अपने अबानाए जिन्स का शरीक होवे जिस वक्त उसकी नौबत आवे इन्सानों से मनाज़र: करे पादशाह ने क़ासिद से पूछा कि इन्सान हैवानों से क्या दावा करते हैं उसने कहा कि वे कहते हैं कि सब हैवान हमारे ग़ुलाम और हम उनके मालिक हैं शेर ने पूछा कि इन्सान किस चीज से फ़ख़् करते हैं अगर रोज़ कुव्वत-इ-शुजाअत दिलेरी हमला करना कूदना फांदना चुंगल मारना लड़ना भिड़ना इनमें किसी चीज से फ़ख़् करते हों मैं अभी अपनी फ़ौज को रवानः करूँ कि वहाँ जाकर एक हमले में मुतफ़र्रिक़ परागन्दः कर देवे क़ासिद ने कहा बाजे उन ख़सलतों से भी फ़ख़् करते साथ इसके बहुत से अमल और सनातें और हीलः और मक्र ढाल तलवार बर्छी नेजः पेशक़ब्ज छुरी तीर कमान और बहुत से हथियार बनाना जानते हैं दरिंदों के चुंगल और दांतों के वास्ते बदन को जिरह बख्तर चिलतः नन्द खुद से छिपाते हैं...' (फारसी लिपि से)

८

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज

(१८००-१८५४)

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय सर्वप्रथम गार्सां द तासी ने,[1] फिर बाद में उन्नीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्त्व समझाते और खड़ीबोली गद्य तथा भाषा के विकास का उल्लेख करते हुए सर जॉर्ज ग्रियर्सन, आर० डब्ल्यू० फ्रेज़र, नलिनीमोहन सान्याल[2] आदि ने फ़ोर्ट विलियम कॉलेज, जॉन बोर्थविक् गिलक्राइस्ट, लल्लूलाल और सदल मिश्र तथा उनकी रचनाओं का ज़िक्र किया है। उस समय से हिन्दी गद्य के इतिहास में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज अनिवार्य रूप से आ जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू होते ही फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में गद्य-रचनाओं के निर्माण और प्रकाशन की जो आयोजना तैयार की गई थी वह निस्संदेह अभूतपूर्व थी। प्रेस का उपयोग कर, लेखकों को आर्थिक सहायता तथा अन्य प्रकार के पुरस्कार प्रदान कर, साहित्यिक क्रिया-कलाप के लिए एक केन्द्रीय स्थान की व्यवस्था कर, और हिन्दी-गद्य-ग्रन्थों के निर्माण-कार्य को प्रोत्साहन प्रदान कर (जन्म देकर नहीं), कॉलेज ने एक ऐतिहासिक महत्त्व ग्रहण कर लिया है। उससे पहले या बाद में ऐसी कोई सरकारी संस्था न बनी थी। इसके अतिरिक्त कॉलेज द्वारा प्रकाशित गद्य-ग्रन्थों से विषयों की विविधता प्रदर्शित होती है जो फिर एक महत्त्वपूर्ण विषय है। कॉलेज के अध्यापक और विद्यार्थी दोनों प्राचीन और आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन और साथ ही पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का प्रचार करते थे। ऑनरेबुल विज़िटरों द्वारा वार्षिकोत्सवों के समय दिए गए

१—'इस्त्वार...ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी' में लल्लूलाल शीर्षक लेख देखिए।

२—छठे अध्याय में उद्धृत किए जा चुके हैं।

भाषणों[1] से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि शिक्षा, विज्ञान और भारत की प्रधान भाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से कॉलेज ने उस समय प्रमुख भाग लिया था। कॉलेज में देश के विभिन्न भागों से आए हुए विद्वान्, कवि और लेखक, एक जगह इकट्ठा होकर देश के बौद्धिक जीवन को समृद्ध बना रहे थे। स्वयं डॉ॰ गिलक्राइस्ट ने अनेक मुंशियों और पंडितों के द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं का निर्माण कराया। हिन्दी गद्य में विज्ञान-संबंधी कुछ पाठ्य-पुस्तकें तैयार करा कर कॉलेज ने देश में आधुनिक विचारों के प्रचार-कार्य में सहायता पहुँचाई। कॉलेज द्वारा प्रकाशित ग्रंथों में साहित्यिकता का अभाव भले ही हो, किन्तु उनसे नवीन विषयों का जन्म हुआ, हिन्दी के शब्द-भण्डार की वृद्धि हुई। वास्तव में सच तो यह है कि कॉलेज में हमें आने वाली बातों का पूर्वाभास मिलता है।

यह बात सर्वविदित है कि सर विलियम जोन्स (१७४६-१७६४) ने संस्कृत का अध्ययन किया और यूरोप की विद्वन्मंडली को भारत की इस प्राचीन और पवित्र भाषा से परिचित कराया। संस्कृत के अध्ययन ने वहाँ के भाषा-विज्ञान-संबंधी अध्ययन को नई गति-विधि प्रदान की और पाश्चात्य विद्वानों के सामने ज्ञान की अपार राशि खोल दी। उन्हें भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का मूल्य मालूम हुआ। इसके अतिरिक्त १५ जनवरी, १७८४ को एशियाटिक सोसायटी की स्थापना से पूर्वीय भाषाओं के अध्ययन और खोज-संबंधी कार्य को प्रोत्साहन मिला। उसने पूर्वीय भाषाओं और साहित्यों का अध्ययन करने वाले अनेक प्रसिद्ध यूरोपियन विद्वानों को जन्म दिया और उनकी कीर्ति सुरक्षित रखी है। हॉलवैल (१७३२ से १७६१ तक भारत में), विल्किन्स, बालफ़र, विल्फ़ोर्ड, हेस्टिंग्ज़, शोर, कर्कपैट्रिक, ग्लैडविन्, कोलब्रुक, एडमॉन्सटन, हारिंगटन आदि के नाम आज भी प्रसिद्ध हैं। अनेक विद्वानों ने तो संस्कृत और फ़ारसी के अध्ययन में अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं।

किन्तु आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन की ओर मार्किस वेलेज़ली (१७६८-१८०५) के शासन-काल में सबसे अधिक ध्यान गया। मार्किस वेलेज़ली ने अमन्द और सच्चे उत्साह के साथ अपनी शासन-व्यवस्था में देशी भाषाओं ('नेटिव लैंग्वेजेज़') को स्थान दिया। भारतवर्ष में पैर जम

१—टॉमस रोएबक : 'दि ऐनल्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', हिन्दुस्तानी प्रेस, कलकत्ता, १८१९

इंपीरियल रेकार्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली, में सुरक्षित हस्तलिखित विवरण

जाने के बहुत दिनों बाद तक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने सैनिक तथा अन्य सभी प्रकार के कर्मचारियों के लिए देशी भाषाओं के अध्ययन की कोई समुचित व्यवस्था न की थी। यद्यपि कम्पनी के अनेक कर्मचारी अपने निजी तौर पर देशी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते थे,[1] किन्तु उनसे न तो कोई विशेष लाभ हुआ, न अध्ययन की कोई निश्चित परम्परा ही स्थापित हो पाई। भाषा-संबंधी समस्या से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कई समस्याएँ वेलेज़ली के सामने थीं। ऐसी परिस्थिति में उन्नीसवीं शताब्दी के पहले ही वर्ष में उसने जो कार्य किया वह उसकी दूरदर्शिता का परिचायक है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों की नैतिक दशा सुधारने और एक अनुशासनपूर्ण शिक्षा-प्रणाली द्वारा उनके देश-विषयक ज्ञान की अभिवृद्धि कर उन्हें व्यापारियों के स्थान पर नीति-कुशल शासक बनाने का जो कार्य क्लाइव, हेस्टिंग्ज़ और कॉर्नवालिस न कर सके उसे मार्क्विस वेलेज़ली ने किया। इस महान् कार्य के लिए भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में उसका नाम सदैव अमर रहेगा। जिस साम्राज्य की नींव रॉबर्ट क्लाइव ने डाली और वारेन हेस्टिंग्ज़ ने जिसे सुरक्षित बनाया उस पर मार्क्विस वेलेज़ली ने ब्रिटिश साम्राज्य का भव्य प्रासाद खड़ा किया। उसके भारतवर्ष आने पर ईस्ट इंडिया कम्पनी एक व्यापारिक संस्था मात्र थी। उसने उसे सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता बना कर छोड़ा। इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने १८०० में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। वास्तव में कॉलेज की स्थापना का सरकारी अध्यक्षता में गिलक्राइस्ट (१७५९-१८४१) द्वारा संचालित 'ऑरिएंटल सेमिनरी' से घनिष्ठ संबंध था। २४ दिसम्बर, १७९८ को गिलक्राइस्ट की 'ऑरिएंटल सेमिनरी' के संचालक के पद पर नियुक्ति हुई थी और फ़रवरी, १७९९ से पठन-पाठन का वास्तविक कार्य प्रारंभ कर दिया गया था।

किन्तु शीघ्र ही वेलेज़ली के आत्म-सम्मान पर कुठाराघात हुआ। २७ जनवरी, १८०२ का लिखा हुआ एक पत्र उसे कलकत्ते में मिला जिसमें कोर्ट ने उसे एकदम कॉलेज तोड़ देने की आज्ञा दी। ५ अगस्त, १८०२ को वेलेज़ली ने कोर्ट के आज्ञा-पत्र का एक अत्यन्त विस्तृत उत्तर भेजा। कोर्ट के आज्ञा-पत्र के सामने उसके पत्र की कोई आवश्यकता तो नहीं थी, तो भी साम्राज्य के हित की दृष्टि से और इस आशा से कि संभव है तर्क-प्रणाली का

१—सेटन कार: 'सेलेक्शन्स फ्रॉम कैलकटा गैज़ट' में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

कोर्ट पर कुछ प्रभाव पड़े, उसने पत्र लिखने का निश्चय किया था। किन्तु उसके पत्र का कोर्ट पर कोई प्रभाव न पड़ा। बहुत से कार्य जो फ़ोर्ट विलियम कॉलेज द्वारा सम्पन्न होने वाले थे, ईस्ट इंडिया कालेज (१८०५), हेलीबरी के सुपुर्द कर दिए गए। और १८०५ के लगभग शुरू में कालेज को छोटे पैमाने पर कर देने की आज्ञा प्रकाशित हुई। आखिर वही हुआ जो कोर्ट के डाइरेक्टर चाहते थे—'बंगाल सेमिनरी', जैसी कुछ समय पूर्व [illegible] के तत्वावधान में संचालित होती थी। नाम फ़ोर्ट विलियम कॉलेज अवश्य बना रहा, किन्तु अब वह वेलेज़ली के विचारों का कंकाल मात्र था। कालेज के प्रोवोस्ट, डेविड ब्राउन, ने १८०० के विधान में से कुछ धाराएँ और नियम निकाल कर १८०६ के विधान में कॉलेज की एक परिमित आयोजना प्रस्तुत की। ३१ दिसम्बर, १८०६ को गवर्नर-जनरल वालों ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी। उसके बाद भी समय-समय पर कॉलेज की आयोजना में काट-छाट होती रही।[1]

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में पढ़ाए जाने वाले विषयों की विविधता वेलेज़ली की बृहत् आयोजना की एक विशेषता है। विषयों की सूची में पूर्वीय विषयों के साथ-साथ पाश्चात्य साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान सबंधी विषय भी सम्मिलित किए गए। विषयों के विस्तार और उनकी गंभीरता देख कर आश्चर्यचकित होकर रह जाना पड़ता है। १० जुलाई, १८००[2] के रेग्यूलेशन IX (६) के अनुसार साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान के इन विषयों की शिक्षा प्रारम्भ करने की आयोजना की गई: अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, हिन्दुस्तानी, बँगला, तेलेगू, मराठी, तमिल, कन्नड़, शरअ मुहम्मदी, हिन्दू कानून, नीति-विज्ञान (Ethics), न्याय पद्धति (Civil Jurisprudence), अंतर्राष्ट्रीय कानून, अँगरेज़ी कानून, सपरिषद् गवर्नर-जनरल अथवा फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज और बंबई के गवर्नरों द्वारा भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य का सुचारु रूप से नागरिक शासन चलाने के लिए बनाए गए विधान और नियम, अर्थशास्त्र और विशेपतः ईस्ट इंडिया कम्पनी की व्यापारिक संस्थाएँ और हित, भूगोल, गणित, यूरोप की आधुनिक भाषाएँ, ग्रीक, लैटिन, प्राचीन अँगरेज़ी साहित्य, सामान्य इतिहास—प्राचीन

१—कॉलेज की स्थापना और सविस्तार इतिहास के लिए देखिए प्रस्तुत लेखक की इलाहाबाद यूनीवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' शीर्षक रचना।

२—ओरिजिनल कन्सलटेशन नं० २०; इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

और आधुनिक हिन्दुस्तान और दक्षिण के इतिहास और पुरानी कारीगरी, प्रकृति विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, और नक्षत्र-विज्ञान (Astronomy) । देश की शिक्षण संस्थाओं की मुग़ल साम्राज्य के अंत में और अँगरेज़ी साम्राज्य के स्थापित होते समय फैली हुई अशांति के वातावरण में अत्यंत शोचनीय अवस्था हो गई थी। कॉलेज में विभिन्न भारतीय भाषाओं के अध्यक्षों की नियुक्ति भारतवर्ष में ही की गई। अन्य विषयों के पठन-पाठन के लिए यूरोप से अध्यापक बुलाए गए। विभिन्न विभागों के अध्यक्षों और मुंशियों तथा पंडितों पर तरह-तरह के नियमों के कठोर प्रतिबंध लगाए गए।

सरकार ईस्ट इंडिया कम्पनी के सिविल कर्मचारियों से जिस विशेष योग्यता की आशा रखती थी वह योग्यता प्राप्त करने के सभी साधन जुटाने में उसने किसी प्रकार की भी शिथिलता न दिखाई। जहाँ तक प्रस्तुत विषय से संबंध है मार्क्विस वेलेज़ली ने अपने १८ अगस्त, १८०० के पत्रानुसार डॉ० जॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट[1] को हिन्दुस्तानी भाषा के प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त किया। २३ फ़रवरी, १८०४ को गिलक्राइस्ट पद-त्याग कर इँगलैंड वापिस चले गए। वहाँ भी वे कुछ समय तक हिन्दुस्तानी भाषा की शिक्षा प्रदान करते रहे। कॉलेज में उनके बाद निम्नलिखित प्रोफ़ेसरों की नियुक्तियाँ हुईं—कैप्टेन जेम्स मोअट (६ जनवरी, १८०६—२० फ़रवरी, १८०८), कैप्टेन (बाद को लेफ़्टिनेंट कर्नल) जॉन विलियम टेलर फ़रवरी, १८०८—मई, १८२३), और कैप्टेन (बाद को मेजर) विलियम प्राइस (मई २३, १८२३—दिसंबर, १८३१)। प्राइस के बाद हिंदुस्तानी के किसी प्रोफ़ेसर की नियुक्ति न हुई। वास्तव में प्राइस के बाद का समय कॉलेज के धीरे-धीरे टूटने का समय है। उस समय केवल साधारण मुंशी और पंडित अध्यापन-कार्य करते रहे।

यद्यपि कॉलेज की स्थापना राजनीतिक और शासन-संबंधी दृष्टिकोण से हुई थी, किन्तु परोक्ष रूप में उससे भारतीय भाषाओं और साहित्यों को प्रोत्साहन मिले बिना न रह सका, और शीघ्र ही वह सांस्कृतिक तथा शिक्षा-संबंधी कार्यों का प्रधान केन्द्र बन गया। उसी के माध्यम द्वारा संस्कृत और हिन्दी के अनेक प्राचीन ग्रंथ पहली बार प्रेस में छपवा कर प्रकाशित किए गए। इससे विविध प्राचीन विद्याओं का ज्ञान सजग हो उठा और साथ ही

१—गिलक्राइस्ट की जीवनी के लिए दे० लेखक की 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' शीर्षक पुस्तक में परिशिष्ट घ

कोर्ट पर कुछ प्रभाव पड़े, उसने पत्र लिखने का निश्चय किया था। किन्तु उसके पत्र का कोर्ट पर कोई प्रभाव न पड़ा। बहुत से कार्य जो फ़ोर्ट विलियम कॉलेज द्वारा सपन्न होने वाले थे, ईस्ट इंडिया कालेज (१८०५), हेलीबरी के सुपुर्द कर दिए गए। और १८०५ के लगभग शुरू में कालेज को छोटे पैमाने पर कर देने की आज्ञा प्रकाशित हुई। आखिर वही हुआ जो कोर्ट के डाइरेक्टर चाहते थे—'बंगाल सेमिनरी', जैसी कुछ समय पूर्व गिलक्राइस्ट के तत्वावधान में संचालित होती थी। नाम फ़ोर्ट विलियम कॉलेज अवश्य बना रहा, किन्तु अब वह वेलेज़ली के विचारों का कंकाल मात्र था। कॉलेज के प्रोवोस्ट, डेविड ब्राउन, ने १८०० के विधान में से कुछ धाराएँ और विषय निकाल कर १८०६ के विधान में कॉलेज की एक परिमित आयोजना प्रस्तुत की। ३१ दिसम्बर, १८०६ को गवर्नर-जनरल वालों ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी। उसके बाद भी समय-समय पर कॉलेज की आयोजना में काट-छांट होती रही।[1]

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में पढ़ाए जाने वाले विषयों की विविधता वेलेज़ली की बृहत् आयोजना की एक विशेषता है। विषयों की सूची में पूर्वीय विषयों के साथ-साथ पाश्चात्य साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान संबंधी विषय भी सम्मिलित किए गए। विषयों के विस्तार और उनकी गंभीरता देख कर आश्चर्यचकित होकर रह जाना पड़ता है। १० जुलाई, १८००[2] के रेग्यूलेशन IX (९) के अनुसार साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान के इन विषयों की शिक्षा प्रारम्भ करने की आयोजना की गई: अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, हिन्दुस्तानी, बँगला, तेलेगू, मराठी, तमिल, कन्नड़, शरअ मुहम्मदी, हिन्दू कानून, नीति-विज्ञान (Ethics), न्याय पद्धति (Civil Jurisprudence), अंतर्राष्ट्रीय कानून, अँगरेज़ी कानून, सपरिषद् गवर्नर-जनरल अथवा फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज और बंबई के गवर्नरों द्वारा भारतवर्ष में अँगरेज़ी राज्य का सुचारु रूप से नागरिक शासन चलाने के लिए बनाए गए विधान और नियम, अर्थशास्त्र और विशेपतः ईस्ट इंडिया कम्पनी की व्यापारिक संस्थाएँ और हित, भूगोल, गणित, यूरोप की आधुनिक भाषाएँ, ग्रीक, लैटिन, प्राचीन अँगरेज़ी साहित्य, सामान्य इतिहास—प्राचीन

१—कॉलेज की स्थापना और सविस्तार इतिहास के लिए देखिए प्रस्तुत लेखक की इलाहाबाद यूनीवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' शीर्षक रचना।

२—ओरिजिनल कन्सलटेशन नं० २०, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

दि प्रैक्टीकल ग्राउटलाइन्स ऑव इट्स इम्प्रूवड ऑरथीपी ऐंड ऑरथोग्रैफ़ी, ऐलोंग विथ दि फ़र्स्ट ऐंड जनरल प्रिंसीपिल्स ऑव इट्स ग्रैमर' (१८०२); १३. 'दि हिन्दी रोमन ऑरथोपीग्रैफ़ीकल ग्रल्टीमेटम...एग्ज़ैम्प्लीफ़ाइड इन दि पौप्युलर स्टोरी ऑव शकुन्तला' (१८०४)[१]; १४. 'डायलौग्स इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी' (१८२०)[२], और १५. 'दि जनरल ईस्ट इंडिया गाइड' (१८२५)[२]; बींग ए डाइजेस्ट ऑव दि वर्क ऑव कैप्टेन विलियमसन, विथ मैनी इम्प्रूवमेंट्स ऐंड ऐडीशन्स'। उन्होंने १६. 'दि हिन्दी मौरल प्रीसेप्टर, ऐंड पर्शियन स्कॉलर्स शॉर्टेस्ट रोड टु दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज...'[२] (रचना १८०२, प्रकाशन १८०३), १७. 'दि हिन्दी मैनुग्रल' (१८०२), और १८. 'दि ऑरिएंटल फैब्यूलिस्ट ऑर पौलीग्लौट ट्रान्सलेशन्स ऑव ईसप्स ऐंड अदर एन्शेन्ट फ़ेब्रिल्स...' (१८०३) का संपादन भी किया। जब गिलक्राइस्ट इँगलैंड में थे तब गिलबर्ट नामक व्यक्ति ने उनके 'ऐंटी-जार्गोनिस्ट', 'स्ट्रेंजर्स गाइड', 'ओरिएंटल लिंग्विस्ट', तथा हिन्दुस्तानी संबंधी ग्रन्य रचनाओं को दो जिल्दों में १९. 'दि ब्रिटिश इंडियन मौनीटर' (१८०६-८)[२] शीर्षक से किया, और स्वयं गिलक्राइस्ट ने इँगलैंड में विद्यार्थियों के लाभार्थ अपनी रचनाओं से चुने हुए अंशों का संकलन तैयार किया। अपनी रचनाओं के अतिरिक्त गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी विभाग के अन्य अनेक मुंशियों और पंडितों द्वारा हिन्दुस्तानी रचनाओं का अपने निरीक्षण में निर्माण कराया।

जहाँ तक ग्रंथों की रचना से संबन्ध है मोग्रट, टेलर और प्राइस का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। गिलक्राइस्ट के उत्तराधिकारी मोग्रट तो कोई उल्लेखनीय कार्य न कर सके। टेलर ने केवल 'हिन्दुस्तानी-इँगलिश डिक्शनरी' शीर्षक एक कोष का संकलन किया। प्राइस ने 'खड़ीबोली (ब्रजभाषा ?) इँगलिश डिक्शनरी' (१८१५) और 'ए वौकेबुलेरी, खड़ी-बोली ऐंड इँगलिश ऑव दि प्रिंसीपल वर्ड्स ग्रकरिंग इन दि प्रेमसागर' (१८२५) का संकलन किया और तारिणीचरण मित्र की सहकारिता में 'हिन्दी ऐंड हिन्दुस्तानी सेलेकशन्स' (१८२७-३०) नामक संग्रह का संपादन किया। उन्होंने मुंशियों और पंडितों की रचनाओं का निरीक्षण अवश्य किया।

१—१८२० में लंदन से भी प्रकाशित

२—इँगलैंड से प्रकाशित। पहली दो रचनाएँ लंदन से, 'मौनीटर' एडिनबरा से। 'प्रीसेप्टर' १८२१ में लंदन से भी प्रकाशित हुआ।

लोगों का आधुनिक भाषाओं की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। हमारे लिए यह दूसरी बात ही विशेष महत्त्वपूर्ण है, विशेषतः उस समय जब कि देशी साहित्य की कोई परवा तक न करता था। कॉलेज ने गद्य और पद्य में अनेक प्राचीन और नवीन पुस्तकें प्रकाशित कीं।

१८०० और १८५४ के बीच में कॉलेज ने हिन्दुस्तानी, बँगला, फ़ारसी और अरबी, तथा भारतवर्ष की अन्य भाषाओं, विशेषतः केवल इन्हीं चार भाषाओं, में अनेक ग्रंथ प्रकाशित किए। इन चार भाषाओं के प्रकाशनों में भी हमारा संबंध हिन्दुस्तानी भाषा के साथ ही है। फ़ारसी और नागरी लिपियों में प्रकाशित हिन्दुस्तानी के[1] अधिकतर ग्रन्थों से यहाँ हमारा कोई सीधा संबंध नहीं, क्योंकि वे उर्दू के ग्रन्थ हैं। हमारे लिए केवल लल्लूलाल और सदल मिश्र की रचनाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं, और इन दोनों पर हम आगे चल कर विचार करेंगे।

हिन्दुस्तानी भाषा के प्रोफ़ेसरों में से कॉलेज की स्थापना से पहले और उसके बाद प्रकाशित गिलक्राइस्ट की रचनाओं में से प्रधान रचनाएँ इस प्रकार हैं :

१. 'ए डिक्शनरी, इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी', २ भाग (१७८७-१७९०): 'ए ग्रैमर ऑव दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज, विथ ए सप्लीमेंट' (१७९६-१७९८); ३. 'ऐपेंडिक्स टु दि डिक्शनरी'; ४. 'दि ऑरिएंटल लिंग्विस्ट' (१७९८); ५. 'दि ऐंटी जार्गोनिस्ट' (१८००), आंशिक रूप में 'दि ऑरिएंटल लिंग्विस्ट' का संक्षिप्त रूप; ६. 'दि स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडियन गाइड टु दि हिन्दुस्तानी' (१८०२); ७. 'दि हिन्दी स्टोरी टैलर, ऑर एन्टरटेनिंग एक्सपोज़ीटर ऑव दि रोमन, पर्शियन ऐंड नागरी कैरैक्टर्स' (नक़लियात) (१८०२); ८. 'ए कलैक्शन ऑव डायलौग्स, इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी, ऑन दि मोस्ट फ़ैमोलियर ऐंड यूसफुल सब्जेक्ट्स' (१८०४); ९. 'ए न्यू थियरी ऑव पर्शियन वर्ब्स विथ देअर हिन्दुस्तानी सिनोनिम्स' (१८३१); १०. 'दि हिन्दी-ऐरेबिक टेब्लि्' ११. 'कम्पैरेटिव ऐलाफ़ाबेट—रोमन, नागरी, ऐंड पर्शियन'; १२. 'दि हिन्दी डाइरेक्टरी, ऑर स्टुडेन्ट्स इन्ट्रोडक्टर टु दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज : कम्प्राइज़िंग

१—दे०, 'प्रोसीडिंग्स ओव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', जि० ४, पृ० ३८१-३८९, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली, और,

रोएबक : 'ऐनल्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम' (१८१९). परिशिष्ट, पृ० २१-२९

दि प्रैक्टीकल ग्राउटलाइन्स ऑव इट्स इम्प्रूवड ऑरथीपी ऐंड ऑरथोग्रैफ़ी, ऐलोंग विथ दि फ़र्स्ट ऐंड जनरल प्रिंसीपिल्स ऑव इट्स ग्रेमर' (१८०२); १३. 'दि हिन्दी रोमन ऑरथीपीग्रैफ़ीकल अल्टीमेटम...एग्ज़ैम्प्लीफ़ाइड इन दि पौप्युलर स्टोरी ऑव शकुन्तला' (१८०४)[1]; १४. 'डायलॉग्स इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी' (१८२०)[2], और १५. 'दि जनरल ईस्ट इंडिया गाइड' (१८२५)[2]; बींग ए डाइजेस्ट ऑव दि वर्क ऑव कैप्टेन विलियमसन, विथ मैनी इम्प्रूवमेंट्स ऐंड ऐडीशन्स'। उन्होंने १६. 'दि हिन्दी मौरल प्रीसेप्टर, ऐंड पर्शियन स्कॉलर्स शॉर्टेस्ट रोड टु दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज...'[2] (रचना १८०२, प्रकाशन १८०३), १७. 'दि हिन्दी मैनुअल' (१८०२), और १८. 'दि ऑरिएंटल फैब्यूलिस्ट ऑर पौलीग्लौट ट्रान्सलेशन्स ऑव ईसप्स ऐंड अदर एन्शेन्ट फ़ेबिल्स...' (१८०३) का संपादन भी किया। जब गिलक्राइस्ट इँगलैंड में थे तब गिलबर्ट नामक व्यक्ति ने उनके 'ऐंटी-जार्गोनिस्ट', 'स्ट्रेंजर्स गाइड', 'ओरिएंटल लिंग्विस्ट', तथा हिन्दुस्तानी संबंधी अन्य रचनाओं को दो जिल्दों में १६. 'दि ब्रिटिश इंडियन मौनीटर' (१८०६-८)[2] शीर्षक से किया, और स्वयं गिलक्राइस्ट ने इँगलैंड में विद्यार्थियों के लाभार्थ अपनी रचनाओं से चुने हुए अंशों का संकलन तैयार किया। अपनी रचनाओं के अतिरिक्त गिलक्राइस्ट ने हिन्दुस्तानी विभाग के अन्य अनेक मुंशियों और पंडितों द्वारा हिन्दुस्तानी रचनाओं का अपने निरीक्षण में निर्माण कराया।

जहाँ तक ग्रंथों की रचना से संबन्ध है मोअट, टेलर और प्राइस का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। गिलक्राइस्ट के उत्तराधिकारी मोअट तो कोई उल्लेखनीय कार्य न कर सके। टेलर ने केवल 'हिन्दुस्तानी-इँगलिश डिक्शनरी' शीर्षक एक कोष का संकलन किया। प्राइस ने 'खड़ीबोली (ब्रजभाषा ?) इँगलिश डिक्शनरी' (१८१५) और 'ए वौकेबुलेरी, खड़ी-बोली ऐंड इँगलिश ऑव दि प्रिंसीपल वर्ड्स अकरिंग इन दि प्रेमसागर' (१८२५) का संकलन किया और तारिणीचरण मित्र की सहकारिता में 'हिन्दी ऐंड हिन्दुस्तानी सेलेकशन्स' (१८२७-३०) नामक संग्रह का संपादन किया। उन्होंने मुंशियों और पंडितों की रचनाओं का निरीक्षण अवश्य किया।

१—१८२० में लंदन से भी प्रकाशित

२—इँगलैंड से प्रकाशित। पहली दो रचनाएँ लंदन से, 'मौनीटर' एडिनबरा से। 'प्रीसेप्टर' १८२१ में लंदन से भी प्रकाशित हुआ।

१—'We apply the Hindooee, or Hindee, to that dialect of the Hindoosthanee which is derived principally from the Sungskrit, and which, before the invasion of the Musulmans, was spoken throughout Hindoosthan. It is still the language most extensively understood, particularly among the common people'

२—'.. .The fact is, indeed, that the latest and most exact researches have shown, that the Hindee has no country which it can exlusively claim as its own. Being the language of the Musalman courts and camps, it is spoken, in those cities and towns which have been formerly or are now the seat of Musalman princes; and in general by those Musalmans who attend on the persons of European gentlemen in almost every part of India. Hence it is the language of which most Europeans get an idea before any other, and which indeed in many instances terminates their philological researches. The circumstances have led to the supposition, that it is the language of the greater part of Hindoostan; while the fact is, that it is not always understood among the common people at the

distance of only twenty miles from the great towns in which it is spoken. They speak their own vernacular language, in Bengal the Bengalee, and in other countries that which is appropriately the language of the country, which may account for a circumstance well-known to those gentlemen who fill the judicial department; namely, that the publishing of the Honourable Company's Regulations in Hindoosthanee has been often objected to, on the ground that in that language they would be unintelligible to the bulk of the people in the various provinces of Hindoostan.'

यहाँ पर 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' का एक अर्थ में प्रयोग किया गया है। यह 'हिंदी' उपर्युक्त 'हिंदी' से भिन्न है। ध्यानपूर्वक दोनों अवतरणों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जायगा।

उन्होंने अपने निजी लाभ के लिए कोष का संकलन करना प्रारंभ किया था। बीच ही में यकायक उनकी मृत्यु हो जाने से, १८०८ में विलियम हंटर ने मुंशियों की सहायता से उसे पूर्ण किया। हिन्दुस्तानी के संबंध में कार्य करने वालों में टॉमस रोएबक नामक एक और यूरोपियन का नाम उल्लेखनीय है। शुरू में वे मद्रास नेटिव इन्फैंट्री में कैप्टेन थे। फिर वे हिन्दुस्तानी, ब्रजभाषा, फ़ारसी और अरबी भाषाओं के परीक्षक और तत्पश्चात् कॉलेज कौंसिल के सहायक-मंत्री नियुक्त हुए। उनकी प्रधान रचनाएँ इस प्रकार हैं : १. 'ब्रिटिश इंडियन मौनीटर' (१८०८)—गिलक्राइस्ट की रचनाएँ; २. 'इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी डायलौग्स' (१८०९)—गिलक्राइस्ट की रचना; ३. 'दि इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी डिक्शनरी, विथ ए ग्रैमर प्रि-फ़िक्स्ड' (१८१०)—टेलर के मतानुसार कॉलेज में पढ़ाए जाने वाले व्याकरणों में रोएबक का यह व्याकरण सबसे अच्छा था; ४. 'हिन्दुस्तानी फ़ाइलौलौजी' (१८१०)—गिलक्राइस्ट की रचनाएँ; ५. 'इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी नैवल डिक्शनरी ऑव टैकनिकल टर्म्स ऐंड सी .फ्रेज़ेज़' (१८११)—इस ग्रंथ के साथ हिन्दुस्तानी भाषा का एक संक्षिप्त व्याकरण भी जुड़ा हुआ है[1]; और ६. 'ए कलेक्शन ऑव प्रौवर्ब्स ऐंड प्रौवर्बियल .फ्रेज़ेज़ इन दि पर्शियन ऐंड हिन्दुस्तानी लैंग्वेजेज़'। किन्तु, जैसा कि स्पष्ट है, उन्होंने संपादन और संकलन कार्य ही विशेष रूप से किया। उन्होंने कई हिन्दुस्तानी या उर्दू ग्रंथों का भी संपादन किया।[2] उनका सबसे अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है ७. 'दि ऐनल्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम' (१८१९)—यद्यपि यह ग्रंथ भी उनकी मौलिक कृति नहीं है। रोएबक के अतिरिक्त डॉ० विलियम हंटर ने ईसाइयों की धर्म-पुस्तक के नए नियम का हिन्दुस्तानी में अनुवाद किया। मूल ग्रीक संस्करण से तुलना के बाद उन्होंने १८०५ में अपना अनुवाद एक जिल्द में छापा। १८०५ में हंटर ने एक हिन्दुस्तानी-इँगलिश कोष का संकलन भी प्रारंभ किया था किन्तु उसे पूर्ण रोएबक ने किया। कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जिन्होंने कॉलेज से कोई संबंध न होते हुए भी हिन्दुस्तानी भाषा के संबंध में रुचि प्रकट की, किन्तु उनसे इस समय हमारा कोई संबंध नहीं है।

वास्तव में जिस वर्ष कॉलेज की स्थापना हुई वह वर्ष आधुनिक भारतीय

१—ये रचनाएँ एडिन्बरा से प्रकाशित हुईं।

२—दे०, 'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कालेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', जि० ६, पृ० १०९-१२४, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

भाषाओं के इतिहास में अमर रहेगा। अन्य अनेक भाषाओं के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू (हिन्दुस्तानी) के जीवन में नवीनता का समावेश हुआ—उन्हें प्रेस की सहायता प्राप्त हुई, उनके नए-नए टाइप ढाले गए, उनमें विराम-चिह्नों का प्रयोग प्रारंभ हुआ, आधुनिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से उनके व्याकरणों और कोषों का निर्माण हुआ, उनमें नवीन विषयों से संबंधित ग्रंथों की रचना तथा नवीन शब्दावली प्रचलित हुई, और प्राचीन ग्रंथों का सुथरे रूप में संपादन तथा मुद्रण हुआ। कॉलेज में अनेक ऐसे विद्वान् हुए जिन्होंने भारतीय विद्वानों की सहायता से भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार अध्ययन किया, और उसी प्रणाली के अनुसार ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों को शिक्षा दी। कॉलेज की स्थापना से पूर्व हिन्दुतानी में निर्मित ग्रंथ केवल प्रयोग रूप में थे। उनका उतना चलन और उतनी प्रसिद्धि न हुई जितनी गिलक्राइस्ट के ग्रंथों की हुई। जहाँ तक हिन्दुस्तानी भाषा से संबंध है, उसके व्याकरण और कोष की रचना के लिए गिलक्राइस्ट को श्रेय दिए बिना नहीं रहा जा सकता। उन्होंने अपने जिन पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाओं से लाभ उठाया उनका ऋण उन्होंने अपनी रचनाओं की भूमिकाओं में स्वीकार किया है।

भारत में अँगरेज़ी राज्य और आधुनिकता के प्रतीक-स्वरूप फ़ोर्ट विलियम कॉलेज का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अँगरेज़ी राज्य की नींव दृढ़ करने में तो उसने योग दिया ही, किन्तु शिक्षा एवं साहित्य-संबंधी क्षेत्र में भी ऐसी सुसंगठित और केन्द्रीय संस्था का निर्माण भारत में पहले कभी न हुआ था। वेलेज़ली की मूल बृहत् आयोजना के अनुसार यदि कॉलेज की स्थापना हो जाती तो वह निस्संदेह संसार की एक महान् संस्था के रूप में स्मरण किया जाता। वेलेज़ली की आर्थिक नीति से असंतुष्ट होकर कोर्ट के डाइरेक्टरों ने उसे केवल बंगाल सेमिनरी के रूप में रहने दिया। किन्तु इस छोटे-से रूप में उसने जो कार्य किया वह ही उसे गौरव प्रदान करने के लिए यथेष्ट है।

लल्लूलाल और सदल मिश्र की रचनाओं के नाते हिन्दी साहित्य के इतिहास में कॉलेज का उल्लेख किया जाता है। उल्लेख करना आवश्यक भी है। किन्तु वास्तव में हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में उसका क्या महत्त्व है, इस सम्बन्ध में अब फिर से विचार करने की आवश्यकता है। कॉलेज का स्थान निर्धारित करने के लिए दो बातें विचारणीय हैं—पहली बात गद्य

की है और दूसरी भाषा की। इन दोनों बातों पर पीछे विचार किया जा चुका है जिसका निष्कर्ष यह है कि गद्य-ग्रंथों के तथा अरबी-फ़ारसी शब्दों से रहित खड़ी-बोली में गद्य-ग्रंथों के निर्माण की दृष्टि से और ब्रजभाषा में गद्य की दृष्टि से कॉलेज ने हिन्दी साहित्य में कोई नवीनता उपस्थित न की थी। लल्लूलाल और सदल मिश्र के ग्रंथों और भाषा के सम्बन्ध में यथास्थान विचार किया जायगा।

प्रश्न यह है कि स्वयं कालेज में खड़ीबोली के किस रूप को आश्रय दिया गया अथवा किस रूप को प्रधानता दी गई। इस सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व दो बातें तो निश्चित रूप से ध्यान में रखनी चाहिए। एक यह कि कॉलेज की स्थापना प्रधानतः शासन-सम्बन्धी और सैनिक दृष्टि से हुई थी। दूसरे यह कि कॉलेज ने शुरू से ही फ़ारसी और नागरी लिपि अपनाई। फ़ारसी लिपि का प्रचार तो उस समय था ही। नागरी लिपि ग्रहण करने के कारणों का पीछे उल्लेख हो चुका है। स्वयं गिलक्राइस्ट रोमन लिपि के पक्षपाती थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रयोग भी किए।

कॉलेज में रचित ग्रंथों में से हिन्दी भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से लल्लूलाल और सदल मिश्र के ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं। कॉलेज के पठन-पाठन और उसकी भाषा-नीति की दृष्टि से डॉ० जॉन ब्रोर्थविक् गिलक्राइस्ट के ग्रंथ ही विचारणीय हैं। ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से उनके अतिरिक्त अन्य किसी प्रोफ़ेसर का नाम उल्लेखनीय भी नहीं है।

जिस समय गिलक्राइस्ट भारतवर्ष आए उस समय कम्पनी फ़ारसी भाषा का प्रयोग करती थी। उच्च पदाधिकारियों की सुविधा के लिए दुभाषिए रक्खे जाते थे। किन्तु गिलक्राइस्ट ने फ़ारसी के स्थान पर हिन्दुस्तानी का चलन अधिक देखा। इसलिए उन्होंने कम्पनी के कर्मचारियों में हिन्दुस्तानी भाषा का प्रचार करना आवश्यक समझा। स्वयं हिन्दुस्तानी का अध्ययन कर लेने के बाद कर्मचारियों की सुविधा के लिए उन्होंने कई ग्रंथ बनाए। उनका सबसे पहला ग्रंथ 'ए डिक्शनरी, इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी' (१७८७-१७९०) है। इस ग्रंथ के प्रारंभ में विस्तृत भूमिका है जिसमें उन्होने कोष के निर्माण की कहानी दी है और भाषा-सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं। इसके बाद हिन्दुस्तानी शब्दों का अँगरेज़ी में अर्थ है। हिन्दुस्तानी शब्द-संख्या का अधिकांश अरबी और फ़ारसी भाषाओं से लिया

गया है, यद्यपि कहीं-कहीं लेखक ने अरबी-फ़ारसी शब्दों के पर्यायवाची सरल 'हिन्दवी' शब्द भी दे दिए हैं। कोष में फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया गया है। १७९६-१७९८ में गिलक्राइस्ट कृत 'ए ग्रैमर ऑव दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' नामक रचना प्रकाशित हुई। इस व्याकरण के सिद्धांत तो 'हिन्दवी' पर आधारित हैं, किन्तु और सब बातें हिन्दुस्तानी (या उर्दू) की हैं। उदाहरण के लिए, छंद उन्होंने 'फ़ाइलुन', 'फ़ाइलातुन', 'मफ़ाइलुन', 'फ़ाइलात', आदि चुने हैं। फ़ारसी या अरबी लिपि के उन्होंने 'नस्तालीक़', 'नस्ख़', 'शिकस्त-आमेज', 'शिकस्ता', 'शफ़ीअ', और 'शुल्स' भेदों का उल्लेख किया है। पारिभाषिक शब्दावली अरबी-फ़ारसी या उर्दू से ग्रहण की गई है। उद्धरण उर्दू साहित्य से चुने गए हैं और वली, दर्द, तावाँ, मिस्कीन, अफ़ज़ल, जुरत, मीर, सौदा, बेदार, आदि की हिन्दुस्तानी कवियों में प्रधान रूप से गणना की है। १७९८ में 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें 'दि रुडीमेंट्स ऑव दि हिन्दुस्तानी टंग' (हिन्दुस्तानी भाषा की मूल बातें) नामक एक छोटा-सा ग्रंथ भी शामिल है। इसके अतिरिक्त साहबों के लिए हिन्दुस्तानी में 'डायलौग्ज़' (बातचीत), 'मिलिटरी टर्म्स' (फ़ौजी शब्दावली), 'आर्टिकिल्स ऑव वार' (फ़ौजी कानून), 'टेल्स ऐंड ऐनेकडोट्स' (किस्से-कहानियाँ), 'ओड्स' (कविताएँ), रेख़्ता और ग़ज़ल के रूप में हिन्दुस्तानी संगीत के उदाहरण दिए गए हैं। 'वोकैब्यूलरी—इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी' (अँगरेज़ी-हिन्दुस्तानी शब्दावली) १७९८ और १८०२ वाले दोनों संस्करणों में है। १८०२ के संस्करण में पारिभाषिक शब्द, हिन्दुस्तानी गिनती, दिन, आदि कुछ नए विषयों के अतिरिक्त कुछ नई कविताएँ और कहानियाँ भी जोड़ दी गई हैं। उदाहरणों की भाषा में 'सोभा', 'निर्मल', 'चतुर', 'कठिन', 'लगभग', 'लजाना', 'पात', 'नगर', आदि शब्द अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु अधिकांश शब्द अरबी-फ़ारसी या उर्दू के हैं। किस्से-कहानियों की भाषा में प्रयुक्त होने के कारण ये शब्द सरल अवश्य हैं, यद्यपि कठिन शब्दों का बिल्कुल अभाव नहीं है। वाक्य-विन्यास भी उर्दू का है। १८०२ के संस्करण में अँगरेज़ी के पारिभाषिक शब्दों का हिन्दुस्तानी में अनुवाद हुआ है। १८०२ में प्रकाशित, दि स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडियन गाइड' हिन्दुस्तानी व्याकरण है। इसी वर्ष प्रकाशित 'दि हिन्दी डाइरेक्टरी' भी हिन्दुस्तानी व्याकरण है, किन्तु 'गाइड' से कुछ थोड़ा-सा अंतर है। १८०२ में ही प्रकाशित 'दि हिन्दी मैनुअल' गिलक्राइस्ट की मौलिक रचना नहीं है, किन्तु कॉलेज के हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के लिए प्रधानतः सरकारी आश्रय पा रहे

की है और दूसरी भाषा की। इन दोनों बातों पर पीछे विचार किया जा चुका है जिसका निष्कर्ष यह है कि गद्य-ग्रंथों के तथा अरबी-फ़ारसी शब्दों से रहित खड़ी-बोली में गद्य-ग्रंथों के निर्माण की दृष्टि से और ब्रजभाषा में गद्य की दृष्टि से कॉलेज ने हिन्दी साहित्य में कोई नवीनता उपस्थित न की थी। लल्लूलाल और सदल मिश्र के ग्रंथों और भाषा के सम्बन्ध में यथास्थान विचार किया जायगा।

प्रश्न यह है कि स्वयं कॉलेज में खड़ीबोली के किस रूप को आश्रय दिया गया अथवा किस रूप को प्रधानता दी गई। इस सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व दो बातें तो निश्चित रूप से ध्यान में रखनी चाहिए। एक यह कि कॉलेज की स्थापना प्रधानतः शासन-सम्बन्धी और सैनिक दृष्टि से हुई थी। दूसरे यह कि कॉलेज ने शुरू से ही फ़ारसी और नागरी लिपि अपनाई। फ़ारसी लिपि का प्रचार तो उस समय था ही। नागरी लिपि ग्रहण करने के कारणों का पीछे उल्लेख हो चुका है। स्वयं गिलक्राइस्ट रोमन लिपि के पक्षपाती थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रयोग भी किए।

कॉलेज में रचित ग्रंथों में से हिन्दी भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से लल्लूलाल और सदल मिश्र के ग्रन्थों के नाम उल्लेखनीय हैं। कॉलेज के पठन-पाठन और उसकी भाषा-नीति की दृष्टि से डॉ० जॉन बोर्थविक् गिलक्राइस्ट के ग्रंथ ही विचारणीय हैं। ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से उनके अतिरिक्त अन्य किसी प्रोफ़ेसर का नाम उल्लेखनीय भी नहीं है।

जिस समय गिलक्राइस्ट भारतवर्ष आए उस समय कम्पनी फ़ारसी भाषा का प्रयोग करती थी। उच्च पदाधिकारियों की सुविधा के लिए दुभाषिए रक्खे जाते थे। किन्तु गिलक्राइस्ट ने फ़ारसी के स्थान पर हिन्दुस्तानी का चलन अधिक देखा। इसलिए उन्होंने कम्पनी के कर्मचारियों में हिन्दुस्तानी भाषा का प्रचार करना आवश्यक समझा। स्वयं हिन्दुस्तानी का अध्ययन कर लेने के बाद कर्मचारियों की सुविधा के लिए उन्होंने कई ग्रंथ बनाए। उनका सबसे पहला ग्रंथ 'ए डिक्शनरी, इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी' (१७८७-१७९०) है। इस ग्रंथ के प्रारंभ में विस्तृत भूमिका है जिसमें उन्होंने कोष के निर्माण की कहानी दी है और भाषा-सम्बन्धी विचार व्यक्त किए हैं। इसके बाद हिन्दुस्तानी शब्दों का अँगरेज़ी में अर्थ है। हिन्दुस्तानी शब्द-संख्या का अधिकांश अरबी और फ़ारसी भाषाओं से लिया

गया है, यद्यपि कहीं-कहीं लेखक ने अरबी-फ़ारसी शब्दों के पर्यायवाची सरल 'हिन्दवी' शब्द भी दे दिए हैं। कोष में फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया गया है। १७९६-१७९८ में गिलक्राइस्ट कृत 'ए ग्रैमर ऑव दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' नामक रचना प्रकाशित हुई। इस व्याकरण के सिद्धांत तो 'हिन्दवी' पर आधारित हैं, किन्तु और सब बातें हिन्दुस्तानी (या उर्दू) की हैं। उदाहरण के लिए, छंद उन्होंने 'फ़ाइलुन', 'फ़ाइलातुन', 'मफ़ाइलुन', 'फ़ाइलात', आदि चुने हैं। फ़ारसी या अरबी लिपि के उन्होंने 'नस्तालीक', 'नस्ख़', 'शिकस्त-आमेज', 'शिकस्ता', 'शफ़ीअ', और 'शुल्स' भेदों का उल्लेख किया है। पारिभाषिक शब्दावली अरबी-फ़ारसी या उर्दू से ग्रहण की गई है। उद्धरण उर्दू साहित्य से चुने गए हैं और वली, दर्द, ताबाँ, मिस्कीन, अफ़ज़ल, जुरत, मीर, सौदा, बेदार, आदि की हिन्दुस्तानी कवियों में प्रधान रूप से गणना की है। १७९८ में 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें 'दि रुडीमेंट्स ऑव दि हिन्दुस्तानी टंग' (हिन्दुस्तानी भाषा की मूल बातें) नामक एक छोटा-सा ग्रंथ भी शामिल है। इसके अतिरिक्त साहबों के लिए हिन्दुस्तानी में 'डायलौग्ज़' (बातचीत), 'मिलिटरी टर्म्स' (फ़ौजी शब्दावली), 'आर्टिकिल्स ऑव वार' (फ़ौजी कानून), 'टेल्स ऐंड ऐनेकडोट्स' (किस्से-कहानियाँ), 'ओड्स' (कविताएँ), रेख़्ता और ग़ज़ल के रूप में हिन्दुस्तानी संगीत के उदाहरण दिए गए हैं। 'वोकैब्यूलरी—इँगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी' (अँगरेज़ी-हिन्दुस्तानी शब्दावली) १७९८ और १८०२ वाले दोनों संस्करणों में है। १८०२ के संस्करण में पारिभाषिक शब्द, हिन्दुस्तानी गिनती, दिन, आदि कुछ नए विषयों के अतिरिक्त कुछ नई कविताएँ और कहानियाँ भी जोड़ दी गई हैं। उदाहरणों की भाषा में 'सोभा', 'निर्मल', 'चतुर', 'कठिन', 'लगभग', 'लजाना', 'पात', 'नगर', आदि शब्द अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु अधिकांश शब्द अरबी-फ़ारसी या उर्दू के हैं। किस्से-कहानियों की भाषा में प्रयुक्त होने के कारण ये शब्द सरल अवश्य हैं, यद्यपि कठिन शब्दों का बिल्कुल अभाव नहीं है। वाक्य-विन्यास भी उर्दू का है। १८०२ के संस्करण में अँगरेज़ी के पारिभाषिक शब्दों का हिन्दुस्तानी में अनुवाद हुआ है। १८०२ में प्रकाशित, दि स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडियन गाइड' हिन्दुस्तानी व्याकरण है। इसी वर्ष प्रकाशित 'दि हिन्दी डाइरेक्टरी' भी हिन्दुस्तानी व्याकरण है, किन्तु 'गाइड' से कुछ थोड़ा-सा अंतर है। १८०२ में ही प्रकाशित 'दि हिन्दी मैनुअल' गिलक्राइस्ट की मौलिक रचना नहीं है, किन्तु कॉलेज के हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के लिए प्रधानतः सरकारी आश्रय पा रहे

हिन्दुस्तानी कवियों और मुंशियों की रचनाओं के चुने हुए अंशों का संग्रह है—मीर बहादुर अली कृत 'अखलाक इ-हिन्दी', मीर अब्दुल्ला कृत 'मर्सिया', जवाँ और लल्लूलाल कृत 'सिंहासन बत्तीसी', विला और लल्लूलाल कृत 'माधोनल', जवाँ और लल्लूलाल कृत 'शकुंतला नाटक', विला और लल्लूलाल कृत 'बैताल पच्चीसी', मीर हैदर बख्श कृत 'तोता कहानी', मीर अम्मन कृत 'बाग़ोबहार', मीर बहादुर अली कृत 'नस्त्र-इ बेनज़ीर', और मीर शेर अली कृत 'बाग़-इ-उर्दू'। इन रचनाओं की विभिन्न शैलियों का संग्रह गिलक्राइस्ट ने विद्यार्थियों के लाभ के लिए किया था। १८०२-१८०३ में प्रकाशित 'नक़ूलियात-इ-हिन्दी' या 'दि हिन्दी स्टोरी टैलर' में गिलक्राइस्ट ने बड़े मनोरंजक ढंग से हिन्दुस्तानी भाषा में लिखित विभिन्न कहानियों तथा अन्य रचनाओं के माध्यम द्वारा रोमन, फ़ारसी और नागरी लिपियों की तुलनात्मक उपयोगिता प्रदर्शित की है। इस ग्रंथ की दूसरी जिल्द का द्वितीय संस्करण १८०६ में प्रकाशित हुआ। १८०३ में प्रकाशित 'दि हिन्दी मौरल प्रीसेप्टर' या 'अतालीक़-इ हिन्दी' में फ़ारसी-विद्वान् के हिन्दुस्तानी सीखने के लिए और हिन्दुस्तानी जानने वाले के फारसी सीखने के लिए सरल व्याकरण है। यह गिलक्राइस्ट की मौलिक रचना नहीं है। उनकी अध्यक्षता में हिन्दुस्तानी विभाग के देशी विद्वानों द्वारा अनुवाद, संग्रह, आदि के रूप में एक ग्रन्थ निर्मित हुआ था—'फ़ारसीख्वाँ का रहनुमा हिन्दुस्तानी ज़बान को या हिन्दीदाँ का फ़ारसी की तरफ़', 'मज़हर अली ख़ाँ विला व चन्द अश्ख़ास का किया हुआ वास्ते बमूजिब फ़रमाइश जान गिलक्रिस्त साहब के'। इसी वर्ष प्रकाशित 'दि ओरिएंटल फ़ैब्यूलिस्ट' भी गिलक्राइस्ट की मौलिक रचना नहीं है। यह विभिन्न देशी विद्वानों द्वारा हिन्दुस्तानी, फ़ारसी, अरबी, ब्रजभाषा, बँगला और संस्कृत भाषाओं तथा रोमन लिपि में अनूदित ईसप तथा अँगरेजी भाषा से ली हुई अन्य अनेक पुरानी कहानियों का विद्यार्थियों के लाभार्थ संग्रह-ग्रंथ है। इस ग्रंथ को 'पौलीग्लौट' भी कहा गया है। १८०४ में प्रकाशित 'दि हिन्दी-रोमन ओरथीपीग्रेफ़ीकल अल्टीमेटम' में शकुंतला की कहानी द्वारा गिलक्राइस्ट ने पूर्वीय और रोमन लिपियों की तुलनात्मक उपयोगिता दिखाई है। १८२५ में प्रकाशित 'दि जनरल ईस्ट इंडिया गाइड' में कम्पनी की नौकरी के लिए आने वाले व्यक्तियों तथा उनकी स्त्रियों के लिए देश के जलवायु, आचार-विचार, रहन-सहन, आभूषण, वस्त्र आदि के बारे में सभी सूचनाएँ और उन्हें भारत आते समय क्या लाना चाहिए, क्या नहीं लाना चाहिए, इन सब बातों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में भाषा के उदाहरण नहीं

मिलते। वास्तव में गिलक्राइस्ट के लिपि-संबंधी प्रयास रोमन लिपि की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए थे। इन [illegible] ग्रंथों के अतिरिक्त लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर' की भाँति अन्य ग्रंथों की रचना गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में हुई जिनसे हमारा कोई संबंध नहीं है।

इन ग्रंथों में से 'डिक्शनरी', 'ग्रैमर', 'लिंग्विस्ट', 'दि स्ट्रैंजर्स ईस्ट इंडियन गाइड', 'दि हिन्दी डाइरेक्टरी', 'नक़लियात-इ-हिन्दी' या 'दि हिन्दी स्टोरी टैलर' और 'दि हिन्दी-रोमन ऑरथोऐपिग्राफ़िकल अल्टीमेटम' ही गिलक्राइस्ट की मौलिक रचनाएँ हैं। अन्य सभी संग्रह-ग्रंथ हैं। गिलक्राइस्ट के विचारों की दृष्टि से प्रथम तीन ग्रन्थ तथा ओरिएंटल सेमिनरी का प्रथम 'जर्नल' (१७६६) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

गिलक्राइस्ट के भाषा-सम्बन्धी विचारों तथा उनके दिए हुए उदाहरणों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका हिन्दुस्तानी से उस भाषा से तात्पर्य था जिसके व्याकरण के सिद्धांत, क्रिया-रूप, आदि तो इलहैड द्वारा कही जाने वाली विशुद्ध या मौलिक हिन्दुस्तानी ("प्योर ऑर ओरिजिनल हिन्दुस्तानी"), और स्वयं उन्हीं की शब्दावली में, 'हिन्दवी' या 'बृजभाषा' के आधार पर स्थित थे, लेकिन जिसमें अरबी-फ़ारसी के संज्ञा-शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग रहता था। यह भाषा केवल वे ही हिन्दू और मुसलमान बोलते थे जो पढ़े-लिखे थे, और जिनका संबंध राज-दरबारों तथा कचहरियों से था, या जो सरकारी नौकर और उच्च श्रेणी के थे[1]। लिखने में फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। हिन्दुस्तानी को उन्होंने 'हिन्दी', 'उर्दू', 'उर्दूवी' और 'रेख़्ता' भी कहा है। इनमें से केवल 'हिन्दी' शब्द ही ऐसा है जो साहित्यिकों के दिमाग़ में उलझन पैदा कर सकता है। गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दी' का 'हिन्द की' के अर्थ में प्रयोग किया है, जो बिल्कुल ठीक है। हिन्दुस्तानी भी हिन्द की भाषा थी गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दी' शब्द का अपने विचारानुसार हिन्दुस्तानी के अर्थ में ही प्रयोग किया है। प्राइस ने निश्चित रूप से 'हिन्दी' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयगो किया। किन्तु गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दी' के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' शब्द इसलिए पसंद किया ताकि 'हिन्दवी', 'हिन्दुई' (जिनका 'ठेठ हिन्दी', 'भाखा' और 'खड़ीबोली' के अर्थ में प्रयोग होता था) और 'हिन्दी' शब्दों से, जो बहुत-कुछ

१—'ए रिव्यू ऑव मि० टॉमसन्स डिक्शनरी' (१८४६)—'कलकत्ता रिव्यू', १८४८, जि० ९ (जनवरी-जून)

मिलते-जुलते हैं, कोई गड़बड़ी पैदा न हो सके। 'हिन्दवी' को वे केवल हिन्दुओं की भाषा मानते थे। मुसलमानी आक्रमण से पहले यही भाषा उत्तरी भारत में प्रचलित थी, जो नागरी लिपि में लिखी जाती थी, जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता था, और जिसके आधार पर हिन्दुस्तानी का भवन खड़ा हुआ था। इस प्रकार हिन्दवी और हिन्दुस्तानी के भेद के बाद गिलक्राइस्ट ने तीन प्रचलित शैलियाँ निर्धारित कीं—(१) दरबारी या फ़ारसी शैली, (२) हिन्दुस्तानी शैली, और (३) हिन्दवी शैली। फ़ारसी शैली के दुरूह होने और सर्वसाधारण की समझ में न आ सकने के कारण वह उन्हें अग्राह्य थी। हिन्दवी शैली को (जो जनसाधारण में सबसे अधिक समझी जाती थी) वे गँवारू कह कर पुकारते थे। उन्हें सिर्फ़ हिन्दुस्तानी शैली पसंद आई जो, उनके मतानुसार, हिन्दुस्तान की महान् लोकप्रिय बोली ('दि ग्रैंड पॉप्युलर स्पीच ऑव हिन्दुस्तान') थी। इस शैली में दक्षता प्राप्त करने के लिए फ़ारसी भाषा और लिपि का ज्ञान अनिवार्य था (कॉलेज में फ़ारसी और हिन्दुस्तानी का सदैव गठबंधन रहा)। वे स्वयं तो रोमन लिपि के कट्टर पक्षपाती थे, किन्तु फ़ारसी लिपि के वे अधिक विरोधी नहीं थे, क्योंकि हिन्दुस्तानी (या उर्दू) के पुराने कवियों जैसे, मीर, दर्द, सौदा, आदि ने इसी लिपि का प्रयोग किया था। अच्छी हिन्दुस्तानी लिखने के लिए उन्होंने फ़ारसी शब्दों का मिश्रण आवश्यक समझा। अच्छी हिन्दुस्तानी के नमूने या तो सौदा की रचनाओं में या स्वयं गिलक्राइस्ट द्वारा निर्मित ग्रंथों में दिए गए हिन्दुस्तानी भाषा के उदाहरणों में या आया, ख़ानसामा और मुंशी की भाषा में मिल सकते थे। कोई हिन्दू भी अच्छा 'हिन्दुस्तानी मुंशी' बन सकता है, यह बात गिलक्राइस्ट मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा का यह सूत्र दिया है :

हिन्दवी + अरबी + फ़ारसी = हिन्दुस्तानी[1]

१—गिलक्राइस्ट के भाषा संबंधी विचारों से विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए दे०—

'जर्नल ऑव दि ऑरिएंटल सेमिनरी', फ़रवरी, १८०१, ओ० सी० नं० ३९ १८ मार्च, १८०१), इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

'डिक्शनरी' और 'ऑरिएंटल लिंग्विस्ट' की भूमिकाएँ। वैसे लगभग सभी ग्रन्थों की भूमिकाओं में उनके भाषा-संबंधी विचार मिल जाते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि बहुत दिनों तक फ़ारसी राज-भाषा थी और उसके अनेक शब्द 'हिन्दवी' में घुलमिल गए थे। किन्तु गिलक्राइस्ट ने केवल ऐसे शब्दों का ही प्रयोग नहीं किया, वरन् अनेक तत्सम अरबी-फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग किया और उन्हें अरबी-फ़ारसी व्याकरण के अनुसार विभिन्न रूप दिए। उनकी रचनाओं से लिए गए निम्नलिखित अवतरण[1] न केवल अपनी शैली (जो हिन्दी नहीं है) के लिए ही रोचक प्रतीत नहीं होंगे, वरन् इस दृष्टि से भी कि गिलक्राइस्ट ने खड़ीबोली के किस रूप को आश्रय प्रदान किया और फलतः ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी भाषा के किस रूप को अपनाया। गिलक्राइस्ट की सहायता से प्रधान सेनापति के फ़ारसी भाषा के दुभाषिए, विलियम स्कॉट, ने १७९० में 'आर्टिकिल्स ऑव वॉर' का हिन्दुस्तानी में अनुवाद किया था। 'लिंग्विस्ट' के दोनों संस्करणों (१७९८ और १८०२) में यह अनुवाद शामिल है। उसमें से एक अवतरण नीचे उद्धृत किया जाता है :

'पहली आईन आठवीं बाब की

जिस वक्त किसी ओहदेदार, या सिपाही पर, बड़े गुनाह की नालिश हो, या किसू रय्यत के बदन या माल के कुछ बिदत, या नुसक़ान करने की फ़रीआद होवे, जिस की सज़ा रेजीमेंट, रिसाले, कंपनी या तईनाती में वुह आसामी, या वे आसामी एलाक़ा रखते हों, जिन पर फ़रीआद हुई है; तो ऊस ही के सर्दार और ओहदेदारों को चाहिए, इस आईन के मुआफ़िक़ मुनासिब दरख़्वास्त पर, ऊस फ़रीआदी या फ़रीआदियों से, या ऊन के तरफ़ से, कि अपनी मक़दूर भर ऊस आसामी या आसामियों को, जिन पर नालिश हुई है, मुल्की हाकिम को सौंपे; और इस के चाहिए कि अदालत के ओहदेदार को मदद ओ सहारा देवे, ऊस आसामी या आसामियों के पकड़ने, और सलामत पहुँचाने में, वास्ते तहक़ीक़ात इस नालिशी मुक़द्मे के. अगर कोई सर्दार या ओहदेदार देख सून के न माने, या

१—गिलक्राइस्ट की रचनाओं से केवल खड़ीबोली के उदाहरण दिए जाएँगे, क्योंकि ब्रजभाषा के संबंध में तो कोई विवाद उठ ही नहीं सकता।

ग़फ़लत करे उसी दरख़्वास्त की रू से मुल्की हाकिम को ऊस आसामी या आसामियों के सौंपने में या इस आसामी या आसामियों के पकड़ने में अदालत के लोगों की कूमक न करे, तौ वुह सर्दार या वे ओहदेदार तक़सीरमंद ओहदे और नौकरी से बरतरफ़ होंगे।' (१७६०) (रोमन लिपि से)

मेजर ब्राउटन के 'सेलेक्शन्स फ्रॉम दि पॉप्यूलर पोएट्री ऑव दि हिंदूज़' की भूमिका से उद्धृत करते हुए उर्दू (या हिंदुस्तानी) भाषा और हिंदू सिपाही के विषय में टॉमसन साहब की 'हिंदी ऐंड इँगलिश डिक्शनरी' का एक समीक्षक लिखता है :

'With this language, however, few of our Hindi Sipahis are conversant when they quit their native villages. In the course of long service they doubtless acquire more of it, but throughout their lives, they generally retain so much of their original dialect, that it not unfrequently requires a third person to interpret between a veteran soldier and his experienced officer.'

श्रीरामपुर मिशनरियों ने भी इसी आधार पर इस भाषा का विरोध किया था। गिलक्राइस्ट की रचनाओं से कुछ और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

'जो जड़ और डाल पात किसू क़िस्से के लोगों के दिलों पर वहूत असीर-पज़ीर है, तौ ऊस को थोड़ा ही सा उज्र आदमीयों के सुनाने के लीए चहीए. यिह कहानी भरी हुई है कई एक दिलरेश वारिदात से, कि नतीजा औ तासीर में ऊस की हम सब थोड़ा वहुत शरीक़ हैं. मैं कहा, "ऐ बड़े मिआं तुम्हें किआ दुख है ?" "हाए ! साहिब, मेरी लड़की को तुम ने देखा है ?" जिस शख़्स ने यिह ऐसा जवाब मुझे दीआ, सो वुह एक ग़रीब अंधा मर्द बैठा था, खोखर दरख़्त की एक जड़वत पर जिस ने

चाँदी की सब सोभा लूटी हुई थी, लुटेरे वक्त के सख़्त हाथ से;—औ झोली पैवन्दी ऊस की भी खाली थी लछमी की मिहरबानी से,—एक बाँस की लाठी जिस पर ऊस्के निर्बल हाथ टिके हुए थे, औ देही उस की भूख की कठिन चोट से मेरी नज़र में जो डूबने पर थी ग़श में,—औ फूटी आँखें औ थरथराती आवज़ ऊस की यिह दरोबस्त देख, त्रुंत एक इबरत अदावाना दिल में मेरे पैदा हुई. फिर ऊस सुरत ज़ाहिरी की तरफ़ जो मूझे इस हैरत में पाबंद कीआ मैं तक रहा, तौ जी में बूझा, कि क़ुदरत इलाही ने इस ज़ईफ़ की पर्वरिश से एक क़लम हाथ उठाया. जो निर्मल नाला ऊस के पैरों के तले खल-खलाता था वुह भी आफ़त को ज़बान हमावाज़ हो, चीं अब्रूई से खड़खड़ाता रहा, गोया कि वाक़िफ़ था ऊस के पैहम हादिसों से...'[1] (रोमन लिपि से)

'दो जवान थे, एक का नाम इस्तिक़लाल मुतहम्मिल था, दूसरे का ग़ुरूर आराम-तलब, उन्होंने बाहम मिलकर मुल्क-इ-नादानी को छोड़ा, और क़स्र-इ-सरफ़राज़ी की तलाश में किश्वर-इ-इल्म की राह ली. चंदां दूर न बढ़े थे, कि कोह-इ-पसंद को पहुँचे, उस पर से अपनी मंज़िल-इ-मक़सूद को काले कोसों देखा. तब वहां से उतरे और आगे बढ़ कर जो निगाह की तो एक दोराहा नज़र पड़ा, देखते ही हैरान हुए, दोनों ने दर्याफ़्त किया कि हर एक रस्त: इसी मुक़ाम से सरफ़राज़ी के क़स्र को जाता है, इस वास्ते कि वहां दो निशान थे...'[2] (रोमन लिपि से)

'एक वज़ीर का बेटा नादान व कुन्दज़हन था वज़ीर ने एक दाना के पास उसे भेजा और कहा कि इस लड़के को तरबियत कर शायद कि अक्लमन्द हो जावे चुनांचि दाना ने उसकी तालीम में बहुत सी कोशिश की

१—'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' (१७९८), १८०२ संस्करण

२—'ईस्ट इंडियन गाइड...' (१८०२), १८२० संस्करण, पृ० २४१

> पर कुछ फ़ायदा न हुआ पस लाचार होकर लड़के को उसके बाप के पास फेर भेजा और कहा कि तेरा बेटा आक़िल नहीं हुआ और मुझे दीवाना किया।'[1]

'हिन्दी मौरल प्रीसेप्टर' (१८०२; १८०३) या 'अतालीक़-इ-हिन्दी' में 'हिन्दी' शब्द भ्रम में डाल सकता है। किन्तु इस संग्रह में सम्मिलित शेख़सादी शीराज़ी कृत 'पंदनामा' की भाषा से उसका रूप स्पष्ट हो जाता है :

> 'गुनह से मुझे बाज़ रख ऐ ख़ुदा
> गुनह बख़्श और राहे नेकी दिखा
> ज़ुबान को दहन बीच जब तक है जा
> है मक़बूल दिल को नबी की पना'[2]

इस संग्रह में अन्य विषय हैं : 'सर्फ़ फ़ारसी व हिन्दी', 'इंतिख़ाब क़ायदा हिन्दी जबान का फ़ारसी और हिन्दी इबारत में', 'ख़ुतूत', आदि। ग्रंथ में सर्वत्र फ़ारसी लिपि का प्रयोग किया गया है। इसी 'हिन्दी' को हिन्दुस्तानी भी कहा गया है। गिलक्राइस्ट द्वारा संपादित 'दि ऑरिएंटल' फ़ैब्यूलिस्ट' में ईसप तथा अँगरेज़ी की अन्य प्राचीन कहानियों के हिन्दुस्तानी, फ़ारसी, अरबी, ब्रजभाषा, बँगला और संस्कृत में अनुवाद हैं। ग्रंथ में रोमन लिपि का व्यवहार किया गया है। विभिन्न भाषाओं के अनुवादक इस प्रकार थे :

तारिणीचरण मित्र—बँगला, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी
मीर बहादुर अली—फ़ारसी और हिन्दुस्तानी
मीर शेरअली अफ़सोस—" " "

एक वार किसी शहर में यूं शुहरत हूई कि उसके नज़दीक के पहाड़ को जन्ने का दर्द उठा: और कहते हैं कि वहुत आह ओ नाले की आवाज़ उस से सुनी जाती थी; और सव की इसी पर नजर थी कि कुछ अनूठी चीज़ अनक़रीव ज़ाहिर होगी. वड़े शौक़ से आदमियों की भीड़ उस अजाइव तमाशा देखने को जमा थी: एक तो मुन्तज़िर था कि कोई देओ पैदा होगा; दूसरा इस वात पर कि कोई अनौखा राकस होगा; ग़रज़ सव इसी इंतिज़ारी में थे कि कुछ अजाइव और अचरज देखाई देगा. निदान वड़ी इन्तिज़ारी और वहुत वेकली के पीछे क्या देखते हैं! जो एक चूही पैदा हूई

हासिल, अनहोनी आस वधानी, होते हूए काजों पर हंसवाना है'.[१] (रोमन लिपि)

ग्रन्थ में प्रत्येक कहानी का ब्रजभाषा रूपान्तर भी है। इस संबंध में गिलक्राइस्ट का भूमिका में कहना है:

'...I very much regret, that along with the Brij Bhasha, the *Khuree bolee* was omitted, since this particular idiom or style of the Hindoostanee, would have proved highly useful to the students of that language. The real *Khuree bolee* is distinguished by the general observance of Hindoostanee Grammar, and nearly a total exclusion of Arabic and Persian words.'[२]

गिलक्राइस्ट के कथन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली यह कि हिन्दुस्तानी और खड़ीबोली (जिसे 'प्योर हिन्दी' या 'ठेठ बोली' भी कहते थे) में भेद था। हिन्दुस्तानी का व्यावहारिक अर्थ निश्चित रूप से उर्दू था। दूसरी वात यह है कि ग्रियर्सन तथा अन्य विद्वानों का यह कहना कि लल्लूलाल का प्रेम-

---

१—पृ० ५९

२—पृ० v

प्रेमसागरी भाषा से आधुनिक हिन्दी (खड़ीबोली हिन्दी) का कृत्रिम रूप से जन्म हुआ, ठीक नहीं है। गिलक्राइस्ट का उपर्युक्त ग्रंथ १८०३ में प्रकाशित हुआ था। इसी वर्ष लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना प्रारंभ की थी। अस्तु, लल्लूलाल की रचना से पहले, या कम-से-कम जब उन्होंने अपनी रचना प्रारंभ की थी, उस समय अरबी-फारसी शब्दों से रहित खड़ीबोली का रूप प्रचलित अवश्य था। गिलक्राइस्ट के इस कथन के प्रकाश में लल्लूलाल द्वारा हिन्दुस्तानी में से अरबी-फ़ारसी शब्दों का वहिष्कार कर संस्कृत-गर्भित एक कृत्रिम भाषा को जन्म देने का प्रश्न ही नहीं उठता। ग्रंथ की भूमिका में गिलक्राइस्ट ने स्वयं उपर्युक्त कहानी का खड़ीबोली रूप दिया है जो इस प्रकार है :

'दसवीं कहानी पहाड़ की जिस को जनने की पीर उठी थी.

एक समै किसी नगर में चर्चा फैली, कि उसके पड़ोस के पहाड़ को प्रसूत की पीर हुई : और कहते हैं कि अति आह कर कराहने का शब्द उस से सुना जाता था; और सब की ध्यान उसी पर थी कि कुछ अनूठी वस्तु छिन एक में प्रसिद्ध होगी. अधिक चाओ से लोगों की भीड़ उस नए कौतुक के देखने को इकट्ठी थी : एक तो ताक रहा था कि कोई दैयत जन्मेगा; दूसरा इस बात पर कि कोई अद्भुत राछस होगा; परन्तु सब इसी आस में थे कि कुछ अनूठा अचरज दिखाई देगा; निदान अति बाट देखते और अधिक अस्थिरता के पीछे क्या देखते हैं कि एक चूहा भई.

सार, अनहोनी आस रखावनी होनहार पर हंसावना है।' (रोमन लिपि से)

खड़ीबोली के संबंध में गिलक्राइस्ट का कहना है :

'the scholar therefore has frequently little more to do than, with the aid of an expert moonshee, to modify the present Brij Bhasha version by the modern rules of the language.'[2]

१— [illegible]

२— [illegible]

उपर्युक्त कहानी का ब्रजभाषा रूपान्तर इस प्रकार है :

'दसवीं कहानी परवत की जाहि जनवे की पीर भई ही.
एक समै काहू नगर माहिं यों चर्चा चली, कि वा के निकट
के गिर कों प्रसूति की पीर उठी. औं कहतु हैं, कि अति
आह करि कराहिवे कौ सब्द सों सुन्यो जातु हो, अरु
सिगरेन की वाही पै दृष्टि ही, कि कछु अनुपम वस्तु छन
एक में प्रसिध ह्वै है...'[1] (रोमन लिपि से)

प्रस्तुत भूमिका में गिलक्राइस्ट ने एक और कहानी को खड़ीबोली रूप दिया है :

'ग्यारहवीं कहानी लड़कों और मेंडकों की

एक छोकरों का टोल, किसी बड़ी झील के तीर, जहां
बहुत से दादुर रहते थे, अचानक खेलने के लिए आ
निकला. और खेल उनका छुछली का था; जो लगातार
कत्तलें पानी में फेंकते थे, इससे उन अधीन डरे हुए मेंडकों
को अधिक दुख और खेद पहुँचता था. अन्त एक दादुर,
जो सब से ढीठ था सिर नीर से निकाल बोला; हे हे हे
प्यारे लड़को, तुम अभी से अपनी जात की खोटी चाल
क्यूं सीखते हो? मैं गिड़गिड़ाकर कहता हूँ, तुम इसे
विचारो तो सही, कि तुम्हारे ढिग तो यिह खेल है, पर
हमारी मृत्यु है.

सिद्धांत, और के सुख चैन जाने में हंसनी अनीत
और अमानसी है.'[2] (रोमन लिपि से)

'स्टोरी टैलर' (पृ० २४) में भी एक कहानी खड़ीबोली में दी गई है। किन्तु गिलक्राइस्ट द्वारा गृहीत भाषा का यह सामान्य रूप नहीं है। उनकी सामान्य भाषा हिन्दुस्तानी थी जिसके कुछ उदाहरण पीछे दिए गए हैं। गिलक्राइस्ट की रचनाओं से उस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। उनमें हमें 'सोभा', 'निर्बल', 'चतुर', 'कठिन', 'लगभग', 'लजाना',

---

१—पृ० ६०

२—पृ० vi

'निर्मल', जात्रा', 'पात', 'पिया', 'निपट', 'राछस', 'राकस', निवल', 'निचिंत' 'आस','अनूठा', 'तरवर', 'दुख', 'मोह' आदि शब्द मिलते हैं। किन्तु एक तो ऐसे शब्द कम हैं, और दूसरे तत्कालीन हिन्दुस्तानी या उर्दू में हिन्दी प्रदेश के अनेक ठेठ और तद्भव या अर्द्धतत्सम शब्द प्रयोग में आते थे। क़िस्से-कहानियों की सरल हिन्दुस्तानी या उर्दू में ऐसे शब्दों का आना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। उपर्युक्त उदाहरणों में जो बात ध्यान देने की है वह यह है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों के स्थान पर अरबी-फ़ारसी के कठिन तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है और वाक्यों तथा वाक्यांशों का संगठन हिन्दुस्तानी या उर्दू के समान है। भाषा में निश्चित रूप से अ-हिन्दीपन है। 'ईसवीअत का तवक्कुल काफ़िर हूआ, इस असेब की अज़ीअत फ़रो करने में' जैसे अनेकानेक वाक्य मिलते हैं। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विद्यार्थियों को इसी भाषा का अभ्यास कराया जाता था। यहाँ तक कि व्याकरण-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली तक विदेशी हैं, जैसे, 'फ़ाइलुन', 'फ़ाइलातुन', 'मफ़ाइलुन' 'फ़ाइलात', 'इख्तिसार' (Abbreviation), '.खुलासा' या 'इंतिख़ाब' (Abstract), 'मफ़ूल' (Accusative), 'सिफ़त' (Adjective), 'हर्फ़ जर्फ़ तमीज़' (Adverb), 'ज़र्फ़ ज़मान' (Adverb of Time), 'ज़र्फ़ मुकान' (Adverb of Place), 'मजाज़' (Allegory), 'हर्फ़ इस्म' (Article), 'हालत' (Case), 'मुरक्कब' (Compound), 'मुतसर्रिफ़' (Declinable), 'इस्तक़बाल, मुसतक़बिल' (Future), 'सर्फ़-ओ-नहो, क़ायदा-क़वानीन' (Grammar), 'मुबालग़ा' (Hyperbole), 'जमा' (Plural) आदि। पारिभाषिक शब्दों में एक भी शब्द भारतीय नहीं है। सप्ताह के दिनों के नाम उन्होंने वे ही ग्रहण किए हैं जो भारतीय मुसलमानों में प्रचलित रहे हैं। ओरिएंटल सेमिनरी के अपने 'जर्नल' (१८ मार्च, १७-९९) में गिलक्राइस्ट ने फ़ारसी व्याकरण के अनुसार शब्दों के रूप निर्मित किए हैं, जैसे उन्हीं के दिए हुए उदाहरण हैं—'अहकाम', 'महकूम', 'मक्कमा' आदि और जहाँ हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध में उनका कथन है—'... The Arabic and Persian being introduced into Hindoostanee with little or no corruption.' वास्तव में 'जर्नल' में प्रकट किए गए इस विचार की विस्तृत व्याख्या ही उन्होंने अपने अन्य ग्रंथों की भूमिकाओं में की है। अपने जीवन के अंत तक (१८४१) वे इन्हीं विचारों का समर्थन करते रहे।

जहाँ तक लिपि से सम्बन्ध है, गिलक्राइस्ट स्वयं रोमन लिपि के कट्टर

पक्षपाती थे, और नागरी और फ़ारसी लिपियों को उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध स्वीकार करना पड़ा था। इस सम्बन्ध में उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा लिखने के लिए रोमन लिपि प्रणाली भी तैयार करली थी। उनके लिपि-सम्बन्धी विचार और प्रणाली वैसे तो लगभग सभी ग्रंथों की भूमिकाओं में मिलती है, किन्तु उनका विस्तृत निरूपण उन्होंने अपने 'दि हिन्दी-रोमन ऑरथोपीग्रैफ़ीकल अल्टीमेटम' (Orthoepigraphical Ultimatum) में किया है और साथ ही काज़िम अली जवाँ द्वारा शकुन्तला नाटक की कथा का हिन्दुस्तानी रुपान्तर रोमन लिपि में दिया है। सर जॉन शोर उनके इस 'अल्टीमेटम' के सम्बन्ध में क्या मत रखते थे, उसका पीछे उल्लेख हो चुका है। ८ दिसंबर, १८१८ को लन्दन से लिखे गए एक पत्र में गिलक्राइस्ट ने भी इस संबंध अपने विचार प्रकट किए थे। यह अंश पीछे उद्धृत किया जा चुका है।[1] गिलक्राइस्ट के विचारों का यह प्रभाव हुआ कि 'हिन्दुस्तानी-इँगलिश डिक्शनरी' के संकलनकर्ता डब्ल्यू० हंटर ने हिन्दुस्तानी भाषा के विद्यार्थियों के लिए नागरी लिपि बिल्कुल अस्वीकृत ठहराई।

संक्षेप में खड़ीबोली और हिन्दुस्तानी या उर्दू तथा लिपि आदि के सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट के यही विचार हैं।

गिलक्राइस्ट के भाषा-संबंधी विचारों का स्वाभाविक परिणाम क्या हो सकता था, इसका अनुमान एक तो इससे लगाया जा सकता है कि कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग में 'हिन्दुई' और नागरी लिपि से परिचित मुंशियों की संख्या नहीं के बराबर थी, 'भाखा'-मुंशी और पंडितों का सदैव कम वेतन रखा गया और कॉलेज की व्यवस्था में उनका स्थान सदैव गौण रहा, उनकी नियुक्ति या उपस्थिति भी नितांत आवश्यक नहीं समझी जाती थी, उनके संबंध में सदैव अनिश्चित व्यवस्था रही, आवश्यकता न रहने पर वे अलग कर दिए जाते थे या स्थान रिक्त होने पर उसकी पूर्ति तुरंत हो जाना आवश्यक नहीं था, 'भाखा'-मुंशी या पंडित के बिना हिन्दुस्तानी विभाग का कार्य बिना किसी रुकावट के चलता रहता था, कॉलेज में फ़ारसी और हिन्दुस्तानी का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित था और फलतः फ़ारसी के कारण हिन्दुस्तानी सीखने में सहूलियत होने के कारण फ़ारसी के साथ हिन्दुस्तानी विषय लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या सदैव अधिक रही, हिन्दुस्तानी या उर्दू के ग्रन्थों की रचना ही प्रधानतः

१—पृ० ३२२ का फ़ुटनोट १

हुई, और हिंदवी ग्रन्थों की संख्या लल्लूलाल, सदल मिश्र तथा कुछ प्राचीन ग्रंथों तक ही सीमित रही। टेलर तथा अन्य पदाधिकारियों द्वारा लिखे गए पत्र और वार्षिकोत्सवों पर दिए गए विज़िटरों के भाषण भी उसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विद्यार्थियों में जिस भाषा का प्रचार किया जा रहा था उस से भी हमारे कथन की पुष्टि होती है। विलियम बटरवर्थ बेली, जो १७९९ में 'राइटर' की हैसियत से भारतवर्ष आया था और जो १३ मार्च, १८२८ से ४ जुलाई, १८२८ तक स्थानापन्न गवर्नर रह कर बाद को कोर्ट का डाइरेक्टर तक हो गया था, गिलक्राइस्ट का विद्यार्थी था। कॉलेज के नियमानुसार होने वाले वार्षिकोत्सव पर ६ फ़रवरी, १८०२ में हिन्दुस्तानी पर उसने एक 'थीसिस' (प्रबन्ध) पढ़ी थी जो १८०४ के लगभग प्रकाशित विद्यार्थियों द्वारा लिखे हुए लेखों के संग्रह ('एसेज़ एंड थीसेस कंपोज़्ड') में छपी थी। उक्त 'थीसिस' की कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं :

> 'आख़िरुल अमर यिह बोली हिंदुस्तान सब को अज़ीज़ ओ प्यारी हुई ओ अकसर मुत.वत्तिनों ने इसी मुरक्कब ज़बान पर राग़िब होकर इस को अख़ज़ कीआ कि अपने ऐसे मुआमलात जिन का इस्तिह्काम मौक़फ़ तह्‌रीर पर न हो उन में इसी से कलाम करें।
>
> हिंदू भी जो क़द्‌रे इमतियाज़ रखता हो या मुसलमानों से या अंगरेज़ी क़ौम से जिस को कुछ ऐलाक़ः है थोड़ी बहुत हस्बहाल अपने नहीं हो सकता कि न जानें।'

और चाहे जो कुछ भी हो उपर्युक्त अवतरण की भाषा 'हिन्दुवी', 'हिन्दवी' या आधुनिक हिन्दी नहीं है। नागरी लिपि का प्रयोग जरूर किया गया है। कंपनी-सरकार जानती थी कि व्यापारियों से, जो मुड़िया, कैथी आदि लिपियों का प्रयोग करते थे, संबंध बढ़ाने के लिए देवनागरी लिपि का ज्ञान परमावश्यक है।

बेली का दावा था : 'हिन्दुस्तान में काररवाई के लीए हिन्दी ज़बान और ज़बानों से ज़ीयादः दरकार है'। १८०४ के वार्षिकोत्सव में जे० रोमर ने, मोअट की अध्यक्षता के समय में, 'ममालिकि हिन्दकी ज़ुबानोंकी असल बुनयाद संस्कृत है' शीर्षक दावा पढ़ा था। स्वयं मोअट मोडरेटर थे। बेली के दावे की भाँति यह दावा भी देवनागरी लिपि में है। भाषा इस प्रकार है :

'लेकिन जो शख़्स इस द.अवेके सावित करने का इरादः करे उसे हिंदूस्तान की व.अज़ी ज़ुबानि मुरव्वज से ख़ूब वाक़िफ़ होना और हासिल करना ज़रूर है गोकि वुह सबसे माहिर नहो पस मुझे अगर यिह बात लाज़िम न होती कि इ.सबाति द.अवेमें कुछ क़सूर नकरूं तो इस काम में हरगिज़ दख़ल न करता जिसके रद्द ओ बदल करनेके लिये ऐक वसफ़भी मुझमें नहीं ॥

जब कि यिह माजरा यूं है जैसामैंने बयान किया तो उन वसीलों को जो मैं अपने द.अवेके क़ाइम रखने को लासकता हूं इख़तियार करके उन की होश म.सन्निफ़ों से जिन्होंने इस मुक़द्दमे में लिखा है ख़्वाह लफ़्ज़ हों या म.अने इसतआर: करता हूं उम्मेदवार हूं कि मेरा यिह उज़्र क़बूलहो ॥

चुनांचे उन म.सन्निफ़ों में जोंस .साहिब सबसे नामवर है लेकिन उसके क़िसम बक़िसमि इशतक़ाक़ की तफ़्तीश और मूशिगाफ़ी से बाज़ रहता हूं इस वास्ते कि इस कलाम की .तर्ज़ से ज़रूर है कि ता मक़दूर जितना होसके मुख़त.सर करूं पस उस साहिब की किताबों के जुदे जुदे इक़तबास करनेसे उन दलीलों की वज़.अ के ज़ाहिर करने के .इवज़ उलझेड़ा डालना है ॥'

जो बातें बेली के दावे के संबंध में कही गई हैं, वे ही रोमर के दावे के बारे में भी कही जा सकती हैं। वास्तव में इन सब प्रमाणों के आधार पर गिलक्राइस्ट को आधुनिक हिन्दी भाषा और गद्य का निर्माता कहना किसी प्रकार भी युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। वे और चाहे जो कुछ रहे हों, किन्तु आधुनिक हिन्दी भाषा और गद्य के निर्माता वे कभी नहीं थे। जॉन बौर्थविक् गिलक्राइस्ट का जन्म १७५६ में एडिनबरा में हुआ था। स्थानीय जॉर्ज हैरियट्स अस्पताल में डॉक्टरी का अध्ययन कर चुकने के बाद ३ अप्रैल, १७८३में वे ईस्ट इंडिया कंपनी में सहायक सर्जन नियुक्त हुए, और उसी वर्ष कलकत्ते आ गए। १७९४ में वे सर्जन बना दिए गए। १७८७ से उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा का अध्ययन प्रारंभ कर दिया था। उनके भाषा-संबंधी विचारों तथा उनकी रचनाओं से उद्धृत उदाहरणों के अध्ययन से तथा यह

देखते हुए कि उनके विचारों से किस भाषा को प्रोत्साहन मिला, यही निष्कर्ष निकलता है कि 'he formed the Hindustani or Urdu tongue,'[1] न कि आधुनिक हिन्दी भाषा और गद्य। कॉलेज में सरकारी पत्र-व्यवहार की भाषा फ़ारसी थी। व्रजभाषा व्याकरण और 'लतायफ़-इ हिन्दी' के प्रकाशन के समय लल्लूलाल ने कॉलेज-कौंसिल के पास जो आवेदन-पत्र भेजा था वह फ़ारसी में है।[2]

किन्तु कॉलेज के अंतर्गत भाषा-समस्या का एक पहलू और भी है। उपर्युक्त उद्धरण या तो गिलक्राइस्ट की रचनाओं से अथवा वेली और रोमर द्वारा कॉलेज के वार्षिकोत्सव के अवसरों पर पढ़े गए दावों से लिए गए हैं। वेली ने प्रथम वार्षिकोत्सव और रोमर ने तृतीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर दावे पढ़े थे। २६ मार्च, १८०३ के द्वितीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर मद्रास के डब्ल्यू० चैपलेन ने 'सती होने की रीति हिन्दूओं में अपने पति के साथ भल-मनसी और मया के चलन से वाहर है' शीर्षक दावा पढ़ा था जिसके मॉडरेटर स्वयं गिलक्राइस्ट थे और अन्य दो की भाँति ही जो नागरी लिपि में है। किन्तु चेपलेन की भाषा वेली और रोमर की भाषा से भिन्न है :

> 'डरकर इसवातसे मैं चौंकताहूं और भग.वानकीदया दृष्टसे चाहताहू कि सांचे पंथके चलानेसे यिह रीति घिना-.वनी ओ अनीतिकी मूलसे जातीरहे औरप्रगट जानीजाती है कियिह चाल मनकी तरंगसे निराली है क्यूं कि माता की ममताके वंधन छूटजातेहैं और .वुह सुख आसभरा दरसकिजो सुमाता को अपने प्यारे लड़कों के पालनेमें नेम-धर्म से है सो कुसमें धूंधला होजाताहै सतीके धुऐं से और वुद्धिलोगोंकी रंडीके जल मरनें को नहीं चाहती इस-लीये किमति एसे मरनेकी रीति को अज्ञानदेगी पर कुपंथ-हीमें यिह अंधेरहै जो सच पूछोतो मरतपजने.वाले

> निर्दई ब्राह्मन केवचन सेहै जिसकी दया मया और वातों में प्रसिद्धहै .वोही इसहत्याकी सीख देता है ह्यांतक कि उसको सोच विचारके लिये ऐक पलभी छुट्टी नहीं देता जो मरेहूये प्यारे प्रीतम के दुखसे आपको वचा.वे भला ह्यां किसीका ऐसा मन कठिनहै जो हमारा साथी होके उन विन अपराध स्त्रीयोंकेमरनेपर जो सदा ऐसी वुरी रीति में जी.व देती हैं पछता.वा नकरे जो तुम मनुष्य हो तो तुम्हारी माया मो हमें इतनी दुवधानहीं औजो ईसापंथी हो तो कुछभी नहीं जैसी घिनहमै इस पापसे है .वैसी हम कथनहीं सकते...'

संभव है चैपलेन के दावे की भाषा से कुछ भ्रम उत्पन्न हो। किन्तु इस अवतरण की भाषा पर विचार करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दुस्तानी के अरबी-फ़ारसी रूप को प्रधानता देने पर भी गिलक्राइस्ट (अथवा कॉलेज के अन्य पदाधिकारी) हिन्दवी की पूर्ण अवहेलना न कर सके थे। स्वयं गिलक्राइस्ट इस रूप से अधिक परिचित नहीं थे और इसीलिए फ़रवरी, १८०२ में उन्हें लल्लूलाल की स्थायी नियुक्ति करानी पड़ी थी और इसीलिए 'प्रेम सागर' (१८०३-१८०६) की रचना हुई। इसी रूप के अर्थात् हिंदवी के आधार पर हिन्दुस्तानी या उर्दू का प्रासाद खड़ा हुआ था। । इसलिए उसका ज्ञान परमावश्यक था। विद्यार्थी भी उसका अभ्यास करते थे। ऐसी परिस्थिति में यदि किसी विद्यार्थी ने हिंदवी के अभ्यास के लिए उसमें अपनी थीसिस लिखी हो तो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गिलक्राइस्ट हिन्दवी को हिन्दुस्तानी या उर्दू के बराबर महत्त्व देते थे। उन्होंने हिन्दवी का हिन्दुस्तानी की आधार-स्वरूप भाषा के रूप में गौण स्थान दिया, प्रधानतः मूल हिन्दुस्तानी के अरबी-फ़ारसी रूप या हिन्दुस्तानी या उर्दू ही की रक्खी। किन्तु जैसा कि टेलर, प्राइस, रोएबक आदि के पत्रों से ज्ञात होता है, हिन्दवी या 'भाखा' या ठेठ हिन्दी या खड़ीबोली के गौण स्थान का भी ह्रास हो गया और बहुत दिनों तक हिन्दुस्तानी (उर्दू) का ही प्राधान्य बना रहा।

अदालतों में जितने लोग न्याय की आशा से आते थे उनमें से बहुत कम अदालती भाषा समझ पाते थे। किसान तथा अन्य प्रकार के निम्न श्रेणी के मुसलमान हिन्दुओं की भाषा का ही व्यवहार करते थे। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में जिस हिन्दुस्तानी भाषा का चलन था वह सिपाहियों तथा जन-

साधारण में भली भाँति नहीं समझी जाती थी। अँगरेज़ों का हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) भाषा-संबंधी अध्ययन बहुत कम था। उनका ज्ञान अधिकतर 'प्रेमसागर' तक सीमित रहता था। हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) भाषा जानने वाले अँगरेज़ एक तो वैसे ही कम थे उस पर नागरी लिपि जानने वाले तो और भी कम थे।[1] इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कॉलेज ने खड़ीबोली हिन्दी गद्य के विकास में—भाषा और विषय की दृष्टि से—कहाँ तक सहायता पहुँचाई और किस प्रकार की भाषा को आश्रय प्रदान किया। सच बात तो यह है कि कॉलेज के माध्यम द्वारा हिन्दुस्तानी या उर्दू की परिमार्जित गद्य शैली और विकासशील साहित्य की नींव पड़ी। कॉलेज के मुंशियों ने उसे साहित्यिक पद पर आसीन किया। हिन्दुस्तानी गद्य के क्षेत्र में गिलक्राइस्ट की कोई भी मौलिक रचना नहीं मिलती। वे एक बहुत बड़े संग्रह-कर्ता थे। हाँ, हिन्दुस्तानी गद्य समृद्ध उनके माध्यम द्वारा अवश्य हुआ। इस क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया उसे, और खड़ीबोली गद्य की परम्परा को देखते हुए गिलक्राइस्ट को वह स्थान नहीं दिया जा सकता जो हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने उन्हें दे रखा है।

किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी भाषा-संबंधी समस्या में कॉलेज का जो थोड़ा-बहुत श्रेय है वह उसे अवश्य मिलना चाहिए। अँगरेज़ी राज्य का विस्तार पूर्ण रूप से हिन्दी प्रदेश में हो गया था। ऐसी परिस्थिति में बिहार, अवध, राजपूताना के राज्यों तथा तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश (या Upper Provinces) के वृहत् भूमि-भाग में बोली जाने वाली हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) की उपेक्षा करना सरल कार्य नहीं था। शिक्षित मुसलमानों को छोड़ कर किसान और गैर-किसान मुसलमान अधिकतर हिन्दुओं की भाषा का ही प्रयोग करते थे। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश की सरकार द्वारा प्रकाशित जनसंख्या संबंधी आंकड़ों के अनुसार नौ हिन्दू पीछे एक मुसलमान था, और यदि तत्कालीन बिहार, सागर और नर्मदा प्रदेश, और राजपूताना राज्य भी शामिल कर लिए जायँ तो हिन्दुओं की संख्या और भी बढ़ जाती है। इससे

अब तक कॉलेज द्वारा उपेक्षित हिन्दी का महत्त्व सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तानी या उर्दू के आधार के रूप में हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) का अध्ययन करना नितान्त अनिवार्य था। साथ ही सैनिक तथा नागरिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए भी उसका अध्ययन आवश्यक था। फलतः कॉलेज की भाषा-संबंधी नीति में परिवर्तन होना ही चाहिए था। कॉलेज के २४ जुलाई, १८१५ के वार्षिकोत्सव के दिन ऑनरेबुल एन० बी० एडमॉन्स्टन, ऐक्टिंग विज़िटर, ने अध्यापकों तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था।[1] तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश से आने वाले अधिक-

---

१—'It is highly satisfactory to observe that several of the military students have presented with success the study of Brij Bh'ak ha, under the tuition of Lieutenant Price. The Hindee, of which the Brij Bh'ak,ha or language of the territory anciently denominated Brij, is one of the dialects, appears to bear precisely the same relation to the modern Hindoostanee, that the Saxon of the 11th or 12th century bears to the English of the present day The Hindee, however, constitutes at this moment the native language of a considerable portion of the population of India, and proceeding through degrees of modification and of intermixture with the Arabic and Persian, may be said to terminate or be lost in that refined and elegant language, which is denominated Oordoo, or the court dialect of Hindoostan.

The study of Hindee, therefore, although perhaps not more essential to a comprehensive and critical acquaintance with the language strictly termed Oordoo than the study of Anglo-Saxon is to a perfect knowledge of the English, yet becomes important and even necessary to those who may have to maintain an extensive intercourse and personal communication with all classes of the Indian population; more especially it is requisite for the military officers of the Company's service, because a large proportion of the sepoys of the Army on the establishment of Bengal speak either the Brij Bha'ak,ha. or a

तर सैनिक ब्रजभाषा या हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) भाषा का प्रयोग करते थे। कॉलेज में ब्रजभाषा के अध्ययन की व्यवस्था भी थी। किन्तु फ़ारसी और हिन्दुस्तानी का घनिष्ठ पारस्परिक संबंध होने तथा इससे हिन्दुस्तानी सीखने वालों के समय और परिश्रम में बचत होने के कारण विद्यार्थी ब्रजभाषा के अध्ययन के प्रति उदासीन रहे। ब्रजभाषा का अध्ययन करने और उसकी संस्कृत शब्दावली पर अधिकार प्राप्त करने का कष्ट उठाने वाले विद्यार्थी बहुत कम थे। फ़ारसी के साथ हिन्दुस्तानी का अध्ययन न कर ब्रजभाषा का अध्ययन करना उनके लिए भारी बोझ था। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा का अध्ययन केवल हिन्दुस्तानी के कारण था, न कि स्वतंत्र अध्ययन के रूप में। इसलिए १८१५ के बाद कॉलेज में ब्रजभाषा की ओर अधिक ध्यान जाने पर भी उसके विकास के संबंध में कोई विशेष कार्य न हो सका और हिन्दुस्तानी की ही प्रधानता बनी रही। यह व्यवस्था हिन्दुस्तानी विभाग के प्रोफ़ेसर, जे० डब्ल्यू० टेलर, के समय तक विद्यमान थी।

२२ मई, १८२३ के सरकारी आज्ञापत्र के अनुसार टेलर ने कॉलेज के कार्य से अवकाश ग्रहण किया। सपरिषद् गवर्नर-जनरल ने उसी आज्ञापत्र के अनुसार कैप्टेन (बाद को मेजर) विलियम प्राइस को हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। विलियम प्राइस महोदय का सम्बन्ध नेटिव इन्फ़ैंट्री के बीसवें रेजीमेंट से था। १८१५ से (उस समय वे केवल लेफ़्टिनेंट थे) अब तक वे ब्रजभाषा, बँगला और संस्कृत के सहायक अध्यापक और हिन्दुस्तानी, फ़ारसी आदि भाषाओं के परीक्षक की हैसियत से कॉलेज में कार्य कर रहे थे।

जहाँ तक हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) से सम्बन्ध है विलियम प्राइस का विशेष महत्त्व है; क्योंकि उन्हीं के समय में कॉलेज में हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी का अध्ययन हुआ। कॉलेज के पत्रों में 'हिन्दी' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग प्रधानतः प्राइस के समय (१८२४-२५ के लगभग) से ही मिलता है। हिन्दुस्तानी विभाग भी अब केवल हिन्दी विभाग अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी विभाग और प्राइस, हिन्दी प्रोफ़ेसर अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी प्रोफ़ेसर कहे जाने लगे थे।

---

dialect of which Hindee forms a chief component part. It is, therefore, greatly to be desired, that this language should become a more general object of study in the College.'
[illegible]...', पृ० ४४८-४४९.

विलियम प्राइस के अध्यक्ष होने के बाद ही २४ सितम्बर, १८२४ को कॉलेज कौंसिल के मन्त्री रडेल ने सरकारी मन्त्री सी० लशिंगटन को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने निम्नलिखित विचार प्रकट किए :

'हिन्दुस्तानी, जिस रूप में कॉलेज में पढ़ाई जाती है और जिसे उर्दू, दिल्ली ज़बान आदि या दिल्ली-दरबार की भाषा के नामों से पुकारा जाता है, समस्त भारतवर्ष में उच्च श्रेणी के देशी लोगों, विशेष रूप से मुसलमानों, द्वारा बोलचाल की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। लेकिन क्योंकि मुग़लों ने इसे जन्म दिया था, इसलिए इसकी मूल स्रोत अरबी, फ़ारसी तथा अन्य उत्तर-पश्चिमी भाषाएँ हैं। अधिकांश हिंदू अब भी उसे एक विदेशी भाषा समझते हैं।

फ़ारसी और अरबी से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यह स्पष्ट है कि प्रायः प्रत्येक विद्यार्थी कॉलेज में विद्याध्ययन की अवधि कम करने की दृष्टि से फ़ारसी और हिन्दुस्तानी भाषाएँ ले लेते हैं। फ़ारसी के साधारण ज्ञान से वे शीघ्र ही हिन्दुस्तानी में आवश्यक दक्षता प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं। किन्तु भारत की कम-से-कम तीन-चौथाई जनता के लिए उनकी अरबी-फ़ारसी शब्दावली उतनी ही दुरूह सिद्ध होती है जितनी स्वयं उनके लिए संस्कृत, जो समस्त हिन्दू बोलियों की जननी है।

साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृत का एक विद्वान् हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न बोलियों के प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति मूल संस्कृत स्रोत से सिद्ध कर सकता है। बँगला और उड़िया लिपियों के अतिरिक्त उनकी लिपि भी नागरी है। व्याकरण के सिद्धान्त (शब्दों के रूप आदि) भी बहुत-कुछ समान हैं। अन्य भाषाओं का अध्ययन करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा संस्कृत का साधारण ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति इन भाषाओं पर अधिक अधिकार प्राप्त कर सकता है।'

हमारा विश्वास है कि बँगला और उड़िया अपने मूल उद्गम के के अधिक समीप हैं। किन्तु खड़ीबोली, ठेठ हिन्दी, हिन्दुई आदि विभिन्न नामों से प्रचलित 'ब्रजभाखा' का सामान्यतः समस्त भारतवर्ष में प्रचार है—विशेष रूप से जयपुर, उदयपुर और कोटा की राजपूत जातियों में। इसके अतिरिक्त यह उस श्रेणी के सब हिन्दुओं की भाषा है जहाँ से हमारी तथा अन्य देशी सेनाओं के सैनिक आते हैं।'[1]

१—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलिज ऑव फ़ोर्ट विलियम', १५ दिसम्बर, १८२४, होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जिल्द ९, पृ० ४९६-४९७, इम्पीरियल रेकॉर्ड्‌स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

कॉलेज कौंसिल ने सपरिषद् गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की कि हिन्दुस्तानी भाषा के स्थान पर फ़ारसी के अतिरिक्त बँगला अथवा 'व्रजभाखा' (जिसे ठेठ हिन्दी और हिन्दुई भी कहा जाता था) के पठन-पाठन के लिए कॉलेज के विधान में आवश्यक परिवर्तन किये जायँ। सरकारी मन्त्री लशिंगटन ने ३० सितम्बर, १८२४ के पत्र द्वारा गवर्नर-जनरल की स्वीकृति भेज दी। इस पत्र के अनुसार कौंसिल ने कॉलेज के विधान का नवीन—सातवाँ—परिच्छेद गवर्नर-जनरल के सम्मुख प्रस्तुत किया और साथ ही हर्टफ़ोर्ड में विद्यार्थियों को नागरी लिपि और हिन्दी तथा बँगला की शिक्षा देने के सम्बन्ध में कोर्ट को पत्र लिखने की प्रार्थना की। २८ अक्टूबर, १८२४ को गवर्नर-जनरल ने कॉलेज के नव-विधान पर अपनी स्वीकृति दे दी और कोर्ट को पत्र लिखने का वचन दिया।[1]

कॉलेज कौंसिल ने नव-विधान के साथ विलियम प्राइस का लिखा एक पत्र भी भेजा था, जिसमें उन्होंने अपने भाषा-संबंधी विचार प्रकट किए हैं। उनके और गिलक्राइस्ट के विचारों में स्पष्ट अन्तर है। विलियम प्राइस का कहना है :

'उत्तरी प्रान्तों की भाषाओं को आपस में एक दूसरी से भिन्न समझी जाने और एक ही मूल रूप के विभिन्न रूप न समझे जाने के कारण उनके सम्बन्ध में बड़ी उलझन पैदा हो गई है। उन सबका विन्यास एक सा है, यद्यपि उनमें कभी-कभी शब्द-वैभिन्य मिल जाता है।

यदि यह मान लिया जाय कि गङ्गा की घाटी के हिन्दुस्तान की बोल-चाल की भाषा और संस्कृत के सम्बन्ध पर विचार करने का समय अब नहीं रहा, तो आधुनिक भाषाओं का स्वतन्त्र व्याकरण कब बना ? आधुनिक भाषाओं के स्वतन्त्र व्याकरण के कारण संस्कृत और हिन्दी के विभिन्न रूपों के मुख्य-मुख्य भेद हैं। यद्यपि कुछ शब्दों के संतोषजनक संस्कृत रूप ज्ञात नहीं किए जा सकते, तो भी ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। अधिक अध्ययन करने पर ऐसे शब्दों की-संख्या और भी कम रह जायगी, इतना तो निस्सन्देह है। किन्तु सहायक क्रिया 'होना' संस्कृत धातु 'भू' से निकली है, यह मानना कठिन है।

साथ ही ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि क्रिया संस्कृत है, किन्तु सामान्य

१—वही, पृ० ५०१-५०३

रूप को छोड़ कर उसकी विभक्तियाँ संस्कृत से नहीं मिलतीं। क्रियाओं के रूप और कारक-चिन्ह भी सामान्यतः बिलकुल अजीब हैं। वर्तमान काल और भूत-कृदन्त के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग और परसर्ग लगा कर संज्ञाओं के काल बनाना संस्कृत भाषा के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। मूल रूप चाहे जो कुछ रहा हो, अब एक स्वतन्त्र हिन्दी व्याकरण है जो एक ओर तो अपने प्रदेश की मूल भाषा के व्याकरण से भिन्न है और दूसरी ओर संस्कृत से निकली भाषाओं, जैसे, बँगला और मराठी, से भिन्न है। इसलिए उस भाषा का स्वतन्त्र अस्तिव मानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, जिसे हम सरलतापूर्वक 'हिन्दी' नाम से पुकार सकते हैं, यद्यपि हिन्दुई—बिगड़ा रूप हिन्दवी—शब्द अधिक उपयुक्त होता।

विदेशी शब्दों के प्रचार ने हिन्दी का कुछ ऐसा रूप-परिवर्तन कर दिया है कि उसकी कुछ बोलियाँ एक-दूसरी से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती हैं। उर्दू के बड़े-बड़े विद्वान् तो 'ब्रजभाखा' का एक वाक्य भी नहीं पढ़ सकते। पण्डित या मुंशी और मुसलमान शहज़ादा या हिन्दू ज़मींदार के पारस्परिक सम्पर्क से बोलियाँ आपस में और घुल-मिल गई हैं। इस पर भी प्राचीन और सञ्चित प्रान्तीय प्रवृत्तियों आदि ने इन परिवर्तनों को और भी बढ़ा कर हिन्दी भाषा को अनन्त रूप प्रदान किए हैं। किन्तु इन विभिन्न रूपों का व्याकरण अपरिवर्तित रहा है। हिन्दी प्रधानतः रही एक ही भाषा है। क्लिष्ट से क्लिष्ट उर्दू और सरल से सरल भाषा का विन्यास लगभग एक-सा है। उर्दू और भाषा के क्रमशः 'का', 'की' और 'कौ', 'के', 'की' सम्बन्धकारक चिन्हों में कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं है। भाषा का 'मैं मार्‌यो जातु हूँ' उर्दू के 'मैं मारा जाता हूँ' के लगभग समान ही है।

ब्रजभाषा और उर्दू का जो थोड़ा-सा भेद अभी दिखाया गया है वह केवल प्रादेशिकता मात्र है। अन्य बोलियों में ऐसी अन्य प्रादेशिकताएँ हो सकती हैं। किन्तु वे अस्थिर हैं और उनका महत्त्व भी विशेष नहीं है। बोलियों का प्रयोग भी कम हुआ है। उनका प्रचार अवश्य अधिक होने से वे हिन्दी के ही निकट हैं, जैसा कि हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में है। यह बात खड़ीबोली के विषय में भी लागू होती है। खड़ीबोली ही, न कि 'ब्रजभाखा', जैसा कि डॉ० गिलक्राइस्ट का कहना है, हिन्दुस्तानी का आधार है, उसी के अनुरूप हिन्दुस्तानी का व्याकरण है।

अतएव प्रादेशिकता के अतिरिक्त अन्य समानान्तर विषयों की ओर

कॉलेज कौंसिल ने सपरिषद् गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की कि हिन्दुस्तानी भाषा के स्थान पर फ़ारसी के अतिरिक्त बँगला अथवा 'ब्रजभाखा' (जिसे ठेठ हिन्दी और हिन्दुई भी कहा जाता था) के पठन-पाठन के लिए कॉलेज के विधान में आवश्यक परिवर्तन किये जायँ। सरकारी मन्त्री लशिंगटन ने ३० सितम्बर, १८२४ के पत्र द्वारा गवर्नर-जनरल की स्वीकृति भेज दी। इस पत्र के अनुसार कौंसिल ने कॉलेज के विधान का नवीन—सातवाँ—परिच्छेद गवर्नर-जनरल के सम्मुख प्रस्तुत किया और साथ ही हर्टफ़ोर्ड में विद्यार्थियों को नागरी लिपि और हिन्दी तथा बँगला की शिक्षा देने के सम्बन्ध में कोर्ट को पत्र लिखने की प्रार्थना की। २८ अक्टूबर, १८२४ को गवर्नर-जनरल ने कॉलेज के नव-विधान पर अपनी स्वीकृति दे दी और कोर्ट को पत्र लिखने का वचन दिया।[1]

कॉलेज कौंसिल ने नव-विधान के साथ विलियम प्राइस का लिखा एक पत्र भी भेजा था, जिसमें उन्होंने अपने भाषा-संबंधी विचार प्रकट किए हैं। उनके और गिलक्राइस्ट के विचारों में स्पष्ट अन्तर है। विलियम प्राइस का कहना है :

'उत्तरी प्रान्तों की भाषाओं को आपस में एक दूसरी से भिन्न समझी जाने और एक ही मूल रूप के विभिन्न रूप न समझे जाने के कारण उनके सम्बन्ध में बड़ी उलझन पैदा हो गई है। उन सबका विन्यास एक सा है, यद्यपि उनमें कभी-कभी शब्द-वैभिन्य मिल जाता है।

यदि यह मान लिया जाय कि गङ्गा की घाटी के हिन्दुस्तान की बोल-चाल की भाषा और संस्कृत के सम्बन्ध पर विचार करने का समय अब नहीं रहा, तो आधुनिक भाषाओं का स्वतन्त्र व्याकरण कब बना? आधुनिक भाषाओं के स्वतन्त्र व्याकरण के कारण संस्कृत और हिन्दी के विभिन्न रूपों के मुख्य-मुख्य भेद हैं। यद्यपि कुछ शब्दों के संतोषजनक संस्कृत रूप ज्ञात नहीं किए जा सकते, तो भी ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। अधिक अध्ययन करने पर ऐसे शब्दों की-संख्या और भी कम रह जायगी, इतना तो निस्सन्देह है। किन्तु सहायक क्रिया 'होना' संस्कृत धातु 'भू' से निकली है, यह मानना कठिन है।

साथ ही ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि क्रिया संस्कृत है, किन्तु सामान्य

१—वही, पृ० ५०१-५०३

रूप को छोड़ कर उसकी विभक्तियाँ संस्कृत से नहीं मिलतीं। क्रियाओं के रूप और कारक-चिन्ह भी सामान्यतः बिलकुल अजीब हैं। वर्तमान काल और भूत-कृदन्त के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग और परसर्ग लगा कर संज्ञाओं के काल बनाना संस्कृत भाषा के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। मूल रूप चाहे जो कुछ रहा हो, अब एक स्वतन्त्र हिन्दी व्याकरण है जो एक ओर तो अपने प्रदेश की मूल भाषा के व्याकरण से भिन्न है और दूसरी ओर संस्कृत से निकली भाषाओं, जैसे, बँगला और मराठी, से भिन्न है। इसलिए उस भाषा का स्वतन्त्र अस्तिव मानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, जिसे हम सरलता-पूर्वक 'हिन्दी' नाम से पुकार सकते हैं, यद्यपि हिन्दुई—बिगड़ा रूप हिन्दवी—शब्द अधिक उपयुक्त होता।

विदेशी शब्दों के प्रचार ने हिन्दी का कुछ ऐसा रूप-परिवर्तन कर दिया है कि उसकी कुछ बोलियाँ एक-दूसरी से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती हैं। उर्दू के बड़े-बड़े विद्वान् तो 'ब्रजभाखा' का एक वाक्य भी नहीं पढ़ सकते। पण्डित या मुंशी और मुसलमान शहज़ादा या हिन्दू ज़मींदार के पारस्परिक सम्पर्क से बोलियाँ आपस में और घुल-मिल गई हैं। इस पर भी प्राचीन और सञ्चित प्रान्तीय प्रवृत्तियों आदि ने इन परिवर्तनों को और भी बढ़ा कर हिन्दी भाषा को अनन्त रूप प्रदान किए हैं। किन्तु इन विभिन्न रूपों का व्याकरण अपरिवर्तित रहा है। हिन्दी प्रधानतः रही एक ही भाषा है। क्लिष्ट से क्लिष्ट उर्दू और सरल से सरल भाषा का विन्यास लगभग एक-सा है। उर्दू और भाषा के क्रमशः 'का', 'की' और 'कौ', 'के', 'की' सम्बन्धकारक चिन्हों में कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं है। भाषा का 'मैं मार्यो जातु हूँ' उर्दू के 'मैं मारा जाता हूँ' के लगभग समान ही है।

ब्रजभाषा और उर्दू का जो थोड़ा-सा भेद अभी दिखाया गया है वह केवल प्रादेशिकता मात्र है। अन्य बोलियों में ऐसी अन्य प्रादेशिकताएँ हो सकती हैं। किन्तु वे अस्थिर हैं और उनका महत्त्व भी विशेष नहीं है। बोलियों का प्रयोग भी कम हुआ है। उनका प्रचार अवश्य अधिक होने से वे हिन्दी के ही निकट हैं, जैसा कि हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में है। यह बात खड़ीबोली के विषय में भी लागू होती है। खड़ीबोली ही, न कि 'ब्रजभाखा', जैसा कि डॉ० गिलक्राइस्ट का कहना है, हिन्दुस्तानी का आधार है, उसी के अनुरूप हिन्दुस्तानी का व्याकरण है।

अतएव प्रादेशिकता के अतिरिक्त अन्य समानान्तर विषयों की ओर

विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। कॉलेज में जो भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं उनके व्याकरण में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हाँ, अन्य दृष्टि से कुछ परिवर्तन आवश्यक हैं।

हिन्दी और हिन्दुस्तानी में सबसे बड़ा अन्तर शब्दों का है। हिन्दी के लगभग सभी शब्द संस्कृत के हैं। हिन्दुस्तानी के अधिकांश शब्द अरबी और फ़ारसी के हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० गिलक्राइस्ट कृत 'पॉलीग्लौट फ़ैब्यूलिस्ट' से एक छोटा सा उदाहरण लेकर हम सन्तोष कर सकते हैं—

हिन्दुस्तानी—एक बार, किसी शहर में, यूं शुहरत हुई, कि उसके नज़दीक के पहाड़ को ज़नने का दर्द उठा।

हिन्दी—एक समय, किसी नगर में, चर्चा फैली, कि उसके पड़ौस के पहाड़ को जनने का दर्द उठा।

दोनों के शब्द कहाँ से लिए गए हैं, इस सम्बन्ध में बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। दोनों के रूप को बिगाड़े बिना अन्तर और भी अधिक हो सकता था।

विलियम प्राइस के विचारों तथा कॉलेज की पूर्ववर्ती भाषा-सम्बन्धी नीति में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ तक हिन्दी-हिन्दुस्तानी के आधार से सम्बन्ध है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु आगे चलकर दोनों ने दो भिन्न मार्गों का अवलम्बन ग्रहण किया। राजनीतिक कारणों से खड़ीबोली का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो चुका था। टीपू सुलतान उसे दक्षिण में भी ले गया था। अरबी-फ़ारसी-मिश्रित हिन्दू और मुसलमानों अथवा मुस्लिम राज-दरबारों से सम्पर्क रखने वाले व्यक्तियों में फ़ारसी-ज्ञान का प्रचार स्वयं स्पष्ट है। इसलिए उनमें खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप का प्रचार होना कोई आश्चर्य-जनक विषय नहीं है। अँगरेज़ों का सर्वप्रथम सम्पर्क ऐसे ही व्यक्तियों से स्थापित हुआ था। अतः हिन्दुस्तानी (उर्दू अथवा खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप) को प्रश्रय देना उनके लिए स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में हिन्दी-प्रदेश से उनका अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका था, किन्तु ज्यों-ज्यों यह सम्बन्ध घनिष्ठ होता गया त्यों-त्यों उन्हें भाषा-सम्बन्धी वस्तुस्थिति का पता भी चलता गया और एक समय ऐसा आया जब उन्हें वास्तविक परिस्थिति की दृष्टि से भाषा-नीति में परिवर्तन करना पड़ा। गवर्नर-जनरल और कॉलेज के विज़िटर राइट ऑनरेबुल विलियम पिट, लॉर्ड ऐम्हर्स्ट, ने भी अपने १८२५ के दीक्षान्त भाषण में विलियम प्राइस के विचारों का पूर्ण समर्थन किया था। उनके विचारानुसार भी फ़ारसी और उर्दू जनसाधारण के लिए उतनी ही विदेशी भाषाएँ थीं जितनी अँगरेज़ी। इसलिए उन्होंने पश्चिमी प्रान्तों की ओर जाने वाले सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आग्रह आदेश दिया था।[1] वास्तव में रटैल, विलियम प्राइस और लॉर्ड एम्हर्स्ट के विचार न केवल कॉलेज के इतिहास में, वरन् भारतवर्ष में

१—'In former times, when English gentlemen, comparatively few in number were required to communicate chiefly with the natives of rank or influence, by whom the details of civil administration were conducted, knowledge of Persian, the language of official record, and Hindoostanee, the medium of personal communication among the higher orders, might enable the possessor adequately, to discharge the functions that ordinarily belonged to the civil servants of the Company.

But that state of things has long since ceased to exist. You are now constantly called upon to administer justice to the

विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। कॉलेज में जो भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं उनके व्याकरण में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हाँ, अन्य दृष्टि से कुछ परिवर्तन आवश्यक हैं।

हिन्दी और हिन्दुस्तानी में सबसे बड़ा अन्तर शब्दों का है। हिन्दी के लगभग सभी शब्द संस्कृत के हैं। हिन्दुस्तानी के अधिकांश शब्द अरबी और फ़ारसी के हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० गिलक्राइस्ट कृत 'पॉलीग्लौट फ़ैब्यूलिस्ट' से एक छोटा सा उदाहरण लेकर हम सन्तोष कर सकते हैं—

हिन्दुस्तानी—एक बार, किसी शहर में, यूं शुहरत हुई, कि उसके नज़दीक के पहाड़ को ज़नने का दर्द उठा।

हिन्दी—एक समय, किसी नगर में, चर्चा फैली, कि उसके पड़ौस के पहाड़ को जनने का दर्द उठा।

दोनों के शब्द कहाँ से लिए गए हैं, इस सम्बन्ध में बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। दोनों के रूप को बिगाड़े बिना अन्तर और भी अधिक हो सकता था।

हिन्दी के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि वह नागरी अक्षरों में लिखी जानी चाहिए। संस्कृत-प्रधान रचना जब फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है तो शब्द कठिनता से बोधगम्य होते हैं। कॉलेज़ के पुस्तकालय में एक ऐसे हिन्दी काव्य, पद्मावत, की दो प्रतियाँ हैं जिनके पढ़ने में मेरा और भाषा मुंशी का निरन्तर परिश्रम व्यर्थ गया है।

नई लिपि और नए शब्द सीखने में विद्यार्थियों को कठिनाई होगी। किन्तु इससे उनके ज्ञान की वास्तविक वृद्धि होगी। उनका हिन्दुस्तानी-ज्ञान थोड़े परिवर्तन के साथ फ़ारसी-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे वे न तो भाषा और न देश के विचारों के साथ ही परिचित हो पाते हैं। हिन्दी के अध्ययन में भी इससे कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु हिन्दी के साथ-साथ फ़ारसी-ज्ञान से विद्यार्थी हिन्दुस्तानी रचनाएँ सरलतापूर्वक पढ़ सकेंगे एवं हिन्दुओं और उनके विचारों से परिचय प्राप्त करने में भी कोई कठिनाई न होगी।'

विलियम प्राइस के विचारों तथा कॉलेज की पूर्ववर्ती भाषा-सम्बन्धी नीति में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ तक हिन्दी-हिन्दुस्तानी के आधार से सम्बन्ध है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु आगे चलकर दोनों ने दो भिन्न मार्गों का अवलम्बन ग्रहण किया। राजनीतिक कारणों से खड़ीबोली का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो चुका था। टीपू सुलतान उसे दक्षिण में भी ले गया था। अरबी-फ़ारसी-शिक्षित हिन्दू और मुसलमानों अथवा मुस्लिम राज-दरबारों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों में फ़ारसी-ज्ञान का प्रचार स्वयं स्पष्ट है। इसलिए उनमें खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप का प्रचार होना कोई आश्चर्य-जनक विषय नहीं है। अँगरेज़ों का सर्वप्रथम सम्पर्क ऐसे ही व्यक्तियों से स्थापित हुआ था। अतः हिन्दुस्तानी (उर्दू अथवा खड़ीबोली के अरबी-फ़ारसी रूप) को प्रश्रय देना उनके लिए स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में हिन्दी-प्रदेश से उनका अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका था, किन्तु ज्यों-ज्यों यह सम्बन्ध घनिष्ठ होता गया त्यों-त्यों उन्हें भाषा-सम्बन्धी वस्तुस्थिति का पता भी चलता गया और एक समय ऐसा आया जब उन्हें वास्तविक परिस्थिति की दृष्टि से भाषा-नीति में परिवर्तन करना पड़ा। गवर्नर-जनरल और कॉलेज के विज़िटर राइट ऑनरेबुल विलियम पिट, लॉर्ड ऐमूहर्स्ट, ने भी अपने १८२५ के दीक्षान्त भाषण में विलियम प्राइस के विचारों का पूर्ण समर्थन किया था। उनके विचारानुसार भी फ़ारसी और उर्दू जनसाधारण के लिए उतनी ही विदेशी भाषाएँ थीं जितनी अँगरेज़ी। इसलिए उन्होंने पश्चिमी प्रान्तों की ओर जाने वाले सरकारी कर्मचारियों को हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साग्रह आदेश दिया था।[1] वास्तव में रडैल, विलियम प्राइस और लॉर्ड एम्हर्स्ट के विचार न केवल कॉलेज के इतिहास में, वरन् भारतवर्ष में

१—'In former times, when English gentlemen, comparatively few in number were required to communicate chiefly with the natives of rank or influence, by whom the details of civil administration were conducted, knowledge of Persian, the language of official record, and Hindoostanee, the medium of personal communication among the higher orders, might enable the possessor adequately, to discharge the functions that ordinarily belonged to the civil servants of the Company.

But that state of things has long since ceased to exist .You are now constantly called upon to administer justice to the

ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में गंगा की घाटी की भाषा-समस्या का अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

इस नई भाषा-व्यवस्था के अनुसार कॉलेज के पुराने मुंशियों से कार्य सिद्ध न हो सकता था। इन मुंशियों के निकट हिन्दी और नागरी लिपि दोनों ही विदेशी वस्तुएँ थीं। पहले कुछ सैनिक विद्यार्थी ऐसे अवश्य थे जो ब्रजभाषा का अध्ययन करते थे। उनके लिए हिन्दू अध्यापक रक्खे भी गये थे; किन्तु नैपाल-युद्ध के छिड़ते ही उन विद्यार्थियों को सैनिक कार्य के कारण कॉलेज छोड़ देना पड़ा। फलस्वरूप अध्यापक भी इधर-उधर चले गए। अब कॉलेज के अधिकारियों को फिर हिन्दी-ज्ञान-प्राप्त अध्यापकों की आवश्यकता हुई और साथ ही नवीन पाठ्य पुस्तकों की भी। किन्तु इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में विलियम प्राइस कोई नवीनता प्रदर्शित न कर सके। जो मुंशी और बंगाली पंडित पहले से अध्यापन-कार्य कर रहे थे उन्हीं से हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के ज्ञान की आशा की गई। उन्हें हिन्दी की शिक्षा देने के लिए सीताराम पंडित नियुक्त हुए। इसके लिए उन्हें समय दिया गया और अन्त में परीक्षा ली गई।[१] इस परीक्षा में लगभग सभी मुंशी असफल रहे। जो सफल हुए उन्हें हिन्दी के अध्यापन-कार्य के लिए रख लिए गया। शेष को यह चेतावनी देकर कुछ और समय दिया गया कि यदि निश्चित समय में वे हिन्दी-परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकेंगे तो उनके स्थान पर अन्य सुयोग्य व्यक्ति रख लिये जाएँगे। भविष्य में हुआ भी ऐसा ही। अनेक पुराने मुंशियों के स्थान पर नए अध्यापक रक्खे गए। पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में उन्होंने लल्लूलाल के ग्रन्थों तथा 'रामायण', बिहारी कृत 'सतसई' आदि पर निर्भर रहना ही उचित समझा। हिन्दी गद्य में वे नए ग्रन्थों का निर्माण न कर सके और न

---

humblest, to ascertain the rights and institutions of the rudest classes.......

But if you cannot speak their language (Persian and Oordoo are nearly as foreign to them as English), the best laws of the Government will be a mockery......'

—'एशियाटिक जर्नल', १८२६, में 'कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम' शीर्षक विवरण

१—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम,' १५ दिसंबर, १८२४, होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जि० ९, पृ० ५०८-५१३, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

करा सके। उन्होंने नवीन पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता ही न समझी।'[1] प्राइस के बाद कॉलेज में ज्ञान के लिए कोई स्थान न रह गया। फिर उसमें भारतीय भाषाओं की केवल प्राथमिक शिक्षा दी जाती रही। नवीन परिस्थिति के अनुसार लॉर्ड ऑकलैंड ने १८४१ में कॉलेज के विधान और पाठ्य-क्रम में आवश्यक परिवर्तन कर दिए।

तो भी विलियम प्राइस की अध्यक्षता में भाषा के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुआ। गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में प्रयुक्त भाषा के उदाहरण पीछे दिए जा चुके हैं। जनवरी, १८१० में लल्लूलाल ने अपनी 'नक़्लियात-इ-हिन्दी' नामक रचना के सम्बन्ध में कॉलेज कौंसिल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा था, जो फ़ारसी भाषा और लिपि में है:

'खुदावन्दान नैमतदाम इक़्बाल अहुम

नक़्लियात-इ-हिन्दी तसनीफ़-इ-फ़िदवी बज़ुबान-इ रेख़ता मुतज़म्मिन अकसर ज़रबुल मिसाल व दोहा व लतायफ़ ओ नआत नक़्लियात इ मरक़ूमुस्सदर बर आवुर्दा व तर्ज़ुमा करद इ जॉन विलियम टेलर व इब्राहम लौकेट साहेब बज़ुबान-इ अँगरेज़ी हस्बुल हुकुम साहिब-इ मुदर्रिस जहते साहबान-इ-मुताल्लमीन मुब्तदी मुन्तहब मीगर्दद व नक़्लियात मज़्कूरा तबक़ात-इ हर्दो......

ज्याद. आफ़ताब-इ-दौलत ताबाँ व
दरख़शाँबाद
अरज़ी
फ़िदवी श्रीलाल कवि '[2]

सम्भव है विलियम प्राइस से पूर्व लिखे गए हिन्दी के उदाहरण मिलें, किन्तु उनका वही महत्त्व और मूल्य होगा जो हिन्दुस्तानी की आयोजना तथा हिन्दुस्तानी के अनेकानेक प्रकाशित ग्रन्थों के बीच 'प्रेमसागर', 'राजनीति' और नासिकेतोपाख्यान' का था—अर्थात् हिन्दुस्तानी (उर्दू) की आधारभूत

१—नवंबर १, १८२४ का लिखा हुआ प्राइस का पत्र

२—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम,' १ फ़रवरी, १८१०, होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जिल्द २, पृ० १८२, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

भाषा का ज्ञान कराने की दृष्टि से। हमारे पथ-प्रदर्शक तो प्रधानतः गिलक्राइस्ट के भाषा-सम्बन्धी विचार होने चाहिए। अपने विचारों को ही उन्होंने कार्यान्वित किया था।

अब विलियम प्राइस की अध्यक्षता में भाषा के जिस रूप का प्रयोग हुआ वह ध्यान देने योग्य है। १५ जनवरी, १८२५ की बैठक में कॉलेज कौंसिल ने ग्रंथ-प्रकाशन के सम्बन्ध में भेजे जाने वाले प्रार्थना-पत्रों के लिए कुछ नियम बनाए थे। कॉलेज कौंसिल की आज्ञा से ये नियम फ़ारसी, हिन्दी, बँगला और अँगरेज़ी में सबके सूचनार्थ प्रकाशित हुए थे। हिन्दी में नागरी लिपि का प्रयोग हुआ है। सूचना इस प्रकार है:

> 'इस्तहार यह दिया जाता है कि जो कोई पोथी छपाने के लिए कालिज कौनंसल से सहाय चाहता हो वुह अपनी दरखास में यह लिखे १. कि पोथी में केत्ता पत्रा और पत्रे में कित्ती औ पांति कित्ती लंबी २. कितनी पोथियां छापेगा औ कागद कैसा तिस लिए अक्षर और कागद का नमूना लावेगा ३. औ किस छापेखाना में छापेगा औ सब छप जाने में कित्ता खरच लगेगा ४. तयार हुए पर पोथी कित्ते दाम को बेंचेगा ॥'[1]

अव्यवस्थित वाक्य-संगठन होते हुए भी यह हिन्दी है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के गद्य से यह गद्य अधिक भिन्न नहीं है। गिलक्राइस्टी भाषा में शब्दावली ही नहीं वरन् वाक्य-विन्यास भी विदेशी है। १८२५ के उदाहरण में हम यह बात नहीं पाते। इसी प्रकार एक और उदाहरण प्राप्त है जो कॉलेज की परिवर्तित भाषा-नीति की ओर संकेत करता है। लल्लूलाल ने अपने ग्रन्थ 'नक़्लियात-इ-हिन्दी' के लिए फ़ारसी में प्रार्थना-पत्र लिखा था। जुलाई, १८४१ में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के पंडित योगध्यान मिश्र 'प्रेमसागर' का एक नया संस्करण प्रकाशित करने के लिए सरकारी सहायता चाहते थे। उनका प्रार्थना-पत्र इस प्रकार है:

> 'स्वस्ति श्रीयुत फोर्ट विलियम कालिज के नायक सकल-

१.—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', १५ जनवरी, १८२५, होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जिल्द १०, पृ० ३१, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

गुणनिधान भागवान कपतान श्री मार्सल साहब के निकट
मुज दीन की प्रार्थना

मैंने सुना कि कालिज में प्रेमसागर की अल्पता है इस कारण मैं छपवाने की इच्छा करता हूं और मेरे यहां छापे का यन्त्र औ उत्तम अक्षर नये (?) ढाले प्रस्तुत हैं इसलिए मैं चाहता हूं कि जो मुझे आपकी आज्ञा होय तो मैं वही पुस्तक उत्तम विलायती कागज पर अच्छी स्याही से आपकी अनुमति के अनुसार छपवा दूं परंतु वह पुस्तक चार पेंची फरमें से अनुमान २६० दो सौ साठ पृष्ठ होगी जो ६) छः रुपैयों के लेखे २०० दो सौ पुस्तक आप लेवें तो छापे के व्यय का निर्वाह हो सके ॥ ॥ ॥ इति किमधिकं ॥ ता० १ जुलाई सं० १८४१ ।

श्री योगध्यान मिश्रः ॥"[1]

यह लेख उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के हिन्दी गद्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण समझा जा सकता है। विलियम प्राइस दिसम्बर, १८३१ में पद-त्याग कर यूरोप चले गए थे। उनके बाद हिन्दी-हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष भी कोई नहीं हुआ। अतएव योगध्यान मिश्र का लेख उनसे दस वर्ष बाद का और उनकी भाषा-नीति के निश्चित परिणाम का द्योतक है।

यद्यपि विलियम प्राइस हमें कोई नया गद्य-ग्रंथ न दे सके तो भी उनके विचारों ने कॉलेज की भाषा-नीति में जो परिवर्तन किया वह गिलक्राइस्ट के विचारों की भ्रमात्मकता सिद्ध करने एवं वर्तमान भाषा-सम्बन्धी गुत्थी के सुलझाने की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

निष्कर्ष यह है कि कॉलेज में पहले तो बहुत दिनों तक हिन्दुस्तानी की प्रधानता रही जिसके फल स्वरूप लल्लूलाल के ग्रंथों की—विशेषतः 'प्रेमसागर' की रचना हुई। लल्लूलाल की रचनाओं का प्रधान उद्देश्य हिन्दुस्तानी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आधार उपस्थित करना था। सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' को कॉलेज के पाठ्य-क्रम में कभी स्थान न मिला। फिर जब

१—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', १८ नवंबर, १८३७—३० अक्टूबर, १८४१, होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जिल्द १६, पृ० ६०५, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

विलियम प्राइस की अध्यक्षता में हिन्दी को महत्त्व दिया गया तो कोई नवीन अच्छी या बुरी खड़ीबोली गद्य-रचना का निर्माण और भाषा का विकास न हो सका। अधिकारियों ने हिन्दी का महत्त्व समझ कर उसे कॉलेज के पाठ्य-क्रम में केवल स्थान दिया और विद्यार्थियों को उसका अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित कर उन्होंने वह कार्य किया जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में न किया था।

२४ जनवरी, १८५४ के सरकारी आज्ञा-पत्र के अनुसार कॉलेज तोड़ दिया गया और उसके स्थान पर सदर अदालत के जज सर रॉबर्ट बार्लो की अध्यक्षता में एक 'बोर्ड ऑव एग्ज़ामिनर्स' (परीक्षक मंडल) की स्थापना हुई। सरकार ने बंगाल सिविल सर्विस के कर्मचारियों की फ़ोर्ट विलियम प्रेसीडेंसी के अंतर्गत प्रचलित भारतीय भाषाओं में परीक्षा, पाठ्य-क्रम आदि सम्बन्धी नियम बनाए और अब तक फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के मंत्री और परीक्षक जो कार्य करते थे उसके सम्बन्ध में नए नियम जारी किए।[1]

६

कॉलेज के पंडित

कॉलेज कौंसिल के २६ अप्रैल, १८०१ [1] के प्रस्तावानुसार विभिन्न विभागों के विद्यार्थियों की संख्या और आवश्यकता को देखते हुए प्रधान मुंशी, उप-प्रधान मुंशी और अन्य सहायक मुंशियों की नियुक्ति करने का निश्चय किया गया था। हिन्दुस्तानी विभाग में, जिससे हमारा सम्बन्ध है, ४ मई, १८०१ [2] को कौंसिल ने मीर बहादुर अली को प्रधान मुंशी, तारिणी मित्र को उप-प्रधान मुंशी और बारह सहायक मुंशी रखे। इन मुंशियों की नियुक्ति स्थायी रूप में हुई थी और डॉ० गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में हिन्दुस्तानी पढ़ाना उनका प्रधान कार्य था। गिलक्राइस्ट का हिन्दुस्तानी से क्या तात्पर्य था, इस सम्बन्ध में पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। प्रारंभ में नियुक्त होने वाले ऊपर के अध्यापकों की सूची में व्रजभाषा या हिन्दवी या ठेठ हिन्दी के किसी अध्यापक का उल्लेख नहीं है। किन्तु लल्लूलाल (१७६१-१८२४ के लगभग) के आत्मकथन[3] से यह ज्ञात होता है कि उन्हें १८५७ वि० या १८०० ई० में कॉलेज में नौकरी मिली। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उस समय उनकी नियुक्ति स्थायी रूप से न हुई थी; वे केवल सर्टिफ़िकेट मुंशी (जिन्हें प्रमाण-पत्र दिया गया हो) थे।[4] वास्तव में कॉलेज

१—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम,' होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस जि० १, पृ० २, इंपीरियल रेकार्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

२—वही

३—'लाल चंद्रिका' (१८१८)

४—कॉलेज के अधिकारियों द्वारा एक 'भाखा मुंशी' की माँग १९ फरवरी, १८०२ को स्वीकार की गई थी। २५ फरवरी को कॉलेज कौंसिल ने 'भाखा मुंशी' के सम्बन्ध में १ अगस्त, १८०१ से ३१ जनवरी, १८०२ तक का बिल स्वीकार किया था। किन्तु उसमें लल्लूलाल के नाम का उल्लेख नहीं है।—वही, पृ० ६५

कौंसिल ने प्रारंभ में ही एक प्रस्ताव स्वीकृत किया था जिसके अनुसार वे विद्यार्थी जो कॉलेज में स्थायी रूप से नियुक्त मुंशियों के अतिरिक्त यदि निजी ढंग से पढ़ना चाहते थे तो वे उन मुंशियों को रख सकते थे जिन्हें अधिकारियों की तरफ़ से पढ़ाने का प्रमाण-पत्र मिल चुका हो।[1] ऐसे मुंशी सर्टिफ़िकेट मुंशी कहे जाते थे। सर्टिफ़िकेट मुंशी की हैसियत में, जैसा कि आगे चलकर ज्ञात होगा, लल्लूलाल किसी ऐसे ग्रंथ का निर्माण न कर सके जिससे खड़ीबोली हिन्दी गद्य के विकास में सहायता मिलती।

इस प्रकार कॉलेज की स्थापना के समय नियुक्त अध्यापकों की सरकारी सूची में लल्लूलाल का नाम नहीं मिलता। विद्यार्थियों को सुलेख लिखने के लिए प्रोत्साहन देने की दृष्टि से कॉलेज में सुलेखकों की नियुक्ति होती थी। सर्वप्रथम सुंदर पंडित नागरी सुल्लेखक और क़ल्ब अली फ़ारसी सुलेखक नियुक्त हुए थे। किन्तु कुछ समय बाद व्यवस्था बदल गई। फ़ारसी सुलेखक हिन्दुस्तानी और फ़ारसी दोनों विभागों में काम करने लगा। नागरी सुलेखक कोई न रहा। इसलिए ४ जनवरी, १८०२ को गिलक्राइस्ट ने पचास सिक्का रुपया मासिक वेतन पर एक नागरी सुलेखक (खुशनवीस) माँगा। सुलेखक के साथ-साथ उन्होंने एक क़िस्सा-ख़ाँ भी माँगा। क़िस्सा-ख़ाँ प्रत्येक विद्यार्थी के घर जाकर हिन्दुस्तानी में क़िस्से सुनाया करता था। इससे विद्यार्थियों का भाषा-सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता था। उसका वेतन उन्होंने चालीस रुपए मासिक रक्खा। एक चतुर क़िस्सा-ख़ाँ न मिलने पर उन्होंने बीस-बीस रुपया मासिक वेतन पर दो क़िस्सा-ख़ाँ रखने की अनुमति माँगी। उनकी दोनों माँगें ठीक थीं और १६ फ़रवरी, १८०२ को उन्हें कौंसिल की स्वीकृति भी मिल गई।

किन्तु उपर्युक्त पत्र में इन दोनों माँगों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी माँग थी भाषा ('भाखा') मुंशी की। गिलक्राइस्टी हिन्दुस्तानी में अरबी-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य रहता था। किन्तु उसका भवन हिन्दी (आधुनिक प्रचलित अर्थ में) की नींव पर खड़ा हुआ था। इसलिए बिना हिन्दी-ज्ञान के हिन्दुस्तानी का ज्ञान प्राप्त करना कठिन था। कॉलेज के मुंशियों का हिन्दी-ज्ञान शून्य के बराबर था। इससे गिलक्राइस्ट को बड़ी कठिनाई होती थी। स्वयं उन्हीं के शब्दों में :

'मूल में हिन्दुस्तानी और ब्रजभाषा का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि मुंशियों को ब्रजभाषा का बहुत ही अपूर्ण ज्ञान होने के कारण इस अंश के सम्बन्ध में में समुचित सहायता के अभाव में मुझे प्रायः कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए कॉलेज के कामों में सहायता करने के लिए मैं पचास रुपए वेतन पर एक सुयोग्य व्यक्ति रखने को प्रार्थना करता हूँ।'[1] १६ फरवरी, १८०२ को कॉलेज-कौंसिल ने उनकी यह 'भाखा'-मुंशी की माँग सहर्ष स्वीकार की।[2] कहना न होगा कि इस पद पर लल्लूलाल की नियुक्ति हुई। कौंसिल ने २५ फ़रवरी, १८०२ को नागरी सुलेखक और 'भाखा'-मुंशी को १ अगस्त, १८०१ से ३१ जनवरी, १८०२ तक का पिछला वेतन दे देने की भी स्वीकृति दी। इससे भी पता चलता है कि अब तक लल्लूलाल सर्टिफ़िकेट मुंशी की हैसियत से कॉलेज में काम कर रहे थे। स्थायी अध्यापकों की ७ जून, १८०२[3] की नई सूची में लल्लूलाल का नाम निश्चित रूप सें मिलता है। वे 'भाखा मुंशी' कहे गए हैं। सरकारी पत्रों में भी उनकी नौकरी पाने की मूल तिथि फ़रवरी, १८०२ है।[4]

सदल मिश्र का नाम सर्वप्रथम पुस्तकों की उस सूची में मिलता है जो गिलक्राइस्ट ने कॉलेज कौंसिल के पास भेजी थी। वे और लल्लूलाल 'नक़लियात-इ लुक़मानी' नामक ग्रंथ की रचना में तारिणीचरण और मौलवी अमानतुल्ला के सहायक बताए गए हैं। तत्पश्चात् सदल मिश्र 'चन्द्रावती' के लेखक कहे गए हैं। गिलक्राइस्ट ने पुस्तकों की यह सूची अपने १६ अगस्त, १८०३ के पत्र के साथ भेजी थी, और वह कौंसिल के २६ अगस्त, १८०३ के अधिवेशन में पेश हुई थी।[5] इसका तात्पर्य है कि सदल मिश्र (स्थायी या अतिरिक्त

१—वही, पृ० ६२

२—वही, पृ० ६३

३—वही, पृ० ९३

४—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', फ़रवरी, १८१६—२२ अप्रैल, १८१८, होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जि० ६, पृ० २९०-२९३

५—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जि० १, पृ० २७५-२७६, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

के रूप में)[1] १८०३ में कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग से सम्बन्धित अवश्य थे।

किन्तु जेम्स मोअट के ६ मई, १८०४ के पत्रानुसार,[2] हिन्दुस्तानी विभाग में कोई आवश्यकता न रह जाने के कारण लल्लूलाल और सदल मिश्र दोनों कॉलेज से अलग कर दिए गए थे। कॉलेज कौंसिल के ११ जून, १८०४ के प्रस्तावानुसार[3] उन्हें जून, १८०४ के अंत से वेतन मिलना बन्द हो गया। लेकिन कॉलेज कौंसिल के १७ अक्टूबर, १८०४ के प्रस्तावानुसार उन्हें फिर रख लिया गया और वेतन भी १ जुलाई, १८०४ से दिया, क्योंकि वे उसी समय से रखे माने गए।[4]

उसके बाद कुछ समय तक दोनों कॉलेज में काम करते रहे। १६ सितम्बर, १८०५ को कॉलेज कौंसिल ने फिर लल्लूलाल को भाखा-मुंशी के पद से हटा दिया, क्योंकि 'भाखा' के अध्यापक के रूप में उनकी कोई आवश्यकता न समझी गई, और कुछ समय के लिए उन्हें हिन्दुस्तानी अनुवादकों के साथ रख दिया गया। समय-समय पर उन्हें हिन्दुस्तानी प्रेस में तथा अन्य प्रकार के कार्य भी मिलते रहे। समय आने पर उन्हें कॉलेज से अलग भी किया जा सकता था।[5] वास्तव में कोर्ट के डाइरेक्टर कॉलेज पर अधिक धन व्यय करना न चाहते थे। इसलिए आर्थिक दृष्टि से अनावश्यक अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों को हटा कर ख़र्च कम करने की कोशिश की जाती थी। कॉलेज की आयोजना में कितनी और किस प्रकार काटछाँट की जाय, यह बहुत-कुछ गवर्नर-जनरलों के रुख़ पर भी निर्भर रहता था। ख़ैर, थोड़े समय बाद लल्लूलाल फिर भाखा-मुंशी के पद पर नियुक्त हुए और लगातार कार्य करते रहे।

१—सदल मिश्र संभवतः सदैव अस्थायी अतिरिक्त (या सर्टिफ़िकेट) अध्यापक के रूप में रहे, क्योंकि एक तो स्थायी अध्यापकों की सूची में उनका नाम कभी नहीं मिलता, दूसरे जेम्स मोअट ने कॉलेज की परिवर्तित आयोजना के अनुसार सितंबर, १८०५ में हिन्दुस्तानी विभाग में काम करने वाले सर्टिफ़िकेट मुंशियों की सूची में भी उनका नाम नहीं दिया।

२—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', २७ फ़रवरी, १८१६—२२ अप्रैल १८१८, होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जि० २, पृ० ३२०, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

३—वही, पृ० ३२०

४—वही, पृ० ३८२

५—वही, जि० ३, पृ० ४१

७ जुलाई, १८०१ के एक प्रस्तावानुसार कॉलेज कौंसिल ने भारतीय भाषाओं में साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत करने लिए विद्वान् मुंशियों और पंडितों को पुरस्कार देने का निश्चय किया था। रचनाओं के निरीक्षण का भार प्रोफ़ेसरों को सौंपा गया जो प्रकाशित होने योग्य ग्रंथों की सिफ़ारिश कॉलेज कौंसिल से करते थे। उन्हीं रचनाओं को आश्रय प्रदान किया जाता था जो विद्यार्थियों को भाषा या भाषाएँ सीखने में सहायक सिद्ध हो सकती थीं। प्रोफ़ेसरों को भी ग्रन्थ-रचना करने या विभिन्न ग्रंथों से उपयोगी अंश चुन कर उन्हें विद्यार्थियों के लाभार्थ एक जिल्द में छपाने का आदेश था। किन्तु लल्लूलाल, सदल मिश्र और गंगाप्रसाद शुक्ल को छोड़कर अन्य किसी पंडित ने कोई साहित्यिक रचना प्रस्तुत न की। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विवरणों में गंगाप्रसाद शुक्ल को मई, १८२६ में एक 'हिन्दी (या हिन्दुई)-इँगलिश डिक्शनरी' का संकलनकर्ता बताया गया है जिसके विषय में मुद्रक एवं प्रकाशक कैप्टेन पीअर्स ने २६ मई, १८२६ को विलियम प्राइस के नाम एक पत्र लिखा था। प्राइस के कहने से कॉलेज कौंसिल ने उसे अपना आश्रय प्रदान किया और ६ जुलाई, १८२६ [1] को उसके प्रकाशन की आज्ञा दी। किन्तु संभवतः गंगाप्रसाद शुक्ल उसे पूर्णतः प्रकाशित न कर सके। जुलाई में बीमार हो जाने के कारण वे छुट्टी लेकर उत्तरी प्रांतों की ओर लौट रहे थे कि कुछ महीनों बाद मुर्शिदाबाद में उनकी मृत्यु हो गई।[2]

लल्लूलाल की रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं: १. 'सिंहासन बत्तीसी' (१८०१), सुन्दरदास कृत ब्रजभाषा रचना से; २. 'बैताल पचीसी' (१८०१), सुरत कवीश्वर की ब्रजभाषा रचना से; ३. 'शकुंतला नाटक',[3] (१८०१), निवाज (नवाज़) कृत ब्रजभाषा रचना से; ४. 'माधोनल' (१८०१), मोतीराम कृत ब्रजभाषा रचना से; ५. 'राजनीति' (१८०२), हितोपदेश का ब्रजभाषा अनुवाद; ६. 'प्रेमसागर' (स्वयं लल्लूलाल के अनुसार सं० १८६० में प्रारम्भ कर सं० १८६६ में पूरा कर छपवाया; प्रकाशन-तिथि १८१० ई०), चतुर्भुज मिश्र कृत ब्रजभाषा रचना से; ७. 'लतायफ़-इ हिन्दी' या 'नक़्लियात' (१८१०), मनोरंजक कहानियों का संग्रह; ८. 'जनरल प्रिंसीपिल्स ऑव इनलफ़ैक्शन ऐंड कौनजुगेशन इन दि ब्रज भाखा'

१—वही, जि० १०, पृ० ४६७-४७०, ४९९-५००

२—वही, जि० ११, पृ० ३५

३—यह नाटक नहीं, नाटक का रूपांतर मात्र है।

—ब्रजभाषा व्याकरण (१८११); ९. 'सभाविलास' (१८१५), पद्य-संग्रह; १०. 'माधव विलास' (१८१७), ब्रजभाषा गद्य-पद्य मिश्रित माधव और सुलोचना की कथा; और ११. 'लाल-चन्द्रिका' (१८१८)[1]। उनकी 'मसादिर-इ भाषा' तथा कुछ अन्य साधारण रचनाओं के उल्लेख भी मिलते हैं। [2]

इस सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि लल्लूलाल का कोई भी ग्रंथ मौलिक नहीं; लगभग सभी किसी-न-किसी अन्य ग्रंथ के आधार पर लिखे गए हैं। केवल 'ब्रजभाषा व्याकरण' अपवाद स्वरूप है। इसके अतिरिक्त व्याकरण और 'सभा विलास' को छोड़ कर उनके सभी ग्रन्थों का संबंध गद्य से है। हिन्दी की राजस्थानी, ब्रजभाषा और खड़ीबोली गद्य-परम्पराओं में से लल्लूलाल का ब्रजभाषा और खड़ीबोली गद्य-परम्पराओं से घनिष्ठ संबंध है। उनके ग्रंथों में से 'राजनीति', 'माधव विलास' और 'लाल-चन्द्रिका' टीका ब्रजभाषा गद्य में और शेष गद्य-ग्रंथ खड़ीबोली में हैं। उनके ग्रंथ मौलिक भले ही न हों, किन्तु ब्रजभाषा या खड़ीबोली गद्य की दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य है। उपर्युक्त सूची में से 'राजनीति', 'सभा विलास', 'माधव विलास' और 'लाल-चन्द्रिका' का पीछे यथास्थान उल्लेख हो चुका है। भाषा की दृष्टि से 'ब्रजभाषा व्याकरण' प्रस्तुत अध्ययन के लिए कोई उपयोगी ग्रंथ नहीं है। उसकी रचना हिन्दुस्तानी भाषा के विद्यार्थियों के लाभार्थ हुई थी। अस्तु, लल्लूलाल के 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल', 'प्रेमसागर' और 'लतायफ़-इ हिन्दी', ये छः ग्रंथ ही विचारणीय रह जाते हैं।

'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'शकुन्तला' और 'माधोनल' नामक

१—लल्लूलाल की विभिन्न रचनाओं के मुद्रित संस्करण १८०२ में और उसके बाद प्रकाशित हुए—पूर्ण अथवा आंशिक रूप में। तासी और ग्रियर्सन ने उनकी कुछ रचनाओं की जो तिथियाँ दी हैं वे बाद के संस्करणों की तिथियाँ हैं अथवा प्रकाशन-तिथियाँ हैं, रचना-काल की तिथियाँ नहीं हैं। जैसे, १८०५ 'सिंहासन-बत्तीसी' और 'बैताल पच्चीसी' के पूरे ग्रंथों की प्रकाशन तिथि है। 'शकुन्तला नाटक' १८०२ (आंशिक रूप में) और १८०४ में प्रकाशित हुआ था। ब्रिटिश म्यूज़ियम में 'शकुन्तला नाटक' की जो हस्तलिखित प्रति है वह १८०२ के कलकत्ता संस्करण के अनुसार है। १८०२ में 'सिंहासन बत्तीसी' के ३६ पृष्ठ हरकारा प्रेस में, 'शकुन्तला' के २४ पृष्ठ कलकत्ता गज़ट प्रेस में छप चुके थे। 'माधोनल' और 'बैताल पचीसी' का अभी छपना आरम्भ नहीं हुआ था। ये दोनों क्रमशः हरकारा और मिरर प्रेस से छपने वाली थीं।

२—दे०, तासी और ग्रियर्सन के इतिहास-ग्रंथ

ग्रंथों का सरकारी अतएव प्रामाणिक आधारों पर आधारित प्रकाशन-इतिहास प्रस्तुत लेखक कृत 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' (संवत् २००४) में दिया जा चुका है। यहाँ हमें उनके अन्य पक्षों पर विचार करना है। उनका उल्लेख करते हुए लल्लूलाल ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है: 'एक दिन साहिब ने कहा कि "व्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो उसे रेख़ते की बोली में कहो।" मैंने कहा, "बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखने वाला दीजे, तौ भली भाँति लिखी जाय।" उन्होंने दो शाइर मेरे तैनाथ किये, मजहर अली खान विला औ काजिम अली जवाँ। एक बरष में चार पोथी का तरजुमा व्रजभाषा से रेख़ते की बोली में किया। सिंहासन बत्तीसी। बैताल पच्चीसी। सकुंतला नाटक। औ माधोनल। संवत १८५७ में आजीविका कंपनी के कालिज में स्थित हुई। इसे उन्नीस बरष हुए। इसमें जो पोथियाँ व्रज-भाषा और खड़ीबोली औ रेख़ते की बनाई सो सब प्रसिद्ध हैं।...' यह कथन १८१८ का है और तत्कालीन खड़ीबोली गद्य का अत्यन्त स्वाभाविक और प्रयासहीन उदाहरण माना जा सकता है। किन्तु उनकी उपर्युक्त चारों रचनाओं के बारे में एक प्रचलित भ्रांति का निवारण हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। भ्रांति के प्रचलित होने का प्रधान कारण लल्लूलाल का आत्म-कथन ही हैं। उनके कथन से यह प्रतीत होता है कि वे ही इन चारों ग्रंथों के प्रधान रचयिता थे, विला और जवाँ उनके सहायक मात्र थे। इस संबंध में अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए लल्लूलाल के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के कथनों के उल्लेख की आवश्यकता है।

१६ अगस्त, १८०३ को गिलक्राइस्ट ने जो पुस्तक-सूची कॉलेज-कौंसिल (२६ अगस्त, १८०३ अधिवेशन-तिथि) के पास भेजी थी, उसमें केवल मिर्ज़ा काज़िम अली 'जवाँ' को 'सिंहासन बत्तीसी' और 'शकुन्तला नाटक' का रचयिता, और केवल मज़हर अली ख़ाँ 'विला' को 'बैताल पच्चीसी' और 'माधोनल' का रचयिता बताया गया है।[1] विलियम हंटर ने कौंसिल के नाम लिखे गए अपने ७ मार्च, १८११ के पत्र के साथ उन पुस्तकों की एक सूची भी नत्थी कर दी थी जिनसे उन्हें डिक्शनरी के संकलन में सहायता प्राप्त हुई थी। उन्होंने भी उस सूची में केवल मिर्ज़ा काज़िम अली 'जवाँ' को 'सिंहासन बत्तीसी' और 'शकुन्तला नाटक' का और केवल मज़हर अली ख़ाँ 'विला' को

१—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जि० १, पृ० [illegible], इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

'बैताल पचीसी' और 'माधोनल' का रचयिता बताया है।[1] किन्तु फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विवरणों में यत्र-तत्र ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जिनमें चारों ग्रन्थों में से किसी एक या दूसरे के सम्बन्ध में केवल अकेले लल्लूलाल का अथवा 'जवाँ' और 'विला' में से किसी एक के साथ लल्लूलाल का नाम मिल जाता है[2]। स्वयं काज़िम अली 'जवाँ' ने 'शकुन्तला नाटक' की भूमिका में कहा है :

'...अब यिह हेचमदान, हर मग़ीर ओ कबीर की दर्याफ़्त के लिये इस रोज़गार के सरिश्ते से, कि सरकार में कम्पनी बहादुर (दाम इक़्बालुहु) की मुक़र्रर हुआ, बयान करता है :

कर्नल स्कॉट साहिब, जो लखनऊ के बड़े साहिब हैं, उन्होंने हस्बुत्तलब गवर्नर जनरल बहादुर (दाम मुल्कुहु) के, सन इ अठारह सौ ईसवी में...... शाइरों को, सरकार इ आली के मुलाजिमों में, सर्फ़राज़ फ़र्मा कर, अशरफ़ुल बिलाद कलकत्ते को रवाना किया; उन्हों में अहक़र भी यहां वारिद हूआ, और मुवाफ़िक़ इ हुक्म इ हुज़ूर, ख़िदमत में मुदर्रिस इ मदरसा इ हिन्दी की, जो साहिब इ वाला मुनाक़िब जोन गिलक्रिस्त साहब बहादुर (दाम ज़िल्लुहु) हैं, शर्फ़ अन्दोज़ हुआ.

दूसरे ही दिन, उन्होंने निहायत मिहरबानी ओ अल्ताफ़ से इर्शाद फ़र्माया कि "सकुंतला नाटक का तर्जुमा अपनी ज़बान के माफ़िक़ कर"; और लल्लूजी लाल कब को हुक्म किया, कि बिला नाग़ः लिखाया करे.

× × × ×

इन दिनों में, कि सन इ अठारह सौ चार है, और अहक़र .क़ुरान इ शरीफ़ के हिन्दी तर्जुमें का मुहावरा दुरुस्त करता है, साहिबि ममदूह ने फ़रमाया; "हम चाहते हैं, कि इस किताब को सरि नौ छपवाएँ, नज़र इ सानी लाज़िम है;" और उस कब को फ़र्माया कि "तुम भी उसी किताब से मुक़ाबला करो, कि अगर कहीं मतलब की कमी बेशी हूई हो, न रहे". चुनांचि हम उनका फ़रमाना बजा लाए; फिर मुवाफ़िक़ इ हुक्म इ साहिब, बन्दे ने थोड़ा सा दीबाच : और भी लिखा, व एलान, अगला यिह है :

१—वही, जि० ३, पृ० ४८६-४८७

२—वही, जि० १, पृ० ३५०-३५४, अथवा दे० प्रस्तुत लेखक कृत 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' का परिशिष्ट भाग

खुदा का नाम ले पहले ज़बाँ पर,
लगा फिर दिल को अपने, दास्ताँ पर,

यिह क़िस्सा फ़रुर्ख़सियर बादशाह की सल्तनत में, संस्कृत से ब्रजभाखा में तर्जुमा हूआ था; अब शाहि आलम बादशाह के अहद में' 'ज़ुब्द इ नौईनान इ अज़ीमुश्शान मुशीर इ ख़ास इ शाहि कैवां बारगाह इ इंगलिस्तान, अशूरफ़ुल अशूराफ़ मार्क्विस वेलेज़ली, गव्रर्नर जनरल बहादुर (दाम दौलतुहु) की हुकूमत में, सन इ अठारह सौ एक ईस्वी, मुताबिक़ सन इ बारह सौ पन्द्रह हिजरी के, जनाब इ जॉन गिलक्रिस्त साहब बहादुर (दाम ज़िल्लुहु) के हस्बुल हुक्म, काज़िम अली जवाँ ने इसे, ज़बान इ रेख़्तः में बयान किया.'[1] अंत में 'जवाँ' का कहना है : '...अब यह कहानी यहाँ तमाम हुई, ऐ जवाँ ! लफ़्ज़ ओ मानी से बख़ूबी सरंजाम हुई. अजबस्कि जबान रेख़्ते में लिखी—साल-इ-हिजरी के मुआफ़िक़ रेख्तः तारीख हुई...'[1] इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के बीच-बीच में आए पद्यात्मक अंशों भी में 'जवाँ' का नाम है : '...बज़्म इ हैरत में मिसले शमा हर अतले नियाज़, ऐ जवाँ ! रखता है क्या-क्या दिल में अपने सोज़ ओ साज,' 'जवाँ ! बस; दिल लगा तू दास्तान पर, यहाँ से यूं है अब आग़ाज़ इस्का.'[2]

इसी प्रकार 'बैताल पच्चीसी' की भूमिका में लिखा है :'...सो अब शाहि आलम बादशाह के अहद के बीच, और असर में अमीरुल उमरा .ज़ुदए नोई-नानि अज़ीमुश्शान, मुशीरि ख़ासि शाहि .कैवां बारगाहि इंगलिस्तान, अशरफ़ुल अशराफ़ मारकुइस .वलिज़ली गवरनर जनरल बहादुर (दाम मुलकहु) के, मज़हरअली ख़ानि शाइरने, जिसका तख़ल्लुस विला है, .वास्ते सीखने और समझने .साहिबानि आलीशान के, बमूजिब फ़रमाने जनाबि जान गिलक्रिस्त

साहिब (दाम इक़बालहु) के, ज़बानि सहल में जो ख़ास ओ आम बोलते हैं, और जिसे आलिम ओ जाहिल गुनी कूढ़ सब समझें, और हरऐक की तबीअत पर आसान हो, मुशकिल किसी तरह की ज़िहन पर न गुज़रे और ब्रज की बोली अकसर उसमें रहे, श्री लल्लू जी लाल कबि की मदद से बयान किया था।'

ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित फ़ारसी लिपि में लिखित 'माधोनल' की हस्तलिखित प्रति के प्रारंभिक अंश में कहा गया है : 'हम्द ओ सना बेपायाँ लायक़ उस अफ़रीदगार के है कि ख़ालिक़-इ कोन-ओ मकाँ और रोज़ी रसान-इ आलम व आलमियान है और नात-इ फ़िरावाँ काबिल उस रसूल के कि बाइस-इ तकवीन-इ तमाम कायनात का है बाद इसके अज़फ़ुल ऐबाद अहक़रुन्नास मज़हर अली ख़ाँ—मुतख़ल्लिस ब विला यह क़िस्सा माधोनल और कामकन्दला का कि ज़बान-इ बृज में मोतीराम कबीश्वर ने कहा है बमूजिब फ़रमाइश जनाब गिलक्रिस्त साहब दाम इक़बालहु के बमुहावरा ज़बान-इ उर्दू बयान करता है...'

गार्साँ द तासी ने अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ में लल्लूलाल का उल्लेख करते समय उपर्युक्त चारों ग्रन्थों के संबंध में इस प्रकार लिखा है :

'शकुन्तला' का क़िस्सा, जिसका रूपान्तर करने में उन्होंने काज़िम अली जवाँ को सहयोग प्रदान किया।'

'बैताल पचीसी'...यह रचना सुरत कवीश्वर द्वारा संस्कृत से ब्रजभाखा में अनूदित हुई और उस बोली से हिन्दुस्तानी में।...इस रचना में मज़हर अली ख़ाँ विला ने लल्लू की सहायता की, अथवा उचित रूप में रखते हुए, उन्होंने स्वयं विला की सहायता की। इस प्रकार विला ही इस रूपान्तर के प्रधान रचयिता हैं...'

'माधोनल' का क़िस्सा, जिसका रूपान्तर करने में लल्लू ने फिर मज़हर अली ख़ाँ विला की सहायता की।'

'सिंहासन बत्तीसी'...यह रचना, जो सर्वप्रथम संस्कृत में लिखी गई थी, फिर ब्रजभाखा में अनूदित हुई, डॉक्टर गिलक्राइस्ट के कहने से मिर्ज़ा काज़िम अली जवाँ की सहायता से लल्लू द्वारा १८०१ में उर्दू, किन्तु देवनागरी अक्षरों में, की गई...'

ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल' और 'बैताल

पचीसी' की हस्तलिखित प्रतियों में से पहली और तीसरी में तो लल्लूलाल से प्राप्त सहायता का उल्लेख है, किन्तु 'माधोनल' में केवल मज़हर अली ख़ाँ विला का ही उल्लेख है। अस्तु, इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि लल्लूलाल कम-से-कम 'शकुन्तला नाटक', 'बैताल पचीसी', और 'माधोनल' के प्रधान रचयिता नहीं थे। लल्लूलाल तो कथा से परिचय कराने वाले थे, भाषा जवाँ और विला की थी। 'सिंहासन बत्तीसी' की जितनी छपी हुई प्रतियाँ प्रस्तुत लेखक के देखने में आई हैं उनमें भूमिका-भाग न रहने के कारण निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है, किन्तु तासी के कथन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वह भी अकेले लल्लूलाल की अपनी रचना नहीं है और उसके बारे में भी वही समझा जाय जो तासी ने उचित रूप में रखते हुए 'बैताल पचीसी' के सम्बन्ध में कहा है तो अधिक हानि न होगी। इन चारों ग्रंथों के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने तासी को आधार माना है।

ब्रिटिश म्यूज़ियम में 'शकुन्तला नाटक', 'माधोनल' और 'बैताल पचीसी' की जो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं वे फ़ारसी लिपि में हैं। गिलक्राइस्ट ने अपने 'हिन्दी रोमन ऑरथीपीग्रैफ़ीकल अलटीमेटम' में 'शकुन्तला नाटक' का पाठ रोमन लिपि में दिया है। विलियम प्राइस द्वारा संपादित 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी संग्रह' के प्रथम भाग में 'बैताल पचीसी' नागरी में और द्वितीय भाग में 'शकुन्तला' फ़ारसी लिपि में है। कॉलेज के विवरणों से ज्ञात होता है कि चारों पुस्तकें प्रारंभ से ही नागरी में छपी थीं। पाठ-भेद प्रत्येक ग्रंथ की विभिन्न प्रतियों में बराबर मिलते हैं। उपर्युक्त चारों ग्रंथों से उदाहरण-स्वरूप कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं :

> 'शुरूअ़ कहानी का यह है,
>
> कि धारा नगर नाम ऐक शहर, वहां का राजा गंधर्वसेन, उस की चार रानियां थीं, उन से छः बेटे थे, ऐक से ऐक पंडित और ज़ोरावर था. क़ज़ाकार बअ़द चंद रोज़ के वह राजा मर गया, और उसकी जागह बड़ा बेटा शंक नाम राजा हूआ. फिर कितने दिनों के पीछे उस का छोटा भाई बिक्रम, बड़े भाई को मारकर आप राजा हूआ, और बख़ूबी राज करने लगा; दिन बदिन उसका राज ऐसा बढ़ा कि तमाम जंबू द्वीप का राजा हूआ,

और अचल राज करके साका बांधा. कितने दिनों के ब.अद् राजा ने यह अपने दिल में बिचारा कि जिन मुलकों का नाम मैं सुनता हूँ उन की सैर किया चाहिये.' [१]

× × ×

'ग़रज़ यह सुन मकान में उतरे, तो कितनी ऐक देर के बअ़द बुढ़िया मिहरबानी से उन पास आन बैठ बातें करने लगी. इस में दी.वान के बेटे ने उस से पूछा, तेरी आल औलाद और कुनबे में कौन कौन है, और क्यौंकर गुज़रान होती है? बुढ़िया ने कहा, बेटा मेरा राजा की खिदमत में बहुत अच्छी तरह से आसूदः है, और पद्मावती जो राजकन्या है, बंदी उस की दूध पिलाई है, इस बुढ़ापे के आने से घर में रहती हूं, पर राजा मेरे खाने पीने की ख़बर लेता है; मगर उस लड़की के देखने को रोज़ ऐक .वक्त जाती हूं, वहां से आनकर घर में ही अपना दुखड़ा किया करती हूं. यह बात राजपुत्र ने सुन दिल में ख़ुश हो, बुढ़िया से कहा, कल जिस वक़्त जाने लगे तो ऐक संदेसा हमारा भी लेती जाइयो. उस ने कहा बेटा! कल पर क्या मौक़ूफ़ है, अभी मुझ से जो कहे तो मैं तेरा पैग़ाम पहुंचा दूं. तब उस ने कहा, तू इतना जाकर कह दे, कि जेठ सुदी पंचमी को तालाब किनारे जिस राजपुत्र को तुमने देखा था, सो आन पहुँचा है' [२]

× × ×

'ऐसा कहा है कि जो अपने तईं मारा चाहे, उस के मारने से अधम नहीं. उस समैं राजा का साहस देख इंद्र समेत सब दे.वता अपने अपने बिमानों पर बैठ .वहां जैजैकार करने लगे; और राजा इंद्र ने प्रसन्न हो राजा बीर बिक्रमाजीत से कहा कि बर मांग; तब राजा ने हाथ जोड़कर कहा, महाराज! यह कथा मेरी संसार में प्रसिद्ध हो. इंद्र ने कहा कि जब तक चांद, सूरज, पृथ्वी, आकाश, स्थिर है,

---

१—पृ० २

२—पृ० १०

तब तक यह कथा प्रसिद्ध रहेगी, और तू सर्व भूमि का राजा होगा.

इतना कह राजा इंद्र अपने स्थान को गया, और राजा ने उन दोनों लोथों को ले उस तेल के कड़ाह में डाल दिया, तब यह दोनों बीर आ हाज़िर हुऐ, और कहने लगे कि हमें क्या आज्ञा है? राजा ने कहा जब मैं याद करूं तब तुम आना. इस तरह से उन से बचन ले, राजा अपने घर आ राज करने लगा. ऐसा कहा है कि पंडित हो, या मूरख; लड़का हो या जवान; जो बुद्धिवान होगा उसी की जै होगी."[1]

ये अवतरण विलियम प्राइस और तारिणीचरण मित्र द्वारा संपादित 'हिन्दी ऐंड हिन्दुस्तानी सेलेक्शन्स' में उद्धृत संपूर्ण 'बैताल पचीसी' से लिए गए हैं जो १८०५ में जेम्स मोअट के कहने से तारिणीचरण मित्र द्वारा संशोधित की गई थी। आगरा स्कूल बुक सोसायटी ने भी उसका एक संस्करण १८४३ में प्रकाशित किया था। दोनों में अनेक पाठ-भेद मिलते हैं, जैसे, क्रमशः, ऐक—एक, दीन ओ दुनया—स्वारथ और परमारथ, ब्राह्मनी—बिराहमनी, रूपे—रुपये, रानी—नारी, वह—कुंवर, जस—यश आदि।

'...खुदा ने जब से उसे दुनियां के परदेपर उतारा—सब बे सहारों का किया सहारा और रूप उसका देख कर चौधवीं रात के चांद को चकाचौंधी आती—बड़ा चतुर सुघड़ और गुनी था—अच्छी अच्छी जितनी बातें सब उसमें समाईं थीं। भलाई उसकी सब जग में मशहूर थी और नगरी उसकी यह बस्ती थी जो चप्पा रखने को जगह नहीं मिलती थी× वह भरा भरा नगर—शादियां घर घर—नये नये तौर के अच्छे-अच्छे मकान बने हुए—चौपड़ का बाज़ार दरमियान नहर बहती हुई—दुरस्त: दूकानों में एक एक दूकानदार—सर्राफ़-बज़ाज़-सौदागर-कारीगर-सुनार-लुहार साहूकार-कसेरा-पटुआ-किनारीबाफ़-कोफ़तगर-जिलाकार आईनःसाज़—अपने-अपने काम में सर गर्म था...हर हर

महल में एक एक रानी ऐश और कामरानी से राजा का दिल हाथों में लिये रहती थी। नाच राग रंग रात दिन होता था और वह आप यह सुघड़ था जो बात बात में मोती पिरोता और नौ किस्म के साहिबि कमाल जैसे नौ रतन उसकी मजलिस में हाज़िर रहते थे। राजा इंद्र उस की सभा को देख कर रश्क की आग से जलता था और उसका अखाड़ा हसरत के मारे हाथ मलता था। रंडी मर्द उस की सूरत पर दीवाने थे—जिस ने एक बार उसे देखा आप में न रहा। जिस ने उस की खूब सूरती का बयान सुना बेचैन हुआ। जोवन के मद में सरशार—मोहन का औतार। नौ जवान चातुर साहिबितदबीर था ×..."

× × ×

'भानमती बत्तीसवीं पुतली

बोली राजा। एक मेरी बिनती सुन और अंत कथा मैं तुझ से बुझा कर कहती हूं—तू अपना मन लगा कर सुन कि जब अंत समा राजा विक्रमाजीत का आया तब आप विमान पर बैठ इंद्र लोक को गया और अंबावती नगरी में शोर हुआ—तीनों लोक में हंगामः मचा कि राजा वीर विक्रमाजीत का काल हुआ उस वक्त आगिया कोयला दोनों वीर भी साथ राजाही के लोप होगये न वह स्वामी रहा न वे दास रहे—संसार में से धर्म की धजा उखड़ गई सब रऐ.यत राजा के राज की रोने लगी—बिराह्मन भाट भिखारी रांड दुखी सब धाय मार मार रो रो कहने लगे कि हमारा आदर करने वाला और मानरखने हारा आज जग से उठ गया रानियां राजा के साथ सती हुईं और जितने दास दासी थे सो सब अनाथ हो गये और जितने लोग नौकर चाकर सिपाही शागिद पेशः थे सब रोते थे और कहते थे हाय। हम में से कोई काम न आया ×...'

× × ×

१—पृ० १-४

'तब अनूपवती पंदरहवीं पुतली बोली सुन राजा! बीर विक्रमाजीत के गुन कहने में नहीं आ सकते जो बात कहने जोग होवे तो कहिये—अयुक्त कहते हूए जी सकाता है। राजा बोला—तू कह मेरा जी सुन्ने को चाहता है जैसी बात हूई वैसी कह—इसमें तुझे दोष नहीं ...'

'किसमत का तरफ़दार बोला नसीब बड़े हैं कि अदना को आला कर देते हैं और ज़ोर का जानिबदार कहने लगा ज़ोर बड़ा है ज़ोरावर होवे तो तमाम जहान को ज़ेर कर दे...'[1]

'सिंहासन बत्तीसी' के इन अवतरणों में से पहले दो १८४२ में आगरा स्कूल बुक सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण से, तीसरा १८०५ के कॉलेज वाले संस्करण से और अंतिम १८७३ में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित संस्करण से लिया गया है।

'बैताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' की भाषा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें संस्कृत, अरबी-फ़ारसी, और ब्रजभाषा शब्दों और रूपों का अद्भुत सम्मिश्रण है। संस्कृत शब्दों में तत्सम और अर्द्ध-तत्सम दोनों ही प्रकार के शब्द मिलते हैं, जैसे, 'अतिथि', 'पितृ-घातक', 'उदय', 'अस्त', 'समर्पण', क्षेम कुशल', 'प्राणाधार', 'सेवा', 'चित्त', 'ऐश्वर्य', 'आज्ञा', 'पृथ्वी', 'निश्चय', 'मित्र', 'कामना', 'धर्मात्मा', 'प्रजा', 'हित-कारी', 'माया', 'धिकार', 'स्वर्ग', 'तपस्या', 'मंत्र', 'नैवेद्य', 'आनंद', 'राजकन्या', 'भेद', 'बिनंति', 'पंचक्रम', 'सराप', 'जतन', 'जोतषी', 'राकस', 'जात्रा', 'मूरख', 'बरनन', 'आश्रय', आदि; अरबी-फ़ारसी के जैसे, 'आईनः साज़', 'मअजूनों', 'मुशाफ़िक़त', 'ख़िलअत', 'अहवाल', 'ज़र्दी', 'हक़ीक़त', 'बिहतर', 'नसीब', 'आला', 'इफ़राग़', 'नजात', 'अलक़िस्सह', 'अलग़रज़', 'लुत्फ़', 'मुद्दआ', 'ग़फ़लत', 'इनाम', 'नीयत', 'तवज्जुह', 'वस्फ़', 'नज़्ज़ार', 'सियासत', 'मुअय्यन', 'अहल मजलिस', 'हरकतः', 'दरिंदे', 'रकाब', 'तवक़्क़ुफ़', 'सख़ावत', 'मकदूर', 'बर्ख़', 'तुम दोनों निहायत प्यार इख़लास से बाहम ऐकजा रहना', 'शादियाने', 'सारे शहर को अजब एक तरह की खुशी वो ख़ुर्रमी हासिल हुई', 'फ़िल वाक़िअ [illegible] एक लअल की कीमत है', 'मख़फ़ी', 'सिम्त', 'मुहब्बत

आमेज़', 'तमाम दर ओ दीवार नक़्श ओ निगार से आरास्तः', 'इख़्तिलात', 'बाहम ऐश में मशग़ूल हुऐ', 'नाकारः', 'आफ़ताब तूलूअ न होने पावे', 'मिन्नत और ज़ारी', 'फ़िद्वी', 'रुऊनत', 'ज़मीनि पाकीज़ः', ज़ियाफ़त', 'आबि-हयात का चश्मः', आदि;'खाय', 'पाय', 'मलूक', 'गैल', 'पूछै है', 'समेत', 'तलक', 'तांई', धी' (बटी), 'भरी धरी हैं,' 'ब्यालू', 'रोइयो', 'भई' आदि, साथ ही 'बांचै है', 'हम जो हैं अबला सतयुग की हैं', 'लेना जो लक्ष्मी दै है', 'उसके कर्म में लिख दे है', 'पूर्व जन्म जैस तप करै है', 'सज़ा का दहै हैं' आदि ब्रजभाषा शब्दों और पडिताऊ रूपों तथा वाक्यांशों का भी प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त अनेक देशज शब्द और 'उन्ने', 'विसके', 'विन्ने', 'मत जाइयो', 'आन कर', 'आन पहुँची', 'आन बैठी' आदि खड़ीबोली के ठेठ रूप भी मिलते हैं। दुहरे प्रयोगों का, जैसे, 'दयामया','पंछी पखेरू', 'अछता-पछता', 'बैद हकीम', 'पुरुष लोग' आदि, और इंशा की शैली के वाक्य, जैसे, 'ठंढी ठंढी हवाएं आतियां थीं', 'रानियां दंडवत कर वहीं जा बैठियां', 'यह सुन रानियां एकदम चुप होकर फिर बोलियां', 'वे सब रंडियां जैसे जोगी के आगे गातियां थीं गाने लगीं' आदि का प्रयोग अवश्य हुआ है, किंतु कम। दोनो ग्रंथों में 'कंचन की बराबरी पीतल नहीं कर सकता', 'हीरे बराबर शीशा नहीं होता', 'चंदन के गुण को नीम नहीं पाता', 'गधे पर पाखल नहीं फबती', 'बंदर के गले में मोती की माला नहीं सोहती', 'कूक मार-मार कर रोना', 'हाथ ओट लेना', 'मन के लड्डू खाना', 'हृदय का खिलना', 'पीठ न देना', 'कान धर के सुनो' आदि अनेक सुन्दर कहावतें और मुहावरे पाए जाते हैं। 'गढ़ से पकड़ लावे, सज़ा को पहुँचावे', 'आपका दर्शन मैंने किया, सब मेरा सोच विचार गया' आदि तुकांत-युक्त वाक्य भी उनकी भाषा की एक विशेषता है। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न प्रकार के प्रयोग मिलते हैं जैसे, 'हम जाया चाहते हैं', 'इसके ख़ियाल मत पड़', 'सूली दिया है', 'बैठने का चित्त किया है', 'एक वहा सुस्ता खुशी की जब चलने लगा', 'बचन किया था', मालूम किया चाहिए', 'उन्होंमें,' 'भयमान', 'रुखावल', 'बितायती', 'पंछी पखेरू दरख़्तों पर चहचहों में थे' आदि। 'बैताल पच्चीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' की भाषा पर विचार करते समय 'बैताल पच्चीसी' की भूमिका के इन शब्दों पर ध्यान रखना चाहिए : '...ज़बानि सहल में जो ख़ास ओ .आम बोलते हैं और जिसे .आलिम जो जाहिल गुनी कूढ़ सब समझें, और हरऐक की .तबी.अत पर आसान हो, मुशकिल किसी .तरह. की ज़िहन पर न गुज़रे, और ब्रज की बोली अकसर उसमें रहें...'

'सिंहासन बत्तीसी' के बारे में भी यही बात लागू होती है और इसीलिए भाषा में संस्कृत और ब्रजभाषा शब्दों, मुहावरों, और रूपों का प्रायः प्रयोग मिलता है। किन्तु इस सम्बन्ध में जो विचारणीय बात है वह यह है कि एक तो ऐसे सरल और जनसाधारण में प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग हुआ है, हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) के शब्द अधिकतर वे ही हैं, जिनके स्थान पर अरबी-फ़ारसी के शब्द रखना किसी प्रकार भी उचित नहीं था। ऐसे शब्द भारतीय धर्म, जाति, वस्तुओं आदि से संबन्धित हैं, जैसे, 'मेरी गति तुम्हीं में है', 'जोगी ने ज्यों ही दंडवत करने को सिर झुकाया', 'अष्ट सिद्धि और नौ निद्धि', 'गुरु', 'कमल', 'तपस्वी', 'वर्ण', 'आश्रम', 'राजकन्या', 'कुँवर', 'राज़-कुमार', 'राजपुत्र', 'नैवेद्य' 'धूप दीप' आदि। 'बैताल पच्चीसी' का संशोधन करते समय तारिणीचरण मित्र ने कहा भी है: 'फिर मु.वाफ़िक इरशादि मुदरिसि हिन्दी, खुदा.वंदि नि.अमृत जनाबि कपतान जिमिस मोअट साहिब (दाम इकबालहू) के, तारिनीचरन मित्र ने छापे के वास्ते संस्कृत और भाषा के अलफ़ाज़ को जो रेख़ते के मुहावरे में कम आते हैं, निकालकर मुरव्वज अलफ़ाज़ को दाख़िल किया; मगर बअज़ी इस्तिलाह हिंदूओं की, जिसके निकालने से ख़लल जाना, बहाल रखी.....' रेखांकित वाक्य से 'बैताल पचीसी' में ही नहीं 'सिंहासन बत्तीसी' में भी संस्कृत और ब्रजभाषा के अनेक शब्दों के प्रयोग का कारण स्पष्ट हो जाता है। दूसरे, अरबी और फ़ारसी के कठिन शब्दों की भाँति संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ। हिन्दी के शब्दों में अधिकतर अर्द्ध-तत्सम, विकृत और ठेठ शब्द हैं, और उन पर भी उर्दू-दाँ लोगों की छाप है—'भाटन', 'ब्राहमन', 'परमोदने से', 'अशनान' आदि। 'सिहासन बत्तीसी' की भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग और उर्दूपन 'बैताल पचीसी' की भाषा से कहीं अधिक है। शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त वाक्य-विन्यास का अहिन्दी रूप भी स्थान-स्थान पर मिलता है—'शुरूअ कहानी का यिह है', 'बअद चंद रोज़', 'वे सहारों का किया सहारा', 'द्वारे खेलता था मेरा बालक', 'किस देश से आये हो और क्या तुम्हारा नाम है', 'जब से शकल उस राज-कन्या की नज़र आई हैं सुध बुध मैंने गवां अपनी हाल यह उसके इश्क में बनाई है', 'दरमियान उस दश्त के नज़र आया, राजा पास आया' आदि। उर्दूपन की बात 'बैताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' के बारे में ही नहीं, 'माधोनल' और 'शकुन्तला नाटक' के बारे में तो और भी अधिक लागू होती है। 'माधोनल' की भाषा इस प्रकार है :

'इब्तदाय क़िस्सा शहर की तारीफ़ में और उसके राजा और लोगों के वस्फ़ में है बलन्द बलन्द मकानों के बालाखानों का आलम देख कर आस्मान ज़मीन का आलम तह व बाला था नए नए तौर के मकान मुनक्क़श आलीशानों पर सुनहरी कलियों के चमकने से अजब उजाला साहब-इ इल्म ओ हुनर नेक अफ़आल ओ नेक करदार और लोग अच्छे अच्छे आराम चैन से उस बस्ती में बसते थे वह पुहपावती नगरी मशहूर थी और राजा गोविन्दचन्द दानिश ओ बख़्शिश में यकता नेक अफ़आल खजिस्ता खसाल महर से मामूर इल्म ओ हया से मशहूर सूरत व सीरत में ख़ूब खल्क़ तालिब वह मतलूब दोस्त उसके लुत्फ़ से शाद और दुश्मन क़हर से बरबाद जाबजा उसकी धाक ग़रज़ वहाँ का राज राजा इन्दर की तरह करता था ...' (ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित फ़ारसी लिपि में लिखित प्रति से)

'बैताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' की अपेक्षा इस भाषा का रूप कहीं अधिक अहिन्दी है। 'शकुन्तला नाटक' भी

'बिस्मिल्लह इर्रहमानइर्रहीम

परी हो या इंसान, किसी की क्या जान, जो उस्के शाहिद इ हम्द ओ सना के हुस्न ओ जमाल पर कर सके निगाह; कलाम इ मौजिज़ निज़ामी अहमदी मुजतबा मुहम्मदी मुस्तफ़ा (सल्लअल्लहु अलेहि व अलिहि व सल्लम) का उस पर है गवाह...'

से प्रारम्भ हो भाषा का निम्नलिखित रूप प्रस्तुत करता है :

'...जवाँ! बस; दिल लगा तू दास्तान पर,
यहाँ से यूं है अब आग़ाज़ इस्का

कि अगले ज़माने में, बिस्वामित्र नाम एक शख़्श था, शहर को छोड़, जंगल में रहा करता. और तौर की इबादत ओ रियाज़त दिन रात किया कर्ता; अपने साहिब की बन्दगी में तन बदन की कुछ उसे ख़बर न थी; सिवा

उसी के तसव्वुर के, कभी निगाह इधर-उधर न थी;
यहाँ तक दुबलापे से लटा था, कि पहचाना न जाता.

बदन फूल सा, सूख काँटा हुआ था,
रियाज़त के मारे वह जीता मुआ था.

इन दुखों से उसको कभी एकदम आराम न था; सिवा उठाने इन जफ़ाओं के कुछ काम न था, ताकि इस खाकसारी से आरज़ू दिल की बर आवे, और दरख़्त से मुदआ के फल पावे. ऐसा जोग किया, ऐसा आसन बाँध बैठा, नजदीक था कि बंदगी के जोर से, उन की सिंहासन छीन ले; जितने तीरथ थे उन सब में गया; शहर शहर, दरिया दरिया, घाट घाट, पैकरमा करता फिरा, न छोड़ा किसी नदी का किनारा'.[1]

'दरख़्तों की छाँव में खड़ी होकर, अपने अपने जोबन पर एक एक मग़रूर थी; लेकिन उन सभों में, सकुन्तला अपने हुस्न ओ अदा में बहुत दूर थी: चमकावट उसके चिहरे की, अजब जलवे दिखाती थी; और ज़ुल्फ़ें बिखरी हुई मुंह पर उसके, इस रंग से नज़र आतियाँ थीं, जैसे नमूद धुवें की शुअले पर होती है, या जैसे कुछ कुछ घटा सूरज पर आ जाती है; निगाह बिजली थी, कि नज़रों में कौंध जाती थी; उस तप बन में इस रंग रूप से समाँ बँधा था.

ख़जिल देखकर उसको होता था माह,
ठहरती न थी मिह की भी निगाह'[2]

'...इस तौर उन मुश्ताक़ों की, आपस में मुलाक़ात हुई, तालेआ सोते हुए दोनों के जागे; दुख दर्द उनके दिलों से यक लख्त भागे; दोनों खुश व खुर्रम हुए; सकुंतला रानी हुई, और राजा अपने राज में हुक्मरानी करने लगा; तमाम रैयत उनकी, खुशी से शाद हुई; बुद नगरी

१—पृ० २७
२—पृ० ३८

फिर सरेनों आबाद हुई; सब मतालिब व मक़ासिद उनके दिलों के बर आये; अपने अपने हुस्न ओ जवानी की खूब खूब मज़े उठाये.

अब यह कहानी यहाँ तमाम हुई, ऐ जवाँ! लफ़्ज़ ओ मानी से बखूबी सरंजाम हुई. अज़बसकि ज़बान रेख़्ते में लिखी साल-इ-हिजरी के मुआफ़िक़ रेख़्तः तारीख़ हुई.

सकुंतला का जो अहवाल इसमें है मज़कूर
सकुंतला के इसे नाम से किया मशहूर.
तमाम शुद'[1]

'शकुन्तला' के उपर्युक्त अवतरण गिलक्राइस्ट कृत 'हिन्दी-रोमन ऑरथीपी-ग्रैफ़ीकल अल्टीमेटम' से लिए गए हैं जिसमें पूरा ग्रंथ रोमन लिपि में उद्धृत है। विलियम प्राइस के 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी-संग्रह' में पूरा ग्रंथ फ़ारसी लिपि में दिया है। दोनों में पाठ-भेद मिलते हैं।

'माधोनल' और 'शकुन्तला नाटक' की भाषा में यद्यपि 'कामदेव', 'मनोज', 'सखी', 'तपस्वी', 'मुनी', 'बिरह', 'कँवल', 'राजा', 'ब्रह्मा', 'बिपत', 'मोहनी', 'जोग', 'बिजोग', 'मूरत', 'आधा अंग', 'भँवरा', 'बिचार', 'रूपरंग', 'दंडवत', 'तप', 'बन', 'सराय', 'चतुराई', 'कीजियों', 'जाइयो', 'हूजो', 'हूजियो', 'कीजो', आदि संस्कृत के तत्सम तथा अर्द्धतत्सम और ब्रजभाषा शब्द एवं रूप मिलते हैं, तो भी ऐसे शब्दों की संख्या न केवल 'बैताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' की तुलना में वरन् स्वयं इन दोनों ग्रंथों में ही बहुत कम है। उनमें 'अज़बसकि', 'तअम्मुल', 'रियाज़त', 'मतालिब', 'मक़ासिद' आदि शब्दों का बाहुल्य है। 'बैताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' की भाँति उनमें 'सौतों में हिली मिली रहना, अपना भेद कभी न कहना', 'इन दुखों से उसको कभी एकदम आराम न था, सिवा उठाने इन जफ़ाओं के कुछ काम न था', 'कौन है ऐसा, जिस्के दिल को उस्के नहीं है लाग; उसी का सोज़ इ मुहब्बत रखती है आग' आदि तुकांत-युक्त वाक्यों, 'दोनों सखियां उसका मुंह देखते ही रहतियां थीं', 'वे सूरतें मूरतों सी, बार बार सिर, कांधे, कमर पर घड़े ले ले आतियां हैं, सांसे चढ़ चढ़

[1] —पृ० ८३-८४

जातियां हैं', 'ज़ुल्फें बिखरी हुई मुंह पर उसके इस रंग से नज़र आतियां थीं', 'शकुन्तला से दोनों सखियां पूछने लगिया', 'सखियां दौड़ी आइयां', 'हंस-हंस कर कहने लगियां', 'शकुन्तला को थाम, और हाथ में हाथ लेकर, वहां से घर को चलियां., 'जुदाई से दोनों के दिल में बेकलियां हो गइयां', 'सखियां कंवल की पत्तियों का पंखा बना हिलातियां हैं', 'सखियां बहला-बहला कहतियां हैं', 'यहां से बातें होतियां थीं', 'बद दुआ उसकी सुन कर दोनों सखियां दौड़ियां, और जल्द दुर्बासा मुनी के पास आइयां', 'सखियां खुश हूइयां', 'फिर आपस में बोलियां' आदि—'शकुन्तला नाटक' में विशेष रूप से—वर्तमान कृदन्त या विशेषण और विशेष्य के बीच के समानाधिकरण वाले वाक्यां का प्रयोग मिलता है जो इंशा में ही नहीं लल्लूलाल तथा अन्य लेखकों की रचनाओं में भी बराबर पाया जाता है। 'दुबलापा', 'चमकावट' आदि विशेष शब्दों का प्रयोगभी मिलता है। वाक्य-विन्यास स्पष्ट ही उर्दू का है। 'माधोनल' और 'शकुन्तला नाटक' की भाषा में इतना प्रत्यक्ष अहिन्दीपन है कि उसके विषय में विस्तार से कहना व्यर्थ होगा।

'बैताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' में से 'सिंहासन बत्तीसी' में और चारों ग्रंथों में से 'माधोनल' और 'शकुन्तला नाटक' में उर्दूपन सबसे अधिक है, किन्तु उर्दूपन है सब में। स्वयं लेखक ने चारों ग्रंथो की रचना रेख़्ता में बताई है। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विवरणों में ये चारों ग्रंथ हिन्दुस्तानी भाषा में लिखे बताए गए हैं, न कि 'प्रेमसागर' की भाँति हिन्दवी या ठेठ हिन्दी में। गिलक्राइस्ट ने 'रेख़्ता', 'हिन्दुस्तानी' और 'उर्दू' का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। तासी ने 'सिंहासन बत्तीसी' की भाषा को उर्दू कहा है। और 'The ancient language spoken in the cities of Dillee and Agra, and still in the general use among the Hindoos of those cities, is distinguished by the inhabitants of Bruj, by the name of Khuree bolee, and by Moosulmans indiscriminately by *looch* Hindee, *nich*, *huchh* Hindee or in *theth* Hindee, and when mixed with Arabic and Persian form what is called the Rekhtu or Oordoo.'[1] Urdu was called Rekhta

१—लल्लूलाल : 'जनरल प्रिंसीपिल्स ऑव इन्फ्लैक्शन ऐंड कौन्ज़ुगेशन इन दि ब्रजभाषा' की भूमिका

लल्लूलाल की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'प्रेमसागर' है। इसी ग्रन्थ के आधार पर गिलक्राइस्ट और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज का हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में उल्लेख किया जाता है। ग्रियर्सन तथा कुछ अन्य इतिहास-लेखकों के, जिनका पीछे उल्लेख हो चुका है, आधुनिक हिन्दी गद्य के सम्बन्ध में कथन भी 'प्रेमसागर' पर आधारित हैं। उसका प्रकाशन-इतिहास प्रस्तुत लेखक कृत 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' (सं० २००४) में दिया जा चुका है। अतएव उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। १६ अगस्त, १८०३ तक 'प्रेमसागर' प्रेस पहुँच चुका था और २० अगस्त, १८०४ तक हिन्दुस्तानी प्रेस में उसके ५१ प्रकरण छप चुके थे जिनमें १३६ चौपेजी पृष्ठ थे। ५२ वें प्रकरण के ४ पृष्ठ मिलाकर कुल पृष्ठों की अनुमानित संख्या १४० थी। २० सितम्बर, १८०४ तक वह प्रेस में ही था। उसका प्रकाशन कॉलेज कौंसिल के ३ फ़रवरी, १८०३ के प्रस्तावानुसार अधिकृत था। इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी, लंदन में 'प्रेमसागर' की जो प्रति है वह उपर्युक्त विवरण के अनुसार है। उसमें ५१ प्रकरण ही हैं। किन्तु पृष्ठ-संख्या १७६ है। संभव है बाद को पृष्ठ-संख्या बढ़ गई हो और ग्रन्थ के छपते-छपते देर हो गई हो। इसीलिए यद्यपि मुखपृष्ठ पर हिन्दी में प्रकाशन-तिथि १८०३ दी गई है—'संवत् १८६० औ अंगरेजी १८०३ में हिन्दूस्थानी छापेघर में छापा किया हूआ मुनशी महम्मद अहसन का – किन्तु अँगरेज़ी में १८०५ है—Calcutta, Printed at the Hindoostanee Press, 1805। उसी लाइब्रेरी में कॉलेज

१—डा० ग्रैहम बेली : 'हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेचर'

कौंसिल के मंत्री, विलियम हंटर, के ३१ जनवरी, १८०६ के पत्र के आधार पर ३ फ़रवरी, १८०६ को सरकार द्वारा अधिकृत तथा संस्कृत प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित १८१० का संपूर्ण संस्करण भी है जिसमें कुल ४३० पृष्ठ हैं। १८०३ और १८१० के संस्करणों में क्रमशः 'विसवे', 'विस्वे' 'अधरम' और 'अधर्म', 'सामरथ' और 'समर्थ' आदि तथा अन्य कुछ विराम-चिन्हों, प्रत्येक प्रकरण की पुष्पिका आदि से संबंधित साधारण भेदों को छोड़ पाठ-संबंधी कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं है। कुल ग्रंथ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, दो खंडों में विभाजित है और दोनों में मिला कर ९० प्रकरण हैं—क्रमशः ५० और ४०। १८०३ वाले संस्करण में पूर्वार्द्ध भाग प्रधान है। उत्तरार्द्ध का उसमें एक प्रकरण है - ५१ वां, जरासंध पराजय—और उसके अंतिम वाक्य इस प्रकार हैं—'इतनी बात के सुनते ही मुचकुंद उनके साथ हो लिया औ जाके असुरों से युद्ध करने लगा। इसमें लड़ते-लड़ते कितने ही जुग' (पृ० १७६)। पूर्वार्द्ध में 'पीढ़ा वंध', 'देवकी विवाह', 'गर्भ स्तुति', 'कृष्ण जन्म कन्या ग्रहन', 'कंस उपद्रव', 'कृष्ण जन्मोत्सव', 'पूतना वध' आदि से लेकर 'ऊधो वृंदावन गमन', 'ऊधो गोपी संबोधन भ्रमरगीत', 'कुबजा केलि', और 'अक्रूर हस्तनापुर गमन' तक की कथाएँ हैं। उत्तरार्द्ध में 'जरासंध-पराजय', 'कालयमन मरन मुचकुंद तरन श्री कृष्ण बलराम द्वारिका गमन', 'कृष्ण प्रत रुक्मिनी संदेश', 'रूक्मिनी हरन' आदि से लेकर 'नर नारायण नारद संवाद', 'रुद्र मोक्ष विकासुर वध', 'द्विजकुमार हरन', और 'द्वारिका बिहार बरनन' तक की कथाओं का वर्णन है। १८१० के संस्करण के अंत में 'अशुद्ध-नामा' ('पिष्टों सहित') और 'सूचीपत्र' (विषय-सूची) है। इस प्रकार 'प्रेमसागर' 'संपूरन समांत' होता है।

'प्रेमसागर' के १८०३ वाले संस्करण के मुखपृष्ठ पर इस प्रकार लिखा हुआ है :

'श्री गणेशाय नमः

प्रेमसागर बना खड़ीबोली में श्री भाग.वत के दस मस्कंध से जो ब्रज भापामें है पाठ शाला के लिये श्री महा राजा धिराज सकल गुननिधान महा जान पुन्य.वान मार-कोइस .वलिजली ग.वरनर जनरल प्रतापी के राज में बनाया हुआ श्री लल्लू.जी लाल कवि का श्रीयुत गुन गाहक गुनि-यन सुख दायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से

कवि पंडित मंडित किये सभाभूषन पहिराइ
गाहि गाहि विद्या सफल सब कीनी चित चाइ
ग्यान गौर बहु ग्रंथ मैं पढ़े कवित के चित्त
आवत पावत लालमनि छय हाथी बहु वित्त'

और ग्रंथ के प्रारम्भ में भूमिका इस प्रकार है :

'विघन विदारन विरदवर वारन वदन विकास। वर दे बहु बाढ़ै विसद बानी बुद्धि विलास। जुगल चरन जोवत जगत जपत रैन दिन तोहि। जगमाता सरस्वति सुमिरि युक्ति उक्ति दे मोहि।

एक समैं व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दसम स्कंध की कथा को चतुरभुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्रज भाषा किया सो पाठशाला के लिये श्री महाराजा धिराज सकल गुन निधान पुन्यवान महाजानमारकोइस वलिजली गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्री श्रीयुत गुन गाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की अज्ञा से —संवत १८६० में श्री लल्लूजीलाल कवि ने विस का सार ले—यामिनी भाषा छोड़—दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह नाम प्रेमसागर धरा।''

१८१० के संस्करण की भूमिका इस प्रकार है :

'विघन विदारन विरद......उक्ति दे मोहि।

एक समैं व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत......प्रतापी के राज में ०० कवि पंडित मंडित किये......छय हाथी बहु वित्त ०० और श्रीयुत......संवत १८६० में श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने विस का सार ले—यामिनी भाषा छोड—दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह नाम प्रेमसागर धरा पर श्रीयुत जान गिलकिरिस्त महाशय के जाने से बना अधबना छपा अधछपा रहगया था सो अब श्री महा राजेश्वर अति दयाल कृपाल

यसस्वी तेजस्वी गिलबर्ट लार्ड मिंटो प्रतापवान के राज में औ श्री गुनखान सुखदान कृपा-निधान भागवान कपतान जान उलियम् टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्री युत परमसुजान दयासागर परोपकारी डाकतर उलियम् हंटर नक्षत्री की सहायता से औ श्री निपट प्रबीन दयायुत लिपटन अबराहम लाकट रतीवंत के कहे से उसी कबिने संवत् १८६६ में पूरा कर छपवाया पाठशाला के बिद्यार्थियों के पढने को

ब्रह्म नागकुलि राग ऋपि मिल संवत निर्धार०
श्रावन कृष्न त्रयोदशी भयौ ग्रंथ रविवार'०[1]

इन अवतरणों से 'प्रेमसागर' के जन्म की कहानी से संबंध रखने वाली सभी बातें ज्ञात हो जाती हैं। कॉलेज के विवरणों में उसे 'नागरी दशम' भी कहा गया है।

विपय की दृष्टि से 'प्रेमसागर' कोई नवीन विपय प्रस्तुत नहीं करता। उसका विपय धार्मिक, पौराणिक, और एक प्राचीन ग्रंथ पर आधारित है। यही बात रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल, सदल मिश्र आदि के ग्रन्थों के संबंध में भी कही जा सकती है। खड़ीबोली हिन्दी गद्य-साहित्य के विपय-विस्तार की दृष्टि से ही उसमें नवीनता का अभाव नहीं है, वरन् रोचकता की दृष्टि से भी उसका अच्छा स्वागत हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ईस्ट इंडिया कम्पनी के अत्यंत प्रतिभाशाली कर्मचारी मेजर स्लीमैन, के मतानुसार 'Prem Sagar' is perhaps the most wearisome book in the world'.[2] इसी प्रकार १८४६ के 'कलकत्ता रिव्यू' में एक समीक्षक का उसके बारे में कहना है: '...the subject matter is a wearisome and endless repitition of the amours of krishna...'

वास्तव में 'प्रेमसागर' का महत्त्व खड़ीबोली गद्य का प्रारंभिक रूप प्रस्तुत करने में है। ग्रियर्सन तथा अन्य लेखकों ने उसकी भाषा के संबंधमें जो कुछ कहा है उसे ध्यान में रखते हुए लल्लूलाल का यह कथन कि 'यामिनी

भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ीबोली में कह' ही सबसे अधिक विचारणीय है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रेमसागर' की भाषा 'जुहार', 'समां बंधा हुआ था', 'बलना', 'दमामा', 'नबाडा', 'सर', 'लाल', 'बैरख' आदि अपवाद-स्वरूप कुछ विदेशी शब्दों को छोड़कर आश्चर्यजनक रूप में अरबी-फ़ारसी तथा अन्य विदेशी शब्दों से मुक्त है। प्रेमसागरी भाषा की इस विशेषता के कारण आगे चलकर दो विचारधाराएँ उत्पन्न हुईं और वे दोनों विचारधाराएँ भ्रमपूर्ण हैं। आधुनिक काल में 'हिन्दुस्तानी' या अरबी-फ़ारसी शब्दावली से युक्त खड़ीबोली के पक्षपातियों का यह कहना कि लल्लूलाल ही ने अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहिष्कार कर आधुनिक कृत्रिम और संस्कृत गर्भित हिन्दी को जन्म दिया, नहीं तो ऐसी हिन्दी का उनसे पहले कोई अस्तित्व नहीं था, और, दूसरी ओर, हिन्दी लेखकों का यह विचार कि अरबी-फ़ारसी तथा अन्य आधुनिक विदेशी—प्रचलित या अप्रचलित—शब्दों का बहिष्कार कर ही *शुद्ध हिन्दी लिखी जा सकती है, लल्लूलाल के शब्दों के कारण ही* है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, लल्लूलाल से पूर्व संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली गद्य और विदेशी शब्दों से समन्वित खड़ीबोली गद्य, दोनों का अस्तित्व था।

इंशा ने रानी 'केतकी की कहानी' लिखते समय जो प्रतिज्ञा की थी उसे समझने में तो कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु लल्लूलाल की केवल 'यामिनी भाषा' के शब्दों का बहिष्कार करने की प्रतिज्ञा कुछ अजीब सी और एकाएक समझ में न आने वाली लगती है। लेकिन यह कठिनाई उसी समय उत्पन्न होती है जब लल्लूलाल का कथन उसकी वास्तविक पीठिका के साथ समझने की चेष्टा नहीं की जाती। उन्होंने ऐसा क्यों कहा, यदि यह समझ लिया जाय तो फिर किसी प्रकार के भ्रम के लिए गुंजायश नहीं रह जाती।

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की प्रोसीडिंग्स (*विवरण*) में सर्वत्र '*प्रेमसागर*' की भाषा 'हिन्दवी', या 'ठेठ बोली', कभी-कभी खड़ीबोली, कही गई है। यही 'हिन्दवी' थी जिस पर हिन्दुस्तानी या उर्दू का प्रासाद खड़ा हुआ था, जो मुसलमानी आक्रमण से पहले समस्त 'हिन्दुस्तान' में प्रचलित थी, जिसमें संस्कृत तत्त्व ही प्रधान रहता था और जिसका शुद्ध रूप हिन्दुओं में प्रचलित था। गिलक्राइस्ट के पूर्वोल्लिखित भाषा-संबंधी विचारों के अनुसार हिन्दवी और हिन्दुस्तानी का इतना घनिष्ठ संबंध और साथ ही कॉलेज के हिन्दुस्तानी विभाग के मुंशियों का हिन्दवी-सम्बन्धी अज्ञान देखते हुए गिलक्राइस्ट को

अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा था। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए उन्हें एक सुयोग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी और, जैसा कि पीछे उद्धृत गिलक्राइस्ट द्वारा लिखे गए पत्र से स्पष्ट ज्ञात होता है, वे यह अभाव दूर करने के लिए विशेष चिंतित थे। कॉलेज कौंसिल द्वारा उनकी माँग स्वीकृत होने पर लल्लूलाल की नियुक्ति हुई और लल्लूलाल ने गिलक्राइस्ट की इच्छानुसार सिविलियन विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी की आधारभूत भाषा, हिन्दवी, का ज्ञान कराने के लिए 'प्रेमसागर' की रचना की। स्वयं गिलक्राइस्ट हिन्दवी से भली भाँति परिचित नहीं थे। अतएव लल्लूलाल की नियुक्ति से उन्हें एक हिन्दवी जानने वाला भी मिल गया। कॉलेज में 'भाखा'-गद्य शुद्ध और ठीक-ठीक लिखने वालों में लल्लूलाल से अधिक योग्य और कोई पंडित नहीं था। लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' को गिलक्राइस्ट हिंदवी का एक उपयोगी ग्रन्थ ही नहीं समझते थे, वरन् टेलर और विलियम प्राइस के मतानुसार वह हिन्दुस्तानी भाषा के परिपक्व ज्ञान के लिए अत्यन्त सहायक था। १८४६ के 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखने वाले समीक्षक के अनुसार : '...In Hindi, Prem Sagar, which has nought to recommend it but idiom...'था। 'प्रेमसागर' के वास्तविक उद्देश्य का सबसे बड़ा प्रमाण तो पुराने सरकारी कागज़ों के आधार पर अब्राहैम लौकेट (१८१३ में कॉलेज के मंत्री) के भेजे हुए विस्तृत विवरण (१८१३) में उपस्थित है। उसमें 'भाखा'-पुस्तकों के अत्यन्त अभाव की दृष्टि से नहीं वरन् 'पाठ्य-पुस्तक के रूप में हिन्दुस्तानी के पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि में सहायक होने की संभावना और उपयोगिता' की दृष्टि से भी 'प्रेमसागर' का महत्त्व स्वीकार किया गया है। अस्तु, एक ऐसी भाषा (हिन्दवी) में रचना करते समय जो हिन्दुस्तानी की आधारभूत और उसके पूर्ण ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक थी, जो मुसलमानी आक्रमण से पूर्व 'हिन्दुस्तान' में प्रचलित थी, जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का अभाव और संस्कृत तत्व की प्रधानता थी, जो नागरी लिपि में लिखी जाती थी, यदि लल्लूलाल ने 'यामिनी भाषा' छोड़ने की बात कही हो तो आश्चर्य ही क्या। इसीलिए प्रेमसागरी भाषा में 'भाखा' का भी इतना अधिक प्रभाव है। लल्लूलाल का यह ग्रंथ न केवल कृष्ण की कथा के माध्यम द्वारा विद्यार्थियों को हिन्दू आचार-विचारों से परिचित कराने की दृष्टि से, वरन् भाषा की दृष्टि से भी प्रधानतः कॉलेज के हिन्दुस्तानी भाषा के विद्यार्थियों के लाभार्थ था। इससे अधिक प्रेमसागरी भाषा का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। इसकी रचना एक विशेष दृष्टिकोण से हुई थी।

'प्रेमसागर' से उद्धृत कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

'महाराज ! जद ऐसे समझाय बुझाय अक्रूर जी ने कुंती से कहा तद बुह सोच समझ चुप हो रही औ इन की कुशल पूछ बोली—कहो अक्रूर जी ! हमारे माता पिता औ भाई वसुदेव जी कुटुंब समेत भले हैं औ श्री कृष्न बलराम कभी भीम युधिष्टिर अर्जुन नकुल सहदेव इन अपने पांचों भाइयों की सुध करते हैं ? ये तो यहां दुख समुद्र में पड़े हैं—वे इनकी रक्षा कब आय करेंगे ? हम से अब तो इस अंध धृतराष्ट्र का दुख सहा नहीं जाता क्यूंकि बुह दुर्योधन की मति से चलता है—इन पांचों को मारने के उपाय में दिन रात रहता है कई बेर तो बिष घोल दिया सो मेरे भीमसेन ने पी लिया

इतना कह पुनि कुंती बोली कि कहो अक्रूर जी ! जब सब कौरव यों बैर किये रहैं तब ये मेरे बालक किसका मुंह चहैं औ मीच से बच कैसे होयें सयाने—यही दुख बड़ा है हम क्या बखानें जों हरनी झुंड से बिछड़ करती है त्रास तों मैं भी सदा रहती हूं उदास। जिन्होंने कंसादिक असुर संहारे—सोई हैं मेरे रखवारे'[1]

× × ×

'इतनी कथा कह श्री शुकदेव जी ने राजा से कहा कि महाराज—इसी भांति सब युवतियों ने पवन-मेघ-कोकिल-पर्वत-नदी-हंस से अनेक अनेक बातें कहीं सो जान लीजे॰ आगे सब स्त्री श्री कृष्नचंद के साथ विहार करें औ सदा सेवा में रहैं प्रभु के गुन गावें औ मन वांछित फल पावें—प्रभु गृहस्त धर्म से गृहस्ताश्रम चलावें॰ महाराज—सोलह सहस्र एक सौ आठ श्री कृष्नचंद की रानी जो प्रथम बखानी॰ तिन में ऐक ऐक रानी के दस दस पुत्र औ ऐक ऐक कन्या थी औ उनकी संतान अनगिनत हुई—सो मेरी सामर्थ नहीं जो बिन

१—१८०३ का संस्करण, पूर्वार्द्ध, 'श्रीअक्रूर हस्तनापुर गमनो नाम पंचाशत्तमोध्यायः ५०', पृ० १६८-१६९

का बखान करूं ० पर मैं इतना जानता हूं कि तीन करोड अट्ठासी सहस्र ऐक सौ चटसाल थीं श्री कृष्नचंद की संताने के पढाने को औ इतने हीं पांडे थे ० आगे श्रीकृष्न चंद जी के जितने बेटे पोते नाती हुऐ—रूप बल पराक्रम धन धर्म में कोई कम न था ऐक ऐक से बढ़कर था— उनका बरनन मैं कहां तक करूं ० इतना कह ऋषि बोले महाराज—मैंने ब्रज औ द्वारिका की लीला गाई—यह है सब की सुख दाई० जो जन इसे प्रेम सहित गावेगा—सो निःसंदेह भक्ति मुक्ति पदारथ पावेगा ० जो फल होता है तप यज्ञ दान ब्रत तीरथ स्नान करने से—सो फल मिलता है हरि कथा सुन ने सुना ने से० इति श्री लाल कृते प्रेम सागरे द्वारिका बिहार बरननो नाम नवतिमोध्याय: ० ॥ ९० ॥ ०० इति श्री प्रेम सागर संपनर समाप्तं ॥[1]

या तद्भव शब्दों की ही प्रधानता है। जिस समय लल्लूलाल ने गद्य लिखना आरंभ किया था, उस समय खड़ीबोली के व्याकरण में स्थिरता न आने पाई थी। लिखावटों, कारकों आदि का प्रयोग मनमाने ढंग से किया जाता था। लल्लूलाल ने भी 'बुला', 'बुलाय', 'बुलाके', तथा 'बुलाकर', और 'कह', 'कहके', 'कहकर' आदि विभिन्न रूप ग्रहण किए हैं। वैसे भी सामान्यतः शब्दों के अनिश्चित रूप उनकी भाषा में भरे हुए हैं—'पिरथी, पृथ्वी, प्रथिवी, प्रथी, पृथी, पृथ्वी', 'गर्भ, गरभ', 'सर्प, सरप', 'कर्म, करम', 'मुझ, मुज, मुझे', 'पतिव्रता, पतिबरता', 'हस्तिनापुर, हस्तनापुर', 'ज्योतिषी, जोतषियो', 'महाभारत, महाभारथ', 'औतार, अवतार', 'साप, सराप' आदि। 'स', 'ज', 'श', 'य' के प्रयोग में लेखक ने अनिश्चितता प्रदर्शित की है। बोलचाल की ब्रजभाषा के 'तिननूँ', 'तिन्ने' आदि और बोलचाल की खड़ीबोली (उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों) के 'तिनसे', 'आन कर', 'तिनके', 'तिने', 'तिन्ने', 'तिसका' आदि शब्दों के अतिरिक्त 'ठोकनी', 'धुकुड़-पुकुड़', 'ठुमक-ठुमक', 'हड़बड़ाय', 'टक्की-टक्की', 'अकुलाय पछताय', 'दरशनी', 'ठाँव ठाँव', 'चुनलाय' आदि बोलचाल के सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग भी स्थान-स्थान पर मिल जाता है। बोलचाल के शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ 'सताआ', 'हत्यारे', 'चूंथ' (चूम), 'लल्ला', 'भूं' (भूमि) आदि अनेक ऐसे शब्द भी हैं जो भाषाविज्ञानियों के अध्ययन का विषय बन सकते हैं। 'बाछ', 'नौढाय', 'डकुए', 'जील' ('मुरली के साथ मिल कर जील में गाती थीं') आदि कुछ विशेष शब्द और 'जीव घट से निकल सटका' और 'रावण को वध किया', 'तुम्हारे गये से', 'हमारे आये से' जैसे प्रयोग तथा 'सो', 'जो है महाराज', 'इतना कह आगे' आदि कथावाचक पंडितों द्वारा प्रयुक्त शब्द और वाक्यांश भी हैं। 'प्रेमसागर' में भाषा की सजावट भी पूरी है। उसके गद्य में तुकबन्दी और पद्यानुकूल वाक्य-संगठन है :

'महाराज! सब गोपी यमुना तीर पर बैठ प्रेम मद माती हो हरि के चरित्र और गुन गाने लगीं कि प्रीतम! जब से तुम ब्रज में आये तब से नये नये सुख यहाँ आन कर छाये—लक्ष्मी ने कर तुम्हारे चरन की आस—किया है अचल आपके बास। हम गोपी हैं दासी तुम्हारी—वेग सुध लीजे दया कर हमारी। जब से सुन्दर सांवली सलोनी मूरति हेरी तब से हुई हैं बिन मोल की चेरी। तुम्हारे नैन बानों ने हने हैं हिय हमारे—

का बखान करूं ० पर मैं इतना जानता हूं कि तीन करोड़ अट्ठासी सहस्र ऐक सौ चटसाल थीं श्री कृष्नचंद की संताने के पढाने को औ इतने हीं पांडे थे ० आगे श्रीकृष्न चंद जी के जितने बेटे पोते नाती हुऐ—रूप बल पराक्रम धन धर्म में कोई कम न था ऐक ऐक से बढ़कर था— उनका बरनन मैं कहां तक करूं ० इतना कह ऋषि बोले महाराज—मैंने ब्रज औ द्वारिका की लीला गाई—यह है सब की सुख दाई० जो जन इसे प्रेम सहित गावेगा—सो निःसंदेह भक्ति मुक्ति पदारथ पावेगा ० जो फल होता है तप यज्ञ दान ब्रत तीरथ स्नान करने से—सो फल मिलता है हरि कथा सुन ने सुना ने से० इति श्री लाल कृते प्रेम सागरे द्वारिका बिहार बरननो नाम नवतिमोध्याय: ० ॥ ९० ॥ ०० इति श्री प्रेम सागर संपूनर समाप्तं ॥"[1]

लल्लूलाल की भाषा और शैली पर उनके व्यक्तिगत जीवन का बहुत प्रभाव पड़ा है। आगरा-निवासी होने के कारण ब्रजभाषा का प्रभाव, और कवि होने के नाते कवित्व वे न बचा सके। उन्होंने 'चढ़ कर' के स्थान पर 'चढ़', 'आवाज़' के स्थान पर 'सुर', 'आ मिली' के स्थान पर 'आनि मिल' आदि का प्रयोग किया है। सच तो यह है कि इस प्रकार के प्रयोगों से उनकी भाषा में ब्रजभाषा का माधुर्य आ गया है। यद्यपि लल्लूलाल ने खड़ीबोली में लिखने की प्रतिज्ञा कर अपनी लेखनी चलाई थी, तो भी उनकी भाषा ब्रज-रंजित होने से नहीं बच पाई, जैसे, 'छोड़ियो', 'जाइयो', 'साँझ', 'आय', 'तिनके', 'हरे', 'समझाय', 'बुझाय', 'चरुआ', 'धरा', 'चरावन', 'पै', 'जा के', 'प्रसन्नता भई', 'ब्याहन जोग', 'जेवरी', 'अऊत', 'लीजो', 'दीजो', 'अबकी बेर', 'जेंवन', 'चरपरे', 'हाल उठे', 'घाम', 'माटी की गौर बनाय', 'मूंड़ किवार' आदि अनेक ब्रजभाषा शब्दों और रूपों का प्रयोग हुआ है। साथ ही उन्होंने 'चैतन्य', 'श्राप', 'सिंह', 'कुमति' आदि अनेक तत्सम शब्दों के साथ-साथ तद्भव रूपों का भी बाहुल्य रखा है, जैसे, 'सरधा', 'सराप', 'रिषी', 'पतिबरता', 'पंछी', 'जोबन', 'सिंगार', 'परजा', 'गरब', 'औतार', 'जोग', 'मंगलिया' आदि। वास्तव में 'प्रेमसागर' की भाषा में अर्द्ध-तत्सम

१—१८१० के संस्करण से, उद्धृत, पृ० ४२२-४२३

या तद्भव रूपों की ही प्रधानता है। जिस समय लल्लूलाल ने गद्य लिखना आरंभ किया था, उस समय खड़ीबोली के व्याकरण में स्थिरता न आने पाई थी। क्रियाओं, कारकों आदि का प्रयोग मनमाने ढंग से किया जाता था। लल्लूलाल ने भी 'चला', 'बुलाव', 'बुलाके', तथा 'बुलाकर', और 'कह', 'कहके', 'कहकर' आदि विभिन्न रूप ग्रहण किए हैं। वैसे भी सामान्यतः शब्दों के अनिश्चित रूप उनकी भाषा में भरे हुए हैं—'पिरथी, पृथ्वी, प्रथिवी, प्रथी, पृथी, पृथ्वीं', 'गर्भ, गरभ', 'सर्प, सरप', 'कर्म, करम', 'शुक्र, शुक्र, सुक्र', 'पतिव्रता, पतिबरता', 'हस्तिनापुर, हस्तनापुर', 'ज्योतिषी, जोतषियों', 'महाभारत, महाभारथ', 'औतार, अवतार', 'भार, भगार' आदि। 'व', 'ब', 'श', 'स' के प्रयोग में लेखक ने अनिश्चितता प्रदर्शित की है। बोलचाल की ब्रजभाषा के 'तिनसूं', 'तिन्ने' आदि और बोलचाल की खड़ीबोली (उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों) के 'तिनसे', 'आन कर', 'तिनके', 'तिने', 'तिन्ने', 'तिनका' आदि शब्दों के अतिरिक्त 'छोकरी', 'धुकुरपुकुर', 'टुनक-टुसक', 'हड़बड़ाय', 'टक्की-टक्की', 'पछताय पछताय', 'दमगजी', 'हौंस हौंस', 'तुनलाय' आदि बोलचाल के सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग भी स्थान-स्थान पर मिल जाता है। बोलचाल के शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ 'सताआ', 'हरदारे', 'चूंच' (चूस), 'रच्छा', 'भूं' (भूमि) आदि अनेक ऐसे शब्द भी हैं जो भाषाविज्ञानियों के अध्ययन का विषय बन सकते हैं। 'बाछ', 'नौठाव', 'ठहुए', 'जील' ('मुरली के साथ मिल कर जील में गाती थीं') आदि कुछ विशेष शब्द और 'जीव घट से निकल सटका' और 'रावण को वध किया', 'तुम्हारे गये से', 'हमारे आये से' जैसे प्रयोग तथा 'सो', 'जो है महाराज', 'इतना कह आगे' आदि कथावाचक पंडितों द्वारा प्रयुक्त शब्द और वाक्यांश भी हैं। 'प्रेमसागर' में भाषा की सजावट भी पूरी है। उसके गद्य में तुकबन्दी और पद्यानुकूल वाक्य-संगठन है:

> 'महाराज! सब गोपी यमुना तीर पर बैठ प्रेम मद माती हो हरि के चरित्र और गुन गाने लगीं कि प्रीतम! जब से तुम ब्रज में आये तब से नये नये सुख यहाँ आन कर छाये—लछमी ने कर तुम्हारे चरन की आस—किया है अचल आपके वास। हम गोपी हैं दासी तुम्हारी—बेग सुध लीजे दया कर हमारी। जब से सुन्दर सांवली सलोनी मूरति है हेरी तब से हुई हैं बिन मोल की चेरी। तुम्हारे नैन बानों ने हने हैं हिय हमारे—

सो प्यारे ! किस लिये लेखे नहीं है तुम्हारे । जीव जाते हैं हमारे अब करुना कीजे – तज कर कठोरता बेग दरसन दीजे ।...'[१]

अथवा 'अब मैं उसको दू हूं श्राप—वही मीच पावेगा आप', 'जिसके राज में थे हम सुखी, कोई पंसु पंछी भी न था दुखी', 'अरे तू कौन है, अपना बखान कर, जो मारता है बैल को जान कर' आदि । लल्लूलाल ने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि कुछ अलंकारों से भी अपनी भाषा सुसज्जित की है—'ग्रीष्म की अति अनीति देख नृप पावस प्रचंड पृथ्वी के पशु पक्षी जीव जंतुओं की दशा बिचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया' (अनुप्रास और रूपक) । चित्रोपम भाषा का प्रयोग कर उन्होंने अपनी वर्णनात्मक शक्ति का परिचय दिया है—'लगा लाल लाल आंखे कर नथने चढ़ाय कान पूंछ उठाय टाप टाप भूं खोदने औ हींस हींस कांधा कंपाय कंपाय लातें चलाने' । ऐसे और भी उदाहरण 'प्रेमसागर' में मिलेंगे । लल्लूलाल ने निम्नलिखित रीति से गद्य में काव्यत्व और आलंकारिकता लाने की चेष्टा की है, किन्तु उनका यह प्रयास अधिक सफल नहीं कहा जा सकता :

'महाराज ! जिस काल बाला बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छवि छीन हुआ; बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अंधेरी फीकी लगने लगी उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई । भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा, आंखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृगमीन खञ्जन खिसाय रहे...'

वैसे भाषा में ब्रजभाषा के लाक्षणिक प्रयोगों का प्रचुर व्यवहार हुआ है और सामान्य कहावतें और मुहावरे भी थोड़े-बहुत देखने को मिल जाते हैं । 'प्रेमसागर' की भाषा गद्य-पद्य-मिश्रित है । लेखक ने बीच-बीच में स्वनिर्मित दोहों-चौपाइयों और अन्य कवियों द्वारा रचित दोहों, जैसे, 'जय माला छापा तिलक...' का प्रयोग किया । लल्लूलाल द्वारा रचित पद्यात्मक अंशों की भाषा ब्रजभाषा है, यद्यपि कहीं-कहीं 'सरबस दिया तुम्हारे साथ' जैसे खड़ीबोली

१—१८०३ ई० संस्करण से, पृ० [illegible]

के रूप भी मिल जाते हैं। उन्होंने अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जो बाद की बोलचाल या साहित्यिक भाषा में व्यवहृत नहीं होते थे। राजा शिवप्रसाद द्वारा 'गुटका' के पहले भाग में संकलित ऐसे शब्दों में से कुछ इस प्रकार हैं:

लल्लू जी बोली	हम लोगों की बोली
सोहीं	सामने
तिन	उन
भया	हुआ
बड़ गये	घुस गये
अब हीं	अभी
तद	तब
जद	जब
धाया	दौड़ा
बिरियां	समय
औंडी	गहरी
तधी	तभी
दीसे	दीखे
तिन्हों	उन्हों

उपर्युक्त शब्दों में से अनेक शब्द ब्रजभाषा के हैं और कुछ शब्दों का प्रयोग खड़ीबोली प्रदेश की सामान्य जनता में अब भी पाया जाता है, यद्यपि शिष्ट समाज और साहित्य में उनका प्रचार नहीं है। किन्तु जहाँ तक आलोच्य-कालीन गद्य से संबंध है ऐसे प्रयोग सभी प्रकार के लेखकों की भाषा में पाए जाते हैं। उस समय गद्य का काव्य की भाषा ब्रजभाषा से प्रभावित रहना स्वाभाविक ही था। इसी प्रकार आलोच्यकालीन गद्य की वाक्य-रचना में उर्दू-शैली का प्रभाव भी केवल लल्लूलाल में ही नहीं वरन् लगभग अन्य सभी लेखकों में लक्षित होता है।

सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर 'प्रेमसागर' की भाषा में माधुर्य और सरसता है, काव्याभास है, लेकिन वाक्य-रचना में सुसंबद्धता नहीं है। प्रत्येक वाक्य अपनी-अपनी ध्वनि अलग-अलग उत्पन्न करता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना प्रचार की दृष्टि से नहीं, वरन् पाठ्य-पुस्तक के रूप में की थी। इसलिए उसमें कृत्रिमता, शिथिलता

और अव्यावहारिकता का आ जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। उस पर भी वह ब्रजभाषा के प्राचीन ग्रंथ पर आधारित है। लल्लूलाल ने गद्य को अधिक से अधिक ग्राह्य बनाने, उसकी अभिव्यंजनात्मक शक्ति बढ़ाने और उसमें चमत्कार लाने की चेष्टा अवश्य की है, किन्तु उन्हें इस कार्य में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। प्रेमसागरी भाषा-शैली का कुछ-कुछ प्रभाव आगे चल कर ईसाई धर्म-प्रचारकों की रचनाओं में ही मिलता है; उसका अधिक प्रचार न हो सका। वास्तव में 'प्रेमसागर' का ऐतिहासिक महत्त्व ही अधिक है। खड़ीबोली गद्य-साहित्य को ऊपर उठाने में लल्लूलाल ने भी थोड़ा-सा सहारा लगाया।

लल्लूलाल की अंतिम विचारणीय रचना 'लतायफ़-इ हिंदी' हिन्दुस्तानी में है। इस ग्रन्थ को 'Hindoostanee Jest Book, Containing a choice collection of humorous stories' और प्रत्येक कहानी का शीर्षक 'नक़ल' होने के कारण 'नक़्लियात' भी कहा गया है। प्रस्तुत लेखक कृत 'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' में 'लतायफ़-इ हिंदी' का भी प्रकाशन-इतिहास मिलेगा। लल्लूलाल ने यह संग्रह फ़ारसी और नागरी दोनों लिपियों में छपाया था और साथ ही कहानियों में आए प्रधान शब्दों का अँगरेज़ी अनुवाद भी परिशिष्ट रूप में जोड़ दिया था। हिन्दुस्तानी भाषा के अँगरेज़ विद्यार्थियों को उससे यथेष्ट लाभ पहुँचा। ब्रजभाषा के दोहे और फ़ारसी पद्य अक्सर कहानियों के साथ उद्धृत मिलते हैं। बाद के संपादकों ने 'लतायफ़-इ हिन्दी' के मूल रूप में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिए हैं। उदाहरण के लिए विलियम कारमाइकेल स्मिथ (William Carmichael Smyth) द्वारा संपादित और लन्दन से प्रकाशित (१८२१)[1] एक प्रसिद्ध संस्करण है जिसका उल्लेख तासी ने भी किया है। संपादक ने नागरी लिपि का अधिक उपयोग न समझ कर उसके स्थान पर रोमन लिपि का व्यवहार किया है और नवाब बिदनूर (Bidnoor) के वकील के मुंशी, मीर अफ़ज़ल अली, की सहायता से भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियों का संशोधन कर हिन्दुस्तानी सीखना शुरू करने वाले के लिए कुछ ऐसी कठिन कहानियाँ निकाल दी हैं जिनमें ब्रजभाषा के दोहे अधिक आए थे। इस संस्करण में ८८ नक़लें हैं। नक़लों की भाषा में अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दों, जैसे, 'दरूद', 'वाइज़', 'वाज़', 'कज़ाकार', 'इयान', 'ख़ुदा का फ़ज़ल', 'तरद्दुद', 'ज़राफ़त', 'तबियत', 'शब', 'बेहिजाब',

१—तासी ने इस संस्करण की तिथि १८११ दी है जो ठीक नहीं है।

'मामूल', 'नामुदनी' आदि और उर्दू-शैली के वाक्य-विन्यास का जैसे, 'उस मुल्क के लोग लायक़ बादशाहों की मजलिस के नहीं' प्राधान्य है। 'दीप', 'विद्या', 'धन', 'नाथ' आदि संस्कृत के तत्सम शब्द बहुत कम हैं और जो हैं भी वे अत्यन्त सरल और लोक-प्रचलित हैं। इनसे अधिक तो तद्भव और देशज शब्दों की संख्या है, जैसे, 'बलैयां', 'अताई', 'खटराग', 'निपट 'निदान', 'अटकलपच्चू', 'मुआ', 'नित', 'भांत', 'रैन', 'सीटा', 'दव', 'जोत', 'जी', 'सिंगार', 'चाकर', 'भरम' आदि। ऐसे शब्द उस समय की सरल हिन्दुस्तानी में प्रचलित भी थे। साथ ही कहीं-कहीं 'कि कहूं जुग हू मार्यो जातु है', 'बातें', 'देख्यो', 'चलियो', 'कियो गो', 'लियो हो' आदि ब्रजभाषा शब्दों और रूपों का प्रयोग भी मिलता है। और यद्यपि 'लतायफ़-ए-हिन्दी' में निम्न प्रकार की भाषा मिलती है:

'नक़ल १

एक अंधा बैरागी काशी के बीच मुन्करिन के घाट पर बैठा था गहन में दही पेड़ा खा रहा था कि देख कर किसी पंडित ने पूछा सूरदास जी यह क्या करते हो बोला महाराज दही पेड़े खाता हूं कहा गहन में जवाब दिया—मेरे गुरू की दया से सदा ही गहन है * यह सुन पंडित सुन कर चुप रहा'[1] (फ़ारसी लिपि से)

'नक़ल २३

कोई बनियां बटोही बाट भूल के बन में जा निकला उसे वहां और तो कोई नजर न आया पर एक जोगी दिखाई दिया—इसने उसे दरयाफ़्त करके पूछा—नाथ जी आते हो कहां से और जाओगे कहां* जवाब दिया—बाबा हिंगलाज ज्वालामुखी हरद्वार कुरछेत्र करके तो आता हूं और काशी हो गंगा गोदावरी का मेला कर सेत बंध रामेश्वर को जाऊंगा*बनिये ने कहा महाराज एक बात पूछूँ जो ख़फ़ा न हो—बोला बाबा एक नहीं दो—कहा महाराज हम गिरहस्ती हैं जो देस देस फिरें तो कुछ दोष नहीं आप फ़क़ीर हैं भटक भटक क्यों भरम गंवाते हैं—एक ठौर बैठकर किस लिए अपने भगवान

---

१ – विलियम कारमाइकेल स्मिथ द्वारा संपादित संस्करण से, पृ० ६

का ध्यान नहीं करते—कहा बाबा तू ने यह कहावत नहीं सुनी*

बहता पानी निरमला बंधा गंधेला होय
साधू जन रमता भला दाग न लागे कोय"[१] (फ़ारसी लिपि से)

किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जो हिन्दवी के कहे जा सकते हों या जो उपर्युक्त उदाहरण के समीप हों। उनमें भी वाक्य-विन्यास का उर्दूपन स्पष्ट झलकता है। अधिकतर जिस प्रकार की भाषा मिलती है उसका निम्नलिखित रूप है :

'नक़ल ४

पठानों की किसी बसती में एक मुल्ला था—जो कुछ फ़ातिहः दरूद का उन के काम होता उस को बुला लेते और अपना काम करवा लेते *इसमें शब बरात जो आई तो हर एक के घर से उसे बुलाहट हुई—तब उस के किसी आशना ने पूछा कि कहो दोस्त—आज तुम अकेले क्या करोगे और किस तरह घर घर फ़ातिहः पढ़ोगे * बोला भाई मुझे फ़ातिहः पढ़ने से क्या काम मुर्दः दोज़ख़ जाए या बिहिश्त मुझे अपने हलवे मांडे से काम है।'[२] (फ़ारसी लिपि से)

× × ×

'नक़ल ४१

कोई शख़्स किसी पर आशिक़ था पर मारे हिजाब के अपना इश्क़ उसके आगे इज़हार न करता और जिस पे आशिक़ था वह भी जान बूझ कर शरम से कुछ न कहती* एक रोज़ वे दोनों किसी (के घर ?) पर रात को बैठे थे कि एक परवाना शमा पर आ जला—उसको जलता देख आशिक़ ने किनाए से यह दोहा पढ़ा

आह दई कैसी बनी अनचाहत को संग
दीपक के भावें नहीं जल जल मरे पतंग

१—वही, पृ० ३६
२—वही, पृ० ८

इसके जवाब में माशूक़ ने भी यह दोहा कह सुनाया

आव पतंग निसंक जल जलत न मोड़ो अंग
पहले तो दीपक जले पाछे जले पंतग'[१] (फ़ारसी लिपि से)

भाषा सरल हिन्दुस्तानी है, क्योंकि लतीफ़ों की भाषा है। स्वयं लल्लूलाल ने फ़ारसी में लिखे गए अपने पत्र में उसे 'बज़ुबान-इ-रेख्ता' कहा है। कॉलेज के विवरण में उसे 'उर्दू और हिंदवी में कहानियों का संग्रह' कहा गया है। किन्तु हिन्दवी का स्थान उसमें नगण्य-सा है। प्रधानता उसमें हिन्दुस्तानी की है। वास्तव में 'लतायफ़-इ-हिन्दी' की रचना उर्दू के कहावतों और मुहावरों की छटा दिखाने और उसका या हिन्दुस्तानी का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता लेने की दृष्टि से हुई थी। अस्तु, लल्लूलाल कृत 'लतायफ़-इ हिन्दी' शीर्षक रचना खड़ीबोली हिन्दी गद्य के विकास में विशेष सहायक सिद्ध नहीं होती।

कॉलेज से सम्बंधित पंडितों में लल्लूलाल के बाद सदल मिश्र (लगभग १७६८—लगभग १८४८) का स्थान है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सदल मिश्र का सर्वप्रथम उल्लेख गिलक्राइस्ट द्वारा अपने १६ अगस्त, १८०३ के पत्र के साथ कॉलेज कौंसिल के पास भेजी गई उस सूची में मिलता है जो कौंसिल के २६ अगस्त, १८०३ के अधिवेशन में प्रस्तुत की गई। उसमें सदल मिश्र और लल्लूलाल 'नक़ूलियात-इ लुक़मानी' नामक ग्रंथ की रचना में तारिणीचरण मित्र और मौलवी अमानतुल्ला के सहायक बताए गए हैं। उसी सूची में सदल मिश्र 'चंद्रावती' (१८०३) के लेखक बताए गए हैं। २८ नवंबर, १८०५ के अधिवेशन में कौंसिल ने उन्हें रामायण की प्रतिलिपि करने के लिए छब्बीस रुपए आठ आने देना स्वीकृत किया।[२] १७ मई, १८०६ को उन्हें संस्कृत 'अध्यात्म रामायण' का 'राम चरित्र' नाम से खड़ीबोली में अनुवाद करने के फलस्वरूप तीन सौ रुपए दिए गए।[3] फिर २७ मई, १८०६ को 'हिन्दी-पर्शियन वौकेबुलेरी' (?) का अनुवाद करने के लिए उन्हें पचास रुपए मिले।[४] अस्तु, सदल मिश्र के साहित्यिक कार्य में 'चद्रावती' और 'राम

१—वही, पृ० ६२ और ६४

२—'प्रोसीडिंग्स ऑव दि कॉलेज ऑव फ़ोर्ट विलियम', होम डिपार्टमेंट, मिसेलेनियस, जि० २, पृ० ७०, इंपीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली

३—वही, पृ० १२५

४—वही, जि० ३, पृ० १०४

चरित्र' (अध्यात्म रामायण) का खड़ीबोली अनुवाद ही प्रमुख एवं महत्त्व-पूर्ण हैं।

'फ़ोर्ट विलियम कॉलेज' शीर्षक पुस्तक में दिए गए विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कॉलेज के पाठ्य-क्रम में 'चंद्रावती' की वही परिस्थिति थी जो स्वयं सदल मिश्र की अध्यापक-मंडल में थी। उपर्युक्त सूची में 'चंद्रावती' के १५० अठपेजी पृष्ठों और ६० रु० के पुरस्कार का उल्लेख है। किन्तु कॉलेज कौंसिल के मन्त्री ने गिलक्राइस्ट को उत्तर देते हुए लिखा था— 'कौंसिल के २ नवंबर, १८०१ के प्रस्तावानुसार पुरस्कार उन्हीं देशी विद्वानों को दिया जा सकता है जो कॉलेज से किसी प्रकार का वेतन नहीं पाते अर्थात् जो कॉलेज की किसी भी प्रकार की नौकरी में नहीं हैं। कॉलेज से वेतन पाने वाले को या लिखे जा रहे या लिखे जाने वाले ग्रन्थों के लिए कोई पारिश्रमिक या पुरस्कार नहीं दिया जा सकता। किसी असाधारण प्रतिभाशाली लेखक के सम्बन्ध में इस नियम का अपवाद हो सकता है'।[1] अस्तु, कॉलेज कौंसिल गिलक्राइस्ट की भेजी हुई सूची के आर्थिक पक्ष पर विचार करने के लिए असमर्थ थी। ६ सितंबर, १८०३ को गिलक्राइस्ट ने लेखकों के प्रति खेद प्रकट करते हुए एक दूसरी सूची भेजी जो कौंसिल की १२ सितंबर, १८०३ की बैठक में पेश हुई। अस्थायी रूप में कॉलेज की नौकरी करते हुए वेतन पाने के कारण सदल मिश्र को फल भुगतना पड़ा। ६ सितंबर, १८०३ वाली सूची में उनका या उनकी रचना का नाम नहीं मिलता। पहली सूची की चौवालीस पुस्तकों में से उसमें केवल नौ पुस्तकों का उल्लेख है।[2] पहली सूची में 'चंद्रा-वती' 'छप गईं' पुस्तकों की सूची के अंतर्गत है। इसलिए उसके पूर्ण या आंशिक रूप में छप जाने पर भी कॉलेज ने उसे आश्रय प्रदान न किया। संभवतः यही कारण है कि कॉलेज द्वारा या कॉलेज की संरक्षकता में प्रकाशित पुस्तकों की सरकारी सूचियों अथवा कॉलेज के पाठ्य-क्रम में 'चंद्रावती' का नाम नहीं मिलता।

सदल मिश्र ने 'चंद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना १८०३ में, 'महाप्रतापी वीर नृपति कंपनी महाराज' के राज में, खड़ीबोली में की, क्योंकि 'देववाणी में कोई कोई समझ नहीं सकता'। वह संस्कृत में वर्णित नचिकेत की कथा पर आधारित है। यह कथा यजुर्वेद के आधार पर कठोपनिषद् में

वर्णित है। अन्तर केवल यही है कि कठोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान को प्राधान्य दिया गया है और सदल मिश्र की रचना में पापों और घटनाओं को। संक्षेप में कथा इस प्रकार है :

वैशंपायन मुनि राजा जनमेजय से कहते हैं कि ब्रह्मा के पुत्र उद्दालक मुनि थे 'कि जिनका तपस्या ही धन था'। उनके सुहावने आश्रम पर एक दिन पिप्पलाद मुनि आ पहुँचे। उन्होंने उद्दालक मुनि का तप बिना भार्या और पत्र के व्यर्थ बताया। उद्दालक मुनि बड़े फेर में पड़े कि जब हम बुड्ढे हो गए हैं और बाल सफ़ेद हो गए हैं, तब हमें अपनी कन्या कौन दे देगा। व्याकुल हो ब्रह्मा के पास गए और उनके आशीर्वाद से उनका विवाह इक्ष्वाकु कुल के राजा रघु की महासुन्दरी कन्या चन्द्रावती से हुआ और एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र नाक से जन्मा इसलिए नाम नासिकेत रखा गया।

एक दिन उद्दालक ने नासिकेत को अग्निहोत्र के लिए कन्द मूल आदि लेने भेजा। वन के प्राकृतिक सौंदर्य से हर्षित हो नासिकेत वहाँ शिव-पूजा करने लगे और समाधि लगा कर बैठ गए। सौ वर्ष उन्होंने वहाँ व्यतीत किए। बाद में कन्द मूल फल आदि लेकर पिता के पास लौटे।

वहाँ पिता-पुत्र में कुछ वाद-विवाद हुआ। पिता ने क्रुद्ध होकर पुत्र को शाप दिया कि अभी तुम यमलोक सिधारो। नासिकेत पहले तो उस 'डरावने' शाप से काँपने लगे, परन्तु योग के बल से वे धीरे-धीरे यम के निकट चल खड़े हुए।

अब 'पाँव पकड़ महतारी रोने कलपने लगीं'। यह देखकर उद्दालक ने नासिकेत को वापिस बुलाना चाहा। परन्तु नासिकेत माता-पिता को समझा कर शिव आदि का जाप करते हुए यमलोक में 'जहाँ अग्नि आदि अनेक ऋषि लोग अपनी अपनी पोथी खोल न्याय विचार यमराज से कहते थे, जा पहुँचे।'

तत्पश्चात् धर्मराज से वर पाकर नासिकेत अपने माता-पिता के समीप लौट आए। माता-पिता तथा समस्त आश्रमवासियों को उन्हें देख कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई और वे उनसे यमलोक के विषय में पूछने लगे। तब नासिकेत ने उनको यमलोक के विषय में सब कुछ बतलाया। उन्होंने बतलाया कि धर्मराज की पुरी कैसी है, यमदूत कैसे हैं, वैतरणी नदी कैसी है, वहाँ कैसे भोग भोगने पड़ते हैं, किस कर्म से यम की कोपाग्नि में भस्म होना पड़ता है, किस प्रकार के वहाँ दंड दिए जाते हैं, कौन-कौन मुनि वहाँ रहते हैं आदि। 'नासि-

केत जब यह कह चुके तब ऋषि लोग सुनके बहुत चकित भए वो बार बार प्रणाम स्तुति कर उनसे विदा हो अपने अपने आश्रम पर जा परलोक में सुख पाने को और भी तप से अधिक तप पूजा ध्यान करने लगे।'

कथा-वस्तु की दृष्टि से 'नासिकेतोपाख्यान' दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, नासिकेत की उत्पत्ति और द्वितीय नासिकेत की यमलोक यात्रा। पहले भाग में हम कुतूहल-वर्द्धक और मनोरंजक सामग्री पाते हैं। उसमें कहानी-कला के आवश्यक तत्व सन्निहित हैं। लौकिक वातावरण उसकी विशेषता है। दूसरा भाग सम्पूर्ण रूप से वर्णनात्मक है और उसमें आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा दी गई है। उसमें लोक-शिक्षा की भी यथेष्ठ सामग्री है। परन्तु इस कथा का धार्मिक महत्त्व कुछ भी नहीं है। सम्भव है तत्कालीन धर्मपरायण जनता में इसका आदर रहा हो। इस कथा की यह विशेषता है कि नीरस और गम्भीर बातें बड़े ही मनोरंजक रूप में समझाई गई हैं। यह उपाख्यान भाषा की दृष्टि से लिखा गया था, न की धार्मिक दृष्टि से।

'चंद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' से एक अवतरण नीचे उद्धृत किया जाता है:

> 'यह सुनते ही राजा चहुँक उठे। क्षण एक तो ईश्वर का ध्यान किया, फिर बोले कि महारानी! शीघ्र कहो। क्या ऐसा अनर्थ हुआ कि जिससे इतनी घबरा रही हो? मैंने जीवदान दिया। इसका कारण कहो। हमारे जीते ही तुम्हारी यह अवस्था होय। रानी बोली महाराज! बड़ा अद्भुत वृत्तांत है। आपकी कन्या को बिना पुरुषसंसर्ग के गर्भ भया है। सो यह कुल को दूषन देनेहारा और कीर्ति को नाश करनिहारा है। यह सुनि राजा क्षण भर तो चुप रहे। पीछे क्रोधित हो बोले, अरे पापिनी! तूने यह क्या किया? ऐसा कहके उसको बन में छोड़ आने की आज्ञा दी।'[1]

सदल मिश्र की भाषा पर विचार करते समय हमको यह न भूल जाना चाहिए कि मिश्र जी आरा (बिहार) के रहने वाले थे। इसलिए उनकी भाषा पर बिहारी का प्रभाव पड़ा है। एक स्थान पर वे लिखते हैं: '...हंस

१—नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करण (१९२५) से, पृ० ११

सारस चक्रवाक आदि पक्षी भी ठौर ठौर सोहावन शब्द बोलते, आस पास के गाछों पर कुहू कुहू कोकिलें कुहुक रहे थे, जैसे वसंत ऋतु का घर ही होय।' इस उद्धरण में 'गाछों' शब्द बिहारी का है। मिश्रजी की भाषा पर बँगला का भी प्रभाव है, यद्यपि वह अधिक नहीं है। उपर्युक्त शब्द 'गाछों' बँगला में भी प्रयुक्त होता है। एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—'दूर ही से उसका रोना सुनके अति व्याकुल होने लगे सोच करने कि यह तो अनाथ स्त्री कोई काँदती है, इस महावन में कहां से आ गई?' इसमें 'काँदती' शब्द बँगला का है। उनके गद्य में 'देखने को मैं आया हूँ कि', 'उठ कर बैठी और लगी सोचने', 'जीव हानियों को पार होता है सहज में', 'पापी सब हैं अटकते', 'देखता हूँ सबको' आदि जैसे वाक्य-विन्यास और कभी-कभी उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिल जाता है। दूसरे वे अपने गद्य में 'कि', 'वो' ('और' के स्थान पर) का अत्यधिकप्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ '...वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य की बात कही थी सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा कहते कि···।' साथ ही वे विभक्तियों के रूप में 'सा' और 'सारी' का प्रयोग भी करते हैं, जैसे, 'बहुत सा' 'बहुत सारी' आदि। सदल मिश्र की भाषा में ब्रज का वह माधुर्य नहीं आ सका जो लल्लूलाल के गद्य में मिलता है। उन्होंने अपने सम्मुख भाषा का कोई विशेष आदर्श न रखा था। उन्होंने स्वतंत्र रीति से गद्य की परिपाटी स्थित करनी चाही। जहाँ तक हो सका है खड़ीबोली के प्रयोग करने का ही प्रयत्न किया है; परन्तु वे ब्रजभाषा का, जो उस समय साहित्यिक भाषा थी, प्रभाव नहीं बचा सके। ब्रजभाषा के कुछ प्रयोग तो शुद्ध हैं, परन्तु कुछ आरा की भाषा से मिल कर दूसरे रूप में ही परिवर्तित हो गए हैं। 'फूलन्ह के बिछौने', 'चहुँदिस', 'सुनि', 'सोनन्ह', 'साँची', 'होय' 'आय' आदि प्रयोग ब्रजभाषा के हैं। 'आवते', 'जावते', 'पुरावते' आदि परिवर्तित रूप हैं। ब्रजभाषा तत्कालीन साहित्यिक भाषा थी जिससे खड़ीबोली अवश्य प्रभावित हुई थी। उन्होंने भाषा की परिधि सीमित बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया। सदल मिश्र की भाषा में पूरबी शब्दों का प्रयोग भी बाहुल्य के साथ है। 'स्मरण किए से', 'मतारी', 'बरते थे', 'जुड़ाई', 'बाजने लगा', 'जौन जौन', 'किए से', 'दिए से' आदि पूरबी शब्द हैं। उनकी सकर्मक क्रियाओं ने उनकी भाषा में कुछ-कुछ पंडिताऊपन भी ला दिया है। वे सकर्मक क्रियाओं के साथ 'को' लगा देते हैं, जैसे 'सुख को पाते हैं दुख को सहते हैं', 'बात को सुनते हैं, पीड़ा को सहते हैं' आदि। पंडिताऊपन एक और प्रकार से भी उनकी भाषा में आ गया है। 'सो',

'उन्हें', 'आंगू' (आगे), 'सुन्ने', 'मूंद दी', 'भूआं', 'लछमण', 'मुस्कुरा मुस्कुरा लगी वचन तिनसे कहने', 'प्रभु की इतनी आज्ञा पाय अति हर्षित हो सीता लगी कहने', 'पुकार-पुकार लगी रोने', 'अति दुखित हो लगे विलाप करने' आदि शब्द और वाक्य-विन्यास ध्यान देने योग्य हैं। अपने समय की दृष्टि से सदल मिश्र की भाषा सुगठित और काफ़ी साफ़-सुथरी है। 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा की अपेक्षा उसमें संस्कृत-शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है।

अनुवाद संवत् १८६२ में पूर्ण हुआ। उस समय 'नौआब गवरनर वल्जली लार्ड मारंटंग साह बहादुर' का शासन-काल था। 'राम-चरित्र' से एक उदाहरण इस प्रकार है :

'यों कह फिर रामचन्द्र लगे हनुमान को सराहने कि शौ योजन सागर को लांघ शकता ओ किस का सामर्थ्य है कि राक्षसन से पालित लंका में जा अपनी प्रभुता जनावे जो काज देवताओं से भी नही हो शकता सो वायु के पुत्र ने किया ऐसा भृत्य सुग्रीव को न कोई हुआ होगा न फिर कोई होवेगा सीता के दर्शन से सुग्रीव व लक्ष्मण समेत हम सबको हनुमान ने बचा लिया पर यह चिन्ता अब मुजे हूई कि जिसके सुमरने से मेरा जी घबराता है तिस समुद्र को जो नाना जलजन्तुन से भर रहा है क्यूं कर हम सब पार होंगे जो सीता को देखेंगे सुग्रीव बोले कि समुद्र लांघ लंका को जा भ्रष्ट कर सहज में रावण को हम मारेंगे आप किसी बात की चिंता जिन कीजे चिन्ता ही काज बिगाडती है इन महावीर बानरन को आप देखिए ये सब तुम्हारे लिये आग में कूदने को उपस्थित हो रहे हैं अब समुद्र पार होने को पहले संमत कीजे तिस पीछे जब लंका मे हम लोग जा पहुचेंगे तब यह जान लीजे कि रावण का विनाश हो चूका क्यूं कि तीनो लोक मे ऐसा किसी को हम नही देखते जो रण मे तुम्हारे साम्हने ठहर शके सभ प्रकार से हम लोग का जय होगा इसमे कुछ संदेह हम प्रतिज्ञा कर कहते हैं ओ जितने का सब डौल हम देखते हैं इस भांति जब सुग्रीव ने कहा तब तिन की बात अंगीकर कर रामचन्द्र ने हनुमान से कहा कि अच्छा जिस प्रकार स होगा तिस प्रकार से समुद्र हम पार होंगे पर जहां देवताओं का भी गम्य नहीं तिस लंका

का सरूप हमें सुनाओ तद जैसा कुछ विचार में ठहरेगा सो किया जाएगा...'[1]

कॉलेज के सरकारी विवरणों[2] में शुद्ध हिन्दी में लिखित एक 'श्री भागवत' का उल्लेख मिलता है। किन्तु न तो उसके लेखक का नाम ज्ञात है और न ग्रंथ ही अभी उपलब्ध हो सका है।

अस्तु, फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में निर्मित लल्लूलाल और सदल मिश्र की क्रमशः 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' तथा 'राम चरित्र' नामक रचनाएँ ही प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। इन दोनों में से 'नासिकेतोपाख्यान' और 'राम चरित्र' का गद्य निस्संदेह अधिक प्रौढ़ है, किन्तु खड़ीबोली गद्य की सम्यक परम्परा में ये ग्रंथ न तो विषय की दृष्टि से और न भाषा की दृष्टि से कोई विकास उपस्थित करते हैं। वे खड़ीबोली गद्य परम्परा की कड़ियाँ अवश्य हैं, और फलतः उनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में ही खड़ीबोली हिंदी गद्य का शिलान्यास हुआ युक्ति-संगत नहीं है।

विषय और खड़ीबोली के ठेठ रूप की दृष्टि से इंशा के महत्त्व की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। वास्तव में लल्लूलाल और सदल मिश्र ने दूसरों के लाभार्थ, पाठ्य-पुस्तकों के रूप में, अपने-अपने ग्रंथों की रचना की और उन्हें किसी न किसी अन्य ग्रंथ पर आधारित रखा। इंशा ने अपनी कहानी न तो किसी के लाभार्थ लिखी थी और न किसी अन्य ग्रंथ का सहारा लिया। इस दृष्टि से वे रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम आदि खड़ीबोली गद्य के प्रारंभिक लेखकों से भी आगे बढ़ गए हैं। संभव है इंशा की कहानी का कोई रूप जनसाधारण में प्रचलित रहा हो। किन्तु उन्होंने अपनी रचना स्वान्तःसुखाय ही की। हिन्दी गद्य के प्रभात काल में उनकी रचना शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से निर्मित हुई। इसके अतिरिक्त इन तीनों लेखकों ने खड़ीबोली में रचनाएँ की जिनमें लल्लूलाल और इंशा तो 'छुट-पुट' के फेर में पड़े और सदल मिश्र ने बिना किसी प्रतिज्ञा के सामान्य खड़ीबोली में रचना की। तीनों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यदि यह कहा जाय कि प्रवाह, सुसंबद्धता, स्पष्टता आदि गुणों की दृष्टि से इंशा की भाषा अन्य दो की भाषा की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इंशा में रचनात्मक कलाकार की प्रतिभा थी। लल्लूलाल और सदल मिश्र केवल गद्य-लेखक थे।

१—पृ० २०५-२०६ (ह०), युद्ध० प्रथमोध्यायः

२—जि० १, पृ० १६९

१०

नवीन शिक्षा और खड़ीबोली गद्य

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जो शिक्षा, शासन और न्याय-संबंधी तथा अन्य प्रकार के सुधार किए थे उनका पीछे उल्लेख हो चुका है। उन सुधारों के कारण उत्पन्न जीवन की नवीन परिस्थितियों के अनुसार नए प्रकार की रचनाओं की आवश्यकता हुई। ब्रजभाषा, राजस्थानी और प्रारंभिक उन्नायकों की खड़ीबोली गद्य-परंपराओं से इस आवश्यकता की पूर्ति असंभव थी। जिन नए भावों और विचारों का प्रचार उच्च मध्यमवर्गीय शिक्षित समुदाय में हो रहा था उनका भार वहन करने की शक्ति उनमें नहीं थी। किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जितने भी सुधार किए उनमें से शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों और उनके अंतर्गत नवीन वैज्ञानिक तथा अन्य आधुनिक विषयों के पठन-पाठन और अध्ययन के फलस्वरूप खड़ीबोली गद्य को प्रोत्साहन मिला। यही कारण है कि इस अध्याय का उपर्युक्त शीर्षक रखा गया है।

हिन्दी प्रदेश में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना और फ़ोर्ट विलियम कॉलेज से पूर्व ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ीबोली गद्य का अस्तित्व था और बिना किसी विदेशी सहायता या प्रेरणा के कई लेखक स्वतंत्र रूप से उसे समृद्ध बनाने की चेष्टा कर रहे थे। किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यह गद्य-साहित्य अत्यन्त अव्यवस्थित अवस्था में था और वह अभी साहित्य का प्रधान अंग न बन पाया था। उसका धीरे-धीरे विकास अवश्य हो रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में विदेशी शासकों ने किस प्रकार हिन्दी गद्य को प्रोत्साहन दिया, यह समझने के लिए फ़ोर्ट विलियम कॉलेज, ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकारी नीति आदि और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक कुछ वर्षों को छोड़ कर १८१७ में स्थापित कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी और उसके बाद सरकार या मिशनरियों द्वारा स्थापित अन्य संस्थाओं, जैसे, आगरा

स्कूल बुक सोसायटी' तथा विभिन्न ट्रेनिंग और नार्मल स्कूलों की ओर जाना पड़ेगा। उनका प्रस्तुत विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य इस प्रकार था : 'extending to the natives of this country the benefits of European science and morals.' फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के १५ अगस्त, १८१९ के वार्षिकोत्सव पर भाषण देते हुए कॉलेज के विज़िटर और संरक्षक, मार्क्विस ऑफ़ हेस्टिंग्स, ने कहा था :

> '...The number of tracts and elementary books which have been translated from English and other languages evinces an active zeal for the diffusion of useful knowledge, in the highest degree creditable to those who have associated themselves together for the promotion of this special object. Their efforts have not, however, been confined to this department. They have further been instrumental in preparing and circulating elementary books of instruction in the sciences and languages of the country; and it is impossible to look forward to the effects which their continued exertions will produce, in extending the means and improving the mode of education that prevails among the several classes of the native population, without forming a happy presage of the advance that will be made by the coming generation in general and technical knowledge.'[२]

इस उद्देश्य के साथ-साथ १८२३ में भारतवासियों की शिक्षा के लिए एक आयोजना तैयार की गई जिसके अंतर्गत उसी वर्ष की ३१ जुलाई को

१—२८ दिसम्बर, १८३७ को आगरा स्कूल बुक सोसायटी की पहली बैठक हुई।
२—'एशियाटिक जर्नल', १८२०

गवर्नर-जनरल ने एक सरकारी शिक्षा समिति (Committee of Public Instruction) बनाई ताकि देश में उपयोगी ज्ञान-विज्ञान और उत्तमोत्तम शिक्षा के प्रसार के लिए व्यवस्थित और संगठित रूप से कार्य हो सके। इस समिति का उद्देश्य फ़ोर्ट विलियम अहाते के अंतर्गत जनसाधारण की शिक्षा की दशा ज्ञात करना और उसमें सुधार प्रस्तुत करना था। जाँच करने पर यह पता चला कि भारतवासियों की शिक्षा पिछड़ी हुई और दोषपूर्ण थी। परम्परागत शिक्षा-पद्धति की अवनति हो गई थी और शिक्षार्थी प्राथमिक शिक्षा से आगे नहीं बढ़ पाते थे। अनेक स्थानों पर तो प्राथमिक शिक्षा का भी कोई प्रबन्ध नहीं था। साथ ही उसमें वैज्ञानिक शिक्षा का पूर्ण अभाव था। गवर्नर-जनरल द्वारा निर्मित समिति ने देश में शिक्षा का प्रचार और सुधार करने की सतत चेष्टा की। इस सम्बन्ध में जहाँ तक हो सकता था सरकार की ओर से सुविधाएँ प्रदान की गईं। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए देश के विभिन्न भागों में शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित हुईं। आगरा स्कूल बुक सोसायटी एक ऐसी ही संस्था थी जिसकी पहली बैठक २८ दिसंबर, १८३७ को आगरा स्टेशन के कमरों में हुई। सोसायटी का उद्देश्य था : 'the preparation and distribution of School Books, and of elementary Treatises for the diffusion of useful instruction among the inhabitants of the North-Western Provinces.' १८३६ के उसके पहले वार्षिक विवरण के अनुसार आगरे में छापाखाना खुल जाने से ज्ञान-विज्ञान-संबंधी पुस्तकें प्रकाशित करना और भी सरल हो गया था। आगरा स्कूल बुक सोसायटी से पहले कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी ने हिंदी और उर्दू में नवीन ज्ञान-विज्ञान-संबंधी पुस्तकें प्रकाशित की थीं, किंतु उसने अँगरेज़ी और बँगला पुस्तकों के प्रकाशन की ओर अधिक ध्यान दिया। इन स्कूल बुक सोसायटियों ने देशी भाषाओं के साथ-साथ अँगरेज़ी में भी पुस्तकें प्रकाशित कीं। सोसायटियों के अतिरिक्त आगरा कॉलेज, दिल्ली कॉलेज आदि तथा अनेक ट्रेनिंग और नॉर्मल स्कूल स्थापित किए गए थे। आगरा कॉलेज में मुसलमान और हिन्दू विद्यार्थियों के लिए फ़ारसी और हिन्दी के अध्ययन के साथ-साथ अरबी और संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त करने की भी समुचित व्यवस्था की गई। आगरा कॉलेज के लिए आगरा और अलीगढ़ ज़िलों से धन-संचय किया गया। और जैसा कि सरकारी शिक्षा समिति के २५ अक्टूबर, १८२३ के पत्र से लिए गए निम्नलिखित अवतरण से ज्ञात होता है, यह शिक्षा-संस्था अन्य सरकारी शिक्षा-संस्थाओं से भिन्न थी:

'The existing government institutions are exclusive in their character; each being confined to studies belonging to a peculiar class; and more or less connected with their religious persuasion. But it has appeared to us very advisable to place the proposed institution on a more liberal footing; and to direct its instruction to the general purposes of business and of like. The local agents have also suggested that Agra College should be equally available to all classes of native population; and as they are all unquestionably equally the objects of the solicitude of the government, and it is not necessary to give an exclusive preference to either upon the present occasion, we fully concur in recommendation...

As the languages of the public business, of the courts of justice, and of the literature of the Mohemmedan population, Persian and Arabic, will form part of the natural subject of tuition, whilst the languages of common life, and of the literature of the Hindoos, the Hindi and Sanscrit, are equally necessary. We propose, therefore, that the whole of these languges shall be taught in the College of Agra. It may be desirable hereafter to provide the means of obtaining some acquaintance with English; but we could not consider this necessary in the first instance, and do not, therefore, offer any recommendation on this head.'[1]

१.—'एशियाटिक जर्नल', १८२५

आगरा कॉलेज ने जनता का ध्यान काफ़ी आकृष्ट किया और १८२५ में संस्कृत और हिन्दी के उसमें ३५ विद्यार्थी थे।[1] इस तथा ऐसी ही अन्य संस्थाओं में दी जाने वाली ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के कारण हिन्दी में तत्सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण होना अवश्यंभावी था।

किन्तु १८३४ में मैकॉले, जो गवर्नर-जनरल, लॉर्ड विलियम बैंटिक, के क़ानूनी परामर्शदाता थे, द्वारा निर्धारित शिक्षा-नीति से १८१३ के ऐक्ट तथा हिन्दी के माध्यम द्वारा ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का प्रचार करने वाली विभिन्न आयोजनाओं को आघात पहुँचा। १८१३ के ऐक्ट के अनुसार ब्रिटिश पार्लमिंट ने संस्कृत, फ़ारसी तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं की शिक्षा के लिए जो आर्थिक व्यय स्वीकृत किया था, उसका, मैकॉले के मतानुसार, अँगरेज़ी की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने और अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार करने में अधिक सदुपयोग हो सकता था, क्योंकि 'a single shelf of modern English books contained more useful knowledge than the entire Sanskrit literature.' किन्तु इतना होने पर भी हिन्दी में निम्न कक्षाओं के लिए विविध-विषय-सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण बराबर होता रहा। वैसे भी मैकॉले की नीति को व्यावहारिक रूप धारण करने के लिए समय की अपेक्षा थी।

सर चार्ल्स वुड की नवीन शिक्षा-आयोजना (१८५४) के फलस्वरूप भारतवर्ष में अनेक ग्राम प्राथमिक पाठशालाएँ स्थापित हुईं। इस आयोजना की एक अच्छाई यह थी कि ग्राम पाठशालाओं में भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इससे भारतीय भाषाओं में गद्य को प्रोत्साहन मिला। जहाँ तक हिन्दी से सम्बन्ध है, राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५) ने जो कार्य किया उसका सूत्रपात यहीं से होता है। बनारस में तत्कालीन गवर्नर-जनरल के ऐजेंट, टुकर, ने १८५४ के लगभग उन्हें सरकारी शिक्षा-विभाग में सहायक-इंसपैक्टर नियुक्त कराया। १८५६ में सर डब्ल्यू० म्योर ने उन्हें इंसपैक्टर बना दिया। और अपनी एक अलग भाषा-नीति होने पर भी १८५६ के बाद उन्होंने स्वयं अनेक पाठ्य-पुस्तकों की रचना की और अन्य अनेक व्यक्तियों को इस कार्य में लगाया। वास्तव में शिक्षा तथा उससे सम्बन्धित अन्य क्षेत्रों में ही नवीन विदेशी शासकों के कारण खड़ीबोली गद्य का थोड़ा-बहुत विकास हो सका।

१—'एशियाटिक जर्नल', १८२८

अँगरेज़ शासकों ने शिक्षा-सम्बन्धी नवीन आयोजनाएँ तो प्रस्तुत कीं, किन्तु उन आयोजनाओं के सफल होने में सबसे बड़ी बाधा उपयोगी पुस्तकों के अभाव के रूप में थी। जो थीं भी, वे अत्यन्त भ्रष्ट और अशुद्ध थीं। इसलिए सरकारी शिक्षा समिति तथा अन्य संस्थाओं का ध्यान अच्छे ढंग से और उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें लिखाने की ओर गया। फलतः प्रेस की सहायता से १८३८ और १८५७ के बीच, विशेष रूप से १८४५-४६ में और उसके बाद, अनेक पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित हुईं। वैसे भी स्थूल रूप से आलोच्य काल के अंतिम तीस-पैंतीस वर्ष इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वैज्ञानिक तथा उपयोगी विषयों के प्रचार में अनेक व्यक्तियों ने भी, विशेष रूप से ईसाई पादरियों ने, निजी रूप से क्रियाशीलता प्रकट की। इन पाठ्य-पुस्तकों या सामान्य पुस्तकों में सन्निहित विषयों को देखते हुए यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि इतने अधिक और विविध विषयों पर हिन्दी साहित्य में पहले कभी रचनाएँ नहीं हुई थीं। इन रचनाओं ने हिन्दी गद्य के भावी विकास के बीज बोए। विषयों की विविधता और विस्तार के अंतर्गत प्राथमिक शिक्षा, गणित, बीज-गणित, ज्यामिति, क्षेत्र-विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, आईन, कृषि-कर्म, ग्राम-शासन, ग्राम-जीवन, तार, कला और दस्तकारी, शिक्षा, यात्रा, नीति, धर्म, ज्योतिष, दर्शन, अँगरेज़ी राज्य और शिक्षा, कथा-कहानी, छंदशास्त्र, व्याकरण, कोष, संग्रह-ग्रंथ (गद्य-पद्य) आदि अनेक विषय आते हैं।

खड़ीबोली को अपने बाल्यकाल में ही इतने विविध विषयों का भार-वहन करना पड़ा, यह एक आश्चर्यजनक घटना है। अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि अनेक पुस्तकें संस्कृत, अँगरेज़ी, उर्दू, और कुछ मराठी तथा बँगला से अनूदित या उन पर आधारित हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। किंतु सबसे अधिक उर्दू और उसके बाद अँगरेज़ी से हिन्दी में अनुवाद हुए, यद्यपि मूलतः हिन्दी में लिखी गई पुस्तकों का भी अभाव नहीं रहा। अनुवाद-कार्य करते समय अनुवादों की भाषा मूल से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। भारतीय लेखकों में जवाहरलाल (आगरा कॉलेज के), श्रीलाल, वंशीधर (नॉर्मल स्कूल , आगरा के), मोहनलाल और कुंजबिहारीलाल, और यूरोपीय लेखकों में एम्० टी० ऐडम, डब्ल्यू० टी० ऐडम, जे० आर० बैलैन्टाइन (Ballantyne), जे०जे० मूर (Moore) और शेरिंग के नाम उल्लेखनीय हैं और, अन्य अनेक के अतिरिक्त, कलकत्ता, बनारस और आगरा इस नवीन बौद्धिक जागृति के केन्द्र थे।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध से संबंधित अनेक गद्य-पुस्तकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों का यह कथन कि लल्लूलाल तथा उनके समकालीन गद्य-लेखकों के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक गद्य-रचनाओं का अभाव मिलता है, युक्ति-संगत नहीं है। वास्तव में खड़ीबोली गद्य का निर्माण, ग्रियर्सन के शब्दों में, 'कलकत्ता सभ्यता' Calcutta civilization की प्रतीक विविध शक्तियों के माध्यम द्वारा बराबर होता रहा। वैसे भी राजनीतिक दृष्टि से १८१८ या १८२० तक का समय ऐसा था जब कि अँगरेज़ हिन्दी प्रदेश में अपना राज्य सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने में लगे रहे। ऐसे समय में नवीन साहित्यिक युग की अवतारणा की आशा करना व्यर्थ होगा। नवीन शासन-व्यवस्था के सुचारु रूप से स्थापित हो जाने के बाद ही परिवर्तन-क्रिया का सूत्रपात हो सकता था। यह बात आलोच्य काल के अंतिम पचीस-तीस वर्षों में ही घटित हुई, इतिहास इस बात का साक्षी है।

हिन्दी साहित्य के इतिसास-लेखकों का यह भी कहना है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में पाठ्य-पुस्तकों का अभाव था। स्थूल रूप से तो सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना और उनसे पहले की शिक्षा-आयोजनाओं में यथेष्ट अंतर था, और साथ ही सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना के अंतर्गत पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता भी अधिक हुई। किन्तु इतिहास-लेखकों ने उससे पूव की स्थिति पर ध्यान नहीं दिया। पिछले विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वुड की आयोजना से पहले विभिन्न सोसायटियों और शिक्षा-संस्थाओं के अंतर्गत खड़ीबोली हिन्दी में विविध विषय सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित हुईं। यहाँ तक कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी अपनी संस्थाओं के माध्यम द्वारा अपने धर्म के प्रचार और हिन्दू धर्म का खण्डन करने के लिए अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं जिनसे, परोक्ष रूप में, ज्ञान का प्रचार और खड़ीबोली हिन्दी गद्य की समृद्धि हुई। अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में न तो गद्य का अभाव था और न पाठ्य-पुस्तकों का। यह अवश्य संभव हो सकता है कि मैकॉले द्वारा निर्धारित नीति के फल-स्वरूप पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन-कार्य को कुछ आघात पहुँचा हो और १८५४ में वुड की आयोजना के कार्य-रूप में परिणत होते समय पहले की पाठ्य-पुस्तकें बिल्कुल निरर्थक तो नहीं लेकिन शिक्षा के नवीन स्तर के अनुकूल और फलतः नवीन शिक्षा-संस्थाओं के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सकी हों। किन्तु १८५४ की आयोजना के अंतर्गत राजा शिवप्रसाद तथा उनके द्वारा प्रेरित लेखकों को फिर से कठिन परिश्रम करना पड़ा था, यह निश्चित है।

अँगरेज़ शासकों ने शिक्षा-सम्बन्धी नवीन आयोजनाएँ तो प्रस्तुत कीं, किन्तु उन आयोजनाओं के सफल होने में सबसे बड़ी बाधा उपयोगी पुस्तकों के अभाव के रूप में थी। जो थीं भी, वे अत्यन्त भ्रष्ट और अशुद्ध थीं। इसलिए सरकारी शिक्षा समिति तथा अन्य संस्थाओं का ध्यान अच्छे ढंग से और उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें लिखाने की ओर गया। फलतः प्रेस की सहायता से १८३८ और १८५७ के बीच, विशेष रूप से १८४५-४६ में और उसके बाद, अनेक पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित हुईं। वैसे भी स्थूल रूप से आलोच्य काल के अंतिम तीस-पैंतीस वर्ष इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वैज्ञानिक तथा उपयोगी विषयों के प्रचार में अनेक व्यक्तियों ने भी, विशेष रूप से ईसाई पादरियों ने, निजी रूप से क्रियाशीलता प्रकट की। इन पाठ्य-पुस्तकों या सामान्य पुस्तकों में सन्निहित विषयों को देखते हुए यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि इतने अधिक और विविध विषयों पर हिन्दी साहित्य में पहले कभी रचनाएँ नहीं हुई थीं। इन रचनाओं ने हिन्दी गद्य के भावी विकास के बीज बोए। विषयों की विविधता और विस्तार के अंतर्गत प्राथमिक शिक्षा, गणित, बीज-गणित, ज्यामिति, क्षेत्र-विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, आईन, कृषि-कर्म, ग्राम-शासन, ग्राम-जीवन, तार, कला और दस्तकारी, शिक्षा, यात्रा, नीति, धर्म, ज्योतिष, दर्शन, अँगरेज़ी राज्य और शिक्षा, कथा-कहानी, छंदशास्त्र, व्याकरण, कोष, संग्रह-ग्रंथ (गद्य-पद्य) आदि अनेक विषय आते हैं।

खड़ीबोली को अपने बाल्यकाल में ही इतने विविध विषयों का भार-वहन करना पड़ा, यह एक आश्चर्यजनक घटना है। अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि अनेक पुस्तकें संस्कृत, अँगरेज़ी, उर्दू, और कुछ मराठी तथा बँगला से अनूदित या उन पर आधारित हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। किंतु सबसे अधिक उर्दू और उसके बाद अँगरेज़ी से हिन्दी में अनुवाद हुए, यद्यपि मूलतः हिन्दी में लिखी गई पुस्तकों का भी अभाव नहीं रहा। अनुवाद-कार्य करते समय अनुवादों की भाषा मूल से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। भारतीय लेखकों में जवाहरलाल (आगरा कॉलेज के), श्रीलाल, वंशीधर (नॉर्मल स्कूल, आगरा के), मोहनलाल और कुंजबिहारीलाल, और यूरोपीय लेखकों में एम० टी० ऐडम, डब्ल्यू० टी० ऐडम, जे० आर० बैलैन्टाइन (Ballantyne), जे०जे० मूर (Moore) और शेरिंग के नाम उल्लेखनीय हैं और, अन्य अनेक के अतिरिक्त, कलकत्ता, बनारस और आगरा इस नवीन बौद्धिक जागृति के केन्द्र थे।

उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध से संबंधित अनेक गद्य-पुस्तकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों का यह कथन कि लल्लूलाल तथा उनके समकालीन गद्य-लेखकों के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक गद्य-रचनाओं का अभाव मिलता है, युक्ति-संगत नहीं है। वास्तव में खड़ीबोली गद्य का निर्माण, ग्रियर्सन के शब्दों में, 'कलकत्ता सभ्यता' Calcutta civilization की प्रतीक विविध शक्तियों के माध्यम द्वारा बराबर होता रहा। वैसे भी राजनीतिक दृष्टि से १८१८ या १८२० तक का समय ऐसा था जब कि अँगरेज़ हिन्दी प्रदेश में अपना राज्य सुव्यवस्थित और सुसंगठित करने में लगे रहे। ऐसे समय में नवीन साहित्यिक युग की अवतारणा की आशा करना व्यर्थ होगा। नवीन शासन-व्यवस्था के सुचारु रूप से स्थापित हो जाने के बाद ही परिवर्तन-क्रिया का सूत्रपात हो सकता था। यह बात आलोच्य काल के अंतिम पचीस-तीस वर्षों में ही घटित हुई, इतिहास इस बात का साक्षी है।

हिन्दी साहित्य के इतिसास-लेखकों का यह भी कहना है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में पाठ्य-पुस्तकों का अभाव था। स्थूल रूप से तो सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना और उनसे पहले की शिक्षा-आयोजनाओं में यथेष्ट अंतर था, और साथ ही सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना के अंतर्गत पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता भी अधिक हुई। किन्तु इतिहास-लेखकों ने उससे पूव की स्थिति पर ध्यान नहीं दिया। पिछले विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वुड की आयोजना से पहले विभिन्न सोसायटियों और शिक्षा-संस्थाओं के अंतर्गत खड़ीबोली हिन्दी में विविध विषय सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित हुईं। यहाँ तक कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी अपनी संस्थाओं के माध्यम द्वारा अपने धर्म के प्रचार और हिन्दू धर्म का खण्डन करने के लिए अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं जिनसे, परोक्ष रूप में, ज्ञान का प्रचार और खड़ीबोली हिन्दी गद्य की समृद्धि हुई। अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में न तो गद्य का अभाव था और न पाठ्य-पुस्तकों का। यह अवश्य संभव हो सकता है कि मैकॉले द्वारा निर्धारित नीति के फल-स्वरूप पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन-कार्य को कुछ आघात पहुँचा हो और १८५४ में वुड की आयोजना के कार्य-रूप में परिणत होते समय पहले की पाठ्य-पुस्तकें बिल्कुल निरर्थक तो नहीं लेकिन शिक्षा के नवीन स्तर के अनुकूल और फलतः नवीन शिक्षा-संस्थाओं के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सकी हों। किन्तु १८५४ की आयोजना के अंतर्गत राजा शिवप्रसाद तथा उनके द्वारा प्रेरित लेखकों को फिर से कठिन परिश्रम करना पड़ा था, यह निश्चित है।

आलोच्यकालीन खड़ीबोली गद्य-पुस्तकें विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भले ही प्राथमिक और साधारण कोटि की हों, किन्तु भाषा की दृष्टि से उनका निश्चय ही महत्त्व है। उनसे हिन्दी साहित्य के एक नवीन अंग तथा उसके विकास के प्रथम चरण का परिचय और उसके भावी विकास का पूर्वाभास मिलता है। लल्लूलाल, सदल मिश्र आदि के बाद खड़ीबोली गद्य में स्वतंत्र रूप से लिखे गए ग्रन्थों और पाठ्य-पुस्तकों से कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं :

'सत्यं ज्ञानं अनंतं अनंदं ब्रह्म जो शुद्धता कों स्वरूप लक्षणा कहिए॥ जो चैतन्य जगतनुपादान कारण ताकों तटस्थ कहिए॥ सो तामें लक्षणा तीन॥ उतपत्ति॥ स्थित॥ प्रलय॥ उतपत्ति कों निमित्य है एक लक्षणा॥ हेतु असंग तातें॥ अरु जगत की स्थित में चैतन्य ग्रहण होता है॥ काहे तें कि जगत कारण कारज स्वरूप जड़ है। सो चिद ते भिन्न जड की प्रवृत्त असंभव है॥ यह दूसरी लक्षणा॥ अरु लयाधिष्टानतेनुपादान ग्रहण होता है। यह तीसरी लक्षणा॥......'[1]

'वज्रसूची नाम ग्रंथ शंकराचार्य कृत कहते है। सो हमारे जान मे वन्ह का कृत नहीं है॥ असंगत है॥ सर्व शास्त्र पुराण वेद से विरोध परत है। .वो कर हाल एह तरह कहै का .वै लिखत है की चारि वर्ण है। सव श्रेष्ठ व्राह्मण है .वो ग्रंथकार चाहते है कि व्राह्मण क खंडन करि के सर्व जाति एक समुझै॥ इस .वास्ते .वो दलील करते है॥ की व्राह्मण किसको कहते हैं॥ जीव व्राह्मण है की देह की जाति की वर्ण की पांडित्य की धर्म की धार्मिक्य की कर्म एक आठ वात है॥ से .वो कहत है की जीव व्राह्मण होता तौ सव जीव व्राह्मण होते। एह स.वव से जी.व को व्राह्मणत्व नहीं होइ सकता। अगर देह व्राह्मण कहो तौ चांडालादिक मनुष्य सव की देह पंचतत्त्वात्मक है॥ फेर जरा मरण सव को वरावर है॥ औ मातृ-पितृ सरीर दहन से व्रह्म हत्या दोष नहीं होता॥ एह से शरीर व्राह्मण नहीं है।......'[2]

१—'पंचकोश निर्णय' (ह०), पृ० २

२—'वज्रसूची ग्रंथ का खंडन' (ह०), पृ० १-२

'पढ़ने की बात

एक ग़रीब जोगी बाल बच्चे समेत जंगल में जाय के अपनी भूखके वास्ते एक बाज़ का खोंदा निकाला। जिसवक्त वह बाज़ अपने बच्चों के तुअमे के वास्ते बाहर गया था उस-वक़्त जोगीने गाछ पर चढ़के खोंदे में बच्चोंके जूठेमें से बहुत गोश्त लिया औ अपने लड़कों के साथ खाया। इससे समझो कि ईश्वर सब आदमी की ख़ोराक देने वाला है ॥'

'ग़रीब अंधलेकी बात क़िस्से के तौर पर ॥

वहां दरवाज़े के पास एक अंधला ग़रीब आदमी है। वह बड़ा अंधला है कुछ नहीं देखता, वह हमोंको नहीं देखता है, हरचंद हमलोग ऐसा नज़दीक हैं। एक छोटा छोकरा उसको ले जाता है, बेचारा आदमी अंधला होनेसे दिलगीर है। अंधले को कुछ खाने का हम देंगे ॥ और एक अच्छा घर भी अंधे के रहनेके वास्ते हमसब देंगे तब वह दरवाज़े बदरवाज़े भीख न मांगेगा ॥'

× × ×

छोटी दाना लड़की की बात ॥

एक छोटी लड़की चार पांच बरस की एक गरम रोटी चीखने को चाहती थी। जब उसने रोटी .वालेको जाते देखा तब रोटी ख़रीद करने को अपनी मासे एक पैसा मांगा, माने एक पैसा दिया, तब वह दौड़ी औ तुरंत मोल ली ॥

फिर आके दरवाज़े के पास उसने एक ग़रीब औरत देखी जो खानेकी चीज़ मोल लेनके वास्ते पैसा मांगती थी क्योंकि वह बहुत भूखी थी ॥ उसने ग़रीब से कहा कि मेरे पास कोई पैसा और नहीं, लेकिन हम जाके अपनी मासे पूछूंगी पैसे के वास्ते तब वह भीतर दौड़ीगई औ जलदी फिर आई औ ग़रीब रंडी से कहा किमेरी माके पास और कोई पैसा नहीं है लेकिन एक रोटी वहां है तुम्हारे वास्ते, और वह गरम भी है लो खाओ और दिलखुश रहो।

हम भी खुश हैं कि मेरे पास जो कुछ था सो भूखी को दिया ॥"[1]

'गंधक ज्वालामुखी के आसपास पहाड़ तलियों में मिलती है। और उस पहाड़ से आग हमेशः आपही आप निकलती है। वाज़े पत्थर को चुलाने से भी गंधक पैदा होती है। उसकी बुकनी का रंग जर्द होता है। साफ़ गरम पानी में उस बुकनी को धो लेते हैं। उसको अंगरेजी में फ्लॉउर्ज़ अव् सलफ़र और हिंदी ज़वान में गंधक का फूल कहते हैं। गुन उसका यह है कि उसके खाने से मुलाइम जुल्लाव होता है और थोड़ा पसीना भी निकलता है ० खुजली और दाद और घुर-

---

१—बीबी रो साहिब (Mrs. Rowe, of Digah) : 'मूल सत्र' (१८२०), कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी, पृ० क्रमशः ३६, ३७, ३८-३९

एक 'हिन्दी भाषा का नौसिख के लिये' नामक पुस्तक की रचना हुई थी। १८२३ में उसका द्वितीय और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। दोनों संस्करणों में विराम-चिह्न और पाठ-संबंधी भेद हैं। बीबी रो साहिब की पुस्तक के दोनों संस्करणों की भाषा में विदेशीपन है और हिन्दी के तद्भव और देशज, साथ ही कुछ बँगला शब्दों, के अतिरिक्त उर्दू के शब्दों का काफ़ी प्रयोग मिलता है। द्वितीय संस्करण में व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली भी उर्दू की है। उसमें 'पेयार', 'मिशनएरी', 'दे दिहिन', 'लिई', 'अछो' आदि जैसे रूप भी मिलते हैं। भाषा की दृष्टि से पुस्तक रोचक अध्ययन प्रस्तुत करती है।

१८४० में आगरा स्कूल बुक सोसायटी ने 'ज्ञान प्रकाश' नामक पुस्तक वर्णमाला सीखने के लिए प्रकाशित की थी। यह पुस्तक 'मूल सूत्र' के १८२३ के संस्करण से बहुत मिलती-जुलती है। या तो यह पुस्तक 'मूल सूत्र' के आधार पर लिखी गई अथवा दोनों पुस्तकें किसी एक आधार पर लिखी गईं। आगरा स्कूल बुक सोसायटी की पुस्तक में अरबी-फ़ारसी शब्दों के स्थान पर शुद्ध या विकृत रूप में सरल संस्कृत शब्द प्रयुक्त हुए हैं। "मूल सूत्र' (१८२३) की 'छोटी दाना लड़की की बात' की भाषा 'ज्ञान प्रकाश' में इस प्रकार है :

'॥ छोटी बुधवान लड़की की बात ॥

एक लड़की की अवस्था सात आठ बरस की थी, उसके मन में एक दिन तत्ती रोटी खाने की आई, तब उसने एक रोटी बेचने वाले को जाता हुआ देख बुलाया, औ उस से रोटी मोल ले कर अपनी मा से पैसा मांगने के लिये गई; उसकी माता ने उसे एक पैसा दिया; वह झट लाई औ रोटी वाले को दिया; जब वह वहां से फिर कर आती थी, तब द्वारे पर एक दीन बुढ़िया को देखा, जो भूखी मरती थी, औ भोजन के लिये पैसा मांगती थी॥ उसने मीठी वांणी से बुढ़िया को कहा कि मेरे पास और कोई पैसा नही, परंतु मैं अपनी मासे पूछूंगी जो देगी तो पैसा तुम्हारे लिये लाऊंगी।...' पृ० २४

घुरा और सूजन और चमड़े परके जितने मरज़ हैं उन सब मरज़ों में यह फूल खिलाते हैं और बदन पर भी लगाते हैं० खांसी और दमे की बीमारी में खिलाने से फ़ाइदः करता है० बवासीर के मरज़ में जब झाड़ा कठिन होय तब गंधक का फूल खिलाने से दस्त पतला होता है० मात्रा इसकी दो स्क्रुपिल से एक ड्राम तक है। बाक़ी अहवाल खार के बाब में है जहां क्रीम अव् टारटार का जिकर है

गंधक का मलहम बनता है। उसकी तरकीब यह है। गंधक ऐक हिस्सः। तिल का तेल ऐक हिस्सः। भेड़ी की चरबी तीन हिस्से.। इन सबों को ऐक साथ खूब हल करके मलहम बना.वे। सूखी और गिली खुजली पर लगाने से अच्छी होती है ० गंधक मिट्टी या शीशे के बरतन में जलाने से तेजाब बनता है। सब तेजाबों से गंधक का तेजाब् बड़ा तेज़ है। और इससे सब धात मरते हैं। धात पर तेज़ाब डालने से छेद छेद हो जाता है। जीव जंतु वृक्ष सब गंधक से नष्ट होते हैं'[1]

'ग्यारहवीं कथा एक बूढ़े और उसके दो लड़कों की।

कई दिन एक गांव होकर जाते हमने देखा जो एक बूढा अपने कई पडोसियों के साथ, इकठे हो एक बडे पेड़ की छांह में बैठा था, उस प्राचीन मनुष्य के हाथ में कुछ लिखा हुआ कागज था; उसके पडोसियों में से कोई वह

१—ऐंड्रिउ फ़ोरबिस् रामज़े साहिब (Andrew Forbes Ramsay)—जो 'बंगाले में ऐसिस्तांत सरजन हैं : 'रोगांतक सार या मेटीरिया मेडिका' (१८२१), हिन्दुस्तानी छापाखाना, कलकत्ता, पृ० १०८

इस ग्रंथ की भाषा के सबन्ध में लेखक का कहना है—'...अज़बस्कि मुवल्लिफ़ का इरादये दिली यों था कि इस किताब की इबारत तामक़दूर सलीस और आमफ़हम हो और शहरी और क़सबाती और दिहाती गंवार बख़ूबी समझें...।' नुसख़ों की भाषा सरल है। 'दीबाचे जहां से यह अवतरण लिया गया है, की भाषा कठिन उर्दू है। नुसख़ों की भाषा का झुकाव भी उर्दू की ओर है। जहाँ कहीं असाधारण शब्द का प्रयोग लेखक को करना होता है वहाँ वह अरबी-फ़ारसी का शब्द अधिक पसंद करता है। अनेक दवाइयों के केवल अरबी-फ़ारसी नाम ही दिए गए हैं। लिपि देवनागरी है।

कागज पढने लगा, उस काल में वहां जा उपस्थित भया, क्या देखता हूं, जो जैसे अति आनंद से मनुष्य का मन प्रफुल्ल होता है, तैसे उस प्राचीन मनुष्य का मन हो रहा था; औ कागज के पढने से उस वृद्ध का चित्त जैसा आनंदित भया, तैसा उसके पडोसी लोग भी हर्षित भये, हमने उस वृद्ध की ऐसी चेष्टा देखी; औ हम भी उस आमोद में आनंदित होवें उसकी ऐसी इच्छा थी, इस प्रकार मेरी समझ में आया, क्योंकि उसने हाथ उठाकर कहा, देखो, हमारा आनंद कंद बेटा गोविंद चंदने हमारे लिये एक हुंडी भेजी है; इस में मैं समझा, जो यह चीठी औ हुंडी इसके लडके के यहां से आई होगी; तिसपीछे मैंने उस प्राचीन की पूर्व्वावस्था जानने के लिये ऐक से पूछा, इससे उसका सब वृत्तांत जाना ॥"[1]

'...और कुकर्म अर्थात् मिथ्या बात कहनी, सौगन्द खानी, चोरी आपसमें हिंसा बुरी बात अथवा गाली—गलौज इन्होंसे उन् सब को रोक करके, ऐसी भली रीतिको उन्के मनमें यत्नपूर्वक जन्मावे, कि वे सब सत्य बातको कहैं; इसी प्रधान धर्म्मके ऊपर मन को लगायो रहैं, जिसके लिये मिथ्या कहनेसे सदा दण्डही होता है, और जो मनुष्य एक दोषको करके पीछे उसी दोषके ढकनेके लिये जो मिथ्या बातको कहे तब उस्को औरभी अधिक दण्ड देने पड़े'.[2]

'१ पहीला खांड में
सीपाही के खडे होने का ढब है।
सीपाही के खड़े होने के ढब में सब से पहीले

१—'नीति कथा' (१८२२), दूसरा खण्ड, कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी, बापटिस्ट मिशन प्रेस

आगरा स्कूल बुक सोसायटी द्वारा 'नीति कथा' का प्रथम भाग १८४६ में, और दूसरा खण्ड १८४७ में प्रकाशित हुआ। दोनों सोसायटियों द्वारा प्रकाशित संस्करणों की भाषा और पाठ लगभग समान है।

२—रेवरेंड एम्० टी० ऐडम : 'पाठशाला के बैठावनेकी और बालकन् के सिखावने की रीतिका बखान' (१८२४), कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी, सोसायटी का प्रेस, पृ० ३५।

मोंढे और देह सामने एकही चौरस रखना है। एडीएं बराबर और मीलीं। घुटने सीधे वीना तनाव के। अंगुठे बाहर इतने फीरें जो उन दोनों में बारह उंगल का बीच हो.वे ऐसा के पावों के खुंट का फैला.वो साथ अंस को पहुंचे। बांह देह के नीअरे लटके वीना अकडने के। कोहनी पांजर को लगें। हाथ सामने खुलें। छुंगली पंतलुन की सीवन से मीलें। चेतें जो बांह बहुत पीछे नरखी जावें। पेट कुछ पचे और छाती नीकले वीना खीचावो के। देह सीधी मुल कुछ आगे झुकी इस ढब से के पैर की गाद्दी पर बोझ अधिक पडे। सीर उठाहुआ और न दाहीने फीरे न बाएं। नवा सीपाही के लचीला करने और उसकी छाती नीकालने और पठे चीमडा करने के लीए चाहिए के डंड मुगदर और कीरच का पहला काम सधाए जा.वे॥'[1]

'जब रेंट इन फरंट हो.वे बाएं सबडी.वीजन के आगे सबडी.वीजन दोहरे होते हैं। और जब लेफट इन फरंट हो.वे .वे सबडी.वीजन दाहीने सबडी.वीजन के सामने दुगने होते हैं। जानों के रीवरस सबडी.वीजन चाहो सेकशन अपने पीवट सबडी.वीजन चाहो सेकशन के सामने दुना होता है॥'[2]

'सील फेरींग

इस बोल पर सीपाही गज लौटाने के पीछे अपने फरंत के ठीकाने पर आ जाएगा। और अपना दाहीना पैर बाएं को ला.वेगा। दाहीने हाथ की पहीली उंगली और अंगुठा गज को उसी डौल पर पकडता है जैसे अभी उसके नीकालने के पहीले। और उसको बाएं मोंढे पर अछा भीडा कर रखता है। और कुंदा धरती से दो इंच उठता है।'[3]

१—'सेनानी पोथी' (संवत्, १८८३, ईसवी सन् १८२७)—Soldier's Manual—भाग १, कलकत्ता, पृ० १-२

२—वही, पृ० ५१-५२

३—वही, भाग २ (१८२८), श्रीरामपुर प्रेस, पृ० ३१

इस ग्रंथ में Contents के लिए 'छंद' शब्द का प्रयोग किया गया है। भाषा

'कि कन्या बापके घरमें जिस पुत्रको छिप कर उत्पन्न कर लेय उसे कानीन कहते हैं सो वह लडका जो उस कन्याको ब्याहै गा उसका होता है। और पौनर्भव सो कहावता है कि जो सत्ता अर्थात् भोगी भई व अत्ता अर्थात् नहीभोगी ऐसी जो पुनर्भू उसमें सवर्णसे उत्पन्न होय। और दत्तक कहावता है कि मातानें पिताकी आज्ञासे जो किसीको दिया होय अथवा बापके पीछै वा उसके विदेश जानेस पिताकी आज्ञा विना ही दिया होय या मा बापदोनोंनें मिलकर दे डाला होय वहभी दत्तक कहावता है सो मनुनें कहा है।

कि आपत्तिकालमें संकल्प करके प्रीतिसहित जिस सवर्णको दिया होय वह दत्रिम सुत कहलाता है आपत्य ग्रहण करणे से यह मालूम भया कि जो आपत्य न होय तौ न दे। और जिसके एकही लडका हो वहभी नहीं दियाजाता सो वशिष्ठ जीनें कहा है

किजिसके एक ही पुत्र होय वह किसीको देनले और अपनेकभी पुत्र होय तौ भी जेठे को न देय। क्योंकि मनुनें कहा है .किज्येष्ठ पुत्रके हौनेहीसे पुत्रवान पिता होता है इसमें पितृ कार्य्य करनेमें ज्येष्ठ हीको मुख्यत्व

के संबंध में भूमिका में कहा गया है 'as in common use among the sipahis'.। सेनापति कैम्बरमीअर (Cambermere) को समर्पित करते समय लिखा है-'...being the first attempt to render, into a foreign character and language, those formulae, which constitute the ground work of every military movement'—'as lately practised in the drill of the 66th and 22nd Regiments of Native Infantry'। प्रथम भाग के अंत में लिखा है—'इती पोथी अचानक में ६६ रेजमेंट के लीऐ कहना शुर कीआ मेदनीपुर की छावनी के वीच वोल की की पलटन के साथ संवत १८८३ वीकरमा जीत और सन १२४२ हीजरी में आसीन मासे सुकल पछे वीजै दसमी संगल वारे संपुरन भइ ॥' (पृ० १०१) अंत में 'सुध पतर' भी दे दिया गया है। पहले भाग में अँगरेज़ी से हिन्दी में करने वाले 'भाषकार' का नाम नहीं दिया, दूसरे भाग में 'John Staples Harriot, Lt. Col., 22nd Regt: B. N. I.M. A.'S.' नाम दिया है।

है। और पुत्रके लेनेकी यह है कि जब लड़का लिया चाहै तब सब भाईयोंको बुलायके अपने घरमें बैठावै। और राजाको जताबा देकर महाव्याहृति मंत्रसे होम करके सबके सन्मुखले यह वशिष्ठजी ने कहा है।"[1]

"...॥ फिर एक दिन विनायक शास्त्री और हम करनेल कंडी साहिब के यहां गये उन्हों की भेट होने से वड़ी प्रसन्नता हुई; साहिब बड़े विद्यावान् हैं और प्रत्येक देश की बोली जानते हैं। और देश २ की बोली सीखनेवाले साहिबलोगों की परीक्षा लेते हैं; फिर एक दिन कालेज में धुंवे की गाड़ी का आकार बेल साहिबने चला कर बतलाया, उस साहिबने उस गाढ़ी की पेटी में पानी पर नीचे आग की वत्ती लगाई, उसमें पानी बाफ होकर गाडी के आगू की ओर एक नली रहती है उसमें होकर चाक की ओर दो नली जाती हैं इन में बाफ पहुंच कर पेष्टन बाहिर भीतर करता है, उस बाफ के बल से पेष्टन के हलाने से चाक को गत होती है इससे गाड़ी बहुत शीघ्र चलती है, वेसाहिब बहुत ढील तक कमरे में गाडी इधर से उधर चलाते रहे उसे देखने से बड़ा अद्भुत कर्म जान पड़ा......'[2]

१—दयाशंकर : 'दाय भाग :' (१८३२), 'जनरल कमिटी ऑव पब्लिक इन्सट्रक्शन' की आज्ञा से, एडुकेशन यंत्र, कलकत्ता, पृ० ३५-३६

दयाशंकर प्रसिद्ध लल्लूलाल के भाई और आगरा कॉलेज में हिन्दी-शिक्षक थे। संस्कृत मिताक्षरा से लेकर उन्होंने दायभाग का हिन्दी अनुवाद किया। प्रारंभ में मंगलाचरण के बाद उन्होंने लिखा है :

''एक समय श्री महाराजाधिराज सकलगुणनिधान् महाजान् पुण्यवान् परोपकारी हितकारी श्रीमहाराजेश्वर अतिदयाल कपाल यशस्वी तेजस्वी धर्म्म मूर्ति श्रीमिस्तर जमिस् डाकतर टड्डीन साहिब की आज्ञा से श्रीलल्लूजी लालकवि के भाई दया शङ्कर ने मिताक्षरा के दायभाग को संस्कृत वाणी से दिल्ली आगरे की खडीबोली में बनाया पाठशाला के विद्यार्थी लड़कों के पढने को आगरे नगर की पाठशाला के बीच।'

लल्लूलाल के जैशंकर भी सम्भवतः भाई थे—'जैशंकर ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले'। वे आगरा स्कूल बुक प्रेस में काम करते थे।

२—सीहोर निवासी पं० रत्नेश्वर : 'पत्र मालिका' (१८४१), सीहोर से बंबई

'जो ज्योतिषी लोग ग्रहलाघव के चतुर्थाधिकार को मल्लारी टीका सहित अच्छी भांति समझें तो गोल के उपयोग की कई बातें समझ में आवें। फिर अपने देश के घंटे में देशांतर देख कर नौका की ठौर ठहरा लेते हैं; पीछे जिधर नाव लेजानी होती है, उधर को कंपास की सहायता से ले जाते हैं; जो साहिब लोगोंने संपूर्ण गोल न देखा होता, और स्थान २ में देशांतरांश अक्षांश न देखे होते तो, ये बातें कभी सिद्ध न होतीं।' [1]

'शिष्य। मुझको अनुग्रह करके जो कह चुका उसीसे कृतज्ञ हुवा। मुझको अब बोध होता मनुष्योंके उपकारके लिये यह जगत एक भंडार हुवा है, इसलिये परमेश्वर की प्रशंसा करने को हमको आवश्यक है। इसी जगत में कोटि २ मनुष्य हैं, उन सबों के लिये ऐसी बहु खाद्यद्रव्य प्रस्तुत हैं कि अभाव होगा यह शंका कभी नहीं है। परमेश्वरने मनुष्योंके प्राण रक्षाके लिये जिन वस्तुवोंकी सृष्टि की है उनमें विचार करनेसे हमारा बड़ा आश्चर्य बोध होता है।'[2]

'एक दुखिया गधा था जो बुढ़ापे से अति अशक्त हो गया, एक दिन यह हुआ कि वह एक भारी बोझ को उठा न सका; तब उसका कठोर स्वामी उसको मारने लगा। तब दुखिया गधा रोय के बोला, देखो संसार की रीति कैसी है जो बेबस होय एक बेर अपराध करे उसके वर्षों की सेवा भूल जाती।'[3]

तक की यात्रा का वर्णन, आगरा स्कूल बुक सोसायटी की आज्ञा से प्रकाशित, पृ० २३-२४

१—मालवे देश में आष्टा ग्राम (सीहोर) निवासी ओंकार भट्ट ज्योतिषी: 'भूगोल-सार' अर्थात् 'ज्योतिष चंद्रिका' (१८४१), आगरा स्कूल बुक सोसायटी की आज्ञा से, आगरा प्रेस, पृ० ६१

२—'पदार्थविद्यासार' (१८४६) कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी की आज्ञा से सोसायटी के प्रेस में छपी, द्वितीय संस्करण, पृ० १०६

३—'शिष्य बोधक' (१८४६), कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी द्वारा प्रकाशित ईसप की कहानियों का अनुवाद, पृ० १५

'भरे हुये जहाजों का कर केवल राजा की आज्ञा से ही लिया जाता था और कौनसिल वालों नें परमट वालोंको आज्ञा दी कि जिस पदार्थ में तुम्हें संदेह होय जहां चाहो ढूंडने को घुस जाओ और पोप के अनुयायियों से मेल हो गया और उनके मिलाप से वहुत लाभ होने लगा जिन लोगों नें स्वाधीनता के विषय वहुत सी वातें निकाली थीं और कठिनता सहने को अपनी वड़ाई जानते थे उन पर स्टारचयंवर की वडी कमीशन् सभा का अंन्याय निरादरता का कारण हुवा परीनी नाम लिंकंलन की सराय का अधिकारी और वर्टन पुजारी और वास्ट विक् वैद्य जिन्होंने मतकी वुराई में कई पुस्तकें वनाई थीं इस सभा में उनका न्याय हुवा और उनको आज्ञा हुई कि वे लाट में भींचे जाय और कान काटे जायें और पचास सहस्र रूपये लिये जायें ॥ सभा वैटने के इस वड़े विछ्छेदकाल में कोई वर्ष कोई महीना कोई दिन ऐसा नहीं होता था कि जिसमें कौनसिल वाले नई नई वातें इस सभा को सर्वदा के लिये उठा देने की न करते होयं परंतु जहाज के कर लेने के विषय सब पुकारु हुए कि यह हम पर वड़ा अन्याय है ॥'[1]

'जब सारी यूरप में नेपोलियन् वोनापार्ट के आधीन होनेसे शांत हो गयी तव वैलजियम् वाले हालैण्ड देश में इस आशयसे इखट्ठे हुये कि हमारे साथी होनेसे नीदरलैण्ड के राज्यमें आगेके लिये फ्रैन्स वालोंकी सम्पूर्ण रूपसे रोक होय परन्तु इस संयोग के न होनेको कितने ही कारण हो गये क्योंकि उस देश की भाषा प्रकृति और धर्म भिन्न भिन्न थे उनके मनोरथ परस्पर विपरीत थे और वे आपुस में द्वेप रक्खे थे वैलजियम् वालों के आनेके भयसे उचके राज पर

१—जवाहरलाल : 'इतिहास चन्द्रिका' (इंगलैंड का इतिहास), देहली उर्दू अखबार प्रेस, देहली, १८४७ (मुखपृष्ठ पर हिन्दी में १८४६ तिथि है), पृ० ३३१-३३२

चढ़ाई करी परन्तु जब उन्हों को पारिस के परिवर्त्तनके कारण फ्रैन्स से दया और सहायता की आशा भई तब उन्होंने श्रम कम करना चाहा और राज की ओर से विना मिस अपनी स्वाधीनता जताई'...[1]

"विलायत इँगलंड में गाई के थन पर एक वहँ का छाला होता है उस छाले का पानी नस्तर के नौष पर रख के आदमी के वांह पर चमडे के भीतर पहुचाने से एक फफोला उठ करकै ऐक दिन में भला होता है और फिर उस आदमी को कभी सीतला नही निकलती है और यह गोस्तन के छाले का पानी जो पाया गया है उसका किस्सा यह है विलायत मे आगे दस्तुर था वाँ और भी हिंदुस्तान मै दस्तुर है कि लड़कपन मे लड़कों को माता का टीका जब वो लड़का सरीर से आछा होय कुछ बीमारी न होय दिलामे थे काहे सें कि जो आपई आप माता निकलती है तो दुष बहुत होता है और जो तनदुरस्ती के हालत मे निकलती है तो ईजा ज्यादा पहुचती है लड़कपन मे निकलती है तो दुप कम होता है इसी तरह कोइ वक्त विलायत इंगलण्ड के एक सहर मे माता सुरू हुई उसके लगने के डर से हकीमो ने हुकुम दिया कि यहां के रहनेवाले कि जिनको माता नही निकली है व सब लोग माता का टीका लेवे सो माफिक कहने हकीमों के छोटे बड़े सब लोग टीका लेने लगे...'[2]

इनके नाम भी न जानते थे और जो कोई परिश्रमी इनके पढ़ने की इच्छा करते थे वे बिचारे संस्कृत शब्दों की कठिनता को देखकर चुपचाप रह जाते इस दशा को सोच कर के श्रीमन्महाराज गवर्नर जनरल बहादुरने हर एक विद्या के ग्रंथों का हिन्दी या उर्दू भाषा में उल्था करवा कर थोड़े से दिनों में ठौर २ सब विद्याओं का प्रचार कर दिया उनकी आज्ञानुसार हिन्दी भाषा में छंद की आवश्यकता समझ कर उसके कई ग्रंथों से व्यवहार के छंदों को संग्रह कर छंदोदीपिका नाम ग्रंथ बनाया गया इसके थोड़ी अवधि में पढ़कर विद्यार्थी दोहा कवित्त आदि की रचना में चतुर हो जावेंगे।'[1]

'बोली इस मुल्क में अब उर्दू मुख्य गिनी जाती है, परंतु यह निपट थोड़े ही दिनों से जारी हुई है, उर्दू का अर्थ लश्कर है, जब तुर्क, अफ़ग़ान और मुग़लों की हिन्दुस्तान में बादशाहत हुई, और उनके आदमी यहां लश्कर के दर्मियान बाज़ारियों के साथ हर वक़्त ख़रीद फ़रोख़्त में बोलने चालने लगे, तो उनकी अरबी फ़ारसी और तुर्की इन लोगों की हिंदी के साथ मिल कर यह एक जुदी बोली बन गई, और इसका निकास उर्दू अर्थात् लश्कर के बाज़ार से होने के कारन नाम भी इसका उर्दू की ज़ुबान रक्खा गया।...'[2]

'...निदान यह बंगाले का ईशान नदियों से सींचा हुआ गंगा के दोनों तरफ़ हिमालय और विंध के बीच हरिद्वार तक चला गया है, और गंगा यमुना के बीच जो देश पड़ा है उसे अंतरवेद और पुराना दुआबा भी कहते हैं और यही दो चार सूबे अर्थात् दिल्ली आगरा अवध और इलाहाबाद यथार्थ मध्यदेश अर्थात् असली हिन्दुस्तान है।...'[3]

१—बंशीधर : 'छंदोदीपिका' (१८५४), सिकंदरा प्रेस आगरा, प्रथम संस्करण, पृ० १
२—राजा शिवप्रसाद : 'भूगोल हस्तामलक' (१८५१-५२), भाग १, बनारस, पृ० ५७
३—वही, भाग २, पृ० १५०

'...कई एक तक़रीरें जो सर्कार अँगरेज़ी और राजै लाहौर के दर्मियान उठीं थीं ख़ुशी ख़ुशी अच्छी तरह से रफ़ा हो गईं और तर्फ़ैन का दिल दोस्ती और सुलह का वास्ता रखने के वास्ते माइल हुआ, इसलिए नीचे लिखी शर्तें अहदनामे की जिनका क़ायम रखना दोनों तरफ़ के वारिस और जानशीनों पर कर्ज़ होवेगा दर्मियान राजा रंजीतसिंह और चार्ल्स थियाफ़िलस मेटकफ़ साहिब की मार्फ़त सर्कार अँगरेज़ी के अमल में आईं।'[11]

'साहूकारों के लेने देन का लिखना पढ़ना बहुधा महाजनी अक्षरों में होता है और उन अक्षरों के साथ लिखने में मात्रा नहीं लगाई जाती इस कारण उस लिखावट को पढ़ प्रयोजन समझना केवल देवनागरी पढ़े लोगों को कठिन पड़ता है और वे लोग इस बात का भी संकोच करते हैं कि हम पंडित हो ऐसी बात सीखने के लिये किसके पास जांय पर जब कभी महाजनी की चिट्ठी पत्री पढ़ने का काम पड़ता है तब उस काग़ज को ऊपर नीचे देख बिन पढ़े फेर मन मैं लज्जापाते हैं और मन में कहते हैं कि लिखने पढ़ने की इस छोटी सी बात के लिये हमें नाहीं करनी पड़ती है परंतु उन लोगों का यह शोच दूर करने के लिये महाजनी अक्षरों में महाजनी सार एक ऐसी पुस्तक बनी है जिस्से देवनागरी पढ़नेवाले लोग और की सहायता बिन अपनी बुद्धि से महाजनी अक्षर पहचान कुछ २ पढ़ने लगेंगे और महाजनी सार में हुंडी आदि की रीतें लिखी हैं उनके पढ़ने और समझने में लोगों को कुछ कठिनता न जान पड़े इसलिये यह महाजनसार दीपिका बनाई है...'[12]

शिक्षा-संबंधी पुस्तकों और विषयों की संख्या काफ़ी अधिक है। उपर्युक्त अवतरणों की संख्या भी जानबूझ कर अधिक रखी गई है, क्योंकि

११—राजा शिवप्रसाद : 'सिक्खों का उदय और अस्त' (१८५१), लखनऊ, पृ० १७

१२—श्रीलाल : 'महाजनी सार दीपिका' (१८५६), सदर जेल प्रेस, आगरा, द्वि० सं०, पृ० १-२

अधिक पाया जाता है—धर्म-संबंधी पुस्तकों में यह प्रवृत्ति और भी प्रबल रूप में पाई जाती है—उदाहरण के लिए, 'होना', 'ली', 'भये', 'के' (किये), 'कहनहारे', 'बान', 'लाय धरा है', 'होवगी', 'चिरियां', 'पोंछियो', 'कहनहारा', 'ठौर', 'बेर' (बार), 'मनुष्यन', 'देखने हारे', 'करन लगे', 'जानी है', 'मोपों', 'कछू', 'तुकलाया', 'मोतें', 'कहा परी', 'मुलकन', 'तलक', 'रहाय के', 'छीन लीनी होय', 'ले लीनी है', 'कमती', 'वचनों', 'सगेन', 'भौर', 'हुए', 'ठिकरियां', 'जाननहारा', 'जना' (जन), आदि। खड़ीबोली की यह विशेषता बहुत-कुछ उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में भी मिलती है। प्रारम्भ में उसका काव्य की भाषा से प्रभावित होना स्वाभाविक भी था। दूसरी विशेषता यह है कि ब्रजभाषा गद्य के छोटे-छोटे वाक्यांशों और शब्दों का भी खड़ीबोली में प्रयोग हुआ है, जैसे, 'गुरु शिष्य संवाद', 'कहते', 'जाते', 'सो' आदि। धार्मिक ग्रंथों में यह विशेषता पंडिताऊ रूप धारण कर आती है। तीसरी विशेषता यह है कि धार्मिक ग्रंथों को छोड़ कर लगभग अन्य सभी ग्रंथों की भाषा में थोड़े-बहुत अरबी-फ़ारसी के शब्द अवश्य मिलते हैं—कहीं-कहीं तो कठिन और तत्सम शब्द भी मिल जाते हैं। इस संबंध में आलोच्य काल को ध्यान में रखते हुए विचार करना चाहिए क्योंकि वह समय ही ऐसा था जब कि अरबी-फ़ारसी का ज्ञान अधिक प्रचलित था। अनेक स्थलों पर यदि संस्कृत शब्द 'यात्रियों' के स्थान पर 'जातरियों' और 'न्याय' के स्थान पर 'नियाव' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, तो 'खिलाफ़' के स्थान पर 'खेलाप', 'दस्तख़त' के स्थान पर 'दसकत', 'ओहदा' के स्थान पर 'यहदा', 'जुर्माना' के स्थान पर 'जरीवाना', 'दरख्वास्त' के स्थान पर 'दरखासत' आदि शब्द भी मिलते हैं। साथ ही उर्दू-शैली के वाक्य-विन्यास का भी अभाव नहीं मिलता। चौथी विशेषता यह है कि आलोच्य-कालीन खड़ीबोली गद्य यद्यपि ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य-परम्पराओं से

अधिक पुष्ट था, तो भी अभी उसमें स्पष्टता या प्रांजलता और सुसंबद्धता का अभाव मिलता है। उसकी शैली शिथिल, भद्दी और मुहावरों की दृष्टि से अशुद्ध है। वह असुन्दर, अकलात्मक और साहित्यिक शैली से विहीन तथा अलंकारों या सजावट से परे और व्यावहरिक है। वाक्य छोटे-छोटे होने के साथ-साथ दुर्बल और अशक्त हैं। गद्य की यह भाषा अत्यधिक संस्कृत-गर्भित नहीं है। अनेक वाक्यों में सहायक क्रिया ही लुप्त रहती है जिससे वाक्य प्रवाह-युक्त न रह कर लँगड़ा सा बन जाता है। साथ ही 'एक आदे' (एकाध), 'सूर्वे' (शोर्वा), 'पीता' (पिता), 'अंछर' (अक्षर), 'ऐक', 'थौड़ी', 'रुपवा', 'कैऐक', 'लिई', 'दिई' (दी), 'जवाई' (जमाई), 'मुज', 'जयन' (जैन), 'कैयक', 'सुन्ने', 'सुन्ते', 'हिस्यै' (हिस्से), 'पंडिया' (पांडव), 'वस्तुता' (वस्तुतः), 'वीना' (बिना), 'इसथीत', 'थिआन', 'दीई' (दी), 'लेंहर' (लहर), 'ईआ' (या), 'जेआदे', 'मीआद', 'उअह' (वह), 'इअह' (यह), 'प्रालब्ध', 'पहाली' (पहली), 'जाउतरी' (जावित्री), 'कीआ' (किया), 'तुरनत' (तुरंत) आदि शब्दों के विचित्र हिज्जे पाए जाते हैं। यह बात केवल विदेशियों की भाषा में ही नहीं, वरन् हिन्दी प्रदेश के लेखकों की भाषा में भी पाई जाती है। इससे यह संकेत भी मिलता है कि आलोच्य काल में तत्समता की ओर लेखकों का अधिक ध्यान नहीं था और वे अपने-अपने उच्चारण के अनुसार लिखते भी थे। इसीलिए भाषा-संबंधी आदर्शीकरण का अभाव मिलता है। 'सचावट', 'दुवलाई', 'गोलता', 'हलकाई', 'मिचाई' जैसे अनेक विशेष प्रयोगों और 'शुद्धिताई', 'अशुद्धिताई', 'मूरखताई', 'स्थैर्यता', 'ले जाने सकते हैं', 'उन्हों के समान', 'आश्चर्य बात को वर्णन करेंगे', 'व्याधे की भय से', 'बोझ की कारण से', 'धीरज की भय', 'वे दो बैल मारने लगा', 'व्याधे लोग नहीं पकड़ने सके', 'ऊँचे जगह', 'तुम तुम्हारी बिद्या मुझे दो', 'धन की सनेह', 'कोई गंवार ने', 'लाठी उठाया', 'अश्वत्थामा का प्राण बचा लिया', 'सुंदरताई', 'दुष्टताई', 'चिकित्साई', 'हिन्दू की पर्वों की वृत्तांत' आदि अनेकानेक विदेशीपन लिए हुए और लिंग, वचन तथा कारक की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोगों का भी उसमें बाहुल्य है। उपर्युक्त सभी विशेषताएँ देशी लेखकों की अपेक्षा मिशनरी तथा अन्य प्रकार के यूरोपीय लेखकों की रचनाओं में कहीं अधिक पाई जाती हैं। यूरोपीय लेखकों ने देशी लेखकों की अपेक्षा अरबी-फ़ारसी शब्दों और उर्दू वाक्य-विन्यास बचाने का भी सम्यक प्रयत्न किया है। १८५७ के बाद खड़ीबोली गद्य में जो थोड़ी स्थिरता और पुष्टता मिलती है वह इस समय दृष्टिगोचर नहीं होती।

वैज्ञानिक और उपयोगी विषयों के प्रचार के साथ-साथ तत्संबंधी अनेक शब्द भी हिन्दी भाषा के अंग बन गए। समन्वय की यह क्रिया उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में और भी तीव्र हुई, यद्यपि उस समय उसके अवरोधक कारण भी उपस्थित होने लगे। आलोच्य काल में खड़ीबोली ने अपना द्वार खुला रख कर अपने शब्द-भंडार की वृद्धि की और अपनी अभिव्यंजनात्मक शक्ति बढ़ाई। वास्तव में इस समय उसमें जिस नवीन जीवन का संचार हुआ वही उसे आगे चल कर बनाए रख सका। आलोच्य काल के प्रारंभ में ही यदि ऐसा हुआ होता तो खड़ीबोली गद्य और भी अधिक पुष्टता प्राप्त कर भारतेन्दु युग में अवतरित होता।

हिन्दी प्रदेश में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के बाद खड़ीबोली में नवजीवन का संचार हुआ और उसने वैज्ञानिक विचार प्रकट करने की क्षमता प्राप्त की। उसके लिए एक विशाल साहित्यिक और वैज्ञानिक क्षेत्र खुल गया। उसने पुरानी लीक छोड़ कर नए मार्गों का अनुसरण किया। आलोच्य काल में ही उसमें ज्ञान-वर्द्धक तथा उपयोगी साहित्य की रचना हुई। खड़ीबोली गद्य के लिए यह कोई कम श्रेय की बात नहीं है। अनेक लेखकों ने अपनी मौलिक या अनूदित रचनाएँ प्रस्तुत कर उसे समृद्ध किया। पाठ्य-पुस्तकों के रूप में होने के कारण उनकी रचनाओं का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं हो जाता। उनसे लेखकों की ज्ञान-पिपासा प्रकट होती है। सच बात तो यह है कि कम्पनी की भाषा-नीति, या फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में निर्मित रचनाओं, या ईसाई धर्म-प्रचारकों की धार्मिक रचनाओं की अपेक्षा इन लेखकों की रचनाओं द्वारा ही खड़ीबोली के भावी प्रशस्त जीवन का निर्माण हुआ। उसके विकास का दूसरा साधन पत्रकार-कला थी जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। जिन रचनाओं का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें कलकत्ते में पनपने वाली नई सभ्यता की आध्यात्मिकता की विरोधी नहीं वरन् वैज्ञानिकता की पोषक भौतिकता और नवीन शिक्षा के प्रभावांतर्गत बौद्धिकता और सत्य-निरूपण मिलता है। यह प्रभाव केवल पाठ्य-पुस्तकों के रूप में ही नहीं वरन् आगे चल कर ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी स्वतंत्र रूप से निर्मित ग्रंथों के रूप में भी मिलता है और जिससे, अन्ततोगत्वा, साहित्य भी अछूता न रह सका।

ईसाई साहित्य

युरोप में ईसाइयों के अभ्युदय के बाद धर्म प्रचार के लिए ईसाई मतावलम्बियों ने अति प्राचीन काल में भारतवर्ष की भूमि पर पैर रखा। कुछ लोग तो ईसाई सम्प्रदाय और बौद्ध, जैन तथा अन्य भारतीय मतों के पारस्परिक सम्बन्ध और धर्म-चर्चा का उल्लेख भी करते हैं। ईसा के प्रधान शिष्यों ने जो विभिन्न समाज स्थापित किए, परवर्ती काल में वे ही समाज ईसाई-धर्मावलम्बियों के महापुण्य और भक्ति के पात्र बने। उसी समय पश्चिम में रोम और पूर्व में अन्तियोक ईसाई समाज के प्रधान केन्द्र समझे गए। और इसी उत्तरकाल में अकेले ईसाई धर्म मत ने नाना स्वरूप ग्रहण किए, जैसे रोमन कैथोलिक, सिरीयक, या.कूबी, नेस्टोरी, अर्मनी, ग्रीक, प्रोटेस्टैण्ट, जेसुइट आदि।

ईसाई धर्म-प्रचारक भारतवर्ष में सबसे पहले कब आए, इस सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ सज्जनो का मत है कि ईसा के अन्यतम शिष्य सेंट टॉमस अरब, ईरान आदि स्थानो में धर्म का प्रचार करते हुए ६५ ई० में धर्म-प्रचारार्थ भारतवर्ष आए। उन्होंने यहाँ सिरीयक सम्प्रदाय की स्थापना की। सिरीयक मतावलम्बी पोप की अधीनता नहीं मानते। उनका बाइबिल भी सिरीयक भाषा में है। दक्षिण के मालाबार तट के लोगों में सेंट टॉमस का बहुत आदर था। लोग तो उन्हें धर्म-पिता और स्वयं ईसा मसीह समझते थे। इनके अतिरिक्त कुछ सज्जनो का मत है कि सेंट टॉमस ही ६८ ई० की २१ वीं दिसम्बर को मद्रास के पार्श्ववर्ती माइलापुर नामक स्थान में उतरे थे। कोई कहते हैं एक टॉमस मनिकीय ने ईसा की तीसरी शताब्दी में भारत पहुँच कर एक अभिनव ईसाई-धर्म चलाया था। दक्षिण के टॉमस इन्हीं के शिष्य थे। कुछ लोगों का यह भी मत है कि टॉमस नामक एक अर्मनी वणिक ईसा की आठवीं शताब्दी में मालाबार में वाणिज्य करने आए थे। वहाँ उन्होंने दो

केरल रमणियों से विवाह कर ईसाई-धर्म का प्रचार किया और स्वयं धर्मा
बने। उसी समय से वहाँ के ईसाई अपने को टॉमस का शिष्य बताने लगे

अस्तु, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन तीनों टॉमसों म
कौन सबसे पहले भारतवर्ष आया। उनके भारतागमन की कहानी रोचक
परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन टॉमसों के आने से पूर्व भी ईसाई-धर्म भा
वर्ष में घुस आया था। एक लेखक का मत है कि ईसा मसीह के बारह प्र
शिष्यों में से सेंट बार्थलमेउ (Bartholomew) धर्म-प्रचार के
भारतवर्ष आए थे। उनके बाद सेंट टॉमस आए थे। कहा जाता है कि
शताब्दी में भी कुछ ईसाई धर्म-प्रचारक मालाबार तट पर उतरे थे। ले
उसमें किसी टॉमस के नाम का उल्लेख नहीं मिलता। जो कुछ भी हो इ
निश्चित है कि सिरीयक ईसाई धर्म-प्रचारक सबसे पहले भारतवर्ष आए
१८०६ में जब डॉ० ब्यूकैनैन मालाबार गए थे तो वे वहाँ से अ
साथ सिरीयक भाषा में लिखा हुआ एक बाइबिल लाए थे। यह बाइ
जो आजकल केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में है, बारहवीं शत
के लगभग का समझा जाता है। यह बाइबिल भारतवर्ष कैसे आया
विषय में अभी तक कोई निश्चित मत निर्धारित नहीं हो सका। भाष
का मत है कि उसकी रचना छठीं शताब्दी के बाद और बारहवीं शता
पूर्व हुई होगी। सिरीयक भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण तत्कालीन भा
ईसाइयों में इस बाइबिल का अधिक प्रचार नहीं था। परन्तु उन्न
शताब्दी में जब ईसाई धर्म-प्रचार-आन्दोलन भारतवर्ष में ज़ोरों के साथ
उस समय इस बाइबिल ने धर्म-प्रचारकों को अत्यन्त प्रोत्साहन दिया।

प्रचार हुआ। पुर्तगाल के राजा एमानुएल और उसके पुत्र जोन ने भारतवासियों को ईसाई-धर्म में दीक्षित कराने का अथक उद्योग किया। १५४२ में सेंट ज़ेवियर (St. Xavier) नामक जेसुइट ने मालाबार, मदुरा, मद्रास आदि स्थानों की अनेक पिछड़ी हुई जातियों और कैवर्तों को दीक्षा दी। दक्षिण के लोग उन पर भक्ति और श्रद्धा रखते थे। भारतवर्ष ही में नहीं, उन्होंने हिन्द महासागर के द्वीप-समूह और जापान तक में ईसाई धर्म का डंका बजाया। अन्त में चीन में जाकर १५५२ की बाईसवीं दिसम्बर को नाङ्किन् में वे काल-कवलित् हुए। उनके बाद १६०६ में मदुरा मिशन के संस्थापक इटली के रॉबर्त द नोबिली (Robert de Nobilee, १६५६ में मृत्यु) मद्रास आए। परन्तु भारतवासी उन्हें म्लेच्छ समझकर उनकी बात न सुनते थे। यह देखकर उन्होंने भारतीय आचार-व्यवहार ग्रहण किए और अपने को रोमक ब्राह्मण के नाम से पुकारने लगे। भारतीय संन्यासी के वेष में उन्होंने संस्कृत और तामिल भाषाओं का अध्ययन किया। कुछ दिन बाद उनका तत्वबोध स्वामी नाम पड़ गया था। उन्होंने तामिल में 'आत्मनिर्णयविवेक' और 'पुनर्जन्मविवेक' नामक दो ग्रन्थ लिखकर पौराणिक मत का खंडन करते हुए हिन्दू धर्म पर आक्रमण किया। अपने शेष जीवन में वे हिन्दुओं को ईसाई धर्म की दीक्षा देते रहे। उनके बाद और भी अनेक जेसुइट भारतवर्ष आये जैसे, बेशी (Beschi, १७४६ में मृत्यु), जॉन द ब्रितो (John de Britto, १६९३ में मृत्यु) आदि। आगे भी यह क्रम चलता रहा। अपने प्रयत्न से इन लोगों ने मदुरा, त्रिचनापली, तंजोर, सलेम, मद्रास आदि स्थानों में नीच लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया।

अँगरेज़ों का आधिपत्य स्थापित होने से बहुत पहले उत्तर भारत में भी रोमन कैथोलिक विद्यमान थे। १५७९ और १५९१ के बीच यद्यपि टॉमस स्टीवेन्स (Thomas Stevens), जॉन न्यूबेरी (John Newberry), मास्टर जॉन एल्ड्रेड (Master John Eldred) और रैल्फ़ फ़िच (Ralph Fitch) ऐसे सर्वप्रथम अँगरेज़ थे जिन्होंने उत्तर भारत में पदार्पण किया, किन्तु वे धर्म-प्रचारक नहीं थे। तो भी अकबर के समय में पोर्चुगीज़, अँगरेज़ आदि अनेक ईसाई आगरे में थे। उन्होंने अपने गिरजाघर बनाए थे और कभी-कभी वे शास्त्रार्थ भी कर लेते थे। फ़ादर ऐन्तोनियो द आन्द्रेदे (Father Antonio de Andrede) १६०० में भारतवर्ष आए (अकबर की मृत्यु १६०५ में हुई) और उन्होंने आगरा अपना केन्द्र बनाया। ३० मार्च, १६२४ को वे जहाँगीर के साथ आगरा से दिल्ली तक गए थे। दिल्ली से फिर वे

बद्रीनाथ और तिब्बत तक गए। कहा जाता है हिमालय पहुँचने वाले यूरोपियनों में फ़ादर आन्द्रे दे सर्वप्रथम हैं। १६६६ में थेवनो (Thevenot) जब आगरे पहुँचे तो वहाँ पर लगभग पचीस हज़ार परिवारों की ईसाई बस्ती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अँगरेज़ों के वहाँ पहुँचने तक उनका अस्तित्व मिट चुका था। १७४०-४६ के लगभग फ़ादर जॉसेफ़ मेरी (Father Joseph Mary) ने बेतिया में एक कैथोलिक मिशन की स्थापना की थी। एक दूसरा मिशन १७७० में चुहारी में स्थापित किया गया। उत्तर भारत में इसी प्रकार के कुछ और मिशनों और ईसाई धर्म-प्रचारकों का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु इस दीर्घ काल में ईसाई धर्म की उत्तर भारत में कोई विशेष उन्नति न हो सकी। यदि ईसाई धर्म-प्रचारक ईसा के अलौकिक कृत्यों का उल्लेख करते थे, तो भारतवासी अपनी श्रद्धा और भक्ति के साथ राम और कृष्ण के लोकोत्तर चरित्रों का उल्लेख किए बिना न रहते थे। देश के सामाजिक और धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण भारतवासियों और ईसाई धर्म-प्रचारकों में अधिक घनिष्ठ संपर्क स्थापित न हो सका। ईसाई धर्म-प्रचारक भी देश की भाषाओं से अनभिज्ञ रहे। अकबर, और कुछ हद तक जहाँगीर, के राजत्व-काल में अपने प्रचार-कार्य में सफल होने का कुछ अवसर भी प्राप्त हुआ था। किन्तु शाहजहाँ के समय में वह अवसर भी उनके हाथ से जाता रहा। शाहजहाँ की प्रियतमा, मुल्ताना मन्ता ज़मानी (Munta Zamani), अत्यन्त असहिष्णु स्त्री थी और वह हिन्दुओं और ईसाइयों से बराबर घृणा करती थी। औरँगज़ेब जैसे कट्टर शासक के काल में ईसाई धर्म-प्रचारकों को वैसे ही कोई आशा नहीं हो सकती थी।[1] दक्षिण भारत में भी अस्थिर राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उनके सफलीभूत होने की कोई आशा नहीं थी। फिर फ्रांस और पुर्तगाल की अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की राजनीतिक परिस्थितियों में जेसुइटों को दबाया जाने लगा जिसके फल स्वरूप जेसुइट पादरियों और उनके लिए सहायता का भारतवर्ष आना बहुत कम हो गया, यद्यपि ऐसे दुर्दिनों में भी मैसूर के अबे दुब्वा (Abbe Dubois) जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम अवश्य मिल जाता

१—इन ऐतिहासिक विवरण के लिए देखिए:

विलियम टैनेन्ट (Tennant): 'थॉट्स ऑन दि एफ़ेक्ट्स ऑव दि ब्रिटिश गवर्नमेंट ऑन दि स्टेट ऑव इंडिया...', एडिनबरा, १८०७, पृ० २२४-२२५; मेजर [illegible]: '[illegible] सिलेक्शन्स', लंदन, १९१५, पृ०-११-१४, ३३६; एथेल एम० [illegible] इन पोर्तुगीज़ [illegible]', १९३७, पृ० १३-१४, १४०; विक्तर ज़ाकमाँ: 'एता [illegible]...', १९३३, पृ० १७७, आदि

है। १८१४ में 'सोसायटी ऑव जीसस' की पुनर्स्थापना के बाद भारत में उनका प्रचार-कार्य फिर से प्रारंभ हुआ। किन्तु उनका प्रधान केन्द्र दक्षिण भारत ही रहा। १८३८ में ग्रेगरी (Gregory) सोलहवें ने जब गोआ की शासन-सत्ता केवल पुर्तगालियों द्वारा अधिकृत भूमिभागों तक सीमित कर दी तो भारतीय और पुर्तगाली पादरियों में खुल्लमखुल्ला विरोध हो गया।

कहा जाता है कि जेसुइटों ने १५५६ में गोआ में मुद्रण-कला का प्रचार किया और 'Conclusiones Philosophicas' तथा ज़ेवियर कृत 'Catechism' नामक ग्रंथ प्रकाशित किए। उनमें से कुछ ने दक्षिण की भाषाएँ भी सीखीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जेसुइट ईसाई यूरोप से एक नई शक्ति लेकर आए थे, किन्तु भारतवासियों ने उस समय उससे कोई लाभ न उठाया। रोमन कैथोलिक ईसाई अपनी भाषा-विषयक कट्टरता के कारण किसी भारतीय भाषा या भाषाओं में अनूदित एक बाइबिल और उसका प्रतिपादन करने वाले चर्च के प्रति उदासीन रहे। कहा जाता है उनमें से कुछ ने तो भारत में बाइबिल-प्रचार का विरोध भी किया। यही कारण है कि रोमन कैथोलिक किसी भी भारतीय भाषा में बाइबिल का अनुवाद न कर सके। उन्होंने प्रधानतः तामिल प्रदेश में कार्य किया और इसमें सन्देह नहीं कि वे प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने उस प्रदेश की भाषा में प्रचुर मात्रा में ईसाई-साहित्य की रचना की। परन्तु बाइबिल की ओर उन्होंने कोई ध्यान न दिया। एक व्यक्ति ने तो 'असुरवेद' नामक ग्रंथ की रचना कर सगर्व अपने को ब्राह्मण कहला कर ईसा मसीह के धर्म का प्रचार किया। तामिल बाइबिल का रोमन कैथोलिक रूपान्तर बहुत प्राचीन नहीं है।

जेसुइटों के बाद सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में भारतवर्ष ईसाई धर्म-प्रचारकों का प्रधान कार्य क्षेत्र बन गया था। फ्रांसीसियों, डचों और डेनों ने जहाँ-जहाँ पर अपनी व्यापारिक संस्थाएँ स्थापित कीं, वहीं-वहीं ईसाई धर्म का प्रचार भी हुआ। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के अंत तक निरंतर युद्ध-विग्रह और अराजकतापूर्ण वातावरण ने उनके कार्य में अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित कीं। और यद्यपि कैरे १७९३ में भारतवर्ष आ गए थे, किन्तु विभिन्न केन्द्रों में मिशनरी सोसायटियों की स्थापना का कार्य १७९९ में टीपू सुलतान के पतन के बाद ही प्रारंभ होता है। दिन-रात की कलह के बाद देश में शांति पूर्ण वातावरण के उत्पन्न होने से ईसाई धर्म-प्रचारकों का कार्य अत्यन्त तीव्र गति से आगे बढ़ा।

श्रीरामपुर मिशनरियों द्वारा प्रवर्तित कार्य प्रारंभ में बंगाल तक ही सीमित रहा। किन्तु ज्यों-ज्यों अँगरेजी राज्य गंगा की घाटी में उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों बापटिस्ट मिशनरी सोसायटी, चर्च मिशनरी सोसायटी, बर्लिन सोसायटी तथा अन्य अनेक सोसायटियों का प्रचार-क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। १८०९ में मूर (Moore) ने पटना के पास (Digah) एक मिशन स्थापित किया। १८१० में आगरा में बापटिस्ट मिशन की स्थापना हुई। किन्तु सैनिक अधिकारियों और चैम्बरलेन में विरोध हो जाने के फलस्वरूप अठारह महीने बाद यह मिशन टूट गया। १८१४ में दो और मिशन आगरा और इलाहाबाद में स्थापित हुए। १८११ में आगरे के सिकन्दरा मिशन का कार्य डेनियल कोरी (Daniel Corrie) द्वारा भेजे गए ईसाई धर्म ग्रहण करने वाले अब्दुल मसीह की अध्यक्षता में बारह वर्ष तक

चलता रहा। अब्दुल मसीह को हेनरी मार्टिन ने ईसाई बनाया था। उन्होंने अपना कार्य १८१३ से प्रारंभ किया। कुछ समय तक उन्होंने कलकत्ते की 'करस्पौंडिंग कमिटी' की अध्यक्षता में कार्य करते हुए अनाथालय तथा अन्य प्रकार की संस्थाएँ स्थापित कीं। १८४१ से सिकन्दरा मिशन एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में हो गया था। १८४० में एक प्रेस की स्थापना के संभवतः बाद मिशन ने बारह आना वार्षिक मूल्य का 'लोकमित्र' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया। बापटिस्टों, चर्च मिशनरी सोसायटी और लंदन मिशनरी सोसायटी ने क्रमशः १८१६, १८१८ और १८२० में बनारस अपना प्रचार-क्षेत्र बनाया। हेनरी मार्टिन की जीवनी से ज्ञात होता है कि भारत में मिशनरियों के प्रारंभिक इतिहास-काल में उन्होंने बनारस में अथक परिश्रम किया था। श्रीरामपुर के उपर्युक्त तीन प्रसिद्ध धर्म-प्रचारकों ने १८१६ में लाखों को ईसाई धर्म का सन्देश देने के लिए बृहत् आयोजनाएँ बनाईं। उन्होंने अनेक सुयोग्य यूरोपियनों, यूरेशियनों और भारतवासियों से सहायता ली। उनमें बाउले (Bowley) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाद को वे चर्च मिशन में चले गए और कई वर्षों तक चुनार में कार्य करते रहे। उन्होंने संपूर्ण बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद किया। वास्तव में श्रीरामपुर मिशनरियों का कार्य १८१६ में भेजे गए विलियम स्मिथ से प्रारंभ होता है। विलियम स्मिथ देशी फ़ौज में ढोल बजाया करते और बड़ी अच्छी हिन्दुस्तानी बोलते थे। हिन्दी प्रदेश में हेनरी मार्टिन (Martyn) के अतिरिक्त बोअज़ (Boaz), लक्रवा (Lacroix), वॉट, होर्नले (Hoernle), ओवेन (Owen), बुडेन (Budden), पर्किन्स (Perkins), ल्यूपोल्ट (Leupolt), फ्रेंच, स्टुअर्ट, हेबर और डेनियल कोरी ने ईसाई धर्म के प्रचार-कार्य में विशेष सहायता पहुँचाई।

डेनियल कोरी १८१७ में पहले आगरा और फिर बनारस में यूरोपियनों के चैपलेन थे। उनका सम्बन्ध चर्च मिशनरी सोसायटी से था और शिक्षा तथा ईसाई नैतिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उन्होंने नवयुवकों को चुना। १८२३ में कलकत्ता क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी की स्थापना हुई। कहा जाता है कि १८२७ से उसने अपना हिन्दी-कार्य प्रारंभ कर दिया था। किन्तु यह कार्य कुछ समय तक ही चल पाया। १८२९ में बनारस ट्रैक्ट सोसायटी का जन्म हुआ। दो वर्ष बाद वह टूट गई, किन्तु १८३६ से उसका कार्य फिर प्रारम्भ हो गया। १८३६ में स्थापित एल० एम० एस० (लंदन मिशनरी सोसायटी) ऑरफ़ेनेज प्रेस, मिर्ज़ापुर, और उसी वर्ष स्थापित

अमेरीकन प्रेसबाइटीरियन (Presbyterian) प्रेस, इलाहाबाद ने हिन्दी ईसाई साहित्य के प्रचार में यथेष्ट सहायता पहुँचाई। १८३६ में रेवरेंड विलियम स्मिथ और रेवरेंड सी० बी० ल्यूपोल्ट (Leupolt) सिगरा (Segra) में कार्य करते थे। स्मिथ १८३०, में भारतवर्ष आए थे। गोरखपुर में पन्द्रह महीने तक काम करने के बाद १८३२ में वे बनारस चले गए। १८३३ में नोप (Knropp) और ल्यूपोल्ट भी उन्हीं के साथ बनारस में कार्य करने लगे। भारतवासियों के आध्यात्मिक लाभ के लिए उन्होंने दत्तचित्त होकर धर्म-प्रचार किया। अक्टूबर, १८१६ में लंदन मिशनरी सोसायटी ने रेवरेंड मैथ्यू टॉमसन ऐडम (एम० टी० ऐडम) को बनारस भेजा। अगस्त, १८२० में वहाँ पहुँचने के बाद वे १८३० तक रहे और तत्पश्चात् लंदन वापिस जाकर सोसायटी से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। ऐडम बहुत ही परिश्रमी और पढ़ने-लिखने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने एक हिन्दी व्याकरण, एक अँगरेज़ी-हिन्दी कोष और कुछ अन्य छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना की। किन्तु भारतवासियों को अधिक संख्या में ईसाई बनाने में वे सफल न हो सके। बनारस के लंदन मिशन को १८२६ में रेवरेंड जेम्स रॉबर्ट्सन के आ जाने से और भी बल प्राप्त हुआ। वे बहुभाषाविद् थे और क्रॉस का प्रचार कर मूर्तिपूजा का मूलोच्छेदन करना चाहते थे। उन्होंने बाइबिल को लोकप्रिय बनाने का भरसक प्रयत्न किया। उनके बाद १८३२ के प्रारम्भ में विलियम बायर्स (William Buyers) ने, और फिर १८३४ के प्रारम्भ में रेवरेंड जे० ए० शरमैन (J. A. Shurman) तथा रेवरेंड रॉबर्ट सी० मेथर (Robert C. Mather) ने मिशन में आकर धर्म-प्रचार का कार्य आगे बढ़ाया। १८३८ में रेवरेंड डब्ल्यू० पी० लायन (W. P. Lyon) बनारस और उसी वर्ष मेथर मिर्ज़ापुर गए। मिर्ज़ापुर उस समय एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ मेथर ने अपनी सुयोग्यता का परिचय दिया। १८३६ में लंदन मिशनरी सोसायटी के जेम्स केनेडी (James Kennedy) भी वहाँ पहुँचे। ये सब बड़े ही उत्साही और विख्यात धर्म-प्रचारक थे और उन्होंने सच्ची लगन से अपना-अपना कार्य किया। वास्तव में आलोच्यकालीन धर्म-प्रचारकों ने बनारस को हिन्दू धर्म का गढ़ मान कर उसे अपना प्रधान केन्द्र बना लिया था। उन्होंने स्कूल स्थापित कर पाश्चात्य शिक्षा का भी प्रचार किया।

धनाभाव के कारण मिशनरियों के अनेक स्कूल तो १८३६ तक बन्द भी हो गए थे। उस समय केवल कुछ अनाथों को ही इकट्ठा कर गिरजों की स्थापना की गई।

१८३६ के लगभग बापटिस्ट मिशन के लेस्ली (Leslie) साहब ने मुंगेर में अपना कार्य शुरू कर दिया था। १८३७ में जब तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश दुर्भिक्ष से पीड़ित हुआ तो चर्च मिशन ने अनेक प्राणियों की रक्षा कर उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित किया। १८३६ के लगभग से चर्च तथा लंदन मिशनरी सोसायटियों के अनेक मिशनरी भी प्रचार-क्षेत्र में पदार्पण कर चुके थे। १८१४ में कलकत्ते में प्रोटेस्टैंट बिशपरिक भी स्थापित हो गई थी और उसके अन्तर्गत लगभग पैंतीस मिशनरियों ने अनेक भारतवासियों को ईसाई बनाया। १८४६ में उन्होंने मुज़फ़्फ़रपुर में एक प्रेस भी स्थापित कर लिया था। अंत में १८३७ में फ़ारस से निर्वासित डॉ० कार्ल गौटलीब फ़्फ़ैन्डर (Karl Gottlieb Pfander) का १८४१ में भारतागमन हुआ। उनका वुर्टम्बर्ग (Wurtemburg) के बासिल (Basle) मिशन से संबंध था। भारतवर्ष आने पर चर्च मिशनरी सोसायटी से अपना संबंध स्थापित कर वे तेरह वर्ष आगरे में रहे और ३० जुलाई, १८४८ को वहीं ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी की स्थापना की। उन्हीं के साथ फ़ारस से निर्वासित रेवरेंड टी० होर्नले (T. Hoernle) और रेवरेंड एफ़० ई० श्नाइडर (F.E. Schneider) भी आगरे में उनके सहयोगी थे और चर्च मिशनरी सोसायटी के अंतर्गत वे प्रचार-कार्य करते रहे। आगरे से कुछ मील दूर सिकन्दरे में स्थापित मिशन के प्रेस का कार्य होर्नले सम्हालते थे। साथ ही वे १८४८ और उसके बाद ट्रैक्ट सोसायटी के प्रथम मंत्री भी थे। डॉ० फ़्फ़ैन्डर १८४८ से कुछ वर्ष पूर्व से छः वर्ष बाद तक आगरे में रहे। जब १८५८ के प्रारंभ में तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश की राजधानी आगरे से हट कर इलाहाबाद चली आई तो सोसायटी का प्रधान कार्यालय भी इलाहाबाद चला आया। इसी प्रकार की अन्य अनेक सोसायटियों के अतिरिक्त क्रिश्चियन वर्नाक्यूलर एजुकेशन सोसायटी और डॉ० मर्डौक़ (Murdoch) की अध्यक्षता में स्थापित क्रिश्चियन लिट्रेचर सोसायटी भी ईसाई-साहित्य का प्रकाशन करती थी।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ईसाई मिशनरियों का कार्य-क्षेत्र पटना, मुंगेर, भागलपुर, छपरा, लखनऊ, कानपुर, मेरठ, अलीगढ़, आगरा, इटावा, झाँसी, अलमोड़ा, रानीखेत, नैनीताल, देहरादून, गाज़ीपुर, मिर्ज़ापुर, बनारस, अमर, चुनार, इलाहाबाद, सहारनपुर, बरेली, फ़तेहपुर, फ़तेहगढ़, दिल्ली, जबलपुर, अम्बाला, जयपुर, अजमेर, नागपुर आदि अनेक छोटे-बड़े नगरों तक फैल गया था। १८५७ के प्रारम्भ में अमेरिकन एपिसकोपल

मेथौडिस्ट चर्च (American Episcopal Methodist Church) ने रुहेलखंड में अपना केन्द्र स्थापित किया था, किन्तु जब विद्रोह हुआ तो उसके मिशनरी नैनीताल चले गए और फिर वहीं रह कर गढ़वाल तक अपना प्रचार-कार्य करने लगे। इस संबंध में रोमन कैथोलिक मिशन कुछ उदासीन नीति ग्रहण किए रहे। भारतवासियों को ईसाई बनाने का सब से अधिक कार्य इंगलैंड के चर्च के आधानी कोरी (Corrie), बाउले, अब्दुल मसीह, आनंद मसीह और मेरठ के फ़िशर नामक प्रोटेस्टैन्ट मिशनरियों ने किया। साथ ही यूनाइटेड प्रेसब्राइटीरियन के अंतर्गत वैलेन्टाइन (Valentine) ने राजपूताना में और अमेरिकन प्रेसब्राइटीरियन मिशन ने लुधियाना और उसके पास जो कार्य किया वह भी सराहनीय समझा जाता है। ईसाइयों के धर्म-प्रचार ने कट्टर भारतवासियों में सांस्कृतिक आशंका उत्पन्न कर दी थी—विशेष रूप से उन लोगों में जिनका ईसाई धर्म-प्रचार के कारण सामाजिक पद और आजीविका संकट में पड़ गई थी। और यद्यपि लोग सचेत हो गए थे, तो भी उस समय ईसाई धर्म प्रचार का प्रतिरोध करने वाला कोई आंदोलन हिन्दी प्रदेश में नहीं था।

उपर्युक्त संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण के साथ-साथ यह जान लेना भी अत्यन्त आवश्यक है कि ईसाई मिशनरियों को अपने प्रचार-कार्य में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। ये कठिनाइयाँ न केवल हिन्दुओं और मुसलमानों की आशंका के कारण, वरन् ईस्ट इंडिया कम्पनी के सरकारी विरोध के कारण भी उत्पन्न हो गई थीं। कोर्ट के डायरेक्टर उन्हें और धर्म-पुस्तकों को राजनीतिक दृष्टि से भयावह समझते थे। उनकी राजनीतिक व्यवस्था में धर्म-पुस्तकों का कोई स्थान न था। मिशनरियों ने समय-समय पर उन्हें अपनी बात समझाने का प्रयत्न करते हुए कहा था :

> '...not to countenance or sanction any other religion other than our own, because we ought not to encourage and sanction falsehood, especially we should not sanction Mohommedanism and Brahminism, the two false religions of India, because they are ruinous to man, opposed to Christ, and insulting to God.''

और इस संबंध में अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों की सहायता लेनी चाही। किन्तु साम्राज्य के नष्ट होने के डर से उन्होंने न तो स्वयं भारतीय धर्मों और सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करना चाहा और न किसी और को हस्तक्षेप करने की आज्ञा दी। १८१३ में विल्बर्फ़ोर्स ने हाउस ऑव कामन्स में अपनी राज्य-सीमा में किसी व्यक्ति को न आने देने वाले कम्पनी के अधिकार पर प्रतिबंध लगा दिया और उसके बाद मिशनरी धड़ाधड़ भारतवर्ष आने और ज़ोरों के साथ अपना प्रचार-कार्य करने लगे। कम्पनी ने यद्यपि अपना पहला वाला विरोध बहुत-कुछ कम कर दिया था, और मिशनरियों के आंदोलन से प्रभावित हो सती-प्रथा, बाल-हत्या आदि क्रूर प्रथाओं पर प्रतिबंध भी लगाया, किन्तु उसकी नीति बनी उदासीन ही रही और उसने हिंदुओं की सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था से हाथ तक न लगाया। मिशनरी अपना कार्य बराबर करते रहे और उन्होंने तत्कालीन उत्तर-पश्चिम प्रदेश के टॉमेसन, सर हेनरी लॉरेन्स, सर विलियम म्योर आदि लेफ्टिनेंट-गवर्नरों तक की सहानुभूति प्राप्त की।

अस्तु, १८१३ के बाद ईसाई धर्म-प्रचारकों का कार्य अत्यन्त तीव्र रूप से प्रारंभ हुआ। कैरे के बाद उन्होंने जो कार्य किया उसका मूल्य निर्धारित करना तो यहाँ संभव नहीं, और हेबर, विलियम टेनेन्ट, विक्तर ज़ाकमाँ, अबे दुब्वा, विलियम सेमुएल, जे० सी० मार्शमैन, जेम्स केनेडी, विलियम हंटर, मिल, एच० वेरनी लोवेट (H. Verney Lovett) आदि अनेक लेखकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उनके कार्य का मूल्यांकन किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने ब्राह्मण धर्मांतर्गत कुरूपता और भ्रष्टता पर लगातार प्रहार किए और स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। उन्होंने बहुदेवोपासना के स्थान पर केवल ईश्वरोपासना प्रचलित करनी चाही। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वे समाज लगाते और निर्धन तथा संकटापन्न परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों की सहायता करते थे। वे जाड़ों में घूम-घूम कर जनता की भाषा में उपदेश और व्याख्यान देते। पर्वों और मेलों के अवसरों पर या बाज़ारों में खड़े होकर वे लोगों को उनकी कुरीतियों एवं कुप्रथाओं और अंध-विश्वासों का ज्ञान कराते और उन्हें ईसाई बना कर उनकी आत्मा को नरक की भीषण ज्वालाओं से बचाने की आशा दिलाते थे। उन्होंने अनेक अनाथालय खोले, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी, ज़नाना सोसायटियाँ स्थापित कर स्त्री-शिक्षा का प्रचार किया, निम्न तथा जंगली जातियों के दलित लोगों को ईसा का संदेश देते हुए शिक्षित बनाया

और गद्य में ईसाई साहित्य की रचना की। उनका कार्य इतना प्रभावशाली था कि यदि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा के अंतर्गत आर्थिक प्रतिबंध न होते तो अनेक हिन्दू, विशेष रूप से निम्न जातियों के हिन्दू, ईसाई धर्म में दीक्षित हो जाते। इसमें संदेह नहीं कि समाज की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा-संबंधी पतित अवस्था में ईसाई मिशनरी प्रगति का संदेश लेकर आए थे, किंतु वे यह भूल जाते थे कि, यद्यपि उस समय भारतीय धर्म की शोचनीय अवस्था होगई थी, तो भी उसका एक उदात्त और मानव-कल्याणकारी रूप था और भारतवासी बर्बर नहीं थे। इसी अज्ञानता के कारण वे हिंदू धर्म और आचार-विचारों की अनर्गल आलोचना भी किया करते थे। वास्तविक भारतीय आध्यात्मिकता और उसे प्रकट करने वाली भाषा समझने की शक्ति उनमें नहीं थी। राजनीतिक क्षेत्र में वे साम्राज्यवाद के पोषक थे। संभवतः वे भारतवासियों को अफ्रीका और न्यू ज़ीलैंड के निवासियों के समान समझ बैठे थे।

जिस समय मिशनरियों ने अपना कार्य प्रारंभ किया उस समय न तो बाइबिल का कोई अनुवाद था और न किसी अन्य प्रकार के ईसाई साहित्य का अस्तित्व था। यद्यपि बाइबिल मिशनरियों के लिए एक अनिवार्य साधन समझा जाता है, तो भी व्यावहारिक रूप में ऐसा सदैव नहीं रहा। मालाबार के सीरियन ईसाइयों का बाइबिल सीरियक भाषा में था जिसे डॉ० ब्यूकैनैन १८०६ में अपने साथ ले आए थे, किंतु इस बाइबिल का प्रयोग बहुत कम किया जाता था। रोमन कैथोलिक धर्म-प्रचारकों ने बाइबिल के अनुवाद की ओर उदासीनता ही प्रकट नहीं की, वरन् उनमें से कुछ लोगों ने तो उसके अनुवाद का विरोध तक किया। वास्तव में बाइबिल के अनुवाद की ओर सर्वप्रथम प्रोटेस्टैन्ट मिशनरियों का ध्यान गया। ज़ीगनबाल्ग कृत तामिल में बाइबिल का अनुवाद किसी भी भारतीय भाषा में किया गया सब से पहला अनुवाद माना जाता है। कहा जाता है उनके बाद शुल्ज़ ने संपूर्ण बाइबिल का अनुवाद हिंदुस्तानी में किया था। देश में बस जाने के तुरंत बाद ही प्रोटेस्टैंट मिशनरियों ने यहाँ की भाषाएँ सीखने का प्रयत्न किया। उनका विचार था कि जनता की भाषा में ही ईसा का सन्देश देने से समाज के प्रत्येक वर्ग में स्वस्थ विचारों का प्रचार होगा और उनमें ज्ञान का प्रकाश फैलेगा। उन्होंने सोचा था :

'...to put the Bible into the hands of the Indian people was the greatest service render-

ed them. It was realised that the Printed Word can go where no human being can go, that it remains with its message long after the human messenger has left; and through it, unhampered by the interpretations of man, God can and does speak in the queitness of the heart.'

इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि प्रत्येक धर्म-प्रचारक संस्था से संबंध रखने वाले ईसाई मिशनरियों ने बाइबिल के अनुवाद-कार्य को अपनी आयोजनाओं में सर्वप्रमुख स्थान दिया और बड़ी लगन के साथ उसे पूर्ण करने की चेष्टा की। इस दृष्टि से उनकी नीति ईस्ट इंडिया सरकार से भिन्न थी क्योंकि प्रारम्भ में वह बाइबिल के प्रचार के स्थान पर पूर्वीय विद्या के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान देना चाहती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में दो संस्थाओं के अन्तर्गत बाइबिल का अनुवाद-कार्य प्रारंभ हुआ। एक संस्था तो १८०० में स्थापित फ़ोर्ट विलियम कॉलेज थी। मार्क्विस वेलेज़ली मिशनों को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखते थे। श्रीरामपुर का डेनिश मिशन ऐसी दूसरी संस्था थी।

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के सरकारी विवरणों से ज्ञात होता है कि कॉलेज में बाइबिल का अनुवाद करने के लिए भी एक विभाग था जिसमें देश के विभिन्न भागों से बुलाए गए पंडित और मुंशी कार्य करते थे। १८०५ और १८०६ के बीच ब्राउन और ब्यूकैनैन, कोलब्रुक और विलियम हंटर ने बाइबिल के अपने-अपने हिन्दुस्तानी रूपान्तर प्रस्तुत किए थे।

भारतवर्ष की विभिन्न प्रधान भाषाओं और बोलियों में बाइबिल का अनुवाद करने की एक बृहत् आयोजना कैरे और उनके साथियों ने भी बनाई थी।[1] 'हिन्दी' से उनका तात्पर्य 'खड़ीबोली हिन्दी' का था। इन श्रीरामपुर मिशनरियों द्वारा प्रारंभ किया गया कार्य आगरा, इलाहाबाद तथा अन्य स्थानों के मिशनरियों ने आगे बढ़ाया। प्रधान-प्रधान भाषाओं के अनुसार

१—दे०, 'दि इंडियन ऐंटीक्वेरी' (जून, १९०३), में, 'दि अर्ली पब्लिकेशन्स ऑव दि सिरामपुर मिशनरीज़' शीर्षक लेख', पृ० २४१-२५४

उन्होंने देश को विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित किया, और प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक सहायक समिति नियुक्त की। भारतीय ईसाइयों द्वारा अँगरेज़ी बोधगम्य न होने के कारण भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद और भी आवश्यक था।[1] कैरे की अध्यक्षता में श्रीरामपुर मिशनरियों ने १८०७-११ में बाइबिल के न्यू टेस्टामेंट का हिन्दी में अनुवाद किया। अनुवाद-कार्य १८०७ में समाप्त हुआ था और १८०६-१८११ में वह पूरा छप कर तैयार हुआ। ओल्ड टेस्टामेंट (१८१३-१८१८) का बहुत बड़ा भाग बाद को अलग-अलग हिस्सों में प्रकाशित हुआ। किन्तु भाषा में अनेक अरबी-फ़ारसी शब्दों का मिश्रण होने के कारण कैरे का रूपान्तर आगरा और उसके आसपास के प्रदेश में स्वीकृत न हो सका था। तत्पश्चात् बापटिस्ट मिशनरी सोसायटी के चैम्बरलेन ने उसकी भाषा में आवश्यक संशोधन प्रस्तुत कर उसे फिर प्रकाशित किया। १८१० में सहारनपुर में नियुक्ति होने के बाद वे आगरे और फिर १८१४ में दिल्ली में कार्य करते रहे। १८१२-१८१८ में भी कैरे ने पाँच जिल्दों में बाइबिल का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया। १८५१ में कैरे कृत 'उत्पत्ति की पुस्तक'—और 'ऐक्सोडस' का कुछ अंश (ओल्ड टेस्टामेंट के अन्तर्गत) का संशोधित संस्करण कलकत्ते से प्रकाशित हुआ।

१८०५ में हेनरी मार्टिन (Henry Martyn) भारत के लिए रवाना हुए और यहाँ आने पर चार वर्ष के भीतर उन्होंने न्यू टेस्टामेंट का उर्दू अनुवाद पूर्ण कर डाला। उनका यह कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय समझा गया। उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्तर्गत चैपलेन का पद प्राप्त किया और वे पहले श्रीरामपुर के निकट किसी स्थान पर और तत्पश्चात् दीनापुर और कानपुर में रहे। जहाँ तक बाइबिल के हिन्दी और उर्दू अनुवादों से सम्बन्ध है उनका अनुवाद बाद के सभी अनुवादों का आधार माना जाता है। इसलिए वह चाहे निर्दोष भले ही न हो, किन्तु उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। न्यू टेस्टामेंट के हिन्दी रूपान्तर वर्षों तक उनके उर्दू संस्करण के आधार पर ही प्रकाशित होते रहे। आगरे के मुसलमानी स्कूलों में उनके द्वारा अनूदित उर्दू न्यू टेस्टामेंट पाठ्य-पुस्तक के रूप में भी पढ़ाया जाता था। उन्होंने स्वयं भाषा पर अधिकार प्राप्त किया और साथ ही अनुवाद करते समय दिल्ली के एक सैयद, लखनऊ के एक कवि, पटना के तीन या चार साहित्यिकों, बाबिर

१—रेजीनाल्ड हेबर: 'नैरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्रॉविन्सेज़ ऑव इंडिया...,' जि० १, १८२८, पृ० ३३७

अली,साबत और मिर्ज़ा फ़ितरत उनके प्रधान सहायक थे। विलियम हंटर वाले अनुवाद का भी प्रधान उत्तरदायित्व मिर्ज़ा फ़ितरत पर था। हेनरी मार्टिन ने अथवा उनकी सहायता करते समय मिर्ज़ा फ़ितरत ने विलियम हंटर वाले अनुवाद का कितना और कहाँ तक उपयोग किया, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। न्यू टेस्टामेंट की पहली पांडुलिपि मार्च, १८०८ में तैयार हो गई थी और, आवश्यक संशोधनों के बाद, वह १८१४ में ब्रिटिश ऐंड फौरेन बाइबिल सोसायटी के निमित्त अरबी अक्षरों में श्रीरामपुर प्रेस से प्रकाशित हुआ। कहा जाता है कि मार्च, १८१२ में प्रेस में आग लग जाने के कारण उसके सर्वप्रथम मुद्रित पृष्ठ नष्ट हो गए थे।

हेनरी मार्टिन के उर्दू न्यू टेस्टामेंट (१८१४-१५) का सर्वप्रथम देवनागरी रूपान्तर १८१७ में प्रकाशित हुआ। किन्तु केवल लिपि-परिवर्तन ही यथेष्ट नहीं था। रूपान्तर निस्सन्देह अच्छा हुआ था, किन्तु उसमें अरबी-फ़ारसी के इतने अधिक शब्द थे कि ईसाई धर्म में दीक्षित होने वाले वे व्यक्ति जो उच्चश्रेणी के मुसलमान नहीं थे उसे समझने में अत्यधिक कठिनाई का अनुभव करते थे। इसलिए चुनार की चर्च मिशनरी सोसायटी के विलियम बाउले (William Bowley) नामक ऐंग्लो-इन्डियन मिशनरी ने, कलकत्ता ऑग्ज़िलियरी बाइबिल सोसायटी के संरक्षण में, हेनरी मार्टिन के उर्दू न्यू टेस्टामेंट को बनारस तथा गाज़ीपुर के निकटवर्ती भूमिभागों में बोधगम्य बनाने की दृष्टि से अरबी-फ़ारसी शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर उसका 'हिन्दुई भाषा' में रूपान्तर किया। 'मती', 'मरकस' और 'लूक' नामक तीन सुसमाचार (Gospels) कलकत्ता ऑग्ज़िलियरी बाइबिल सोसायटी द्वारा १८१६ में प्रकाशित हुए। तत्पश्चात् उन्होंने मार्टिन वाले संस्करण से 'यूहन्ना' (St. John's Gospel) का रूपान्तर किया जो उसी सोसायटी द्वारा १८२० में प्रकाशित हुआ। फिर मार्टिन वाले संस्करण पर आधारित संपूर्ण न्यू टेस्टामेंट 'जगततारक प्रभु ईसा मसीह का नया नियम—मंगलसमाचार' के नाम से १८२६ में चर्च मिशन प्रेस से छप कर निकला। इस प्रका[र] [बाउ]ले द्वारा प्रस्तुत किए गए रूपान्तरों के बाद मार्टिन के उर्दू अनुवाद के आधा[र] पर आगे के हिन्दी रूपान्तर निर्मित हुए और बाउले हिन्दी बाइबिल के प्रारंभि[क] निर्माताओं में थे।

बाउले द्वारा 'धर्म पुस्तक' के नाम से ओल्ड टेस्टामेंट का भी 'हिन्[दुई] भाषा' में अनुवाद दो भागों में कलकत्ता ऑग्ज़िलियरी बाइबिल सोसायटी

संरक्षण में प्रकाशित हुआ—पहला भाग (Genesis to Kings)१८३४ में और दूसरा भाग (I Chronicles to Malachi)१८३५ में। यह अनुवाद किसी अन्य भारतीय भाषा के आधार पर नहीं वरन् अँगरेज़ी के प्रमाणित संस्करण के आधार पर किया गया था, क्योंकि बाउले हेब्रू या ग्रीक से अनभिज्ञ थे। स्वतंत्र अनुवाद होने के कारण यह 'धर्म पुस्तक' (ओल्ड टेस्टामेंट) अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। बाउले ने १८३८ में कलकत्ता ऑग्ज़िलियरी बाइबिल सोसायटी के संरक्षण में ही मार्टिन के उर्दू संस्करण पर आधारित न्यू टेस्टामेंट का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया। इस बार वह श्रीरामपुर प्रेस में छपा। भाषा और वाक्य-विन्यास सम्बन्धी थोड़े से साधारण परिवर्तनों को छोड़ कर १८२६ और १८३८ के संस्करणों की भाषा लगभग समान है :

१८२६—

'लोन अच्छा है परंतु यदि लोन अपनी लोनाई को खोवे तो तुम उसको किस्से स्वादित करोगे आपमें लोन रक्खो और आपुस में मिले रहो।'

× × ×

'आरंभ में वचनथा और वुह वचन ईश्वर के संगथा और वुह वचन ईश्वर था।'

× × ×

'सब कुछ उस्से रचागया और उस बिना कुछ नरचागया जो रचागया।'

१८३८—

'लोन अच्छा है परन्तु यदि लोन का स्वाद जाता रहे तो उस को किस्से स्वादित करोगे आप में लोन रक्खो और आपुस में मेल रक्खो।'

× × ×

'आरंभ में शब्द था और वुह शब्द ईश्वर के संग था और वुह शब्द ईश्वर था।'

× × ×

'सबकुछ उस्से रचागया और रचित में तनिक बस्तु उस बिना नहीं रचीगई।'

न्यू टेस्टामेन्ट का एक और अनुवाद 'धर्मपुस्तकका अंत भाग' के नाम से १८४८ में प्रकाशित हुआ। मूलतः यह कार्य बापटिस्ट मिशन के विलियम

येट्स (William Yates) ने १८४४ में प्रारंभ किया था और उसका कुछ अंश प्रकाशित भी कर दिया था। बीच में मृत्यु हो जाने के कारण उनका कार्य अपूर्ण ही रह गया। उनके बाद बापटिस्ट मिशन के ही मिशनरी ऐन्ड्रू लेस्ली (Andrew Leslie) ने उसे पूर्ण कर अपने मिशन द्वारा १८४८ में प्रकाशित कराया था। उसका एक दूसरा संस्करण १८५० में निकला। तत्पश्चात् बापटिस्ट मिशनरी सोसायटी के जॉन पारसन्स (John Parsons) और हिन्दी भाषा तथा काव्य-साहित्य से पूर्णतया परिचित जॉन क्रिश्चियन ने १८५७ में उसका संशोधन कार्य प्रारंभ कर १८६८ में उसे प्रकाशित किया।

इसी बीच में १८४५ में नॉर्थ इंडिया बाइबिल सोसायटी की स्थापना आगरे में हुई। १८५६ में यह सोसायटी इलाहाबाद चली आई थी। सबसे पहले उसने एक संशोधक समिति की नियुक्ति की। बनारस की चर्च मिशनरी सोसायटी के एफ़० ई० श्नाइडर (F.E. Schneider), जो हिन्दी में बार्थ (Barth) कृत 'Scripture History' के रचयिता कहे जाते हैं, उसमें संपादक बनाए गए। सुसमाचार पहले तो अलग-अलग छपे और फिर संपूर्ण न्यू टेस्टामेन्ट 'मुक्तिदाता प्रभु यसू मसीह का नया नियम—मंगल समाचार' के नाम से १८४८ में शुरू होकर १८४९ में सिकन्दरा प्रेस, आगरा से मुद्रित हुआ। उसका अनुवाद मूल ग्रीक से किया गया था और उसमें तथा १८३८ के संस्करण में बहुत-कुछ भाषा-साम्य है। कुछ पाठ-भेद के अतिरिक्त एक अन्तर यह है कि १८३८ के संस्करण में जो खड़ीबोली रूप पाए जाते हैं उनमें से अनेक प्रस्तुत संस्करण में व्रजभाषा रूप धारण कर लेते हैं, जैसे, 'मनुष्य' के लिए 'मनुष्यन', 'शिष्यों' के लिए 'शिष्यन', 'बातों' के लिए 'बातन' आदि। संभवतः आगरे से प्रकाशित होने के कारण ऐसा हुआ हो।

उपर्युक्त समिति ने ओल्ड टेस्टामेन्ट का संशोधन-कार्य भी हाथ में लिया और १८५२ में पहला भाग और १८५५ में दूसरा भाग अमेरिकन प्रेसबाइटेरियन मिशन के जोसेफ़ ओवेन (Joseph Owen) के संपादकत्व में प्रकाशित किया। सिपाही विद्रोह के बाद उन्होंने ओल्ड टेस्टामेन्ट का फिर से संशोधन किया और क्रमशः १८६६ और १८६९ में उसके दोनों भाग प्रकाशित किए।

नॉर्थ इंडिया बाइबिल सोसायटी की हिन्दी उप-समिति (मंत्री, जोसेफ़

ओपेन) ने 'धर्म पुस्तक का पुराना नियम' (भाग १) के नाम से ओल्ड टेस्टामेन्ट का एक और रूपान्तर प्रेसबाइटीरियन मिशन प्रेस, इलाहाबाद से १८५१ में प्रकाशित किया। इसका आधार बाउले का पुराना अनुवाद है। इसकी तुलना में भाषा सरल की गई थी और मूल के अधिकाधिक निकट रखने की दृष्टि से इसमें अनेक परिवर्तन किए गए। भाषा को अधिक से अधिक पूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है।

इन सभी संस्करणों के नवीन संशोधित संस्करण उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में भी प्रकाशित होते गए।

हिन्दी बाइबिल के लगभग सभी प्रधान संस्करण उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ में से भाषा के उदाहरण-स्वरूप कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं :

'फिर उसने अपने शागिर्दों से कहा लिहाल (?) मैं तुमसे कहता हूँ कि अपनी जान के लिए अंदेशा न करो कि हम क्या खाएँगे और न तन के लिए कि हम क्या पहनेंगे।

'क्यूं कि जान खुरिश से अफ़्ज़ल है और बदन पोशिश से

देखो कौवों को कि वे न बोते न दिरौ करते हैं जो खलियान और खत्ते नहीं रखते लेकिन खुदा उन्हें खिलाता है तुम परंदों से कित्ते जियादः बिहतर हो

और कौन तुम में अंदेशा करने से अपने क़द को एक हाथ बढ़ा सकता है।'[1]

× × ×

'उसबाद शेबाके रानीने शलमनके कीर्तिको बात सुनके शलमनको सखत पूछने सें परीक्षा करनेको बहुत बड़ो जमाअत वा मसाला वा बहुत सा सोना वा जवाहरे ढोननेहारे ऊठोंको साथ लेके यिरुशालममें आई और शलमन के पास आयके अपाने दिलके सारे मादेमें उसके साथ बातचीत किआ। और उसकी सारी पूछी बात शलमन

१—मिर्ज़ा फ़ितरत और डब्ल्यू० हन्टर : 'न्यू टेस्टामेंट' (हिन्दुस्तानी), १८०५, हिन्दुस्तानी प्रेस, कलकत्ता, पृ० २८७

ने उसे कहा शलमन ने जो उसे कहा नहीं ऐसा कोई वास्ते उससें पोशीदा न था।'[1]

× × ×

'यिहुह्का सेवक् मोशह्के मौत्के बाद् ऐसा हुआ नून्के बेटे यहोशुआ मोशह्के सेवक्को यिहुह्ने यिह् बात् कही। मेरा सेवक मोशह् मूआहै इस्वास्ते अब् तूं जो देश मैंने उन्होंकी यानें यिशरएल्के फरजंदोंको देताहुँ तूं वा ये सब् आदमी यरदन पार् होके उसदेशमें जाव। जैसा मैंने मोशह्को कहाथा तैसा जो हरेक् जगेके ऊपर् तेरे पैरका तलवा गिरेगा वह् हरेक् जगे मैंने तुम्होंको दिआहै। यिह् जंगल वा लवानोन्सें बडी नदी फराततक खितियोंका सब् देश वा सूर्य्यअस्त जानेके जगेके तरफ बडे समुद्रतलक तुम्होंकी सरहद होगी। तेरे जिंदगीके सारे दिन कोई तेरे साम्ने खडा होने नहीं सकेगा। मैं जैसा मोशह्के सांथ था तैसा तेरे सांथ रहुंगा मैं तेरे पास ढीला नहीं होवूंगा और तुझे नहीं छोडूंगा।...'[2]

'उसने उन्हें एक और तमसील गुजरानी और कहा कि आसमान की बादशाहत राई के दाने से मुशावह है जिसे एक शख्स ने लेके अपने खेत में बोया। और वह सब

१—श्रीरामपुर मिशनरीज़ : 'होली बाइबिल', जि० २, १८१५, श्रीरामपुर मिशन प्रेस, पृ० ५६२

२—श्रीरामपुर मिशनरीज़ : 'ओल्ड टेस्टामेंट' (Joshua to Esther), यहोशुआ के [illegible] पोथी, १ पहिला पर्व्व, १८१७ (लगभग), पृ० १

श्रीरामपुर मिशनरीज़ द्वारा प्रकाशित 'होली बाइबिल' ('धर्म पुस्तक'), जि० ४, Prophetical Books, ('मूल जुबानसें हिन्दीमें तरजमा भया'), चौथा वर्ग नबिकी [illegible], [illegible] नबिकी [illegible], ४ चौथा पर्व्व, १८१८ (अँगरेज़ी में तिथि १८२१ दी गई है), श्रीरामपुर मिशन प्रेस, तथा

'होली बाइबिल' ('धर्म पुस्तक'), जि० ५, अंतभाग ('यूनानी जुबानसें हिंदीमें [illegible]'), 'यानें प्रभु यिशु ख्रीष्टके मत्तिका मंगल समाचार', पाओल फिरिस्ताका [illegible] १ पहिला पर्व्व, १८१८, श्रीरामपुर मिशन प्रेस, में 'मुतसद्दी', [illegible], [illegible] जैसे विदेशी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

तुख्मों (?) छोटो है पर जब यिह उगा तो सब तरकारियों से बड़ा होता है और ऐसा दरख़्त होता है कि हवा के परिन्दे आके उसकी डालियों पर बसेरा करते हैं।'[1]

× × ×

'और जब वे चलीजातीथीं देखो कि कई उन रखवालोंमें से नगरमें आये और प्रधान याजकों को समस्त समाचारों को जो बीतगयाथा। और जब उन्होंने प्राचीनोंके संग एकठे होके परामर्ष किया वे उन सिपाहियोंको बहुत रुपए देके कहा। कि कहियो कि रातको जब हम सोगयेथे उसके शिष्य आके उसे चुरालेगये। और यदि यह अध्यक्ष के कानलों पहुंचे हम उसे समझाके तुम्हें बचालेंगे। सो उन्होंने रुपए लिये और जैसा सिखागयेथे वैसा किया और यह बात आजलों यहूदियोंमें चर्चा किईजाती है। तब वे ग्यारह शिष्य जलीलमें उस पहाड़को गये जहां ईसाने उनसे ठहरायाथा। और जब उन्होंने उसे देखा उसकी स्तुति किई परंतु किसी किसीको संदेहथा। और ईसा उनके समीप आया और यह कहके बोला कि स्वर्ग और पृथिवी पर समस्त पराक्रम मुझे दियागयाहै।

इसकारण तुम जाओ और समस्त लोगोंको पिता और पुत्र और धर्मात्माकेनामसे स्नान करके शिष्य करो और उन्हें उपदेश करो कि जो कुछ मैंने तुम्हें आज्ञा किईहै वे उनसभोंको पालन करें और देखो मैं सर्बदा जगतके समाप्तिलों तुम्हारे संग हों। आमीन ॥'[2]

१—हेनरी मार्टिन : न्यू टेस्टामेंट, १८१७, हिन्दुस्तानी प्रेस, कलकत्ता, पृ० ४६

२—रेव० विलियम बाउले : 'मंगलसमाचार 'मत्ती रचित', १ पहिला पर्ब्ब—हेनरी मार्टिन के उर्दू अनुवाद से हिन्दुई में किया गया, १८१९, कलकत्ता ऑग्ज़िलियरी बाइबिल सोसायटी द्वारा प्रकाशित। दे०, इसी सोसायटी द्वारा संपूर्ण न्यू टेस्टामेन्ट ('जगतारक प्रभु ईसा मसीह का नया नियम'), १८२६, चर्च मिशन प्रेस, कलकत्ता, पृ० ७८-७९

१८२० में 'यूहन्ना' के बाद बाउले कृत हेनरी मार्टिन के उर्दू अनुवाद के शेष भाग का हिन्दुई रूपान्तर (१८२६) 'यूहन्ना दैव्य का प्रकाशित' है

× × ×

'फिर परमेश्वर मूसा से कहिके बोला। कि इसराईल के संतानों को कहिके बोल कि जब तुम अपने निवास के देश में पहुंचो जो मैं तुम्हें देउंगा। और आग से परमेश्वर के लिये होम की भेंट चढ़ाओ अथवा मनौती पूरी करने का बलिदान अथवा वांछित भेंट अथवा ठहरायेहुए पर्व्वो की भेंट परमेश्वर के लिये आनंद का सुगंध लेहंड़े अथवा झुंड से चढ़ाओ। तब वुह जो अपनी भेंट परमेश्वर के लिये चढ़ाता है भोजन की भेंट पिसान का दसवां भाग सवा सेर तेल से मिला हुआ भेंट का बलिदान लावे। एक मेम्ना के कारण होम की भेंट अथवा बलिदान पीने की भेंट के लिये सवा सेर द्राक्षारस सिद्ध कीजियो। अथवा मेढ़े के लिये मांस की भेंट को दो दसवां भाग पिसान पौने दो सेर तेल से मिलाहुआ सिद्ध कीजियो। और पीने की भेंट के लिये पौने दो सेर द्राक्षारस परमेश्वर के सुगंध के लिये चढ़ाइयो। और जब तू होम की भेंट के लिये अथवा मनौती पूरी करने को बलिदान के लिये अथवा कुशल की भेंट परमेश्वर के लिये बैल सिद्ध करो। तब वुह बैल के साथ भोजन की भेंट तीन दसवां भाग पिसान अढ़ाई सेर तेल से मिला हुआ लावे।'...[1]

× × ×

'नया एक हुकुम मैं तुम्हे देता हूँ कि तुम एक दूसरे को प्यार करो जैसा मैंने तुम्हे प्यार किया है तैसा तुम एक दूसरे से प्यार करो। जो तुम आपसमें प्यार करो तो इससे सब कोई जानेंगे कि तुम मेरे शिष्य हो।'[1]

× × ×

'ज्योतिपियों का पूरवसे यिरुशालममें यीशुके खोजके लिये आना।
जब हेरोद् राजा के समयमें यहूदा देशके बैत्लिहिम् नगरमें यीशुका जन्म हुआ, तब कितने ऐक ज्योतिपियोंने पूर्व दिशासे यिरुशालम नगरमें आयके कहा; कि यहूदियों का राजा जिसने जन्म लिया है वह कहां है? क्योंकि हमने पूरब दिशा में रहके उसका तारा देखी है, और उसको प्रणाम कर्ने आए हैं। तब हेरोद राजा और उसके संगी यिरूशालम नगर निवासी सब सुनके घबराये। उसने सब प्रधान पुरोहित औ अध्यापकोंको बुलाके पूछा, खीष्ट कहां जन्मेगा? उन्होंने उससे कहा, यहूदा देशके बैत्लिहिम नगरमें, क्योंकि भविष्यद्वक्ताने ऐसा लिखा है। हे यहूदा देशकी बैत्लिहिम नगरी, यहूदा देशकी सकल राजधानी में तू सबसे छोटी नहीं है, क्योंकि तुझमें से एक राजा उत्पन्न होगा, जो मेरे इस्रायेल लोगोंको पालन करेगा।'[2]

× × ×

'और जब यसू हेरोदेस राजा के समय में यहूदाह के बैतलहम में उत्पन्न हुआ तो देखो कई ज्ञानियों ने पूरब से यरूसलम में आके कहा। कि यहूदियों का राजा जो उत्पन्न

१—श्रीरामपुर मिशनरीज़ : 'न्यू टेस्टामेन्ट', १८३७, श्रीरामपुर, पृ० २०९

२—कलकत्ता बापटिस्ट मिशनरीज़ (विलियम येट्स और ऐंड्रू लेसली) : 'धर्मपुस्तक का अंतभाग। अर्थात् प्रभु यीशु खीष्ट के चारि सुसमाचार...'मथि लिखित सुसमाचार, दूसरा अध्याय, यूनानी (ग्रीक) भाषा से, बाइबिल ट्रान्सलेशन सोसायटी और दि अमेरिकन ऐंड फॉरेन बाइबिल सोसायटी के लिए, १८४४, बापटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, पृ० १-२ (इसके १८४८ और १८५० में भी संस्करण प्रकाशित हुए)

हुआ सो कहां है ? क्योंकि हम ने पूरब में उसके तारे को देखा है और उसे पूजने को आये हैं। जब हेरोदेस राजा ने सुना वुह और सारे यरूसलम उसके संग व्याकुल हुए। और जब उसने लोगों के सब प्रधान याजकों और अध्यापकों को एकट्ठे किया उसने उनसे पूछा कि मसीह कहां उत्पन्न होगा ? । तब उन्हों ने उसे कहा कि यहूदाह के बैतलहम में क्योंकि भविष्यद्वक्ता ने ऐसा लिखा है।"[1]

× × ×

'..... हर विहान को हारून उस पर सुगंध द्रव्य का धूप जलावे जब वुह दीपकों को सुधारे वुह उस पर धूप जलावे ॥ ८। और जब हारून संध्या के समय में दीपक को बारे वुह उस पर तुम्हारी समस्त पीढ़ियों में परमेश्वर के आगे धूप जलावे ॥ ९। तुम उस पर ऊपरी धूप और होम का बलिदान और मांस की भेंट न चढ़ाइयो और उस पर पीने की भेंट न चढ़ाइयो ॥ १०। और हारून बरस भर में एक बार उस के सींगों पर पाप की भेंट के प्रायश्चित्त के लोहू से प्रायश्चित्त करे तुम्हारे समस्त पीढ़ियों में बरस में एक बार उस पर प्रायश्चित्त करे यह परमेश्वर के लिये अति पवित्र है।'...[2]

उपर्युक्त अवतरणों से ईसाई धर्म-प्रचारकों की भाषा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव में बाइबिल का हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद करते समय उनका प्रधान उद्देश्य ईसाई धर्म में दीक्षित होने वाले भारतवासियों के सामान्य समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। इस कार्य में यद्यपि भारतीय ईसाइयों की सहायता भी ली जाती थी, किन्तु अनुवाद करने का प्रधान भार विदेशियों पर ही था। आगे चल कर भारतीय

ईसाई ज्यों-ज्यों प्रयत्नशील होते गए, त्यों-त्यों उनकी सफलता की मात्रा भी बढ़ती गई। विदेशी धर्म-प्रचारक तो इस दिन की प्रतीक्षा लगाए बैठे थे जब कि भारतीय ईसाई ग्रीक और हिब्रू भाषाओं का अध्ययन कर अपनी-अपनी भाषाओं के ज्ञान और रुचि के अनुसार विदेशियों द्वारा किए गए अनुवादों की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध, उत्तम और पूर्ण अनुवाद करें। स्वयं भारतीय विद्वानों द्वारा किया गया अनुवाद ही ठेठ भारतीय चर्च का प्रधान अंग बन सकता था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में अनुवाद-कार्य अधिकतर विदेशियों द्वारा ही संपन्न हुआ। साथ ही प्रत्येक नवीन संस्करण के लिए संशोधन-कार्य भी विदेशियों ने किया। हिन्दी बाइबिल का संशोधन-कार्य या तो पाठकों की सुविधा की दृष्टि से किया जाता था अथवा पिछले संस्करण का दोषपूर्ण पाठ सुधारने की दृष्टि से। किन्तु नवीन संस्करणों की भी आलोचना हुए बिना न रहती थी, अर्थात् उनमें भी दोष रह जाते थे और उनके साथ-साथ पिछले संस्करण भी बराबर प्रचलित रहते थे। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म-प्रचारक भाषा के उत्तरोत्तर सुधार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। ऐसा करते समय कहीं तो वे सफल हो जाते थे, कहीं असफल, और यदि कहीं वे अनावश्यक सुधार कर बैठते थे तो कहीं शुद्ध वाक्य या शब्द-विन्यास भी अशुद्ध हो जाता था। १८२८ के पूर्वोल्लिखित संस्करण की प्रस्तुत लेखक द्वारा देखी गई प्रति में संशोधन-कार्य के अनेक रोचक उदाहरण पाए जाते हैं जिनसे उनके भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। देशी ईसाइयों की सहायता से अनुवाद करने पर भी अनेक अशुद्धियाँ रह जाती थीं। वास्तव में विदेशी अनुवादकों के लिए एक सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर था और साथ ही थोड़ी-थोड़ी दूर पर भाषा का रूप बदल जाता था। इसके अतिरिक्त एक ओर तो संस्कृत शब्द और फ़ारसी-अरबी शब्द में से कौन-सा ग्रहण किया जाय कौन-सा ग्रहण न किया जाय, और दूसरी ओर संस्कृत के ही दो समानार्थवाची शब्दों में से कौन-सा उपयुक्त ठहराया जाय, यह एक कठिन समस्या उनके सामने रहती थी। यदि एक प्रकार की शब्दावली और शाब्दिक रूपों का प्रचार एक स्थान पर था तो उससे भिन्न शब्दावली और शाब्दिक रूपों का प्रचार दूसरे स्थान पर मिलता था। यह बात भी उन्हें उलझन में डाल देती थी। अनुवादकों का ध्यान एक प्रदेश के सर्वाधिक प्रचलित शब्दों का प्रयोग करने पर लगा रहता था। ऐसा करते समय वे ग्रामीण शब्दों और साहित्यिक शब्दों में अन्तर न कर पाते थे। कभी-कभी ये विदेशी अनुवादक

पंडितों की सहायता भी ले लिया करते थे। ये पंडित संस्कृत के तो विद्वान् होते थे, किन्तु उनका भाषा-संबंधी ज्ञान अधकचरा रहता था। हो सकता है ईसाई पादरियों की भाषा-शैली पर इन पंडितों का प्रभाव भी पड़ा हो। विदेशी होने के कारण सरल किन्तु व्याकरण-संमत और मुहावरेदार भाषा लिखना और उसकी सभी प्रकार की पेचीदगियाँ समझना उनके लिए दुस्तर कार्य था—विशेष रूप से उस समय जब कि उनके सामने हिन्दी गद्य का कोई आदर्श रूप नहीं था। यद्यपि भारतीय लेखक गद्य-ग्रंथों का निर्माण पहले ही कर चुके थे, किन्तु अभी तक भाषा का स्वरूप स्थिर न हो पाया था। खड़ी-बोली गद्य में व्रजभाषा तथा अन्य बोलियों के शब्दों और काव्यात्मक रूपों और अभिव्यंजनाओं का प्रयोग स्वयं भारतीय लेखकों की भाषा में हुआ था, क्योंकि गद्य की भाषा अभी तक काव्य की भाषा से बहुत अधिक प्रभावित थी। विदेशी अनुवादकों ने गम्भीर शैली या सरल शैली या अन्य किसी प्रकार की शैली के बारे में भी चिंता न की। धर्म-पुस्तक के दिव्य-शब्दों का अधिक से अधिक और शीघ्रातिशीघ्र प्रचार करना उनका मुख्य ध्येय था। एक लेखक ने इरैसमुस (Erasmus) के शब्द उद्धृत करते हुए इस ध्येय के संबंध में लिखा है :

> 'I wish that even the weakest woman should read the Gospel—should read the Epistles of Paul. And I wish these were translated into all languages, so that they might be read and understood, not only by Scots and Irishmen, but also by Turks and Saracens. I long that the husbandman should sing portions of them to himself as he follows the plough, and that the weaver should hum them to the tune of his shuttle, that the traveller should beguile with these stories the tedium of his journey'.

किन्तु यह कहना कि ईसाइयों के विभिन्न धर्म-समाजों द्वारा प्रकाशित बाइबिल के अनुवादों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों ने गद्य-क्षेत्र में मार्ग-प्रदर्शक का कार्य किया, ठीक न होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईसाई पादरियों की अत्युच्च साहित्यिक महत्वाकांक्षाएँ थीं और उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। धर्म-प्रचार करने के लिए उन्होंने

'ईश्वरोक्तशास्त्रधारा' (१८४६),[१] ? : 'सतमत निरूपण' (१८४८, हिन्दुस्तानी से रूपान्तरित),[२] जे० ए० शरमैन : 'दि प्रॉपर नेम्स इन दि ओल्ड ऐंड न्यू टेस्टामेन्ट्स, रेन्डर्ड इन्टू उर्दू ऐंड हिन्दी' (१८५०),[३] ? : 'फूलों का हार' (१८५०),[४] छठा भाग, ? : 'पॉल का चरित्र' (१८५२),[५] ? : 'वेदान्तमत विचार' (१८५३),[६] जे० एच० बडेन (Budden) कृत 'मुमूक्ष वृत्तांत' या 'एक हिन्दू यात्री का वृत्तांत' (१८५४),[७] ? : 'श्री येसु क्रिस्ट चरित्र दर्पण' (१८५६),[८] और ? : 'दुःख जनितं सुखोदयं, अर्थात् हैज़ा रोगादि सम्पादित भय विस्मय च निवृत्त' (१८५६)[९] आदि गद्य या पद्य में रचित पुस्तकों की भाषा भी बाइबिल की भाषा से भिन्न नहीं है :

'१ पहीला गीत

जो मनुष्य पापीओं के मत पर नहीं
चलता और अपराधियों के पथ पर खड़ा
नहीं रहता और नीनदकों के आसन पर
नहीं बैठता सो धन है। परन्तु वुह पर
मेश.वर की वे.वसथा में मगन हैं और उस
की वे.वसथ में रात दीन धेआन करता
है। .वुह जल की धारा के पास लगाए
हुए पेड़ के समान होगा जो अपनी रीत

'दोहा-चोपई

जो तुम्ह पर करै प्रेम अधिकाया
और इच्छा हेत देत मन भाया।
कौन लाभ यामें प्रभु केरा
जन हित जानि करै मन सेरा।
केवल अपने भ्रात निकरि है
औरनि सें कछु अधिक अनुसरि है।
पटवारी भी ऐसें करि है
जाति कुटुंब भाव मन धरि है।
सर्गवासी प्रभु पिता तुम्हारे
है प्रसिद्ध जैसे गुणसारे
तुम भी अपनी चाल सें भाई
वनो सिद्ध वैसें बुध लाई।'[1]

× × ×

'उन्हीं दिनों में जब ईश्वर अपने शास्त्र का प्रकाश करता था वे लोग आज्ञा के विरुद्ध चलके सोने के वछरू वनाके पूजने लगे। तब परमेश्वर उनपर क्रुद्ध हुआ और उसी दिनमें उनमेंसे तीन सहस्र मारे गये। तब उनके अविश्वास का यह दंड ठहराया गया कि वे अरव के निर्जल देशमें फिरते रहें औ चालीस वरस तक कनान देश में जाने न पावे। पश्चात् अनेक अद्भुत कर्मों से अपने माहात्म्यका प्रकाश करके परमेश्वर ने उनको उसी देश में वसाया। और उनके हाथ से वहां के दुष्ट निवासियों को मरवाया। तब वह देश उनके बारहों वचोंको बंट गया और वे वहां रहने लगे।'[2]

पीछे इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि कैरे के नेतृत्व में श्रीरामपुर मिशनरियों ने भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओं में न्यू टेस्टामेन्ट प्रकाशित करने की आयोजना तैयार की थी। हिन्दी की ब्रज, अवधी, बघेली आदि बोलियों में उन्होंने उसे प्रकाशित भी किया। यही कार्य १८०४ में स्थापित ब्रिटिश ऐंड फॉरेन बाइबिल सोसायटी ने हाथ में लिया। प्रथम श्रीरामपुर से हिन्दी की विविध बोलियों में प्रकाशित न्यू टेस्टामेन्ट से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

बघेलखंडी (१८२१) --

> 'दूसरो एकठडवा दिष्टांतु वाने वाऊनके लिगां निकासो वा कहो कि सरगुको राजु एकठड़वा राईसो दाना के अेसे कि जो वाह मनुष्य नें लवो वा अपने खेतुमों ववो।

कि सो सबरो बीजनुतें नान्हों होतु लेकिनु जबै बढ़ै बाढ़ो
तबै बड़ो सबरो सागनुके बीचां बड़ो है या ऐसो पेड़ो भी
होय जातु है कि अकासु को चिरैया आवतु हैं या याके डगाई-
पुपै (?) रहतु हैं।'[1]

कन्नौजी (१८२१)—

'राजन याकु दिष्टान्तु ओहि उनकुनके तीर निकारो या
कह्यो कि स्वरगपनार राजु याकु दाना सेरसौंकि ऐस अकि
जौनु कोई मनई लीनक या अपने कुयानमेंहौं घलो। अकि
जौनु सेगरे बीजनतें छोटो हुत अकिघाल जब ओह बढ़ो तभे
ओह सेगरे सागनके सागमेंहौं बड़ो आय या ऐस रुखौ
ह जात आय अकि आकासके चिरैआँ ओनी आंज या
ओहिको डेरैअन पवहौं रहत आँय।'[2]

कोसली (१८२२)—

'दूसर एक परथाव ऊ ओनहनके लग निकारेसि या
कहेसि कि स्वरगकर राज एक दाना सरसोंकी नांई कि जे
केऊ मनई लिहेसि या अपने खेतमहँ बोएसि कि जे सब
बीअनसें नान्ह सांचु पै जब ऊ बाढ़ा तब ऊ सब सागन के
मधमहँ बड़ा अहै या अस पेड़ो होइ जात अहै कि आकाशके
चिरई आवत अहैं या ओहको डारनपर रहत अहैं।'[3]

श्रीरामपुर मिशनरियों ने न्यू टेस्टामेंट का कुछ अंश भारत की अन्य अनेक बोलियों में भी प्रकाशित किया, जैसे, उज्जैनी (१८११ और १८२१), मागधी (१८१८), भटनेरी (१८१८-१८२४), कुमायूँनी (१८१६), श्रीनगरी (१८१६), पल्प (१८२०), डोंगरा (१८२१); हड़ौती (१८२१), नेपाली (१८२१) आदि। उनका प्रधान उद्देश्य ईश्वरीय शब्द को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाना था। उन्होंने बाइबिल को सबसे सस्ता और सुलभ ग्रन्थ बना कर 'मानव-सौहार्द' बढ़ाने की चेष्टा की। इसी उद्देश्य से प्रेरित हो बाइबिल सोसायटी ने भी उसे हिन्दी की अथवा हिन्दी से संबंधित विविध बोलियों में प्रकाशित

किया। बाइबिल सोसायटी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों से भाषा-संबंधी कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

जयपुरी (१८१५) :

'हे स्वर्गमं रवाहालो म्हाको बाप थारो नांव पवित्र होव। थार राज आव। थारो मर्जीमाफक स्वर्गमं जस्या तस्या जगन-कमाहि कर्यो जाव।' Mt. vi. 9pt. 10

मेवाड़ी या उदयपुरी (१८१५ ?) :

'हे स्वर्गमं रेवावालाम्हांहरा बापजी तांहरो नांव निर्मलो होयकै। तांहरो राज आवै। तांहरी जमावातर स्वर्गमं जस्या तस्या संसारमें कीयो॥' Mt. vi. 9pt. 10

अवधी या कोसली (१८२० ?) :

'हे सरगमहं रहवेआ हमरेन के बाप तोहार नाम पवित्र होउ। तोहार राज आवै। तोहरे मनमन्ता सरगमहँ जस तस संसारमहँ किहा जाइ।' Mt. vi. 9pt.

बीकानेरी (१८२०) :

'क्योंस ईश्वर संसारसुं इसो प्यार कर्यो कें उं आपका एक उपज्योडा डावडाने दीनों कें जको चावे सो लोग उंकें उपर प्रतीत करेंल उंको पोज न जाय लेर अनंत आ उपी पायी।'

बघेली (? बुन्देली) (१८२१) :

'काहेतें ईश्वरनें संसारुकों असो प्यारु करो कि वाने अपुनो एकु उत्पनु मोडाकों दवो कि जो एकेकु मनुष्य वापैं विश्वासु करतुहें वहे नाशु नाहों होयहे लेकिनु अपारु-जीतवु पाहें।'

कनौजी (१८२१) :

'कसकी ईश्वर जस संसारकैहाँ पियारु कीन्ह अकि ओहिं अपने याक उपजे ढ्वाटाकैहाँ दीन्ह अकि जेइ हरियाक मनई ओहिपरिहाँ विशुआस करत आज ओहु नहशु न होइ अक्याल अनगंतिन जिउरिआ पावैं।'

मारवाड़ी (१८२१) :

'कांइजिरे ईश्वरने संसारकुं इसडा हेत कीधा कै उणने आपरो एक पैलडो डीकराकुं दिधो कै जिको एक एक मानस उणमाथे परतित करेहे उही नाश नही होवे लेकर अनन्त-जीवन पावे ॥'

हड़ौती (१८२२) :

'कांइजिरे ईश्वर ने संसारकुं एस्या लाड कर्‌यो के उने आपना पैदास एक नान क्यो दिनो कै जो ठावा २ मनपडा उंपें एतवार करेछ उ ज डापाड न होये सावजिरे अपार जनगानि पावे ।'

ब्रजभाषा (१८२४) :

'गालिलके जे लोग अंधकारमै बैठेहैं, उनंते बडो उजेरो देख्यौ और मृत्युके देसमैं और छावामैं बैठनवारे जे उनमें उजेरो उदैं भयो ।' Mt. iv. 16.

कुमायूँनी (१८२५) :

'कसकि ईश्वरने संसारकताँई ऐसाड् लाड करेछ जो वैने अपन् ऐकड़ा उप्या चेलाकताँई दियेछ जो जै ओलेक मनष वैमल्ल पत्यार करन्‌आथीवली वै निररिवज नि होवै पर अलेक जी ओन् पावै ।'

मालवी या उज्जैनी (१८२६) :

'क्योंपण ईश्वर ने दुनियापरां इणिभांतज्यु हेज जोडो पण्कै उणने डिलांना एकला पाण्यो थको डावडक्यो देइगाल्यो पण्कै एकुंएक जणां उणपरां पतन्तरा जोडता वतावज्येश्रें जणनो रापठ्रोल्या बापरवा नो लागें लेपण अपार जीवण जीवडि लादवा लागेंज्युं ।'[1]

१—सामान्यतः St. John 3.16 से निम्नलिखित पंक्तियों का अनुवाद उद्धृत किया गया है :

'For God so loved the world, that he gave his only begotten Son, that whosoever believeth in him should not perish, but have everlasting life'.

जहाँ कहीं ऐसा नहीं हुआ है वहाँ अलग संदर्भ दे दिया गया है ।

Mt. = St. Mathew

हिन्दी बाइबिल के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए डॉ० हूपर का कहना है : 'Bowley's work was very idiomatic but unscholarly'—'The revisions of Bowley were more scholarly but inferior in idiom'—'Other works had been scholarly and idiomatic but unhappily too high for the common people.' डॉ० हूपर का दूसरा कथन ही वास्तविकता के अधिक निकट है। अंतिम कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद करते समय ईसाई धर्म-प्रचारकों का ध्येय सरल से सरल भाषा का प्रयोग करना रहता था, यद्यपि यह बात भाषा की साहित्यिकता और सौन्दर्य को आघात पहुँचाए बिना न रह सकी। हिन्दी बाइबिल की शैली में विदेशीपन होते हुए भी उसे देशी कहा जा सकता है। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने यह शैली जनता में प्रचलित हिन्दी ग्रंथों का अध्ययन कर सीखी थी। क्योंकि हिन्दी बाइबिल प्रधानतः ग्रामीणों के लिए और निम्नवर्ग के अशिक्षित लोगों के लिए था, इसलिए भाषा में ग्रामीणपन है। साथ ही उसमें ऐसे अनेक रूपक और प्रतीक भी मिलते हैं जिनका प्रयोग हिन्दी साहित्य में सदैव होता रहा है। यह ईसाई धर्म-प्रचारकों के परिश्रम का फल है। उनकी शैली सरल अवश्य है, किन्तु प्रयासहीन नहीं है। हिन्दी बाइबिल की भाषा से हिन्दी समृ हुई नहीं कही जा सकती। हाँ, बाइबिल के अतिरिक्त अन्य छोटी-छोटी पुस्त से भाषा में प्रचार और शास्त्रार्थ करने की शक्ति का आभास अवश्य प्रतिबिं होने लगा। उसने जनता या साहित्य की भाषा भी प्रभावित न की। यह ट है कि भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ईसाई धर्म-प्रचारकों ने व्याक का अध्ययन किया, शब्द-कोष बनाए तथा ऐसे ही अन्य कार्य किए। f तब भी वे शैलीकार न बन सके। उन में लल्लूलाल और इंशा की शै की झलक मात्र मिलती है, यद्यपि उन्होंने किसी प्रतिज्ञा के बंधन में ब भाषा का प्रयोग न किया था। ऊपर दिए गए अवतरणों से स्पष्ट जाता है कि उनकी खड़ीबोली हिन्दी में ब्रजभाषा तथा अन्य स्थानीय के प्रभाव के अतिरिक्त अरबी-फ़ारसी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। साहित्य में ऐसी भाषा अवश्य मिलती है जो ज़रा दोषरहित है। वि स्थल अपवाद स्वरूप ही माने जाएँगे। सच तो यह है कि बाइबिल अनुवाद बहुत सफल अनुवाद नहीं कहे जा सकते। भाषा के एक ह

हिन्दी और उ

१२

हिन्दी समाचारपत्र
तथा अन्य साहित्यिक रूप

प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतीय राज-दरबारों में सन्देशवाहक या हरकारे हुआ करते थे जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक या तो समाचार ले जाते थे या हस्तलिखित चिट्ठियाँ एक दरबार से दूसरे दरबार भेजा करते थे। प्रारंभ में वे समृद्धशाली व्यक्तियों के आश्रय में रहते और अपने आश्रय-दाताओं की अनुपस्थिति में दरबार में जितनी भी बातें होती थीं उन सबकी सूचना उन्हें देते थे। नरेशों और राजनीतिज्ञों के लिए भी अपनी अनुपस्तिथि में या अपने चारों ओर होने वाली घटनाओं और बातों का जानना अत्यंत आवश्यक रहता था। इस प्रकार विविध समाचारों और घटनाओं का संग्रह करने वाले पत्र-लेखकों या अख़बारनवीसों का कर्त्तव्य धीरे-धीरे व्यवसाय में परिवर्तित हो गया। उनके पास समाचार मँगाने या जानने वालों की सूची रहने लगी जिन्हें वे समय-समय पर आवश्यक समाचार भेजते रहते थे। अब एक पत्र लिखने के स्थान पर वे अपने ग्राहकों की संख्या के अनुसार समाचारों के कई पत्र लिखा करते थे। इसके अतिरिक्त गुप्तचर-विभाग के लेखक भी सब प्रकार के समाचार जानने और उन्हें संग्रहीत करने वाले व्यक्तियों में से थे। साथ ही राजा-महाराजाओं के युद्धों, शिकारों, धार्मिक उत्सवों और रीति-रस्मों आदि के भी सरकारी विवरण सुरक्षित रखे जाते थे। भारतीय इसिहास में इस प्रकार के पत्र-लेखकों और गुप्तचर-विभाग के लेखकों द्वारा लिखे गए पत्रों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उन्हें आधुनिक समाचारपत्रों का पूर्व रूप माना जा सकता है।

इस समय जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर यह कह सकना कठिन है कि भारतवर्ष का सर्वप्रथम समाचारपत्र कब और क्यों प्रकाशित हुआ। किन्तु समाचारपत्रों का वास्तविक चलन उसी समय से माना जाना चाहिए जब कि

यूरोपीय जातियों के माध्यम द्वारा भारतवर्ष में मुद्रण-कला का प्रचार हुआ और जिसकी सहायता से समाचार-पत्रों की एक से अधिक प्रति निकाल कर व्यावसायिक दृष्टि से लाभ उठाया जा सकता था। किसी एक दिशा में जनमत मोड़ने का कार्य भी पत्रों से लिया जा सकता था। इस दृष्टि से उनकी शक्ति गोला-बारूद से भी कहीं अधिक थी। और हिन्दी पत्रकार-कला का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी-प्रदेश में नहीं, वरन् बंगाल में हुआ।

पत्रकार-कला और ईस्ट इन्डिया कंपनी के शासन के अन्तर्गत अधिकाधिक तथा निश्चित रूप से प्रचलित प्रेस जैसे वैज्ञानिक आविष्कार में घनिष्ठ संबंध है। उस समय से लेकर अब तक प्रेस समाचार-पत्र निकालने और शिक्षा-संबंधी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित करने में सहायक रहा है। सर्वप्रथम १७६८ में बोल्ट्स नामक व्यक्ति ने बंगाल में प्रेस स्थापित करना चाहा। किन्तु फ़ोर्ट विलियम कौंसिल के अधिकारियों ने उसकी आशाओं पर पानी फेर दिया और उसे भारतवर्ष छोड़ कर चले जाने की आज्ञा देदी। उसके बाद हेस्टिंग्ज़ के समय में चार्ल्स विल्किन्सन ने बंगाली टाइप का निर्माण किया और १७७८ में ऐंड्रूज़ ने हुगली में और १७८० के लगभग जे० ए० हिकी (Hickey) ने कलकत्ते में एक-एक प्रेस स्थापित किया। जिस समय १७९४ में कैरे ने मदनावती (बंगाल) में एक प्रेस स्थापित किया तो वहाँ के लोग उसके दर्शनार्थ इकट्ठे हुए और उसे एक ऐसी यूरोपियन दैवी मूर्ति समझने लगे जो अद्‌भुत कर्म करने की क्षमता रखती थी।[1] उसी प्रेस में किसी भी उत्तर भारतीय भाषा में अनूदित बाइबिल का सर्वप्रथम पृष्ठ मुद्रित हुआ था। श्रीरामपुर मिशनरियों ने ही आगे चल कर हिन्दी के नए टाइप बनाए। इस कार्य में उन्हें कई वर्ष लग गए थे। साथ ही उन्होंने कई भारतवासियों को भी इस कला में दीक्षित किया। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के विवरणों से ज्ञात होता है कि उसके प्रकाशन श्रीरामपुर प्रेस के अतिरिक्त कलकत्ते के हिन्दुस्तानी और संस्कृत प्रेसों में भी मुद्रित होते थे। कॉलेज के गिलक्राइस्ट, हंटर आदि विद्वान अध्यापकों तथा कार्यकर्ताओं ने देवनागरी टाइप बनवाने और भारतीय भाषाओं में विराम-चिन्हों का प्रचार करने में अत्यधिक सहायता पहुँचाई। मिशनरियों तथा अन्य लोगों ने भारतीय कम्पोज़ीटरों से काम लिया। हिन्दी-प्रदेश के मिर्ज़ापुर, बनारस, इलाहाबाद, दिल्ली, आगरा, ग्वालियर आदि बड़े-बड़े नगरों में १८३५ के बाद ही प्रेस

१—जे० सी० मार्शमैनः 'दि स्टोरी ऑव कैरे, मार्शमैन ऐंड वॉर्ड', लंदन, १८६४, पृ० ३५-३६

स्थापित हुए। संयोगवश इसी वर्ष मेटकाफ़ के शासनान्तर्गत प्रेस पर से सब प्रतिबन्ध हटा लिए गए थे। भारतवर्ष में अपने जन्मकाल से ही प्रेस ने न केवल मिशनरियों के धार्मिक प्रचार-कार्य में वरन् समाचारपत्र-कला और शिक्षा के क्षेत्र में भी अत्यधिक सहायता पहुँचाई।

प्रेस की सहायता से उस समय जो सबसे बड़ा कार्य संपन्न हुआ वह १७८० में जे० ए० हिकी द्वारा अँगरेज़ी में 'दि बंगाल गज़ट' का प्रकाशन था। हिकी का यह 'गज़ट' भारतीय समाचारपत्र-कला का अग्रदूत माना जाता है। इस समय उसकी केवल दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं—एक तो ब्रिटिश म्यूज़ियम लाइब्रेरी में सुरक्षित है और दूसरी कलकत्ते की विक्टोरिया मेमोरियल लाइब्रेरी में। प्रारंभ में 'गज़ट' लोकप्रिय रहा, किन्तु आगे चल कर उसमें कुछ ऐसी आपत्तिजनक बातें प्रकाशित होने लगीं कि वारेन हेस्टिंग्ज़ को उसे दबा देना पड़ा। १७९३ में 'दि इंडियन वर्ल्ड' नामक दूसरा अँगरेज़ी पत्र प्रकाशित हुआ। १७९१ और १८५७ के बीच कलकत्ते से 'दि वर्ल्ड', 'दि बंगाल जर्नल', 'दि हरकारा', 'दि कलकत्ता गज़ट' (बंगाल सरकार का पत्र), 'दि टेलीग्राफ़,' 'दि कलकत्ता कूरियर', 'दि एशियाटिक मिरर', 'दि इंडियन गज़ट', 'दि कलकत्ता इँगलिशमैन', 'दि कलकत्ता जर्नल' आदि अँगरेज़ी के अनेक प्रसिद्ध पत्र प्रकाशित हुए। मद्रास और बंबई से भी अँगरेज़ी के पत्र प्रकाशित होते थे।

समाचारपत्रों के प्रारंभिक इतिहास-काल में सेना को भड़काने या स्थानीय मजिस्ट्रेटों के सरकारी कामों की कड़ी आलोचना करने के कारण सरकार ने कुछ संपादकों को यूरोप वापिस भेज दिया था। इतिहास हमें यह बताता है कि लॉर्ड वेलेज़ली पहले गवर्नर-जनरल थे जिन्होंने अप्रैल, १७९९ में पत्रों की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाया। जिस समय वे टीपू के साथ युद्ध में संलग्न थे, उस समय कलकत्ते के कुछ संपादकों ने ऐसी बातें लिखीं जो उन्हें बिल्कुल अच्छी न लगीं और क्रोध में आकर उन्होंने राज-परिषद् (कौंसिल) के उपसभापति को पत्रों को दबाने और संपादकों को इँगलैंड वापिस भेज देने की आज्ञा दी। बंगाल वापिस आने पर उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता का इस ढंग से अपहरण किया जो बाद को स्वयं उन्हें अच्छा न लगा। इसी अशुभ समय में श्रीरामपुर मिशनरियों की कलकत्ते से दो सौ मील दूर एक प्रेस स्थापित करने की प्रार्थना अस्वीकृत ठहराई गई। उनका प्रेस-संबंधी क़ानून १८१८ में मार्किस ऑव हेस्टिंग्ज़ द्वारा रद कर दिया गया। किन्तु आपत्तिजनक संपादकों को इँगलैंड वापिस भेजने का अधिकार तो उन्होंने भी बनाए रखा। १८२३ (मार्च-अप्रैल) में अधिकार-पत्र (लाइसेंस)

प्राप्त करने के संबंध में एक नया ऐक्ट जारी हुआ—'Regulation for preventing the Establishment of Printing-Presses without Licence, and for restraining under certain circumstances the Circulation of Printed Books and Papers.' (बिना अधिकार-पत्र प्राप्त किए छापखानों की स्थापना रोकने और विशेष परिस्थितियों में मुद्रित पुस्तकों और पत्रों के प्रचार पर प्रतिबंध लगाने वाला नियम)। १८३२ में जब ब्रिटिश पार्लामेंट की दोनों भाग-सभाओं ने भारतीय शासन के संबंध में विस्तृत जाँच की उस समय पाँच भारतीय और छः यूरोपियन पत्र थे। उस समय समाचारपत्र प्रकाशित करने के लिए अधिकारपत्र प्राप्त करना अनिवार्य था। किन्तु सरकार जाँच करने के बाद या बिना किए ही अथवा सूचना देकर या बिना दिए ही, अपनी मर्जी के अनुसार, उस अधिकारपत्र को कभी भी वापिस ले सकती थी। लॉर्ड विलियम बैंटिंक को स्वतन्त्र वाद-विवाद में बहुत आनन्द आता था। इसलिए उन्होंने प्रेस को पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी। केवल 'आगा मत्ता' वाले मामले ने उन्हें प्रेस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए बाध्य किया। प्रेस की स्वतन्त्रता के संबंध में सर चार्ल्स मेटकाफ़ की सितम्बर, १८३० की लिखी हुई मिनिट्स इतिहास-प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने विचार उस चिरस्मरणीय क़ानून में परिवर्तित किए जिसका मसविदा मैकॉले द्वारा तैयार किया गया था और जिस पर १८३५ में गवर्नर-जनरल के रूप में मेटकाफ़ ने अपनी स्वीकृति दी। इस कानून के अन्तर्गत अधिकार-पत्र लेने की प्रथा बिल्कुल हटा दी गई और प्रत्येक व्यक्ति, सामान्य क़ानूनी और नैतिक परिधि में रहते हुए, किसी भी सार्वजनिक विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र था। १८५७ के विद्रोह तक यह क़ानून जारी रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अँगरेज़ी राज्य एक प्रकार से स्थायित्व प्राप्त कर चुका था। उस समय भारतवर्ष में नवीन विचारों और संस्थाओं का प्रचार हुआ। नवीन राज्य का प्रधान नगर कलकत्ता सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक क्रियाकलाप का केन्द्र बन गया। इसलिए वहीं नवीन ज्ञान और विचारों के प्रसार तथा नवीन सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के प्रयत्नों का शुरू होना संभव था। भारतीय साहित्य के इतिहास का नवीन परिच्छेद कलकत्ते में ही प्रारम्भ हुआ। यहीं पर डॉ० मार्शमैन और डॉ० कैरे ने मिलकर बँगला में एक मासिक पत्रिका और एक समाचारपत्र प्रकाशित करने की आयोजना बनाई और अप्रैल, १८१८ में उन्होंने 'दिग्दर्शन' नामक सर्वप्रथम बँगला पत्र प्रकाशित किया। उसमें प्रत्येक लेख बँगला और अँगरेज़ी में रहता था।

राजनीतिक लेखों के अतिरिक्त उसमें अन्य सभी विषयों से संबंधित लेख प्रकाशित हो सकते थे। उसके बाद बँगला में अन्य कई पत्र प्रकाशित हुए।

१८१८ में 'दिग्दर्शन' और उसके बाद अन्य बँगला पत्रों का प्रकाशन भारतवर्ष में प्रेस के इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। वास्तव में १८१८ में लॉर्ड हेस्टिंग्ज द्वारा प्रेस पर लगाए गए प्रतिबंधों के हटाए जाने और उनके स्थान पर उदार नियमों के जारी होने पर ही भारतीय भाषाओं में पत्रों का प्रकाशन हो सका। यह परिवर्तन भारतीय समाचारपत्र-कला के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ और आत्मसम्मान की रक्षा होते देख अनेक व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। ऐमहर्स्ट, बैंटिंक और मेटकाफ़ के शासन-कालों में तथा विद्रोह के समय तक प्रेस किसी भी प्रकार के प्रतिबंध से मुक्त रहा। इससे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में समाचारपत्र-कला और विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को प्रोत्साहन मिला। किन्तु तो भी १८२३ का ऐक्ट भारतीय प्रेस की सम्यक प्रगति में अवश्य बाधक रहा होगा।

ऐसी ही कुछ अनुकूल परिस्थितियों के अंतर्गत हिन्दी में पत्र जैसे एक लोकप्रिय, उपयोगी और शक्तिशाली साधन के अभाव का अनुभव किया गया और कलकत्ते में ही कानपुर-निवासी पं० युगलकिशोर शुक्ल ने हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र प्रकाशित किया। अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर वे हिन्दी समाचारपत्र-कला के जन्मदाता ठहरते हैं। पहले वे कलकत्ते की सदर दीवानी अदालत में प्रोसीडिंग रीडर थे, किन्तु बाद को वहीं वकालत करने लगे थे। १६ फ़रवरी, १८२६ को सरकार ने उन्हें हिन्दी में पत्र निकालने के लिए अधिकार-पत्र दिया और ३० मई, १८२६ (जेठ वदि ६ संवत् १८८३) को 'उदन्त मार्तण्ड' का सर्वप्रथम अंक प्रकाशित हुआ। वह प्रत्येक मंगलवार को निकलता था। उसका प्रधान उद्देश्य हिन्दी-भाषा-भाषियों में विविध विषय-संबंधी ज्ञान का प्रचार करना अर्थात् दूसरे शब्दों में शिक्षाप्रद था। इस पत्र की फ़ाइलें उलटने पर उनमें 'श्री श्रीमान् गवरनर जेनरेल बहादुर का सभा-वर्णन' (बर्मा-युद्ध के बाद लॉर्ड ऐम्हर्स्ट का दरबार), 'इशतेहार', 'फरासीस देश की खबर', 'ठट्ठे की बात', 'बहुत मोटे ओ बड़े आदमी', 'राज्यसम्पदा', 'एडीटोरियल रिमार्क' (रोमन लिपि में), 'लाहौरादि प्रान्तपति महाराजा रनजीतसिंह बहादुर की खबर', 'गवरनर बहादुर की खबर' आदि जैसे विषय मिलते हैं। साथ ही उनमें सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति और तबादले की सूचनाएँ, यात्रा-वर्णन, व्यापारिक तथा क़ानूनी ख़बरें, जहाज़ों के आने-जाने

की सूचनाएँ, शिक्षाप्रद बातें, दवाइयाँ, भारतीय पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों के वर्णन, हास्य, विदेशों की चर्चा, साहित्यिक सूचनाएँ, पब्लिक नोटिस (सार्वजनिक सूचनाएँ) आदि अनेक बातें भी रहती थीं। प्रत्येक विषय का संपादन सरल किन्तु रोचक ढंग से किया जाता था।

किन्तु ग्राहकों के अभाव के कारण ४ दिसम्बर, १८२७ को उसका प्रकाशन बन्द हो गया। स्वयं संपादक के कथनानुसार शूद्र अर्थात् निम्न श्रेणी के लोग तो शिक्षित ही नहीं थे और वे दूसरों की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे, कायस्थ केवल उर्दू और फ़ारसी पढ़ते-लिखते थे, वैश्य केवल व्यापार करते थे, और ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन या विद्यालाभ की दृष्टि से ब्राह्मणों का पतन हो गया था। अस्तु, समाज के विभिन्न वर्गों की ऐसी परिस्थिति में समाचारपत्र कौन पढ़ता।

'उदन्त मार्तण्ड' की अल्पकालीन सफलता और लोकप्रियता के कारण अन्य व्यक्तियों को हिन्दी में पत्र निकालने के लिए प्रेरणा अवश्य मिली। कम्पनी सरकार द्वारा लगाए गए कुछ प्रतिबंधों के रहते हुए भी लोग अपने भावों और विचारों को प्रकट करने के इतने अच्छे और उपयोगी साधन को बनाए रखना चाहते थे। उनका उत्साह मन्द न पड़ सका। 'उदन्त मार्तण्ड' के बाद हिन्दी में समय-समय पर पत्र निकलते रहे। किन्तु दुर्भाग्यवश उसके बाद के हिन्दी पत्रों का अटूट और क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। या तो पत्रों की पूरी फ़ाइलें नहीं मिलतीं अथवा उनके केवल नाम मात्र ज्ञात हैं। तासी ने अपने 'इस्त्वार द ल लित्रेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी' के १८७०-७१ वाले द्वितीय संस्करण की तीसरी जिल्द में 'अवध गज़ट समाचार' (लखनऊ), 'बनारस अख़बार', 'भारत खण्ड अमृत' (आगरा), 'वृत्तान्त विलास' (भूटान में जम्बू से), 'वृत्तान्त दर्पण' (आगरा), 'विद्यादर्श' (मेरठ), 'बुद्धि प्रकाश' (आगरा), 'धर्म प्रकाश' (आगरा), 'ज्ञान दीपिका' (सिकन्दरा , 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' (लाहौर), 'जगलाभ चिन्तक' (अजमेर), 'जगत समाचार' (मेरठ), 'कविवचन सुधा' (बनारस), 'लोक मित्र' (सिकन्दरा), 'मार्तण्ड' (कलकत्ता), 'पाप मोचन' (आगरा); 'प्रजाहित' (इटावा), रत्नप्रकाश' (रतलाम, बुन्देलखंड), 'समाचार' (लखनऊ), 'समय विनोद' (नैनीताल), 'सर्व उपकारी' (आगरा), 'सुधा वर्षा' (कलकत्ता), 'सुधाकर अखबार' (बनारस), 'सूरज प्रकाश' (आगरा), 'तत्वबोधिनी पत्रिका' (बरेली), 'वृत्तान्त दर्पण' (इलाहाबाद),

राजनीतिक लेखों के अतिरिक्त उसमें अन्य सभी विषयों से संबंधित लेख प्रकाशित हो सकते थे। उसके बाद बँगला में अन्य कई पत्र प्रकाशित हुए।

१८१८ में 'दिग्दर्शन' और उसके बाद अन्य बँगला पत्रों का प्रकाशन भारतवर्ष में प्रेस के इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। वास्तव में १८१८ में लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ द्वारा प्रेस पर लगाए गए प्रतिबंधों के हटाए जाने और उनके स्थान पर उदार नियमों के जारी होने पर ही भारतीय भाषाओं में पत्रों का प्रकाशन हो सका। यह परिवर्तन भारतीय समाचारपत्र-कला के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ और आत्मसम्मान की रक्षा होते देख अनेक व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। ऐम्हर्स्ट, बेंटिक और मेटकाफ़ के शासन-कालों में तथा विद्रोह के समय तक प्रेस किसी भी प्रकार के प्रतिबंध से मुक्त रहा। इससे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में समाचारपत्र-कला और विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को प्रोत्साहन मिला। किन्तु तो भी १८२३ का ऐक्ट भारतीय प्रेस की सम्यक प्रगति में अवश्य बाधक रहा होगा।

ऐसी ही कुछ अनुकूल परिस्थितियों के अंतर्गत हिन्दी में पत्र जैसे एक लोकप्रिय, उपयोगी और शक्तिशाली साधन के अभाव का अनुभव किया गया और कलकत्ते में ही कानपुर-निवासी पं० युगलकिशोर शुक्ल ने हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र प्रकाशित किया। अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर वे हिन्दी समाचारपत्र-कला के जन्मदाता ठहरते हैं। पहले वे कलकत्ते की सदर दीवानी अदालत में प्रोसीडिंग रीडर थे, किन्तु बाद को वहीं वकालत करने लगे थे। १६ फ़रवरी, १८२६ को सरकार ने उन्हें हिन्दी में पत्र निकालने के लिए अधिकार-पत्र दिया और ३० मई, १८२६ (जेठ बदि ६ संवत् १८८३) को 'उदन्त मार्तण्ड' का सर्वप्रथम अंक प्रकाशित हुआ। वह प्रत्येक मंगलवार को निकलता था। उसका प्रधान उद्देश्य हिन्दी-भाषा-भाषियों में विविध विषय-संबंधी ज्ञान का प्रचार करना अर्थात् दूसरे शब्दों में शिक्षाप्रद था। इस पत्र की फ़ाइलें उलटने पर उनमें 'श्री श्रीमान् गवरनर जेनरेल बहादुर का सभा-वर्णन' (बर्मा-युद्ध के बाद लॉर्ड ऐम्हर्स्ट का दरबार), 'इशतेहार', 'फरासीस देश की खबर', 'ठट्ठे की बात', 'बहुत मोटे ओ बड़े आदमी', 'राज्यसम्पदा', 'एडीटोरियल रिमार्क' (रोमन लिपि में), 'लाहौरादि प्रान्तपति महाराजा रनजीतसिंह बहादुर की खबर', 'गवरनर बहादुर की खबर' आदि जैसे विषय मिलते हैं। साथ ही उनमें सरकारी अफ़सरों की नियुक्ति और तबादले की सूचनाएँ, यात्रा-वर्णन, व्यापारिक तथा क़ानूनी ख़बरें, जहाज़ों के आने-जाने

की सूचनाएँ, शिक्षाप्रद बातें, दवाइयाँ, भारतीय पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों के वर्णन, हास्य, विदेशों की चर्चा, साहित्यिक सूचनाएँ, पब्लिक नोटिस (सार्वजनिक सूचनाएँ) आदि अनेक बातें भी रहती थीं। प्रत्येक विषय का संपादन सरल किन्तु रोचक ढंग से किया जाता था।

किन्तु ग्राहकों के अभाव के कारण ४ दिसम्बर, १८२७ को उसका प्रकाशन बन्द हो गया। स्वयं संपादक के कथनानुसार शूद्र अर्थात् निम्न श्रेणी के लोग तो शिक्षित ही नहीं थे और वे दूसरों की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे, कायस्थ केवल उर्दू और फ़ारसी पढ़ते-लिखते थे, वैश्य केवल व्यापार करते थे, और ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन या विद्यालाभ की दृष्टि से ब्राह्मणों का पतन हो गया था। अस्तु, समाज के विभिन्न वर्गों की ऐसी परिस्थिति में समाचारपत्र कौन पढ़ता।

'उदन्त मार्तण्ड' की अल्पकालीन सफलता और लोकप्रियता के कारण *अन्य व्यक्तियों को हिन्दी में पत्र निकालने के लिए प्रेरणा अवश्य मिली।* कम्पनी सरकार द्वारा लगाए गए कुछ प्रतिबंधों के रहते हुए भी लोग अपने भावों और विचारों को प्रकट करने के इतने अच्छे और उपयोगी साधन को बनाए रखना चाहते थे। उनका उत्साह मन्द न पड़ सका। 'उदन्त मार्तण्ड' के बाद हिन्दी में समय-समय पर पत्र निकलते रहे। किन्तु दुर्भाग्यवश उसके बाद के हिन्दी पत्रों का अटूट और क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। या तो पत्रों की पूरी फ़ाइलें नहीं मिलतीं अथवा उनके केवल नाम मात्र ज्ञात हैं। तासी ने अपने 'इस्त्वार द ल लित्रेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी' के १८७०-७१ वाले द्वितीय संस्करण की तीसरी जिल्द में 'अवध गज़ट समाचार' (लखनऊ), 'बनारस अख़बार', 'भारत खण्ड अमृत' (आगरा), 'वृत्तान्त विलास' (भूटान में जम्मू से), 'वृत्तान्त दर्पण' (आगरा), 'विद्यादर्श' (मेरठ), 'बुद्धि प्रकाश' (आगरा), 'धर्म प्रकाश' (आगरा), 'ज्ञान दीपिका' (सिकन्दरा , 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' (लाहौर), 'जगलाभ चिन्तक' (अजमेर), 'जगत समाचार' (मेरठ), 'कविवचन सुधा' (बनारस), 'लोक मित्र' (सिकन्दरा), 'मार्तण्ड' (कलकत्ता), 'पाप मोचन' (आगरा), 'प्रजाहित' (इटावा), रत्नप्रकाश' (रतलाम, बुन्देलखंड), 'समाचार' (लखनऊ), 'समय विनोद' (नैनीताल), 'सर्व उपकारी' (आगरा), 'सुधा वर्षा' (कलकत्ता), 'सुधाकर अखबार' (बनारस), 'सूरज प्रकाश' (आगरा), 'तत्वबोधिनी पत्रिका' (बरेली), 'वृत्तान्त दर्पण' (इलाहाबाद),

आदि हिन्दी और उर्दू—अधिकतर उर्दू—के एक सौ अट्ठानवे पत्र गिनाए हैं। उन्होंने एक 'उदन्त मार्तण्ड' का उल्लेख भी किया है—'le soleil des nouvelles de Serampore'. किन्तु तासी ने इन पत्रों के संबंध में विस्तृत विवरण नहीं दिया। साथ ही पत्रों की पूरी या अधूरी भी फ़ाइलें उपलब्ध न हो सकने के कारण तासी के कथन की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता जानने का कोई साधन नहीं रह जाता। वैसे भी उनके द्वारा उल्लिखित पत्रों में से अधिकतर पत्र १८५७ अर्थात् आलोच्य काल के बाद के हैं।

किन्तु कुछ पत्रों की उपलब्ध अधूरी फ़ाइलों—संभवतः ऐसी भी हों जो प्रस्तुत लेखक को नहीं मिल सकीं—के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अल्पजीवी 'उदन्त मार्तण्ड' के बाद अथवा १८२० के बाद समय-समय पर पत्रों का प्रकाशन जारी ही नहीं रहा, वरन् उनमें एक से अधिक भाषाओं का प्रयोग भी होने लगा था। 'उदन्त मार्तण्ड' के पश्चात् ९ मई, १८२९ को 'बंगदूत' नामक पत्र निकला। उसमें अलग-अलग कॉलमों में अँगरेज़ी, बँगला, फ़ारसी और हिन्दी चार भाषाएँ रहती थीं। उसका प्रकाशन राजा राममोहन राय, द्वारिकानाथ ठाकुर, प्रसन्नकुमार ठाकुर प्रभृति सज्जनों द्वारा होता था, यद्यपि उसमें प्रमुख भाग राजा राममोहन राय का था। जून, १८३४ में 'प्रजामित्र' का अनुष्ठान-पत्र (Prospectus) प्रकाशित हुआ। किन्तु स्वयं पत्र वास्तव में प्रकाशित हुआ या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तत्पश्चात् राजा शिवप्रसाद के 'बनारस अख़बार' का स्थान है जिसे राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द गुप्त आदि ने भ्रमवश हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र मान लिया है। वह १८४४ में बनारस से प्रकाशित हुआ, और तारामोहन मित्र (न कि रघुनाथ थत्ते) उसके संपादक थे। इस पत्र की भाषा देवनागरी लिपि में लिखी गई उर्दू के समीप की भाषा थी। १८४६ में कलकत्ते से 'मार्तण्ड' निकला। मौलवी नासिरुद्दीन उसके संपादक थे और वह पाँच कॉलमों में लिखी गई हिन्दी, उर्दू, बँगला, फ़ारसी और अँगरेज़ी में प्रकाशित होता था। फिर १८५०-५१ में युगलकिशोर शुक्ल ने 'साम्यदन्त मार्तण्ड' का संपादन किया। उनका यह पत्र भी बहुत शीघ्र बन्द हो गया। १८५० में राजा शिवप्रसाद के 'बनारस अख़बार' की भाषा-नीति के विरोध-स्वरूप तारामोहन मैत्र के संपादकत्व में 'सुधाकर' का जन्म हुआ। १८५२ में मुंशी सदासुखलाल ने आगरे से 'बुद्धि प्रकाश' प्रकाशित किया। तदनन्तर जून, १८५४ में हिन्दी का सर्वप्रथम दैनिक 'समाचार सुधावर्षण'

निकला। श्यामसुन्दर सेन उसके संपादक थे और वह बड़ा बाज़ार, कलकत्ता से हिन्दी और बँगला में निकलता था। बाद को हिन्दी ही उसकी प्रधान भाषा होगई।

साचारपत्रों के गद्य के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

'पुरानों में लिखा है कि वेणु राजा के बड़ा धन था पर धर्म का लेश नहीं। वैसा तो काहे को पर देश काल पात्र। पुर्त्तगेज बादशाह ऐश्वर्य जो अंग्रेजी कागजों में लिखता है वह भी गिनने गूथने के बाहर ही है काहे से कि जब से उस राज की बढ़ती हुई तबसे दिन दूनी औ रात चौगुनी ही होती गई और उसका पसेव भी न उठा। जैसा लोग कहते हैं कि मैं मरि जैहों पर तोहि न भंजैं हों। और की कौन चाले बादशाह आप अपनी रोकड़ की बिधि न मिला सके इस लिए कुछ उस राज की प्रभुता का वर्णन करने में आता है। बादशाह अपने गेह के एक भुंइधरे में जहाँ बयार भी न पैठ सके रोकड़ की पेटियों सदा सुची रहती हैं विशेष करके बड़े बादशाह जो कुछ दिन हुए संसार से उठ गये औ कुछ भी छाती पर धर के ले न गए वे संचय करनेमें एक ही प्रवीन औ सब पेटियों की ताली अपने हाथ रखते और जवाहिर की पेटियों को पल भर भी आँखों के ओट न करते थे यहाँ तक की यत्न के से टुक वहाँ से न सरकते औ उस विभव को देख कलेजे को ठंढा किया करते इस सम्पद होने का मूल यह है कि सोना चांदी हीरे की खान उनके अधिकार में है और उस राज में कभी खटका नहीं हुआ। एक बेर जेनरेल बोनापार्ट ने मारे लोभ के उस सब अधिकार पर अपना अधिकार कर लिया पर बड़े बादशाह ने जेनरेल के आवते आवते अमिरेका के मुलुक के जो ब्रेजिल में जो वहाँ का बादशाह इसका बेटा है झटपट सब रोकड़ औ जवाहिर जहाजों पर लाद लाद ले जा टल बैठा। जब इधर से बोनापार्ट के पैर टले तबसे अपने जहाँ का तहाँ आन बैठा।'...[1]

'मध्य देशीय भाषा

इस उदन्त मार्तण्ड के नांव पड़ने के पहिले पछांहियों

१—'उदन्त मार्तण्ड' (१८२६)

के चित्त को इस कागज के होने से हमारे मनोर्थ सफल होनेका बड़ा उत्साह था इसलिए लोग हमारे बिन कहे भी इस कागज की सही की बही पर सही करते गये पै हमें पूछिये तो इन की मायावी दया से सरकार अंगरेज कम्पनी महा प्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरों पर वैसी पड़ जाने की बड़ी आशा थी और मैं ने इस विषय में उपाय यथोचित किया पै करम की रेख कौन मेटै तिस पर भी सही की बही देख जी सुखी होता रहा अन्त को नटों के से आम दिखाई दिये इस हेत स्वारथ अकारथ जान निरे परमारथ को मान कहां तक बनजिये इस लिये अब अपने व्यवसाई भाइयों से मन की बात जनाय विदा होते हैं हमारे कहे सुनेका कुछ मन में लाइयो जो देव औ भूधर मेरी अन्तर व्यथा औ इस पत्र के गुण को विचार सुध करेंगे तो मेरे ही हैं शुभमिति ॥''[1]

'...देख कर लोग उस पाठशाले के क़िते के मकानों की ख़ूबियां अकसर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजवीज़ करते हैं कि जमा से ज़ियादा लाभ होगा और हर तरह से लायक़ तारीफ़ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।'[2]

'नागरी सीखने की आवश्यकता

१६ अप्रिल १८५५

'यिह सत्य हम लोग अपनी आँखों से प्रत्यक्ष महाजनों की कोठियों में देखते हैं कि एक की लिखी हुई चिट्ठी दूसरा जलदी बाँच सकता नहीं। चार पाँच आदमी लोग एकट्ठा बैठ के मसा टटा कका घघा, डडा कहिके फेर 'मिट्टी का घड़ा' बोल के निश्चय करते हैं। क्या दुःख की बात है। कहिये तो अपने पास से द्रव्य खरच करके विद्या दान देने की बात तो दूर रही अपने विद्या सीखना बड़ा जरूरत है। सब अक्षरों से देवनागर अक्षर अति उत्तम सहज औ सर्वदेश में

१—'उदन्त मार्तण्ड' (१८२६)
२—'बनारस अख़बार' (१८४४)

> प्रचलित है। इनको प्रथम सीखना अनन्तर अपने उपजीविका के लिए महाजनी अक्षर का अभ्यास कर लेना, तिसके बाद जिस देश में वास करना उसके अक्षर को भी पहिचान रखना। यह तीनों हिन्दुस्थानियों के अति आवश्यक है..."

आलोच्यकालीन अन्य प्रकार की रचनाओं के गद्य की भांति समाचारपत्रों का गद्य भी ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं है। 'उदन्त मार्तण्ड' में केवल कुछ शब्द और क्रियाएँ ही ब्रजभाषा की नहीं मिलतीं, वरन् वाक्य के वाक्य, यहाँ तक कि कहीं-कहीं पर लगभग संपूर्ण अनुच्छेद, ब्रजरंजित हैं। कभी-कभी तो ऐसा भ्रम होने लगता है कि 'उदन्त मार्तण्ड' के गद्य की भाषा ब्रजभाषा है, न कि खड़ीबोली। और यद्यपि अरबी-फ़ारसी के अनेक प्रचलित शब्द लगभग सभी पत्रों की भाषा में मिलते हैं, किन्तु 'बनारस अखबार' में उनकी संख्या सबसे अधिक है। तत्सम शब्दों के साथ-साथ तद्भव और देशज शब्दों और कुछ-कुछ मुहावरों का प्रयोग भी आलोच्यकालीन खड़ीबोली गद्य की विशेषता है। इस दृष्टि से समाचार-पत्रों का गद्य कोई अपवाद-स्वरूप नहीं है। उर्दू-शैली का वाक्य विन्यास भी यत्रतत्र मिल ही जाता है। साथ ही 'बंगिल', 'कप्तान', 'गेजेट', 'एकटिंग', 'जेनरल', 'लार्ड', 'इंडिया', 'नोटिस', 'गवरनर', 'कंपनि', 'लाइसंस', 'गवर्नमेंट' आदि अँगरेजी शब्दों तथा अँगरेजी महीनों के नामों का प्रयोग दो जातियों के बढ़ते हुए संपर्क का द्योतक है। कहीं-कहीं तो पूरा वाक्य अँगरेजी में लिखा हुआ मिलता है अथवा बीच-बीच में रोमन लिपि में लिखे हुए अँगरेजी शब्द मिलते हैं। और जैसा कि आलोच्य काल में सामान्यतः पाया जाता है, वाक्यों में शिथिलता है। वाक्य लंबे-लंबे और निःशक्त हैं। उनमें प्रौढ़ता नहीं है, किन्तु खड़ीबोली गद्य के प्रारंभिक विकास-काल में यह संभव भी नहीं था।

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, शिक्षा संबंधी और राजनीतिक आंदोलनों के कारण समाचारपत्रों की बाढ़-सी आगई। किन्तु साधारण जनता की आर्थिक दुरवस्था और शिक्षा तथा सुरुचि के अभाव के कारण लगभग सभी पत्रों का प्रचार और साहित्यिक सौंदर्य बहुत कम रहता था।

साहित्य के अन्य रूप

साहित्य के अन्य रूपों में से हिन्दी में नाटकों का जन्म हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए। आलोच्य काल में नाट्य-साहित्य की कोई विशेष प्रगति न हो सकी।

१—'समाचार-सुधावर्षण' (१८५४)

किन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी अवश्य मिलती हैं जो नाटक नाम से अभिहित की जाती हैं। पहली रचना तो कृष्णमिश्र की संस्कृत रचना के आधार पर १७५८ में लिखित ब्रजवासीदास कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक है। लाल कवि के पौत्र और गुलाब कवि के पुत्र गनेश का आविर्भाव-काल १७६३ और १८१२ के बीच माना जाता है और उन्होंने 'प्रद्युम्न-विजय' नाटक की सात अंकों में रचना की। उसमें 'वज्रनाभपुर' के प्रद्युम्न और प्रभावती के गांधर्व विवाह का वर्णन है। किन्तु इन दोनों नाटकों में नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का पालन नहीं हुआ। वास्तव में उन्हें नाटक कहने की अपेक्षा काव्य-ग्रंथ कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह (१८३३-१८५४ शासन-काल) ने 'आनन्द रघुनन्दन'[1] नामक नाटक की रचना की। यद्यपि भारतेन्दु ने उसे हिन्दी के सर्वप्रथम नाटकों में स्थान देने में संकोच किया है क्योंकि 'नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपालन' उसमें नहीं है और वह 'छन्द प्रधान' है, किंतु उनका यह मत युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। उसमें छन्दों का प्रयोग अवश्य है, किन्तु गद्य का प्रयोग भी कम नहीं है। कथोपकथनों का अधिकांश गद्य में ही है। नाटकीय नियमों का पालन भी उसमें पाया जाता है। भारतेन्दुजी के पिता कविवर गिरधरदास कृत 'नहुष नाटक' के साथ-साथ 'आनन्द रघुनन्दन' की गणना हिन्दी के प्रथम नाटकों में की जानी चाहिए। इस नाटक में राम-कथा है। कथानक जन्म-बधावे से प्रारंभ होता है और अंत में रावण पर विजय और गृह-प्रवेश तथा उसके उपलक्ष्य में राम-स्तुति और गंधर्व-नृत्य-गान है जिसमें नायिका-भेद आ जाता है क्योंकि नृत्य करते समय अप्सराएँ विविध प्रकार की नायिकाओं के भाव प्रकट करती हैं। कथानक छोटे-बड़े सात अंकों में विभाजित है। पात्रों के सामान्यतः परिचित नाम न रखकर दूसरे ही प्रकार के रखे गए हैं, जैसे, हितकारी=राम, दिगसिर=रावण, महिजा=सीता, डीलधराधर=लक्ष्मण, दीर्घनखी=सूर्पणखा, सुगल=सुग्रीव, आदिकविः=वाल्मीकि आदि। इसी प्रकार दीर्घदेहः, भयानकः, श्वेतामल्लः, भुवनहितः, रिक्षपतिः, घातिनेयः, भुजभूषण आदि अन्य नाम हैं। नाटक की रचना संस्कृत की नाट्य-शैली के अनुकरण पर हुई है। नांदी-पाठी, सूत्रधार, मारिष और पारिपार्श्वक के कथोपकथन द्वारा पूर्वरंग, प्रस्तावना, विष्कंभक, अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों, संधियों, भरत-वाक्य (सूत्रधार द्वारा) आदि का प्रयोग हुआ है। एक ही

१—१८७१ (संवत् १९२८) और १८८१ में क्रमशः बनारस और लखनऊ से प्रकाशित

अंक में अनेक 'निःक्रान्ताः सर्वे' और 'प्रवेशः' हैं। 'नेपथ्ये और 'आकाशे' भी बहुत हैं। ग्रन्थ गद्य-पद्य-मिश्रित है और भाषा प्रधानतः ब्रजभाषा है। समस्त संकेत वाक्य तथा कहीं-कहीं कथोपकथन के एक-दो वाक्य संस्कृत में हैं— 'आकाशे कर्णदत्वा विस्मितानटी', 'भट्टः किंचित् समीपमागत्य', 'काश्मीरी—सर्वं वृत्तांत्तं कथयति ॥,' 'ततः प्रविशति समात्यो भूपः' आदि। अन्य भाषाओं में प्राकृत, पैशाची, फ़ारसी (काबुल से पहुँची सहायता के समय), भोजपुरी, मैथिल, द्राविणी, कारनाटकी आदि और अंत में नृत्य के समय अँगरेज़ी, अरबी, तुर्की और मरुदेशी का स्फुट प्रयोग हुआ है। विभिन्न स्थलों पर एक-एक पद्य (अर्थ या तिलक सहित) इन भाषाओं में रचित मिलता है। एक स्थान पर एक बंगदेशीय छात्र बँगला का प्रयोग करता है। वैसे खड़ीबोली रूपों, जैसे, 'आप जनवासे को जाइये सकल चार करिये'; 'सलामत', 'आकस-माद', 'सलाम', 'मुलाहिज़ो', 'अदब काइदे', 'फ़रक', 'अपसोस' आदि विदेशी शब्दों का तद्भव रूप में, और तुकान्तयुक्त वाक्यों का प्रयोग भी मिलता है। भजनों और पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, नराच, झूलना, पद्धरी, त्रिभंगी, दोहा आदि छन्द हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रन्थ हिन्दी की नाट्य-परम्परा की दृष्टि से ही नहीं भाषा की दृष्टि से भी अत्यन्त रोचक है। ब्रज-भाषा गद्य का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है :

> 'तपस्विनी। महाराज थोरी दूर में गिरि पर सुगल कीस है ताहू की नारी भाई हरि लई है वासों मिलिये वा महिजा की खोज कराइ है आप तौ सबके आतमन के आत्मा हैं कहा नहीं जानत हैं कुञ्जर मुनि जब ब्रह्मलोक को जान लगे तब मोकों कह्यो तें ह्यांई टिकी रहु हितकारी इहां आवैंगे तिनको दरश पाय मुक्त ह्वै जायगी आप क्षण खरे रहिये मैं शरीर त्यागौं।' (तृतीयांक, पृ० ६६)

राम की कथा के सम्बन्ध में फ़ारसी भाषा का प्रयोग या राम की सभा में अँगरेज़ी, अरबी, तुर्की और मरुदेशीय नर्तकों की उपस्थिति काल-दोष के उदाहरण हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है :

'(प्रविश्यगुरुण्डदेशीयोनर्तकः)
प्रणम्य नृत्यति गायतिच। एकिंगहितकारीमाईडियरवेरी ॥
लिबरेलएण्डब्रेवशाहिरी ॥ गुडइस्प्रेडमाइसिनटापलाड।
गुड आलडैमबिसुनाथआफगाड ॥ १ ॥

अर्थ। ये किंग बादशाहों का बादशाह हितकारी भगवान
माई हमारा डियर प्यारा वेरी बहुत परस्पर प्यारा...'
(सप्तमाङ्क, पृ० १४२)

वास्तव में छंद गद्य, पात्र-प्रवेशादि तथा अन्य नाटक-लक्षणों से समन्वित 'आनन्द रघुनन्दन' आगामी नाट्य-युग का अग्रदूत है। लेखक ने ग्रन्थ की रचना-तिथि नहीं दी।

आलोच्य काल में और कोई प्रमुख नाट्य-रचना अभी उपलब्ध नहीं हुई। साहित्य के इतिहास-लेखकों में गार्सां द तासी का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि वे हिन्दी के लेखक नहीं थे, तो भी अपने विषय के आदि प्रवर्तक होने के कारण वे साहित्य के विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट किए बिना नहीं रहते। उनका 'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर हिंदुई ऐ हिंदूस्तानी' (Histoire de la Litterature Hindouie et Hindoustanie) नामक ग्रन्थ १८३९-४७ में दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ।[1] वह फ्रेंच भाषा में है। उसमें हिन्दी और अधिकतर उर्दू के कवियों और लेखकों का उल्लेख है। तासी ने कवियों और लेखकों की संक्षिप्त जीवनियाँ भी दी हैं।

१—उसका परिवर्द्धित और संशोधित द्वितीय संस्करण १८७०-१८७१ में तीन जिल्दों में प्रकाशित हुआ।

उपसंहार

अब तक जो कुछ कहा गया है वह उस काल के साहित्य की कहानी है जब कि हिन्दी-भाषा-भाषी यूरोप की एक ऐसी जाति के संपर्क में आए ही आए थे जो औद्योगिक क्रांति के बाद की वैज्ञानिक प्रगति की भावना से ओतप्रोत, किन्तु साथ ही औपनिवेशिक दृष्टिकोण लिए हुए थी। उस समय यूरोप में वाष्प शक्ति का आविष्कार हो चुका था और यूरोप तथा अमेरिका में सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहे थे। इसी समय में भारतवर्ष मध्यकालीन परम्पराओं में जकड़ा हुआ गतिहीन जीवन व्यतीत कर रहा था। किन्तु अँगरेजों के माध्यम द्वारा गतिशील यूरोपीय सभ्यता का जितना प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ना चाहिए था उतना सौ वर्ष के दीर्घकाल में दृष्टिगोचर नहीं होता। क्योंकि एक तो बहुत दिनों तक नवीन शासक अपने नवार्जित राज्य को व्यवस्थित और संगठित करने में लगे रहे और दूसरे, अपने राजनीतिक हित की दृष्टि से, उन्होंने भारतीय समाज की रूढ़िप्रियता और अपरिवर्तनशीलता का ही पोषण किया। उन्होंने भारतवासियों को यूरोप की नवोदित प्रगति से दूर रखने की भरसक चेष्टा की। देश में नवीनता के जो कुछ थोड़े-से चिह्न प्रकट हुए भी वे उनके बावजूद और घुणाक्षर न्याय द्वारा प्रकट हुए थे। नवीन शासकों ने नवीन शिक्षा, प्रेस, वाष्प शक्ति द्वारा संचालित ऐंजिन तथा रेल आदि कुछ वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रचार अवश्य किया, किन्तु एक तो उनका प्रचार स्वार्थपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सीमित रूप में हुआ, दूसरे उनका प्रचार आलोच्य काल के लगभग अंत में होने से सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक क्षेत्रों में जो परिणाम दृष्टिगोचर होना चाहिए था वह न हो सका। उसके लिए समय अपेक्षित था। इस दृष्टि से १८५७ अर्थात् आलोच्य काल के बाद के हिन्दी साहित्य का युग महत्त्वपूर्ण है। १८५७ तक हिन्दी प्रदेश के जीवन में जीवन के आघात से जो चौमुखी स्फूर्ति पैदा होनी चाहिए थी वह न हुई।

सौ वर्ष के इस समूचे आलोच्य काल का हिन्दी साहित्य स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: एक काव्य साहित्य, प्रधान साहित्य और दूसरा सामान्यतः गद्य-साहित्य है। इस समय गद्य में ललित साहित्य की रचना न हो सकी। काव्य-क्षेत्र में परम्परा और रूढ़ि का प्राधान्य बना रहा। उसमें वीर, भक्ति और रीति-शृंगार की तीन धाराएँ मिलती हैं। व्यक्तिगत प्रतिभा के रहते हुए भी इन धाराओं का उज्ज्वल पक्ष म्लान हो गया था। ऐसे समय में ही हिन्दी प्रदेश का संपर्क पश्चिमी दुनिया के साथ स्थापित हुआ था। काव्य-शैलियों की दृष्टि से वीर-रस-संबंधी रचनाएँ प्रबन्ध शैली के अंतर्गत, भक्ति-संबंधी रचनाएँ प्रबन्ध और मुक्तक शैली के अंतर्गत, और रीति-सम्बन्धी रचनाएँ मुक्तक शैली के अंतर्गत आती हैं। भाषा भी ब्रजभाषा बनी रही, यद्यपि अब उसमें खड़ीबोली तथा अन्य स्थानीय बोलियों के रूपों का प्रयोग पहले की अपेक्षा अधिक होने लगा था। साथ ही सभी प्रकार के कवियों की रचनाओं में खड़ीबोली में रचे गए पूरे छन्दों के उदाहरण भी मिल जाते हैं। किन्तु टट्टी संप्रदाय के महन्त सीतलदास को छोड़ कर ऐसा कोई कवि नहीं मिलता जिसने अपनी संपूर्ण रचना, आद्योपान्त, खड़ीबोली में की हो। बहुत-से कवि अब भी राजाओं और ज़मीदारों के आश्रय में रह कर काव्य-रचना में संलग्न थे। नवीन शासकों से उन्हें कोई आश्रय प्राप्त न हो सका। हिन्दी काव्य जीवन की नवीन परिस्थितियों से अलग पुरानी लीक पर चलता हुआ मिलता है। उसकी प्रतिद्वन्द्विता में एक नवीन काव्य-धारा का पूर्ण अभाव पाया जाता है। कारण यही था कि आलोच्यकालीन साहित्य, जो प्रधानतः काव्य-साहित्य है, परम्परागत एवं गतिहीन सामन्ती, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर रहा था। अँगरेज़ शासकों ने पूर्ववर्णित कुछ सुधार अवश्य किए थे और साथ ही नवीन शिक्षा का प्रचार भी किया था, किन्तु वे आलोच्य काल में हिन्दी प्रदेश की जीवन-परिधि के बाहरी किनारे, वह भी कहीं-कहीं से, केवल छू भर पाए थे। फलतः शताब्दियों से चली आ रही सुदृढ़ काव्य-परम्परा का अप्रभावित रहना आश्चर्य-जनक नहीं है। विषय, रूप, शैली, भावना आदि की दृष्टि से रूढ़ि कविता का अविच्छेद्य अंग बनी हुई थी।

किन्तु आलोच्य काल का एक और पहलू है, जो पहले पहलू से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। जहाँ एक ओर परम्परागत हिन्दी साहित्य अपने बंधनों में बराबर बँधता हुआ अपने को मिटाता जा रहा था, वहाँ निश्चय ही वह एक ऐसी चीज़ दे रहा था जो अभूतपूर्व थी और निस्संदेह यह चीज़ गद्य

के रूप में प्रतिष्ठित हुई। आलोच्यकालीन गद्य हिन्दी साहित्य में नवयुग की अवतारणा करता है। साहित्य के समूचे इतिहास में प्रथम बार गद्य की क्रमबद्ध परम्परा ही नहीं मिलती, वरन् खड़ीबोली ने भी बड़ी शान के साथ, अपने भविष्य के प्रति आशा का संबल लिए, साहित्य में प्रवेश किया और उसके शब्दकोष में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। वास्तव में हिन्दी साहित्य में नवयुग या आधुनिक युग जो गद्य-युग है, की अवतारणा आलोच्यकालीन गद्य, खड़ीबोली गद्य, द्वारा मानी जानी चाहिए, न कि भारतेन्दुकालीन काव्य द्वारा। उसकी निगाह काव्य-भाषा ब्रजभाषा के अभेद्य दुर्ग पर भी लगी हुई थी, प्रश्न केवल समय और अवसर का था। जहाँ तक हिन्दी से सम्बन्ध है खड़ीबोली हिन्दी—पहले गद्य, बाद को काव्य—के क्रमबद्ध इतिहास का और अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के इतिहास का घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में आलोच्यकाल का—विशेष रूप से उसके उत्तरार्द्ध का—महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। यदि हम आलोच्यकालीन जीवन की परम्परा-विहित और रूढ़िग्रस्त परिस्थितियों और काव्य की बातों को सामने रखते हुए गद्य की समस्या पर विचार करते हैं तो एक विरोधाभास-सा प्रतीत होने लगता है, किन्तु है यह वास्तविकता। क्योंकि भारतीय जीवन की गति ही कुछ ऐसी रही है। भारतीय जीवन अपने बन्धनों में बन्धा रहने पर भी सदैव कुछ-न-कुछ नवीनता प्रकट करता रहा है। वह हलाहल पीने पर ही मंगल को जन्म दे सका है। भारतीय चिन्ताधारा सदैव अपना पुराना मार्ग छोड़ कर नवीन मार्ग ग्रहण करती रही है। आलोच्यकालीन हिन्दी काव्य-गाथा यदि हिन्दी प्रदेश के उत्थान और पतन की गाथा है, तो गद्य—खड़ीबोली गद्य—की गाथा उसके नव जीवन की प्रभातकालीन चेतना, स्फूर्ति, ग्राहिका शक्ति और गतिशीलता की आशाभरी गाथा है। खड़ीबोली गद्य के विकास में राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी शक्तियों ने तो महत्त्वपूर्ण कार्य किया ही, किन्तु यह कार्य प्रेस जैसे वैज्ञानिक आविष्कार द्वारा ही संपन्न हो सका था। जिस दिन खड़ीबोली गद्य का कोई भी प्रथम पृष्ठ प्रेस में मुद्रित हुआ होगा वह दिन साहित्यिक क्रान्ति का दिन माना जाना चाहिए। यद्यपि उसमें साहित्यिक सौन्दर्य देखने को न मिलेगा, तो भी विज्ञान के साथ सम्बद्ध होने, जीवन में नवीन भाव-विचार (जैसे, स्त्री-शिक्षा के संबंध में) एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण के प्रतीक के रूप में और, ललित साहित्य न सही, आधुनिक विविध-विषय-सम्बन्धी रचनाएँ, वे भले ही प्राथमिक ढंग की हों, प्रस्तुत करने में उसका निस्संदेह अतुलनीय ऐतिहासिक महत्त्व है।

आलोच्य काल के मिशनरी तथा अन्य यूरोपीय लेखक भी उल्लेखनीय हैं। उन्होंने खड़ीबोली गद्य में अपनी तरह की रचनाओं का निर्माण करने के अतिरिक्त आधुनिक प्रणाली के अनुसार व्याकरणों और कोषों की रचना की, भाषा में विराम-चिह्नों का प्रचार किया और नागरी टाइप बनाए। ये बातें वैसे भले ही छोटी लगती हों, किन्तु अपने में ये बड़ी थीं और उनका प्रत्यक्ष प्रभाव आज हमारे सामने है।

वास्तव में हिन्दी साहित्य के इतिहास ने इस युग में अपना पुराना रास्ता छोड़ गद्य का आश्रय ग्रहण कर नए रास्ते की ओर कदम बढ़ाना शुरू कर दिया था। धीरे-धीरे वह आगे बढ़ता ही गया। भारतेंदु-युग का तथा हमारा आज का साहित्य इस बात का साक्षी है। बँधे रहने पर भी हम गतिशील ज़रूर थे।

ग्रन्थ तथा लेखकानुक्रमणिका